भूमिका

इस खण्ड में मुक्तिबोध के फुटकर आलोचनात्मक निबन्ध हैं जो, समग्रतः सृजन-कर्म से जुड़े बहुत-से सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक सवालों पर एक जागरूक रचनाकार के प्रखर और संवेदनशील चिन्तन को प्रस्तुत करते हैं। वे यह भी ज़ाहिर करते हैं कि इन सवालों के सही-सही सर्जनात्मक और व्यापक सामाजिक सन्दर्भों को परिभाषित-निर्धारित करने और हिन्दी के नये-पुराने लेखन के सन्दर्भ में उनका परीक्षण करने की उनमें कैसी बेचैनी थी। विशेषकर उनका समीक्षात्मक लेखन इस बात का सबूत है कि अपने ज़माने के बुज़ुर्ग, समवयसी और युवतर रचनाकारों के काम में उनकी गहरी दिलचस्पी थी।

इन निबन्धों को यहाँ पाँच उपखण्डों में प्रस्तुत किया जा रहा है—'साहित्य और आलोचना', 'रचना-प्रक्रिया', 'आत्म-वक्तव्य', 'नयी कविता और उसकी पृष्ठभूमि' तथा 'समीक्षाएँ'। इनमें उनके दोनों प्रकाशित ग्रन्थों में—**नयी कविता का आत्मसंघर्ष** तथा **नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र**—में संकलित, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित तथा अप्रकाशित, सभी लेख शामिल हैं। साथ ही कुछ अपूर्ण लेख भी दिये जा रहे हैं, जो या तो अन्य लेखों के ही किसी मुद्दे के अतिरिक्त पक्ष अथवा नये स्तर को प्रस्तुत करते हैं, या किसी एकदम नये ही मुद्दे को उठाते हैं, भले ही विवेचन-विश्लेषण पूरा न हो सका हो। प्रत्येक उपखण्ड की सामग्री स्वतन्त्र काल-क्रम से रखी गयी है, जिससे मुक्तिबोध के सैद्धान्तिक चिन्तन, विभिन्न मान्यताओं के व्यावहारिक प्रयोग तथा समीक्षा-दृष्टि के विकास का, अलग-अलग कुछ अनुमान हो सके। किन्तु अपूर्ण लेखों को, और कहीं-कहीं अप्रकाशित पर पूर्ण लेखों-टिप्पणियों को उनके विषय के अनुसार एक साथ भी दे दिया गया है।

इस सामग्री को यथासम्भव मूल पाण्डुलिपियों से मिलाकर संशोधित किया गया है, यद्यपि अनेक निबन्धों की, विशेषकर **नयी कविता का आत्मसंघर्ष** में संकलित कई एक निबन्धों की, पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं है और इसलिए उनके पुस्तकाकार या किसी पत्र-पत्रिका में प्रकाशित पाठ को ही आधार माना गया है।

साथ ही कुछ प्रकाशित लेख ऐसे भी मिले जिनमें मुक्तिबोध ने बाद में कुछ और संशोधन किये। जहाँ भी ऐसे संशोधित प्रारूप मिल गये, वहाँ उन्हें ही अन्तिम और प्रामाणिक माना गया है। कहानियों और डायरियों की भाँति, इन लेखों में, विशेषकर नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित लेखों में भी, पृष्ठ, पैरा या वाक्य इधर-उधर हो गये थे या ग़लत मुद्रित थे। एक-दो निबन्धों में मूल पाण्डुलिपि में ही एकाधिक प्रारूप के गडमड हो जाने से कुछ अंशों की पुनरावृत्ति हो गयी थी। ऐसी सभी गड़बड़ियों को यथासम्भव ठीक करने की कोशिश की गयी है।

एक ही रचना को बार-बार लिखने की मुक्तिबोध की पद्धति का एक रोचक नमूना उनके 'वस्तु और रूप' निबन्ध में देखा जा सकता है। पाण्डुलिपियों में इसके चार प्रारूप मिले और चारों ही यहाँ दिये जा रहे हैं। ये सर्जनात्मक कार्य की इस बुनियादी समस्या का चार अलग-अलग स्तरों पर अन्वेषण करते हैं, यद्यपि कुछ वाक्य या पैरा लगभग चारों में ही मौजूद हैं। इनमें से एक उज्जैन से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका कालिदास में दो किस्तों में छपा था, बाक़ी तीन अप्रकाशित हैं। कुछ-कुछ यही स्थिति 'काव्य की रचना-प्रक्रिया' निबन्ध की है। इस शीर्षक से भी दो स्वतन्त्र निबन्ध यहाँ प्रस्तुत हैं, जो इस अवधारणा के दो अलग-अलग पक्षों का परीक्षण करते हैं, यद्यपि शायद वे एक लेख के दो प्रारूपों की तरह ही लिखे गये थे।

दुर्भाग्यवश, कुछेक निबन्धों-टिप्पणियों-समीक्षाओं की पाण्डुलिपि तो नहीं है ही, उनकी टाइप की हुई प्रतिलिपि या अख़बारी कतरन भी जगह-जगह से कटी-फटी या अत्यधिक खण्डित है। उन्हें सम्मिलित नहीं किया जा सका। ऐसे लेखों में अज्ञेय के काव्य-संग्रहों की एक समीक्षा भी है।

नेमिचन्द्र जैन

क्रम

साहित्य और आलोचना

रचना-प्रक्रिया

आत्म-वक्तव्य

नयी कविता और उसकी पृष्ठभूमि

समीक्षाएँ

समीक्षक का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह किसी भी कलाकृति के अन्तर्तत्त्वों को—उसके प्राण-तत्त्वों को—भावना-कल्पना को हृदयंगम करे, और एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित अन्तर्धारा की गति को, और उसकी अन्तिम परिणति को, सहानुभूतिपूर्वक अच्छी तरह समझे और तदुपरान्त उसका विश्लेषण करे। किसी भी कलाकृति के भीतर जो गतिमान तत्त्व होते हैं, उनके अर्थ व्यापक होते हैं। अतएव उन तत्त्वों के अन्तःसम्बन्ध, उन अन्तःसम्बन्धों के समुच्चय की विशेष गठन कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती। जब हम उन गतिमान अन्तर्तत्त्वों के गहन पारस्परिक सम्बन्ध, और उन पारस्परिक अन्तःसम्बन्धों के समुच्चय की विशेष गठन को हृदयंगम कर लेंगे, तब न केवल हम उस कलाकृति को उसकी समग्रता में समझ सकेंगे, वरन् लेखक-कलाकार के व्यक्तित्व और उसकी जीवन-भूमि तक सहज ही पहुँच सकेंगे। किन्तु इसके लिए समीक्षक के पास प्रगाढ़ जीवनानुभूति चाहिए, वैविध्यपूर्ण प्रगाढ़ अनुभव-सम्पन्नता तथा मार्मिक जीवन-विवेक चाहिए।

× × ×

मानव-आस्था अच्छे कार्यों से उत्पन्न होती है, और इस प्रकार के अनेक कार्य-केन्द्रों से वह सर्वत्र प्रसारित होती है। समीक्षक अपने कर्म द्वारा यदि इस प्रकार विश्वसनीय बनने का प्रयत्न करता है, तो यह उचित ही है। किन्तु वह विश्वसनीय और विश्वासपात्र तभी बनेगा, जब वह मानव-हृदय में सूक्ष्म-दृष्टि रखकर, भीगकर, साहित्यांकित जीवन और साहित्य-सृजन की मूलाधार जीवन-भूमि में, उसकी मानव-भूमि, अपने ज्ञान और ज्ञान की मार्मिकता के साथ, अपने पूरे अनुभव और अनुभवों की तीव्र संवेदनाओं के साथ, अपने सारे विवेक और विवेक की समस्त पीड़ाओं के साथ—उस जीवन-भूमि में, उस मानव-भूमि में प्रवेश करेगा। तभी उस बात को जिसे वह बुरा, असत् और ग़लत समझता है, उसकी सही-सही व्याख्या और सही-सही विश्लेषण द्वारा उसके साथ संघर्ष और निर्णायक संघर्ष हो सकेगा। नहीं तो नहीं।

मुक्तिबोध : 'समीक्षा की समस्याएँ' से

मुक्तिबोध रचनावली

साहित्य और आलोचना

साहित्य के दृष्टिकोण

साहित्य को किस दृष्टि से देखना चाहिए ? इसके उत्तर के लिए हम उन सभी दृष्टियों पर विचार कर लें जिनसे अब तक लोग साहित्य को देखते आये हैं। हम उन दृष्टियों की साधारण गणना न कर उन दृष्टियों के मूल पर भी सोचते चलें, और इसी तरह उनके सापेक्ष महत्त्व को भी निश्चित करते चलें।

साधारणतया, साहित्य के दो पहलू रहे हैं। एक तो वह जिससे मनोरंजन हो, और दूसरा वह जिससे हम अधिक मानवीय होते चलें। पहला केवल मनोरंजन ही मनोरंजन है, उसके आगे कुछ नहीं। और दूसरा किसी आदर्श को लेकर चलता है।

पुराने समय में भी एक साहित्य केवल मनोरंजन के लिए लिखा जाता था, जिसमें वर्ण-चमत्कार और वर्णन-चमत्कार का बाहुल्य था। और दूसरा वह था, जिसमें रसोद्रेक का उद्देश्य वह था, जिसमें रसोद्रेक का उद्देश्य मनुष्य को अधिकाधिक मानवीय करते चलना था। चूँकि मनोरंजक साहित्य का उद्देश्य अत्यन्त सामयिक है, इसलिए हम दूसरे प्रकार के साहित्य पर, जिसमें किसी आदर्श को लेकर चलना होता है, विचार करते चलें। और इन्हीं आदर्शों पर विचार करते हुए हमें उन सभी दृष्टियों का पता चल जायेगा जिनसे साहित्य देखा जाता है।

यूरोप में उपन्यास-साहित्य ने साहित्य की विविध कल्पनाओं (कंसैप्शन्स)को जन्म दिया। खासकर फ्रांस साहित्यिक विचारधारा का सबसे अधिक ज़िम्मेवार है। रोमांस, जिसमें सामयिक मनोरंजक साहित्य अधिकांश में था, फ्रांस के उपन्यासों का मुख्य विषय रहा। रोमांस, जैसा कि वह शैले में या कालिदास में पाया जाता है, अपनी सचाई के कारण, अपनी आन्तरिक भाव-प्रवणता के कारण, आदर्श की ओर ही उन्मुख है। दूसरी तरह का रोमांस, जो अधिक बाहरी है और केवल हमारी कल्पना को ही तृप्त करता है, साहित्यिक आदर्श के निकट नहीं है। कुछ-कुछ इसी तरह का रोमांस फ्रांस में प्रचलित रहा। कथा-कहानियों में स्त्री-पुरुष-प्रेम, जिसका असलियत से कोई सीधा वास्ता नहीं था, कल्पना को तृप्त करने के लिए लिखा गया।

इसी तरह के रोमांस लिखते-लिखते प्रेमी और प्रेमिका को अधिक वास्तविक रूप मिलता गया। जैसे, उनके स्नेह-भंग के कारणों में सामाजिक परिस्थिति और कौटुम्बिक मतभेद आदि थे। इस तरह रोमांस के साथ-ही-साथ समाज-चित्रण और व्यक्ति-चित्रण आया।

साहित्य काल्पनिक आधार छोड़कर अधिक वास्तविक भूमि पर आता गया। फिर भी काल्पनिक और वास्तविकता का इतना भेद नहीं था, जितना वह अब है। इस सम्मिश्र साहित्य-प्रकार का सुन्दर उदाहरण लॉर्ड बायरन का कथा-काव्य डॉन जुआन है।

परन्तु साहित्य ने फिर पलटा खाया और रोमांस-स्कूल के खिलाफ़ जबरदस्त विद्रोह हुआ। परिणाम था यथार्थवाद का प्राबल्य।

आश्चर्य की बात है कि जिस तरह जर्मनी ने यूरोप के दार्शनिक विचार-जगत् का नेतृत्व किया, उसी तरह फ्रांस साहित्यिक विचारधारा का अग्रदूत रहा।

फ्रांस के इस यथार्थवाद का बहुत प्रभाव पड़ा, और रूस का उपन्यास-साहित्य भी इससे अछूता न रह सका। किन्तु पेरिस की सोसाइटी वैसे भी फ़ैशनेबुल थी। इस फ़ैशनेबुल समाज का वर्णन करना एक बात हो गयी, जिसमें बाह्य सौन्दर्य का काफ़ी खयाल रखा गया। इसके विरुद्ध स्कूल उठ खड़ा हुआ जिसने निम्न श्रेणी या दलित-पीड़ित-कुरूप लोगों के जीवन का चित्रण किया। ये दोनों स्कूल आपस में एक-दूसरे से नहीं मिले।

पहले यथार्थवादी स्कूल में फ़ैशनेबुल लोगों के रीति-रिवाज का चित्रण अधिक रहा और दूसरे यथार्थवादी स्कूल में कुरूपता का ही अधिक वर्णन रहा। दोनों स्कूल अपने आधिक्य में एकांगी हो गये, और परिणामतः असलियत से सम्बन्ध खो बैठे। एक तीसरा यथार्थवादी स्कूल और हुआ, जिसमें मनुष्य की काम-सम्बन्धी बातों का खुले-आम वर्णन किया गया और 'प्राइवेट लाइफ़' ही सामने अधिक आयी। यह स्कूल भी, साधारणतः, उच्च-श्रेणीय नागरिक जीवन का चित्रण करता रहा और प्रकृतिवादी (नेचुरलिस्टिक) स्कूल कहलाया। इसके अनुसार व्यभिचार, इत्यादि नैतिक रीति से ठीक हैं, क्योंकि मनुष्य में वासना स्वाभाविक है। अतएव यह स्कूल नैतिकता के खिलाफ़ था।

आदर्शवादी स्कूल का जन्म भी यहीं से शुरू होता है। अनैतिक का नैतिक के प्रति विद्रोह नैतिकता की उन्नति और उसके परिष्कार का कारण है। यह स्कूल प्रधानतः इंगलैण्ड में पनपा। नैतिक आदर्श को लेकर ही कई उपन्यास लिखे गये। कलाकारों का अपना नैतिक चिन्तन हुआ। इस स्कूल के मुख्य लेखक माने जा सकते हैं, जॉर्ज ईलियट, मेरिडिथ, वगैरह। परिणामतः, आदर्शवादी उपन्यासों की कमजोरी का प्रधान कारण है बौद्धिक या कभी-कभी (जैसे मेरी कॉरिली में), धार्मिक या नैतिक, आदर्शों का कला के साथ विषम सन्तुलन।

इस उपदेशवादी या आदर्शवादी साहित्य के खिलाफ़ बग़ावत की कलावाद ने। इस स्कूल ने 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त स्वीकार किया। इसमें बाह्य

सौन्दर्य की ओर अधिक ध्यान था। साहित्यिक टेकनीक विशेष रूप से विकसित हुआ और साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन माना गया।

यह कलावाद प्राणहीन था और जल्दी ही खत्म हो गया। इससे अधिक तुष्ट और सप्राण इब्सन का सामाजिक साहित्य था। इब्सन से बहुत लोग प्रभावित हुए। वर्नार्ड शॉ और गॉल्सवर्दी ने समाज की आलोचना की। इधर विज्ञान और भौतिक सभ्यता ने समाज में नयी समस्याएँ उत्पन्न कीं। साहित्य इन समस्याओं से अछूता नहीं रह सका। इन पर विचार उपन्यासों और अन्य रचनाओं द्वारा किया गया। परिणामतः, प्रचारवादी स्कूल खड़ा किया गया। फ्रॉयड के मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों से साहित्य भी प्रभावित हुआ, और तब से शुद्ध मनोवैज्ञानिक साहित्य का जन्म हुआ।

इतना लिख जाने पर यह न समझना चाहिये कि किसी भी तरह का लेखन इन स्कूलों में बँध गया है। जीवन किसी भी दायरे में बँध नहीं सकता। और जहाँ-जहाँ जीवन के प्रति सचाई प्रकट की गयी है, वहाँ-वहाँ कला अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ प्रकट हुई है। किन्तु जहाँ किसी 'वाद' या बौद्धिक विश्वास से जीवन को देखा गया है, वहाँ जीवन की ताज़गी और उसका प्रवाह-संगीत लुप्त हो गया है। जिस तरह यथार्थवाद के सुन्दर-से-सुन्दर नमूने मिलते हैं—मध्यकालीन, विक्टर ह्यूगो के **ला मिज़रेबुल्स** या आधुनिक मैक्सिम गोर्की के **मदर** में—उसी तरह आदर्शवाद के भी सुन्दर-से-सुन्दर नमूने मिलते हैं।

परन्तु लोग आलोचना करते समय किसी खास 'वाद' के दायरे में बाँधकर ही साहित्य को देख पाते हैं। यह तरीक़ा एकदम ग़लत है। साहित्य के 'वाद' दार्शनिक या वैज्ञानिक प्रणालियाँ नहीं हैं, वे केवल साहित्य के दृष्टिकोण हैं।

कोई भी दृष्टिकोण, यानी कोई भी साहित्यिक 'वाद', तभी तक ठीक है जब तक वह जीवन की चेतना से परिपूर्ण है। यथार्थवाद, जिसे आजकल वर्गवादी प्रगतिवाद कहते हैं, तभी तक ठीक है जब तक उसका लेखक अपनी स्फूर्ति वास्तविक स्थिति से पाता है। प्रश्न स्फूर्ति का ही है। केवल ग्रामीण स्थिति देख भर लेने से, या गाँवों के वातावरण में लेखक के रहने से, सच्चे यथार्थवादी साहित्य का जन्म नहीं हो सकता, जब तक लेखक की आत्मा ग्रामीणता में स्वयं नहीं पनपती, और वहाँ की क्रिया-प्रतिक्रिया से प्रवहनशील होकर साहित्य में नहीं उतरती। हेनरी बारबूस एक सच्चा प्रगतिवादी कलाकार था, क्योंकि उसकी क्रान्ति की भावना के पीछे उसका स्वयं का जीवन था, जो कि उसके आस-पास की परिस्थिति से पूर्ण सुसंगत और उसका प्रतिनिधित्व करता था।

जिस तरह सामाजिक व्यथा से जाग्रत मानवी आत्मा यथार्थवादी हो जाती है, उसी तरह अपनी सम्पन्न परिस्थिति में अपनी भावनाओं के मनोहर कोष से चेतन मानव-आत्मा भावना-प्रधान और कल्पना-प्रधान, जिसे रोमैण्टिक कहते हैं, हो जाती है। वास्तव में देखा जाय तो रोमांस और यथार्थवाद में केवल परिस्थिति का भेद है। यथार्थवादी भी उतना ही भावना-प्रधान, ओजमय हो सकता है जितना

कि मैंने। परन्तु उनका दृष्टिकोण बहिर्मुख है, बाह्य वास्तविकता के संघर्ष से उत्पन्न उसकी भावनाएँ हैं, और रोमैण्टिक कलाकार का दृष्टिकोण अपने आन्तरिक जगत् के प्रति है। वह स्वयं अपना ही कलाकार है।

प्रतिक्रिया-युग में हम देख पाते हैं कि यथार्थवादी रोमैण्टिक के प्रति द्वेषभाव रखता है, परन्तु यह ग़लत है। मनुष्य की प्रकृति में क्या रोमांस का स्थान नहीं है? रोमांस तो प्रवहमान जीवन-धारा का सैल्फ़-एसर्शन है। जिस तरह वसन्त ऋतु में वृक्षों के अन्दर तरुण ओज फूल-पत्तियों का सृजन करता है, वैसे ही वही तरुण ओज स्त्री-पुरुष के अन्तर्जगत् में रोमांस उत्पन्न करता है, उनके स्वस्थ शरीर में वह नव-जीवन बनकर बहने लगता है।

परन्तु व्यक्ति जितना सामाजिक है, उतना ही वैयक्तिक। कभी-कभी यथार्थवादी को भी कविता लिखने की सूझती है, और कल्पना-प्रधान कलाकार को कहानियाँ और लेख। जब भावना-प्रधान प्राणी बाह्य वास्तविकता की ओर मुड़ता है, और अपनी सहज ईमानदारी से वशीभूत होकर उसके प्रति अपने को ज़िम्मेवार ठहराता है, तभी से उस साहित्य की उत्पत्ति है जिसे हम आदर्शवादी साहित्य कह सकते हैं, क्योंकि वह जीवन पर सोचने लगता है, जीवन की ट्रैजेडीज़, उसके विरोध और विसंगतियाँ, उसके मन में बैठ जाती हैं। वह उनके विचारों से किसी तरह छुटकारा नहीं पा सकता। वह उन पर सोचता है, कुछ निष्कर्षों पर आता है, और उन सबका चित्रांकन करता है। इस विशेष प्रकार का कलाकार जीवन को समस्त रूप में ग्रहण करने की चेष्टा करता है, और यहीं उसका महत्त्व है। हार्डी, रोम्याँ रोलाँ, शरत् ऐसे ही कलाकारों में से हैं।

हमने इन तीन मुख्य वादों पर ही अधिक प्रकाश डाला है। शेष दृष्टिकोण समझने में अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। दूसरे, जगत् का समस्त साहित्य अधिकतर इन तीन विभागों में ही बाँटा जाता है।

पर क्या कारण है, युग के साथ-साथ कला परिवर्तित होती चलती है? इसके मुख्य हेतु दो हैं। प्रथम, आन्तरिक; और दूसरा, बाह्य। बाह्य परिस्थिति जिस तरह बदलती चलती है उसी तरह साहित्यिक धारा भी अपनी दिशा बदलती है। इनके उदाहरण आपको किसी भी अच्छे साहित्य में दृष्टिगोचर होंगे। हम इनको अधिक-से-अधिक बाह्य से प्रतिक्रिया कहेंगे। पर एक ऐसी भी प्रतिक्रिया है जो आन्तरिक जगत् में होती है, जिसके कारण साहित्य की आन्तरिक धारा में हलचल उत्पन्न होती है।

कला तभी तक जीती-जागती रहती है जब तक कि लेखक का वर्ण्य वस्तु के प्रति भावात्मक सम्बन्ध हो। जिस प्रकार सोचना या विचार करना ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक साधन है, उसी प्रकार भावना भी जीवन का ज्ञान प्राप्त करने का एक कलात्मक साधन है। भावनानुभूत ज्ञान ही कला का विषय है। परन्तु जब हम कला का सच्चा दृष्टिकोण छोड़कर किसी दूसरे क्षेत्र में चले जाते हैं, तब हम धीरे-धीरे प्रतिक्रिया का आह्वान करते हैं। उदाहरणत:, कबीर जब तक अपने

रंग में मस्त होकर जीवन का ज्ञान सुनाता है, तभी तक वह कलाकार है। पर जब वह हमें अपने बौद्धिक-दार्शनिक निर्गणवाद के प्रति आस्था रखने के लिए आग्रह करता-सा दीख पड़ता है, वहीं वह कला का दृष्टिकोण छोड़कर दार्शनिक दृष्टिकोण के क्षेत्र में उतर आता है, जिसके अलग नियम हैं, और मूल्यांकन के अलग स्टैण्डर्ड हैं। उसी तरह पद्माकर शृंगार के साधन और उसके उपकरणों का कैटेलॉग पेश करते हैं। यहाँ भी वही दोष है।

एक दूसरे प्रकार की आन्तरिक प्रतिक्रिया तब शुरू होती है, जब भावनानुभूति के नाम पर हम उन्हीं भावनाओं को दुहराते हैं जो निष्प्राण हो गयी हैं, जहाँ जीवन की गति कुण्ठित हो गयी है। इस प्रकार साहित्य में बासीपन की उत्पत्ति होती है, जिसके विरुद्ध प्रतिक्रिया फ़ौरन शुरू हो जाती है, क्योंकि जीवन एक जगह रुका नहीं रह सकता।

क्यों एक कलाकार दूसरे कलाकार से ऊँचा कहा जाता है? क्यों वाल्ट ह्विटमैन या ब्राउनिंग को लोग टेनिसन से ऊँचा समझते हैं? कबीर क्यों बिहारी से ऊँचा है?

इस प्रश्न का उत्तर देते समय हमें साहित्य में 'सतह' का भी परिचय हो जाता है। कौन किस सतह से बोलता है, यह सवाल है। रवीन्द्रनाथ जिस सतह से बोलते हैं, जिस व्यापक जीवन के सर्वोच्च बिन्दु पर खड़े होकर देश-देशान्तर के जन-समुदाय के सामने वे अपने को प्रकट करते हैं, उस स्थान से अन्य अनुगामी कलाकार नहीं बोल पाते। उतना ही उनमें बौनापन है, जितनी कि रवीन्द्र में ऊँचाई।

साहित्य का मूल्यांकन निश्चित करते समय इस 'सतह' का ध्यान रखना ही पड़ता है। कवि का शब्द-चयन, छन्दो-रचना, प्रकृति-वर्णन, स्वभाव-चित्रण अत्यन्त सुन्दर होते हुए भी (जैसे कि टेनिसन में हैं), यदि ऊँची सतह नहीं है, तो वह उच्च कलाकार नहीं कहला सकता।

[कमला, जून 1941 में प्रकाशित। *नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र* में संकलित]

सामाजिक विकास और साहित्य

जब मार्क्सवादी यह कहते हैं कि साहित्य का विकास समाज के विकास पर अवलम्बित है, तो उसका आशय यह नहीं कि सामाजिक-राजनैतिक घटनाक्रम से

यन्त्रानुबद्ध होकर साहित्य अपना मार्ग बनाता चलता है। उसका अभिप्राय यह है कि जिन सामाजिक-ऐतिहासिक शक्तियों की अभिव्यक्ति-मात्र वे घटनावलियाँ हैं, वे ताकतें ही साहित्य के रूप और स्वरूप, तत्त्व और विचार को जन्म देती तथा विकसित करती रहती हैं। समाज के विकास, ह्रास तथा परिवर्तन के साथ ही, साहित्य में उस विकास, ह्रास अथवा परिवर्तन का स्वरूप ही नहीं दिखायी देता, वरन् साहित्य स्वयं उस विकास, ह्रास अथवा परिवर्तन का अंग हो जाता है। जैसा कि मैं स्वयं पहले कह चुका हूँ कि साहित्य का समाज से सम्बन्ध यान्त्रिक नहीं है। ह्रासकालीन पूंजीवादी समाज के अन्दर, एक ओर, ह्रासग्रस्त अत्याचारी शोषक वर्ग होता है, तो, दूसरी ओर, क्रान्तिकारी शोषित वर्ग भी सिर उठाता है। जो लेखक इन दोनों तत्त्वों को देखता है, और उस क्रान्तिकारी शोषित वर्ग की हिमायत करता है, उसका साहित्य ह्रासकालीन पूंजीवादी-सामन्तवादी समाज के अन्दर जन्म लेकर भी स्वयं ह्रासग्रस्त नहीं हो पाता। उदाहरणतः, तॉलस्तॉय के उपन्यास, अथवा ह्रासकालीन फ्रेंच पूंजीवादी मध्यवर्गीय समाज के अन्दर उगने और पनपनेवाला रोम्याँ रोलाँ का साहित्य। यह साहित्य निश्चित रूप से क्रान्तिकारी शोषित वर्ग का समर्थक और पृष्ठ-पोषक होता है।

किन्तु उसी समाज में यह भी होता है कि लेखक ह्रासग्रस्त शोषक वर्ग की परिधि में ही रहकर कला का सृजन करता है। तब उसकी कला स्वयं ह्रासग्रस्त हो जाती है। साहित्यिक ह्रास के सभी चिह्न उसमें मौजूद होते हैं। उदाहरण के लिए, मार्सेल प्रूस का साहित्य। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि शुद्ध कलात्मक दृष्टि से, अनिवार्यतः, ह्रासकालीन साहित्य निकृष्ट होता है, वरन् यह कि मानव के स्वरूप का आकलन उस साहित्य में एकांगी, दूषित और आस्थाहीन होता है। हमारा रीतिकालीन साहित्य भी इसी प्रकार का है। मानव का रूप और तत्सम्बन्धी भावना जो हमें रीतिकाल में दिखायी देती है, वह उत्थानशील समाज की विशेषता कदापि नहीं हो सकती। उसमें सूर और तुलसी के मानव की महिमा हमें दृष्टिगोचर नहीं होती। शुद्ध कलात्मक दृष्टि से ह्रासकालीन ह्रासग्रस्त साहित्य उच्च भी हो सकता है, जैसे, देव, मतिराम और बिहारी का साहित्य। किन्तु उसके गुणों को देखकर यही कहा जा सकता है कि वह मानव-साहित्य नहीं, प्रवृत्ति-साहित्य है, उत्थान-साहित्य नहीं, ह्रास-साहित्य है।

यहीं दूसरा प्रश्न उठता है। समाज के विकास के साथ क्या कला का भी विकास होता जाता है? इसी सवाल को यों भी रखा जा सकता है : क्या सामाजिक विकास की एक निश्चित अवस्था के पूर्व की अवस्था की कला उसके बाद की कला से निम्नतर और निकृष्टतर होती है? और उसी के अनुसार, क्या पश्चात्कालीन विकास-युग की कला पूर्वकालीन विकास-युग से श्रेष्ठतर होती है? उत्तर स्पष्ट है। समाज के विकास के साथ मनुष्य की मनोवैज्ञानिक समृद्धि, आन्तरिक तथा बाह्य स्वाधीनता, और अधिक मानवीय दृष्टिकोण का विकास होता जाता है। मनुष्य की आन्तरिक तथा बाह्य समृद्धि बढ़ती चलती है। अतः साहित्य में प्रतिष्ठित

मानव-स्वरूप के तत्त्वों की दृष्टि से पश्चात्कालीन विकास-युग का साहित्य पूर्व-कालीन विकास युग के साहित्य से श्रेष्ठतर होना अनिवार्य है। रहा कलात्मक श्रेष्ठता का प्रश्न। इसका उत्तर यह है कि यह उत्कृष्टता बहुत कुछ परम्परा पर निर्भर है। अर्थात् जिस युग में साहित्य एक नवीन अ-पूर्व-निश्चित दिशा की ओर मुड़ता है, वहाँ किसी पूर्वकालीन परम्परा का आसरा न होने के कारण उसे प्रयोगावस्था में से गुज़रना पड़ता है। निस्सन्देह प्रयोगावस्था के इस साहित्य में, कलात्मक दृष्टि से, कई अक्षम्य त्रुटियाँ भी होंगी। किन्तु परम्परा के विकसित हो जाने पर उसी में श्रेष्ठ कला के दर्शन होंगे। पूर्वकालीन विकास-युग की कला की पश्चात्कालीन विकास-युग की कला से कला की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता की दृष्टि से तुलना करना बेकार है। वैदिक साहित्य के कविर्मनीषी, कालिदास, तुलसी और महादेवी की परस्पर तुलना करना, साहित्य की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता की दृष्टि से, मूर्खतापूर्ण है।

[अपूर्ण। रचनाकाल 1950 के आसपास]

समाज और साहित्य

[1]

साहित्य तथा युग के परस्पर सम्बन्ध के विषय में मूलभूत जिज्ञासा एक ऐसी जिज्ञासा है, जो ऐतिहासिक विकास की मानवीय प्रक्रियाओं की साहित्यिक अभि-व्यक्ति का अनुसन्धान करना चाहती है। निश्चय ही साहित्य-विश्लेषण के लिए ऐसी जिज्ञासा को मनुष्य-जीवन के सभी पक्षों का अध्ययन आवश्यक होता है। जो लोग साहित्य के केवल सौन्दर्यात्मक-मनोवैज्ञानिक पक्ष को चरम मानकर चलते हैं, वे समूची मानव-सत्ता के प्रति दिलचस्पी न रख सकने के अपराधी तो हैं ही, साहित्य के मूलभूत तत्त्व, उनके मानवीय अभिप्राय तथा मानव-विकास में उनके ऐतिहासिक योगदान, अर्थात्, दूसरे शब्दों में, साहित्य के स्वरूप का विश्लेषण तथा मूल्यांकन न कर पाने के भी अपराधी हैं। साहित्य का अध्ययन एक प्रकार से मानव-सत्ता का अध्ययन है। अतएव, जो लोग केवल ऊपरी तौर पर साहित्य का ऐतिहासिक विहंगावलोकन अथवा समाजशास्त्रीय निरीक्षण कर चुकने में ही अपनी इति-कर्तव्यता समझते हैं, वे भी एकपक्षीय अतिरेक करते हैं। ऐसे व्यक्ति

साहित्य के ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय परिवेश की बात करके चुप हो जाते हैं। आवश्यकता तो इस बात की है कि आलोचना में ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक-सौन्दर्यात्मक विवेचना की सम्पूर्ण एकात्मता रहे। 'समालोचना केवल एक ही होनी चाहिए, और उसके विविध-पक्षीय मत एक ही सर्व-सामान्य मूल-स्रोत, एक ही व्यवस्था, एक ही कला-चिन्तन से उद्गत होने चाहिए।' (बेलुस्की)। किन्तु यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि हम ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय पक्ष तथा मनोवैज्ञानिक-सौन्दर्यात्मक पक्ष के परस्पर-सम्बन्धों का स्वरूप-विश्लेषण नहीं कर लेते।

मेरे मत से, किसी भी सौन्दर्यशास्त्र की नींव इस सम्बन्ध के स्वरूप-विश्लेषण पर आधारित है। आदर्शवादी-भाववादी सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य की मनोवैज्ञानिक संवेदनाओं के ही रूप-रूपान्तरों को मूलभूत तथा चरम मानकर चलता है। सौन्दर्य को आत्म-प्रतीति अथवा आत्म-साक्षात्कार का साधन मानकर चलनेवाले, साधारण रूप से, उसको किसी अतीन्द्रिय सत्ता का आत्म-प्रकाश भी मानते हैं। इन आदर्शवादी-भाववादियों में अनेक पन्थोपपन्थ हैं। वे मानव-इतिहास की भी उसी ढंग से व्याख्या करते हैं जिस प्रकार वे जगत् की आध्यात्मिक व्याख्या करते हैं। फलतः, उनके लिए इतिहास, समाज-शक्ति मनुष्य के परिवेश के रूप में ही उपस्थित होती है। वे उसे वह मूलभूत क्रिया नहीं मानते जो मनुष्य को उसके प्रारम्भिक पाशव स्तर से उठाकर मानव स्तर तक तथा उसके आगे भी लगातार उसकी उन्नति करती हुई आ रही है, जिसने उसकी आत्मा को वास्तविकता दी है। इस समाजशास्त्रीय ऐतिहासिक प्रक्रिया के बिना न मानव-सम्बन्ध रह सकते हैं, न वे गतिशील ही हो सकते हैं।

मानव-चेतना, वस्तुतः, मानव-सम्बन्धों से निर्मित तथा उससे उद्गत चेतना है। ये मानव-सम्बन्ध समाज के विकास के साथ परिवर्तित होते रहते हैं, तथा समाज की विशेष स्थितियों की उनमें विशेषताएँ प्रकट होती रहती हैं। विशेषता-संयुक्त ये मानव-सम्बन्ध, मानव-चेतना की मूलभूत नींवें हैं, जिनके आधार पर कला, दर्शन, धर्म तथा साहित्य की सृष्टि होती है। इन्हीं मानव-सम्बन्धों की अवस्था-विशेष के अनुसार मानव की विश्व-दृष्टि भी बनती है। निश्चय ही, उसकी यह विश्व-दृष्टि उसकी चेतना का ही अंग है। इसका अर्थ यह नहीं कि चेतना हमेशा सच्ची बात ही कहती और जानती है। 'चेतना' के भीतर कार्य-कारण सम्बन्धों की अवैज्ञानिकता की अनेक कोटियों से लेकर तो वैज्ञानिकता के जितने भी रूप-रूपान्तर हो सकते हैं, वे सभी सम्मिलित हैं। यदि मानव-सम्बन्ध मनुष्य की आदिम असभ्यावस्था के रूप हैं, तो चेतना भी धर्म के रूप में जादू-टोने तक ही रहेगी। जैसा-जैसा समाज बदलता जायेगा, मानव-सम्बन्ध भी बदलते जायेंगे, तथा चेतना के रूप-स्वरूप में भी परिवर्तन होगा। उसी के अनुसार धर्म का भी विकास होगा। वेदकालीन धर्म मध्ययुगीन धर्म नहीं है। उसी प्रकार रीतिकालीन साहित्य आधुनिक साहित्य नहीं है।

किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि मानव-सम्बन्धों के आमूल परिवर्तन के साथ ही चेतना स्वयं भी यान्त्रिकतापूर्वक आमूल बदल जाती है। चेतना के विकास के अपने गति-नियम हैं, जो सापेक्ष्य रूप से स्वतन्त्र हैं। किन्तु उनकी स्वतन्त्रता की सापेक्ष्यता का बिलकुल सीधा निर्णयकारी नियन्त्रक सम्बन्ध वास्तविक मानव-सम्बन्धों से है। सामाजिक उत्पादन-प्रणाली, कार्य-विभाजन के अनुसार, विविध वर्ग तथा उनके जीवन-यापन की विशेष प्रणालियाँ निर्धारित करती है। एक वर्ग के भीतरी सामाजिक सम्बन्ध सभी तथा विभिन्न वर्गों के परस्पर सामाजिक सम्बन्ध, मानव-सम्बन्ध हैं।

चेतना के तत्त्व बदलते ही उसकी अभिव्यक्ति भी बदल जाती है। किन्तु स्वयं चेतना मानव-सम्बन्धों में परिवर्तन उपस्थित होते ही बदलने लगती है। चेतना को हमारे विचारकों ने अधिकतर व्यक्तिगत अर्थ में ही लिया है। वे चेतना पर सामाजिक प्रभाव भले ही मान लें, किन्तु उसके वस्तु-तत्त्वों को सामाजिक नहीं मानते। उसका प्रधान कारण यह है कि मनुष्य की प्रवृत्तियों के समूह को वे मानव-मन की संज्ञा देते हैं। वे यह नहीं देखते कि ये प्रवृत्तियाँ उन वस्तु-तत्त्वों के बिना ज़िन्दा ही नहीं रह सकतीं, जिनके द्वारा वे सम्पूर्ण, परिवर्धित तथा विकसित होती हैं। यहाँ हम मनोविज्ञान की अथाह थाह में उतरना नहीं चाहते। केवल संक्षेप में यह बता देना चाहते हैं कि भूख-प्यास, काम-वृत्ति तथा आत्म-रक्षा की मूलभूत प्राणिशास्त्रीय प्रवृत्तियों का मानवीय स्थिति-विकास, ऐतिहासिक-समाज-शास्त्रीय नियन्त्रण-रूपायन के बिना असम्भव ही है। यदि ये ऐतिहासिक-समाज-शास्त्रीय शक्तियाँ न होतीं तो मनुष्य बन्दर से कभी भी मानव न हो पाता।

अपने आदिकाल से लेकर तो आज तक, मनुष्य अपनी भूख-प्यास, काम-वृत्ति आदि की पूर्ति न केवल समाज के भीतर करता आया है, वरन् समाज के द्वारा उन्हें परिपूर्त तथा सुसंस्कृत भी करता रहा है। यही कारण है कि अर्ध-सभ्यावस्था में अथवा असभ्यावस्था में जब समाज मातृ-प्रधान था, उत्पादित वस्तुओं के समान वितरण के बावजूद, भूख-प्यास आदि वृत्तियों की पूर्ति उस अविकसित समाज-दशा की प्रतिबिम्ब-रूप थीं। उन वृत्तियों की पूर्ति का साधन सामाजिक था, तथा उन पर नियन्त्रण भी सामाजिक रहा। उन वृत्तियों की पूर्ति प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से जीवन-धारण के लिए आवश्यक होते हुए भी, उस पूर्ति की पद्धति तथा पूर्ति-कार्य में जीवन-मूल्य निहित थे। इन जीवन-मूल्यों के बिना भूख-प्यास, काम-वृत्ति आदि की पूर्ति की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी, न आज भी वह की जा सकती है। अन्तर केवल इतना है कि आधुनिक पूँजीवादी ढाँचे में—जबकि समाज शोषित और शोषक, इन दो प्रधान परस्पर-विरोधी वर्गों में विभाजित हो गया है—भूख-प्यास, काम-वृत्ति, आदि प्राणिशास्त्रीय प्रवृत्तियों के मानवीय जीवन-मूल्यों में भी व्यक्तिवादी उद्देश्य समा गये हैं।

प्रारम्भ में हमारा समाज अर्ध-सभ्य अथवा असभ्य था। उसमें वर्ग न थे। वह मातृ-प्रधान था। व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। व्यक्तिगत

सम्पत्ति स्थापित होने पर हमारा समाज एक बड़ी भारी क्रान्ति के दौरान में से गुज़रा। उसमें विवाह-संस्था स्थापित हुई, जो व्यक्तिगत सम्पत्ति की विरासत चलाने के लिए रची गयी थी। समाज अब मातृ-प्रधान न रहकर पितृ-प्रधान बना। विवाह-संस्था बनते ही मनुष्य स्त्री का अधिकारी हुआ, तथा पुत्र पिता के नाम से पहचाना जाने लगा, माता के नाम से नहीं। स्त्री चिरकाल के लिए पुरुषों की दासी हुई। दास-प्रणाली, सामन्ती पद्धति तथा पूँजीवादी समाज-रचना में स्त्री बराबर दासी ही बनी रही।

जो लोग रोमांस को सामाजिक सम्बन्धों से हटाकर उसे मात्र व्यक्तिगत क़रार देते हैं, वे यह नहीं जानते कि रोमांस का अर्थ मातृ-प्रधान समाज में कुछ भी नहीं था। उन दिनों उसका अधिक-से-अधिक यह अर्थ हो सकता था कि कुछ काल के लिए एक पुरुष एक स्त्री से अधिक हार्दिकता अनुभव करे। किन्तु उसका काम-सम्बन्ध कितनों ही से एक साथ रह सकता था और उन दिनों उसका प्रेमी कदाचित् ही इस सम्बन्ध में कोई दूसरी राय रखे। इसका अर्थ यह नहीं है कि सामाजिक नियम कम सुदृढ़ थे। सामाजिक नियम को भंग करनेवाले के लिए अपनी जान गँवाने का धोखा हमेशा रहता था, और अगर प्रेमी कोई दूसरे विजातीय क़बीले का हो तो लड़ाइयाँ छिड़ जाती थीं। उन दिनों सैक्स के जीवन-मूल्य अत्यन्त सुदृढ़ थे। अन्तर केवल यही है कि वे आज के सामाजिक नियमों से भिन्न थे।

रोमांस का आधुनिक विकास पितृ-प्रधान समाज के बिना असम्भव ही माना जायेगा। इस समाज के भीतर स्त्री पुरुष की आजीवन दासी बनायी गयी। पुरुष स्त्री के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उससे विवाह कर सकता था, किन्तु वही विवाहित स्त्री किसी दूसरे पुरुष पर मुग्ध होकर उससे प्रेम-विवाह नहीं कर सकती थी। एक पुरुष—यदि उसकी आर्थिक दशा अच्छी है तो—कई स्त्रियाँ रख सकता था; किन्तु वही स्त्री किसी दूसरे की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकती थी। स्त्री को क्रमशः वेदाध्ययन आदि प्रधान धार्मिक अधिकारों से भी वंचित बना दिया गया था।

फलतः, स्त्री के प्रति पुरुष का मूलभूत दृष्टिकोण प्रजोत्पादन तथा काम का दृष्टिकोण था। नारी उपभोग्या हुई, तथा साहित्य में उसके इस उपभोग्या रूप का रस ले-लेकर वर्णन किया जाने लगा। 'गोपी-पीन-पयोधर-मर्दन-चंचल-कर-युगशाली'। श्रीकृष्ण राधा के कनक-उरोजों के मुकुर में अपना रूप निहारने लगे। प्रेम चाहे जितना पूर्ण क्यों न हो, शारीरिक आसक्ति के बिना उसमें लावण्य का अभाव माना जाने लगा। हज़ार धार्मिक-सामाजिक बन्धनों के बावजूद नारी नायिका बन गयी। वह परिवारवालों की नज़र से बचते हुए अभिसार करने लगी। रात्रि-पथों पर जूड़े से गिरे हुए फूलों के द्वारा कवियों को उसके प्रेम-पथ का वर्णन करने का अवसर प्राप्त होने लगा। क्षिप्रा नदी के प्रवाहांचलों पर बहती हुई वायु की माधुरी का प्राकृतिक रूप हटकर, उसके स्थान

पर वह समीर कवि को प्रियतम की प्रार्थना-चाटुकारिता के समान प्रतीत हुई।[1] आज की पूँजीवादी समाज-रचना के भीतर, छायावादी कवि को भी पर्वत पृथ्वी के उरोजों-से दिखायी देते हैं। यह उपमा, अपने लिए अनुकूल जान, उसने प्राचीन कवियों से ली है। और कवि साफ़-साफ़ यह कहने लगे कि खुली हुई जंघाओं-वाली रमणियों को भला कौन छोड़ सकता है![2]

अगर आधुनिक स्त्री अपने शारीरिक सौन्दर्य के विषय में मध्ययुगीन कवियों के भाव-विचार देखे तो वह पायेगी कि वह किस प्रकार पुरुषों की भूख का खिलौना हो गयी थी, मानो उसकी अपनी कोई व्यक्तिगत आत्म-सत्ता न हो। अधिक-से-अधिक वह नागमती के शब्दों में इतना ही कह सकती है:

यह तन जारौं छार कै
कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै
कन्त धरै जहँ पाँव॥

इससे अधिक स्त्रियों को और कोई अधिकार न था। पतिप्राण नागमती रत्नसेन को छोड़कर न किसी दूसरे से प्रेम कर सकती थी, न अपने पति को इस बात के लिए मजबूर कर सकती थी कि वह पद्मावती से विवाह न करे। स्त्रियों के सम्बन्ध में तुलसीदासजी की उक्तियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं। कबीर ने भी नारी को माया कहा है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय प्रेम के वर्णन की चार प्रणालियाँ बतलायी हैं।[3] उनसे सामन्ती समाज के स्त्री-पुरुष सम्बन्ध-नियम पर आधारित स्त्री के उपभोग्या रूप की प्रधानता का, तथा स्त्री के सम्बन्ध में पुरुष के सौन्दर्य-मनोविज्ञान का, स्पष्ट पता चलता है। सीता के प्रति राम के प्रेमवाली पद्धति को उन्होंने अत्यन्त उत्कृष्ट बतलाया है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से सीता की जीवनगाथा को देखने पर यह ज्ञात होता है कि इस साध्वी नारी को सामाजिक नियम-विधानों के कारण कितना दुःख और कष्ट उठाना पड़ा। माना कि राम का चरित्र उज्ज्वल था, किन्तु सीता का कम उज्ज्वल नहीं था। फिर भी उस भारतीय महामानवी को कितनी ही अग्नि-परीक्षाओं से गुज़रना पड़ा। सीता की जीनवगाथा से तादात्म्य प्राप्त करनेवाले भवभूति के **उत्तररामचरित** की करुणा, सीता को दुःख देनेवाले व्यक्ति के प्रति कवि की मानवता का विरोध-भाव था। तुलसीदासजी इन प्रकरणों को साफ़ बचा गये।

प्रेम अथवा रोमांस के सम्बन्ध में हमारे समालोचक उसके मात्र स्पन्दनों को ही ग्रहण करते हैं, मात्र अनुभूति को ही स्वीकार करते हैं।

अनुभूति को देखते समय उनका ध्यान उस वस्तु या व्यक्ति की, तथा उसका

---

1. क्षिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकारः। —कालिदास
2. ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः। —कालिदास
3. देखिये—'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका, पृष्ठ 35

अनुभव करनेवाले की, (उस अनुभूति की स्थिति के लिए) परस्परावलम्बिता की ओर जाता ही नहीं। अनुभूति तथा अनुभूति के विषय, अर्थात् वाह्य वस्तु या व्यक्ति के परस्पर सम्बन्ध के विना अनुभूति असम्भव होती है। वे सम्बन्ध अनुभूति के स्वरूप में ही निहित होते हैं। अनुभविता तथा तत्सम्बन्धित वस्तु अथवा व्यक्ति उस पूरे जगत् में रहते हैं जिसे हम वर्ग और समाज कहते हैं। समाज तथा उसके भीतर वर्गों की परस्पर सम्बन्धित स्थिति के अनुसार जो वास्तविक मानव-सम्बन्ध तैयार होते हैं, वे मानव-सम्बन्ध ही मनुष्य के क़ानूनी, राजनैतिक, धार्मिक नियम-विधानों में व्यक्त होते हैं। इन मानव-सम्बन्धों की स्थिति, स्वरूप तथा विकासावस्था के आधार पर, तथा उनके अनुसार, हमारी विश्व-दृष्टि, नैतिकता तथा जीवन-मूल्य वनते हैं। यह विश्व-दृष्टि और जीवन-मूल्य हमारी अभिरुचि, संस्कार, शिष्टता की मर्यादाएँ तो वनाते हैं, साथ ही वे वस्तु या व्यक्ति के प्रति हमारे दृष्टिकोण का भी निर्माण करते हैं। इस दृष्टिकोण को अलग कर अनुभूति की स्थिति असम्भव है।

अपनी वात के स्पष्टीकरण के लिए एक उदाहरण लें। राजस्थान में राजपूत जागीरदार-ठिकानेदारों के समाज में दहेज में दास-दासी प्राप्य होने की प्रथा अभी तक मौजूद है। शायद इस समय क़ानूनन वह वन्द हो गयी हो। उन दासियों से अनेक अनियमित सन्तानें पैदा होती हैं और उन्हीं परिवारों में वे दास के रूप में वढ़ चलती हैं। दासी-पुत्रों के विस्तार के कारण जव परिवार वढ़ चलता है, तव वहुत वार उनका आर्थिक भार अक्षम्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में उन पुत्रों को घर से निकाल दिया जाता है। मध्य-भारत तथा राजपूताने में वेचारे दासी-पुत्र मारे-मारे फिरते हैं।

ऐसे प्रतिष्ठित राजपूत भी कम नहीं हैं जो इस प्रथा को वुरा समझते हैं। अव ज़रा कल्पना कीजिये ऐसे भूतपूर्व किन्तु धनी जागीरदार व्यक्ति की, जो एक ओर तो अपने घर की लावण्यवती स्त्री को देवी समझता है, उसकी प्रत्येक गतिविधि का आदर्शीकरण करता है, किन्तु साथ ही, अपनी अधिकार-गर्व से पूर्ण सामन्ती वासना को दासियों से शान्त करता है। दासियों से उसके काम-सम्बन्ध, वस्तुतः, मालिक और ग़ुलाम के सम्बन्ध हैं। इस भौतिक वास्तविक सामाजिक सम्बन्ध के कारण ही वह उनको अपनी काम-तृप्ति के भौतिक साधन के अतिरिक्त कुछ नहीं समझता। उस वास्तविक भौतिक-सामाजिक सम्बन्ध के आधार पर ही दासी-स्त्री के प्रति उसकी दृष्टि-विचार-भावना ने उसकी काम-वासना को एक विशेष रूप दिया है। दासी के प्रति उसकी काम-वृत्ति, तथा अपनी विवाहिता वधू से उसके काम-सम्बन्ध, व्यक्त जीवन-दृष्टि तथा जीवन-मूल्यों में—अर्थात् मानव-सम्बन्धों में महान् भेद है। वस्तु अथवा व्यक्ति-सम्बन्ध के भीतर सामाजिक सम्बन्धों की वास्तविकता नित्य आधारभूत रूप में रहती है। किन्तु प्रवृत्तियों का रूपायन भी न केवल वाह्य वस्तु-व्यक्ति-सम्बन्धों के भीतर सामाजिक सम्बन्धों से होता है, वरन् वे प्रवृत्तियाँ स्वयं किसी जीवन-यापन-

पद्धति के वंशानुगत अनुभवों और विकास प्रणालियों पर निर्भर हैं। यह जीवन-यापन-पद्धति एक वर्ग के भीतर होती है। उस वर्ग का अपना एक वर्ग-चरित्र होता है। उस वर्ग-चरित्र से तुरन्त हम पहचान लेते हैं कि यह व्यक्ति निम्न-वर्ग का है, मध्यवर्ग का है, अथवा पुराने सामन्ती वर्ग का प्रतिनिधि है, अथवा नवीन पूँजीवादी पढ़े-लिखे शासकीय-व्यापारिक वर्ग का है। वर्ग-चरित्र में नैतिकता के सुविधाजनक मान रहते हैं। ये सामाजिक मान व्यक्तिगत धरातल पर जीवन-मूल्य बन जाते हैं। वर्ग अथवा समाज की विश्व-दृष्टि व्यक्तिगत धरातल पर निजी दृष्टि बन जाती है। एक सामन्ती वर्ग में अनेक-स्त्री-सम्बन्ध को शुद्ध सम्पूर्ण सामाजिक दृष्टि से, विश्व-दृष्टि से, बुरा भले ही माना जाये, आचरणात्मक धरातल पर न केवल उसके प्रति उपेक्षा की दृष्टि बरती जाती है, वरन् उस उपेक्षा-दृष्टि का लाभ उठाकर वैसा ही आचरण किया जाता है। जब किसी वर्ग में धड़ल्ले से ऐसी प्रवृत्तियाँ चलती रहती हैं, तब धीरे-धीरे उनकी निन्दनीयता उपेक्षणीयता की मंज़िल लाँघकर वरणीयता तक पहुँच जाती है। यहाँ तक कि हमारे ग्वाले तो यह कहने लगते हैं कि जब तक हम दूध में पानी न मिलायें तब तक हम पर लक्ष्मी प्रसन्न ही नहीं हो सकती। यद्यपि समाज की विश्व-दृष्टि इस सम्बन्ध में अलग है, किन्तु ग्वाले की दृष्टि को विश्व-दृष्टि के साम्राज्य के भीतर औपनिवेशिक स्वराज्य हासिल है। ग्वाला उस विश्व-दृष्टि को चुनौती नहीं देता, मान लेता है, किन्तु करता अपने मन की ही है, वही करता है जो उसके व्यवसायवाले सब करते हैं, एकाध अपवाद को छोड़कर। धीरे-धीरे उसके जीवनमूल्य केवल वैचारिक अभ्यास में परिणत हो जाते हैं, तथा उन्हें कार्य-प्रणाली का गौरवपूर्ण स्थान मिल जाता है। एक वर्ग के भीतर अपनी विशेष जीवनयापन-प्रणाली की आवश्यकताओं के अनुसार व्यक्ति अपने जीवन-मूल्य बना लेता है—ऐसे जीवन-मूल्य जो सामान्यतया उस श्रेणी में प्रचलित हैं। ठीक उसी प्रकार शासक सामन्ती वर्ग की वासना-प्रणाली का भी हिसाब है। जो लोग हिन्दुस्तान के रियासती सामन्ती वर्ग में रहे हैं, उन्हें मेरी बात की ताईद करनी पड़ेगी कि सामन्ती वर्ग की वासना-प्रवृत्ति और उसके मनोवैज्ञानिक तत्त्व, युगों से शोषक शासन की अपनी स्थिति के कारण, विशेष प्रकार से बलवान हो गये हैं। इस प्रवृत्ति का रूपायन तथा नियमन भी एक विशेष वर्ग की विशेष जीवन-यापन-पद्धति ने किया है। अतएव, निष्कर्ष यह निकला कि न केवल वर्तमान मानव-सम्बन्ध चेतना के भीतर प्रवेश कर उसके निज-तत्त्व बन जाते हैं, वरन् यह कि चेतना की प्रवृत्तियों का रूपायन-नियमन भी वे ही करते हैं। उनके रूपायन की मूल शक्ति उस वर्ग के अपने चरित्र तथा स्थिति में सन्निहित है। जो प्रवृत्ति वर्ग-विशिष्ट जीवन-यापन-पद्धति के प्रतिकूल जायेगी, वह या तो दब जायेगी, नष्ट हो जायेगी अथवा उस व्यक्ति को अपने वर्ग से भटका देगी।

हम यह बतला चुके हैं कि विशेष प्रकार के वर्ग-जीवन के मानव-सम्बन्धों के कारण, प्राणिशास्त्रीय भूख भी अपने विभिन्न मनोवैज्ञानिक रूपाकार ग्रहण करती

है। ये मनोवैज्ञानिक रूपाकार एक ही अनुभूति की श्रेणी में, वैज्ञानिक सुविधा के लिए, रखे तो जा सकते हैं, किन्तु उनके भीतर प्रकट सम्बन्ध-तत्त्वों की विभिन्नता के यथार्थ को तो मेटा नहीं जा सकता। ये सम्बन्ध-तत्त्व एक ही श्रेणी की अनुभूति को विभिन्न अनुभूतियाँ बना देते हैं। उदाहरणतः, अपराधी के प्रति क्रोध, अपने आप पर क्रोध, उचित क्रोध, अनुचित क्रोध, अपने स्वार्थ को हानि पहुँचानेवाले के प्रति क्रोध, वर्ग के देश के विश्व के स्वार्थ को हानि पहुँचानेवाले के प्रति क्रोध, ऐसा क्रोध जो अन्धा होकर हानि पहुँचानेवाले को मार डालता है—जैसा कि हमारे मध्यप्रदेश की पिछड़ी हुई जातियों में होता है—(ज़रा-ज़रा-सी बात पर, विशेषकर स्त्री-सम्बन्धों को लेकर, कुल्हाड़ियाँ चल जाती हैं), ऐसा क्रोध जो दार्शनिक आवरण में लपेटा जाकर हल्की-सी मुसकान में खिल उठता है, जैसे अतिशिक्षित श्रेणियों में पाया जाता है, आदि-आदि। यद्यपि मात्र वैज्ञानिक सुविधा के लिए, इस भावावेग को हम क्रोध-मात्र की श्रेणी में रख सकते हैं, किन्तु उसकी प्रसंग-बद्ध विभिन्नता के यथार्थ को मेटा नहीं जा सकता। क्रोध में भी उस क्रोधी व्यक्ति की प्रवृत्ति, जीवन-मूल्य तथा दृष्टि देखी जा सकती है, तथा उन्हीं में विशेष मानव-सम्बन्ध परिलक्षित होते हैं। क्रोध-भाव की चेतना के भीतर ही विशेष मानव-सम्बन्ध अपने सामान्य तथा विशिष्ट रूप में देखे जा सकते हैं। इन सम्बन्धों को लेकर ही क्रोध का यह भाव अपनी विशेषताएँ तथा विभिन्नताएँ ग्रहण करता है।

छायावादी गीतिकाव्य में अमूर्त्तीकरण के द्वारा हम उस अनुभूति-मात्र को ही लेकर चलते हैं, तथा सम्पूर्ण वास्तविक अनुभूत सम्बन्धों के उद्घाटन की ओर अग्रसर नहीं होते। प्रतीकों द्वारा हम अपने-आपको प्रकट करते हैं। छायावाद के आलोचक-समीक्षकों की दृष्टि अनुभूतियों की जीवनगत वास्तविकताओं का विश्लेषण-सामान्यीकरण नहीं करती, वरन् उस अनुभूति-मात्र को ही सर्वाधिक प्रधानता देती है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य आत्मपरक काव्य है, इसलिए उसमें बाह्य सम्बन्धों की इतनी प्रधानता नहीं है। छायावादी काव्य उपन्यास नहीं है कि उसमें अनुभूति की पूरी भूमिका समझायी जाये। यह टिप्पणी बिलकुल ठीक है। किन्तु हमारी आपत्ति यह है कि छायावादी काव्य की मान्यताओं के आधार पर कोई साहित्य-सिद्धान्त तैयार नहीं हो सकता। साधारण रूप से साहित्य तथा सौन्दर्य की आदर्शवादी-रहस्यवादी व्याख्या करने के हेतु, साहित्य से जो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं, वे छायावादी अथवा तत्समान अन्य काव्य में से ही लिये जाते हैं। उपन्यास, निबन्ध, समीक्षा, कहानी आदि कम आत्मपरक और अधिक वस्तुपरक साहित्य से उदाहरण तथा प्रेरणा ग्रहण करते हुए, साहित्यिक सामान्यीकरणों पर आकर, हमने अपनी साहित्यिक अभिरुचियों तथा मानदण्डों को नहीं बनाया है।

मानव-चेतना के सामाजिक रूपायन के सम्बन्ध में हम ऊपर कह चुके हैं। प्रत्येक युग, अपनी सामाजिक-ऐतिहासिक स्थिति की अनुभूत आवश्यकता के अनुसार

अपना साहित्य-निर्माण किया करता है। प्रश्न यह है कि आख़िर युग का अर्थ क्या ? निश्चय ही, यहाँ हम उस क्षेत्र में पहुँच जाते हैं जिसे हम समाज-शास्त्रीय-ऐतिहासिक विकास की स्थिति परिस्थिति कह सकते हैं। उदाहरणार्थ, रोमन साम्राज्य के ह्रास-काल में एक उच्चवर्गीय श्रेणी सारे राज्य-क्षेत्र पर अत्याचारी शासन करती थी। दासों में भयानक असन्तोष भी पाया जाता था। किन्तु दासों की चेतना का विकास इतना न था कि वे मूलभूत सामाजिक क्रान्ति कर सकें। ऐसे समय उन्होंने ईसा के सन्देश के द्वारा प्रेरणा प्राप्त की, तथा धर्म-भावना से दृढ़ होकर रोमन शासकों के विरुद्ध आगे क़दम बढ़ाये। ये क़दम भी दासों की तत्कालीन चेतना-विकासावस्था के अनुसार अनाक्रामक थे। फलतः, शासक और शासित में सुदीर्घ युद्ध चलता रहा, जो वस्तुतः वर्ग-युद्ध था। ऐसे समय एक ओर, निम्न वर्ग की सांस्कृतिक चेतना ईसाई धर्म से संवेदित थी, किन्तु विद्वानों के अनुसार तत्कालीन रोमन साहित्य इस विषय में मौन धारण किये रहा, आगे चलकर भले ही उसमें ईसाई गूँजें उठी हों। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जिस ऐतिहासिक युग में कोई विशेष ऐतिहासिक घटना-विकास हो रहा हो, उसका ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब साहित्य में उभरे ही, यह आवश्यक नहीं है। इसका सबसे बड़ा कारण है कि सांस्कृतिक-साहित्यिक एकाधिकार रखनेवाला वर्ग, शेष समाज से अपने को अलग कर, अपने वर्ग की विशेष प्रवृत्तियों तथा उन प्रवृत्तियों की आवश्यकताओं को साहित्य में व्यक्त करता है। अतएव शिष्ट-साहित्य एक ओर बढ़ता है, समाज के निम्न वर्गों की वास्तविकताओं के अनुसार शोषितों की कला दूसरा मार्ग ग्रहण करती है—यद्यपि यह निम्नवर्गीय कला अपने कुछ उपादान और मूल विचार उच्चवर्गीय श्रेणी से भी ग्रहण करती है।

हिन्दी का श्रृंगारी रीतिकाल तत्कालीन निम्न वर्गों की वृत्तियों को सूचित नहीं करता। उसकी वासनामूलक श्रृंगारिकता का जन्म तथा विकास एक विशेष सामन्ती वर्ग की विशेष विकास-स्थिति से ही हुआ। अतएव, युग-स्थिति का सच्चा अर्थ है उस विशेष श्रेणी की स्थिति जो सांस्कृतिक-साहित्यिक क्षेत्र का नेतृत्व कर रही हो। इस नेतृत्व करनेवाली श्रेणी पर राजनैतिक शासन होता है तत्कालीन सर्वोच्च शासक वर्ग का, जो कि सांस्कृतिक-साहित्यिक नेतृत्व प्रदान करनेवाली श्रेणी से मिला-जुला तथा सम्बद्ध होता है।

इस वर्ग-स्थिति के अनुसार किसी विशेष साहित्य-युग के अपने विशेष विषयों का चुनाव होता है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर तो आज तक हम विशेष युग के विशेष विषयों की प्रदर्शनी को देख सकते हैं। युग-विशेष के विशेष विषय, तत्कालीन समाज-विकासावस्था के भीतर विभिन्न वर्गों की विभिन्न स्थितियों तथा उनके विविध सामाजिक मानव-सम्बन्धों से निर्धारित होते हैं। ये विविध विषय अपने को अभिव्यक्त करने के लिए उस वर्ग के हृदय में अकुलाते रहते हैं, जो उस काल में साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र के भीतर निर्णायक रूप से प्रभावशाली हो उठते हैं। किन्तु साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रभावशाली होने के लिए

उसे पहले समाज में महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावशाली होना होता है।

साहित्य एक कला है, जिसमें समाज का नेतृत्व करनेवाला प्रधान वर्ग—(जो कि संस्कृति का भी नेतृत्व करता है, अथवा विशेष सामाजिक-ऐतिहासिक विकास पर आधारित घटना-चक्रों के कारण, समाज का अध्वर्यु न होते हुए भी, प्रमुख रूप से प्रभावकारी हो जाता है, जैसा कि सामन्ती समाज-रचना के भीतर, सनातनी ब्राह्मण-धर्म के पूरे ज़ोर के बावजूद, मध्ययुग के भक्ति-आन्दोलन में निम्न वर्ग के कबीर, रैदास, नामदेव आदि, ईश्वर के सम्मुख मानव-साम्य के समर्थक, क्रान्तिकारी कवियों का प्रादुर्भाव बतलाता है।)—वह प्रधान वर्ग तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक स्थिति के द्वारा, सामान्य रूप से, नियन्त्रित मनोवृत्तियों के अनुसार अपने साहित्य-सृजन के विषयों का निर्वाचन करता है। साहित्य के विशेष विषयों को निश्चित करनेवाली ये मनोवृत्तियाँ तत्कालीन स्थिति-सापेक्ष्य हैं। इन मनोवृत्तियों को सक्रिय करने का श्रेय भले ही किसी महान् साहित्यकार को प्रदान किया जाये, वह साहित्यकार स्वयं उन्हीं मनोवृत्तियों का संचय होता है जो उसे समाज से प्राप्त होती हैं। उस साहित्यकार का महत्त्व केवल यही होता है कि उसने उन मनोवृत्तियों को साहित्य में पहलेपहल प्रकट कर अन्यों को नेतृत्व प्रदान किया। हिन्दी में पन्त, प्रसाद, निराला इसीलिए छायावाद के उन्नायक कहलाये। किन्तु यूरोप में रोमैण्टिक कवियों की प्रभाव-छायाओं को हटाकर, रिक्त मध्यमवर्गीय नैतिकता और तथाकथित आदर्शवाद के विरुद्ध, नाटकों के क्षेत्र में, शॉ ने क़लम उठायी। मध्यवर्गीय जीवन-मूल्यों के प्रति विरक्ति एल्डूस हक्सले ने अपने उपन्यासों में प्रकट की। काव्य के क्षेत्र में टी. एस. ईलियट की उसी महाविरक्ति ने अपने बंजर मैदान दिखलाये। सामाजिक ह्रास को नष्ट करने के लिए शॉ किन्हीं अर्थों में 'अतिमानव' की अवैज्ञानिक प्रतिक्रियावादी फ़ासिस्टिक कल्पना को थामे रहे। (उन दिनों पश्चिमी यूरोप में नीत्शे तथा स्पेंगलर बहुत लोकप्रिय दार्शनिक थे।) इसीलिए, बर्नार्ड शॉ के बारे में लेनिन ने यह कहा कि शॉ साहब बुरी संगत में फँसे हुए अच्छे आदमी हैं। अपनी 'अतिमानव' की कल्पना का किसी-न-किसी रूप में परित्याग कर शॉ समाजवाद के भक्त हुए, तथा नवीन साम्यमूलक समाज-रचना उनका आदर्श हुआ। इसके विपरीत, मध्यवर्गीय जीवन-मूल्यों के प्रति विरक्ति से ग्रस्त होकर, एल्डूस हक्सले की सम्पूर्ण मानव-श्रद्धा ही समाप्त हो गयी। मनुष्य को ओरांगउटांग से अधिक महत्त्व देना उन्हें स्वीकार न हुआ। टी. एस. ईलियट, इशरवुड, एल्डूस हक्सले को अपनी जर्जर आत्मा की समस्याओं का हल गिरजाघर तथा वेदान्त में ही दीखा, और उन्हीं की मनोवृत्तियोंवाला कवि एज़रा पाउण्ड अन्त में राजनैतिक क्षेत्र में भी घोर फ़ासिस्ट हो गया।

मध्यवर्गीय जीवन-मूल्यों के प्रति इस विरक्ति-भाव के अनुसार, विषय-निर्वाचन हुआ। यह विरक्ति-भाव जीवन की गतिहीनता का लक्षण तथा प्रतिबिम्ब था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद (तथा विश्व साम्राज्यवाद), पूंजीवादी समाजरचना के ह्रास-काल का ही द्योतक था। प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त तो वे

मानवादर्श, जो पूँजीवादी व्यक्तिवाद ने साहित्य तथा समाज में खड़े किये थे, खोखले प्रतीत हुए। जीवन-मूल्यों के खोखलेपन की चेतना के साथ-ही-साथ जीवन की गतिहीनता का भाव भी प्रबल था। यह गतिहीनता क्यों थी ?

संवेदनशील मनुष्य को जीने के लिए, दो बातें विशेष रूप से आवश्यक हैं। एक तो यह कि सांसारिक क्षेत्र में उसकी सर्वांगीण सामंजस्यपूर्ण उन्नति होती चली जाये; दूसरे, उसके सम्मुख कोई ऐसा आदर्श हो जिसके लिए वह जी सके या मर सके।

प्रथम विश्व-युद्ध ने यूरोपीय पूँजीवादी सभ्यता के आत्म-विरोधों को खुलकर खेलने का मौक़ा दिया। युद्ध, परस्पर-संघर्ष और भयानक लोभ की वास्तविकता ने सांस्कृतिक संकट उपस्थित किया। कवियों और दार्शनिकों ने मनुष्य के चिथड़े-चिथड़े उड़ते देखे। युद्ध के पूर्व सिपाही को यह बतलाया गया था कि वह अपने देश के लिए लड़ रहा है। किन्तु बाद में उसको यह पता चला कि वह धोखे में था। इतने बड़े पैमाने पर मनुष्य-हत्या के व्यापक विद्रूप के यथार्थ चित्र ने पूँजीवाद के व्यक्तिवादी मूल्यों का पर्दाफ़ाश किया। उधर, पूँजीवादी समाज-रचना के भीतर ही मध्यम-वर्ग की स्थिति निरापद न रही। पुराने आदर्श-स्वप्न टूट चुके थे। नये आदर्श-स्वप्न तैयार होने के लिए व्यापक सामाजिक कर्तव्यों की जो चेतना आवश्यक होती है, वह इसलिए नहीं थी कि उस वर्ग की आय का सबसे बड़ा ज़रिया ख़ुद की मेहनत न होकर बड़ी-बड़ी कम्पनियों में उसके हिस्से और बैंक-बैलेंस ही तो था। उसने पूँजीपतियों से अपने को तदाकार कर रखा था। एक ओर पूँजीवाद के भयानक विद्रूप का स्वरूप उसके सामने खुल चुका था, किन्तु दूसरी ओर अपनी नौकरियों और आमदनियों के लिए वह उसी पर न केवल अवलम्बित था, वरन् अपनी उन्नति के लिए वह उसी की ओर देखता भी था। यह आत्म-विरोध ही उस अगति का जनक था जिसने विरक्ति के रूप में काव्य की सृष्टि की। एक ज़माना था जब पूँजीवाद के विद्रूप की विभीषिका लोगों पर व्यापक रूप से खुली नहीं थी, और आशावाद के लिए पर्याप्त अवकाश और क्षेत्र प्रतीत होता था। इस लिए ब्राउनिंग यह कह सका :

> ग्रो ओल्ड एलॉंग विथ मी
> दि बैस्ट इज़ येट टु बी
> दि लास्ट ऑफ़ लाइफ़ फ़ॉर ह्विच दि फ़र्स्ट वॉज़ मेड

इसके विपरीत, पूँजीवादी शोषण पर आश्रित मध्यवर्ग को उक्त पंक्तियाँ खोखली दिखायी दीं, वास्तविकता के प्रतिकूल मालूम हुईं, और उसके एक कवि टी. एस. ईलियट ने यह कहा :

> वी ग्रो ओल्ड, वी ग्रो ओल्ड
> वी वेयर दि बॉट्म्स ऑफ़ अवर ट्राउज़र्स रोल्ड।

उपर्युक्त अगतिकता को ध्यान में रखकर ही उसने कहा :

> माई कैण्डिल बर्न्स ऐट बोथ दि एंड्स, ऐट बोथ दि एंड्स।

इत अगति के कारण ही मानव-मात्र पर श्रद्धा उठ गयी। नवीन विषयों से नवीन प्रतीक चुने गये। उसके काव्य-प्रतीक आत्म-ग्रस्त विरक्ति को सूचित करने लगे, तथा सभ्यता की जो भावात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गयी, वह विरक्ति, व्यंग्य और अश्रद्धा की व्यक्तिबद्ध दृष्टि से ही हुई थी। विश्वव्यापी ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर ब्रिटेन के इस अगतिवादी काव्य का प्रभाव यूरोप के तमाम पूँजीवादी मध्य-वर्गों पर पड़ा। पश्चिमी यूरोप में केवल टॉमस मान और रोम्याँ रोलाँ ही संघर्ष-शील मनुष्य के जीवनादर्शों की नैतिक सत्यता पर श्रद्धा बनाये रहे। इन अल्प किन्तु महान् अपवादों को छोड़ शेष साहित्य तथा काव्य अश्रद्धा, रिक्तता, मृत्यु और आत्मग्रस्त वासना को प्रकट करने लगा।

कहने का सारांश यह है कि तत्कालीन मानव-सम्बन्धों की विशेष स्थिति के भीतर रहकर, यूरोपीय मध्यवर्ग ने अपनी अगति के अनुकूल विषय चुने। हम पहले ही यह कह चुके हैं कि साहित्य एक कला है जिसमें एक विशेष वर्ग (जो कि संस्कृति का अधिकारी होता है—अथवा सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रभावकारी हो जाता है) अपनी ऐतिहासिक, सामाजिक स्थिति की आवश्यकताओं के अनुसार अपने प्रधान विषय चुनता है। इस विषय-निर्वाचन में निश्चय ही तत्कालीन मानव-सम्बन्ध, विश्व-दृष्टि तथा जीवन-मूल्य प्रकट होते हैं। कवि तथा अन्य कला-कार उन विषयों में रमकर उनका मूर्तीकरण करते हैं। उनके मूर्तीकरण के लिए अभिव्यक्ति का संगठन आवश्यक होता है। इस संगठन को हम कला का बाहरी रूप-विधान कहते हैं। किन्तु सौन्दर्य, वस्तुतः, विधान तक ही सीमित न होकर आन्तरिक होता है। सौन्दर्य की यह आन्तरिकता, वस्तुतः, अनुभूति के मूल में स्थित मानव-सम्बन्धों, विश्व-दृष्टि तथा जीवन-मूल्यों से बनती है। ये जीवन-मूल्य, मानव-सम्बन्ध तथा विश्व-दृष्टि उस वर्ग की विशिष्ट दृष्टि होती है जो साहि-त्यिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में अपने को अभिव्यक्त करती है। अतएव, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सौन्दर्यात्मक-मनोवैज्ञानिक पक्ष की सम्यक् समीक्षा के लिए ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय पक्ष पहले आवश्यक है। इसका दूसरा पहलू यह है कि मानव-सम्बन्ध, विश्व-दृष्टि तथा जीवन-मूल्य बदलते ही सौन्दर्य के मान भी बदल जाते हैं। फलतः, छायावादी को ब्रजभाषा की कविता छींट की ओढ़नी प्रतीत हुई। सूर और तुलसी के प्रति सम्पूर्ण आदर रखते हुए भी राम और कृष्ण उसके काव्याधार न हुए। न केवल विषय बदले, छन्द-विधान भी बदल गये। अभिरुचि बदल गयी।

अब यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है। वह यह कि अगर सौन्दर्य के मान और अभिरुचियाँ बदल जाती हैं तो फिर हमें पूर्वकालीन सौन्दर्य और अभिरुचियाँ बहुत बार क्यों आकर्षित तथा प्रभावित करती हैं। इसका स्पष्ट उत्तर हमें साहित्य के शाश्वत तथा अशाश्वत पक्ष के विश्लेषण से मिल सकता है।

हम एक उदाहरण लेंगे। तुलसीदास का **रामचरितमानस** हमें आज भी प्रभा-वित करता है। किन्तु क्या हमें तुलसीदासजी के आचार-विचार प्रभावित करते हैं? नहीं। जिन सामाजिक नियम-विधानों में राम रहे, क्या हमें अपने लिए वे

नियम-विधान पसन्द हैं ? नहीं। फिर वे कौन-सी बातें हैं जो हमें प्रभावित करती हैं ? वह है राम का व्यक्तित्व। किन्तु क्या हम उन मानव-सम्बन्धों के बिना राम के व्यक्तित्व को समझ सकते हैं ? बिलकुल नहीं।

वे आचार-विचार, वे नियम-विधान, वे मानव-सम्बन्ध हमें आज अपने अनुकूल न मालूम हों, किन्तु तुलसीदास और उनके प्रिय-पात्र राम की स्थिति उनके बिना असम्भव ही थी। तत्कालीन मानव-सम्बन्ध, विश्व-दृष्टि तथा जीवन-मूल्यों के सर्वोच्च प्रतीक राम की मानवता हमें प्रभावित करती है। तुलसीदासजी तथा रामचन्द्रजी की वह सचेष्ट आन्तरिकता (जो तत्कालीन आदर्शों से बनी हुई थी) हम पर छा जाती है। वे नियम-विधान, वे आचार-विचार, अब आज त्याज्य हो चुके हैं; किन्तु, उनके भीतर जो तत्कालीन मानव-सम्बन्ध हैं उनका कहीं भी भंग न करते हुए, राम ने निषाद और गुह से भी आलिंगन किया, शबरी के बेर खाये, केवट से दोस्ती की, वनवासी असभ्यों को गले लगाया—तत्कालीन मानव-सम्बन्धों का वास्तविक निर्वाह उन्होंने अपने इन्हीं आदर्श-क्षणों में किया। उनसे वे मानव-सम्बन्ध अधिक घनीभूत ही हुए। निषाद निषाद ही रहा, गुह गुह ही, और राम का रामत्व अपने सम्पूर्ण सामन्ती मानवादर्श में जगमगा उठा। तत्कालीन मानव-सम्बन्धों के घेरे के भीतर मानवता की जितनी भी सर्वोच्चता सम्भव थी, उतनी तुलसीदास के राम में समा गयी। इसीलिए तत्कालीन समाज के आदर्श-चरित्र राम हैं। राम की इस आदर्शमयी आन्तरिकता के चित्र—उनकी भीतरी मानवता के ये शिखर—हमें आज भी द्रवीभूत करते हैं।

तत्कालीन नियम-विधान, आचार-विचार मर गये, किन्तु राम की मानवता हमारी संस्कृति की एक पुरानी मंज़िल के रूप में आज भी खड़ी है। ये नियम-विधान, ये आचार-विचार निश्चय ही अशाश्वत हैं, किन्तु राम का चरित्र हमारे लिये मूल्यवान होने के कारण शाश्वत रहा। चूँकि हम भी अपने वर्तमान युग के सर्वोच्च आदर्शों, वर्तमान समाज के सर्वश्रेष्ठ मूल्यों को आत्मसात् करने के लिए प्रस्तुत हैं, अथवा उन्हें आत्मसात् करना आवश्यक समझते हैं, इसीलिए हमें उन प्राचीनों से तथा उनकी तत्कालीन पूर्णता से प्रेरणा प्राप्त होती है। चूँकि हमें उनसे प्रेरणा प्राप्त होती है, हमें अपने आदर्श-पथ पर वे प्रेरणा-रूप में सहायक प्रतीत होते हैं, इसीलिए वे हमारे लिए मूल्यवान हैं। यही कारण है कि हमारे लिए राम का चरित्र सुन्दर है, और, चूँकि हमें यह विश्वास है कि वह आगे की पीढ़ियों को भी इसी प्रकार प्रेरणा प्रदान करता जायेगा, इसीलिए वह शाश्वत भी है।

किन्तु तत्कालीन नियम-विधान-आचार जो आज हमें ग्राह्य नहीं हैं, जो बिलकुल मर चुके हैं, जो अशाश्वत हैं, उनका प्रभाव कुछ रूढ़िवादियों पर अभी भी है। राम के चरित्र से उनकी आँखों में आँसू आते हैं, वे सामन्ती विश्व-दृष्टि के आँसू हैं। ऐसे लोग यदि सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक क्षेत्र में सक्रिय हुए, तो वे सामन्ती मानव-सम्बन्धों, विश्व-दृष्टि तथा जीवन-मूल्यों को, अपनी आवश्यकता के अनुकूल कुछ हेरफेर करके, सामने रखते हैं। राम-चरित्र उसके लिए

ढाल का काम करता है। तुलसीदासजी के साहित्य ने, वस्तुतः, हमारे रूढ़िवादियों के हाथ मज़बूत किये। और अगर नवयुग के उद्‌गाताओं ने उससे प्रेरणा प्राप्त नहीं की, तो इसका कारण यह है कि उन्होंने राम-चरित्र के प्रति सच्ची ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय दृष्टि नहीं रखी, उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास का वैज्ञानिक विश्लेपण तथा मूल्यांकन नहीं किया।

ऐसा भी होता है कि कुछ विशेष युग-खण्डों में तत्कालीन ऐतिहासिक-सामाजिक स्थिति द्वारा नियन्त्रित जीवनादर्शों, मूल्यों तथा अभिरुचियों के कारण, न केवल साहित्य में ग़लत मूल्यों का प्रयोग होता है, वरन् उन ग़लत मूल्यों की कसौटी पर कसकर सत्साहित्य को साहित्य-क्षेत्र से बाहर कर दिया जाता है। ध्यान में रखने की बात है कि ब्रिटेन में बेन जॉनसन-सरीखे पुराणपन्थी विद्वानों की अभिरुचियों ने, यूनानी नाटक के टेकनीक़ को आदर्श मानकर, शेक्सपीयर के नाटकों को घटिया साबित किया था। उठते हुए नवीन व्यापारी पूँजीवादी वर्ग तथा सामन्ती वर्ग के समझौतों से बनी हुई सापेक्ष्य सामाजिक स्थिरता के काल में, शेक्सपीयर के सामन्ती चरित्रों की दुःखान्त स्थिति के चित्रण को भला उन दिनों कौन कलात्मक मान सकता था? जब ब्रिटेन में सामन्ती प्रभाव नष्ट हुआ, तब कहीं शेक्सपीयर की कला पर लोगों का ध्यान गया।

साहित्य के, सौन्दर्य के, मान नित्य काल-सापेक्ष्य रहे हैं, किन्तु इसका अर्थ केवल यही है कि हमारे यहाँ पहले साहित्य तथा सौन्दर्य की जो कल्पनाएँ थीं, उनके हमारे लिए जो मूल्यवान अंग थे, उनको ही अपने में समाहित किया, तथा वे हमारी परम्परा में समा गये।

साहित्य तथा कला में मूल्यवान क्या है और क्या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर भी काल-सापेक्ष्य ही है। किन्तु यदि हम सम्पूर्ण मानव-समाज के विकास-क्रम को देखें, तो पायेंगे कि मनुष्य-समाज ने प्रत्येक नवीन समाज-रचना में पूर्वकालीन समाज-रचना से अधिक स्वतन्त्रता पायी है। समाज-रचना के आमूल परिवर्तनों के बावजूद, नया समाज पिछले समाजों की सर्वोत्कृष्ट देन को स्वीकार करता आया है। कई बार अन्धकार-युग भी अपना चमत्कार दिखाते आये हैं। जैसे कि यूरोपीय मध्य-युग में यूनानी वैज्ञानिकता तथा कलादर्श को स्वीकार नहीं किया गया। जब नवीन पूँजीवादी, राष्ट्रवादी युग का आरम्भ हुआ, तब पुरानी यूनानी कला तथा उनका सम्यक् उपयोग भी जहाँ-तहाँ किया गया।

अगर हम वैज्ञानिक क्षेत्र में उतरें, तो पायेंगे कि नवीन विज्ञान पुराने वैज्ञानिक सत्यकणों को अपने में समाहित किये हुए है। इसीलिए वह प्राचीन विज्ञान से अधिक सम्पन्न भी है। किन्तु विज्ञान के क्षेत्र में, सत्यों के जिस संगठन को हम थ्योरी कहते हैं, वह थ्योरी लगातार विकसित होती गयी। आइंस्टाइन के सापेक्षतावादी वैज्ञानिक सिद्धान्त ने न्यूटन के सिद्धान्त को अपने में समाहित कर गुरुत्वाकर्पण सिद्धान्त का स्वरूप ही बदल डाला। किन्तु न्यूटन के अन्वेपणों और खोजों का अपना वैज्ञानिक महत्त्व तो है ही। इन अन्वेपणों और खोजों को हम

अन्वेषण और खोज तभी कहते हैं, जबकि वे यथार्थ की कसौटी पर ठीक-ठीक उतरते हैं।

ठीक यही बात कला की तथा उसके सौन्दर्य की है। यदि एक गुहा-निवासी अपने औज़ार से किसी तत्कालीन वन्यपशु का भित्ति-चित्र रेखांकित करता है, तो उस पशु के साथ उसके जीवन-सम्बन्ध के कारण, उस पशु-रूप में उसे जो तल्लीनता प्राप्त हुई उसके द्वारा, वह न केवल अपनी अभिव्यक्ति कर रहा है, वरन् अपने सामाजिक जीवन तथा उस पशु के साथ अपने सम्बन्ध को प्रकट कर रहा है। किन्तु पशु का रेखाचित्र प्रस्तुत करते समय वह केवल अपने सामने के पशु-रूप में ही डूबा हुआ है। इस तल्लीनता के द्वारा ही वह इतना सुन्दर पशु-चित्र बना सका है। उस पशु-चित्र के सामाजिक मानवीय अर्थ-अर्थान्तरों से वह उन अभिव्यक्ति-क्षणों में भले ही अचेतन रहे (मानव-सम्बन्ध व्यक्ति-संकल्प से पृथक् तथा स्वतन्त्र होते हैं; उन सम्बन्धों का वैज्ञानिक आकलन समाज के बौद्धिक विकास-स्तर पर निर्भर है), वह अपने सामाजिक अनुभव का एक अंग चित्र-रूप में प्रस्तुत कर रहा है। चित्र अच्छे भी हो सकते हैं, बुरे भी हो सकते हैं। चूँकि पशु को वह उसकी स्वतन्त्र सत्ता में देखता है, अतएव वह पशु उसके लिए बाह्य है। उसकी कला-विषयक दृष्टि, अतएव, वस्तुपरक है, भले ही वह आदिम चित्रकार यह न जाने कि वस्तु-परक क्या चीज़ है और आत्मपरक क्या। वस्तुत:, वह चित्रकार कला के मानों के बारे में अचेतन रहते हुए भी उनसे नियन्त्रित होकर उनका विकास कर रहा है। चित्रकार को बाह्य वस्तु की जो अनुभूतियाँ हैं, वे रेखा-संवेदनों के माध्यम से रेखा-बद्ध हो रही हैं। इन अनुभूतियों में उस बाह्य वस्तु के बारे में उसकी दृष्टि, अपनी भावना में उस पशु का महत्त्व, और उसके सम्बन्ध में अपना जीवन-अनुभव, जो सामाजिक अनुभव है, प्रकट हो रहा है। रेखांकन के समय उसे यह सब नितान्त व्यक्तिगत प्रतीत होगा, किन्तु उसकी संवेदनाओं का मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक विश्लेषण करते समय उसकी कला का पूर्ण सामाजिक तल हमें दृष्टिगोचर होगा।

वह अपनी चित्रकला के वास्तविक प्रयास द्वारा न केवल व्यक्तिगत अनुभूति के माध्यम से सामाजिक अनुभव प्रकट कर रहा है, वरन् अचेतन रूप से, सौन्दर्य के मान भी स्थिर कर रहा है। ये सौन्दर्य के मान अपने अस्तित्व के लिए व्यक्ति-गत अनुभूति के माध्यम से सामाजिक अनुभव पर आधारित हैं। सौन्दर्य के मानों की यह सामाजिक नींव जब खिसक जाती है, तब वे मान समाज से अलग तथा रिक्त हो जाते हैं।

इसके विपरीत एक आधुनिक चित्र लीजिये। **मदर विद ए डेड चाइल्ड** एक बहुप्रशंसित चित्र है। गोल रेखाओं से स्त्री का उदर बनाया है। गर्भ में एक भ्रूण के आकार की रेखाएँ खींची गयी हैं। बच्चे के दो सिर बनाये गये हैं। एक सिर गर्भ के भीतर, नीचे की ओर, वाम भाग में अटका हुआ है, एक जननेन्द्रिय के बाहर निकला हुआ है। योनि से दो रेखाएँ भयानक गोलाई से खींचकर उनको पुरुष-मुख के आकार में परिणत कर दिया है। इस पुरुष-मुख को भयानक कष्ट-ग्रस्त

पीड़ा की चीत्कार का आकार दिया गया है। सारा चित्र एक निसैनी पर बैठाया गया है। उदर के नीचे के दो पैर उस निसैनी पर इस तरह रखे हैं, मानो वे मध्यस्थ उदर के फटने की क्रिया को बतलाते हैं। एक पैर उदर के ऊपर के भाग की तरफ़ से निसैनी के निचले भाग की तरफ़ लाया गया है। इस प्रकार इस चित्र के तीन पैर हैं, जो किसी भी मनुष्य के नहीं होते। ध्यान में रखने की बात है कि यह चित्र समझने में सबसे आसान और उत्कृष्ट माना गया है।

आधे घण्टे तक मैं इस चित्र को देखता रहा, किन्तु मुझे कुछ भी समझ में नहीं आया। फिर मैंने यह सोचा कि यह पेंण्टिंग नहीं है, चित्र नहीं है, चित्र-भाषा है, प्रतीक-भाषा है, तो मैं इसके प्रतीकों का अर्थ पहचानने की कोशिश करने लगा। धीरे-धीरे मन में एक भाव चमका, और उसके अनुसार जब मैं उसके सम्पूर्ण प्रतीक-अवयवों का अर्थ समझने की कोशिश करने लगा तब सब बातें साफ़ खुल गयीं।

स्त्री का केवल उदर और उसके नीचे का हिस्सा ही बतलाया गया है। पिकासो आपका ध्यान केवल गर्भ-पीड़ा की तरफ़ ही खींचना चाहता है। इसीलिए योनि से दो रेखाएँ खींचकर बाहर जो पुरुष-मुख बनाया गया है, उसमें पीड़ा की भयानक चीत्कार का भाव भरा गया है। पुरुष-मुख ही क्यों? इसलिए कि कष्ट, पीड़ा, चीत्कार आदि, पिकासो के अनुसार, परुष-भाव हैं। यह मुख योनि से ही क्यों सम्बद्ध किया गया? इसलिए कि उसी भाग में भयानक पीड़ा है। दो पैरों के जंघामूलों के फटे पड़ने से भी यही भाव प्रकट होता है। ये पैर निसैनी से क्यों चिपकाये गये हैं, मानो शरीर, सिर नीचे पैर ऊपर, निसैनी पर चढ़ रहा हो? इसलिए कि वेदना शरीर के ऊपरी भाग से नीचे की तरफ़ बढ़ रही है, जो अब बिलकुल नीचे की तरफ़ जाकर (अर्थात् निसैनी के ऊपर की तरफ़) योनि-द्वार से पुरुष-मुख द्वारा, भयानक चीत्कार कर रही है। निसैनी इस प्रकार बनायी गयी है, मानो वह पीड़ा की मात्राओं को बतलाती हो। यही उस निसैनी का महत्त्व है। फिर एक बहुत छोटा पैर पेट के ऊपर की तरफ़, निसैनी की निचली सीढ़ी से, क्यों चिपकाया गया है? इसलिए कि वेदना-सूक्ष्मावस्थाएँ उसी हिस्से से शुरू हुई थीं। गर्भ के भीतर बालक का एक सिर गर्भ के बाहर, दूसरा सिर अन्दर क्यों बतलाया गया है? इसलिये, कि वह मृत भ्रूण, भयानक दानवीय पीड़ा के रूप में, माता के गर्भ से बाहर निकलने में अनेक स्थानों पर अवरोधों का सामना कर रहा है।

सारे चित्र की जान योनि-द्वार से बाहर दूर तक निकला हुआ, भयानक पीड़ा और चीत्कार से पूर्ण, वह पुरुष-मुख है, जो रेखाचित्रों के सौन्दर्य-मानों के अनुसार बना है; शेष सब मात्र चित्र-भाषा-प्रतीकों के समान खींचे गये हैं।

प्रयोग के तौर पर, जब मैंने वह सुप्रसिद्ध चित्र पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त लोगों के बीच घुमाया, तो पाया कि उनके चेहरे पर केवल पहेली-बुझौवल के प्रयास-भाव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। उनके लिए वह उतना ही कठिन था जितना मेरे लिए डिफरेंशियल केलक्युलस। जब मैंने हल्की-सी सूचना देते हुए उनको

कुछ संकेतों का अर्थ बतलाया तो सभी बातें आप-ही-आप उनके सामने खुल गयीं
ध्यान रहे कि मुझे स्वयं पिकासो के चित्र क़तई समझ में नहीं आते। यह तो भाग्य
की बात है कि यह चित्र समझ में आ गया। उसका जो अर्थ मेरे सामने खुला
वही सही भी है या नहीं, मैं नहीं जानता। किन्तु यह सच है कि वह उसका एव
सम्भावित स्पष्टीकरण है। यह मानकर चलिये कि जिस चित्र का मैंने ऊपर वर्णन
किया, वह अत्यन्त प्रसिद्ध तथा बहु-प्रशंसित चित्र है।

हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि आखिर गर्भ-पीड़ा का विषय ही क्यों
चुना गया? दूसरे, उसको इस टेक्नीक से क्यों रखा गया?

आदिवासी कलाकार की यथार्थ-दृष्टि हमारी विश्व-कला-परम्परा में इतनी
समा गयी है कि हम उन यथार्थ-मूलक प्रारम्भिक प्रयासों को भूल ही गये हैं
किन्तु पिकासो की इस प्रणाली को कहाँ स्थान दिया जायेगा और वह किस प्रका
का होगा? यह भी तो एक मूलभूत प्रश्न है।

संक्षेप में उत्तर यह है। फ्रांस के अत्यन्त सम्पन्न उच्च वर्ग अथवा उसवे
प्रभाव में रहनेवाले वर्ग की निरुपयोगिता तथा गतिहीनता अगर कुछ सृजन क
भी सकती है तो वह मृत सृष्टि ही है। इस गतिहीनता की भयानक वेदना से
पिकासो ग्रस्त है। इसीलिए, वह विद्रूप की पीड़ा का अध्ययन करता है, जिसक
एक उदाहरण यह चित्र है। उस वर्ग के भीतर जो कुछ भी मनुष्यता शेष है
उससे पिकासो का तादात्म्य नहीं है। वह मात्र विद्रूप और उसके भीतर कष्ट
पानेवाले मनुष्य-प्राण को लेकर चला है। पिकासो का मूल विषय सामाजिक
अनुभवों का मनुष्य-प्राण भी नहीं है, वरन् उसकी वह भयानक पीड़ा है जो स्वय
गतिहीनताओं से उत्पन्न है, और जो गतिहीनताओं को जन्म देती जा रही है
उसका विषय मृत-सृजन की पीड़ा है। परम्परागत चित्रकला के सम्पूर्ण सिद्धान्तों
की अवहेलना कर, उसने स्त्री-गुह्यांग से रेखाएँ खींचकर एक पुरुष-मुख बनाय
है, जो उस पीड़ा को अभिव्यक्त करता है। पिकासो के लिए, मनुष्य के हाथ, पैर
आँखें, कान विशेष महत्त्व नहीं रखते। वास्तविक जीवन में इन अवयवों का जं
कार्य है, उसको खत्म कर उसने उन पर अपनी कल्पना द्वारा निर्मित कार्यों कं
थोपा है। कुल मिलाकर, भारत के तान्त्रिक योगियों की सन्ध्या-भाषा के समान
ही पिकासो की चित्र-भाषा हो गयी है। ध्यान में रखने की बात है कि कोई भ
प्रतीक तभी तक भावोत्तेजना की शक्ति रखता है, जब तक कि उसकी जड़ें सामा
जिक-सामूहिक अनुभवों की धरती में समायी हुई हों। मात्र व्यक्तिगत धरातल
पर तो हजारों प्रतीक खड़े किये जा सकते हैं।

कला के इस विश्लेषण से हमारे सामने दो बातें और साफ़ हो जाती हैं
कला यद्यपि व्यक्तिगत आधार पर होती है, किन्तु उसकी चेतना उस वर्ग मे
समाहित तथा उससे विकसित है जिसके भीतर रहकर कलाकार ने अपने अनुभव
प्राप्त किये हैं। उसकी गतिहीनता पिकासो के लिए मर्मभेदी है, किन्तु उससे ऊप
उठकर उसने उस गतिहीनता पर कोई परिप्रेक्ष्य नहीं अपनाया। यहाँ तक कि

ऐसा प्रतीत होता है मानो वह उस पीड़ा में आत्मघाती विकृत आनन्द ले रहा हो। किन्तु इस प्रकार के कथन से किसी भी कला या कलाकार का महत्त्व कम नहीं होता। कला का श्रेष्ठत्व, अपने युग की अनिवार्य उपलब्धि के रूप में, उस अनिवार्यता के परिणाम के रूप में उपस्थित होता है। पिकासो की महानता सर्व-सम्मत मानी जाती है। उसके चित्र का अर्थ करना मेरे लिए दुःसाहस है। मैं क्षमा चाहता हूँ। मैंने यह दुःसाहस अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण के रूप में किया। मुख्य बात यह है कि प्रतीक-विधान जैसा हो, उसे यथार्थ पर आधारित तथा यथार्थ-बोध में सहायक होना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन के सिलसिले में हम केवल एक बात और कहना चाहते हैं। उसके बिना हमारा वक्तव्य अधूरा ही रहेगा। वह यह कि अगर साहित्य की महत्ता वास्तविक जीवन-मूल्यों में प्रगतिशील योग देने में ही है, तो यूनानी तथा रोमन नग्न शिल्प-मूर्तियों के बारे में आपका क्या ख़याल है?

इसका उत्तर स्पष्ट है। शरीर-सौन्दर्य का विकास मनुष्य की स्थायी इच्छाओं में से एक है। यदि ये स्थायी वृत्तियाँ न होतीं तो विकास ही न होता। यदि ये स्थायी वृत्तियाँ न होतीं तो मनुष्य, मनुष्य न होकर कुछ और होता। मनुष्य की ये स्थायी वृत्तियाँ विभिन्न सामाजिक स्थितियों में विभिन्न रूप तथा विभिन्न महत्त्व प्राप्त करती रहती हैं। कहीं-कहीं उनका रूप अत्यन्त विकृत भी हो जाता है। ध्यान में रखने की बात है कि हमारे भारतीय साहित्य में विपरीत रति की भी घोषणा की गयी है तथा 'मदन-सिंहासन' का ज़िक्र आया है। हिन्दी के एक कवि कालिदास त्रिपाठी कहते हैं:

मेरे कर मेंहदी लगी है नन्दलाल प्यारे,
लट उरझी है नक वेसर सँभारि दै।

इस पंक्ति में मात्र कामुक गूँज है। किन्तु जहाँ यह नहीं है, वहाँ भी प्रेम का वर्णन मधुर हो उठता है। जैसे—

अति रस लम्पट मेरे नैन,
तृप्ति न मानत पियत कमल मुख सुन्दरता मधु-ऐन।

अथवा—

यह रितु रूसिवे की नाहीं।
वरसत मेघ मेदिनी के हित,
प्रीतम हरपि मिलाहीं।
जेती वेलि ग्रीष्म रितु डाहीं,
ते तरुवर लपटाहीं।
जे जल विनु सरिता ते पूरन,
मिलन समुद्रहिं जाहीं।
जोवन धन है दिवस चारि को,
ज्यों वदरी की छाहीं।

मैं दम्पति-रस रीति कही है,
समुझि चतुर तन माहीं।
यह चित धरि री सखी राधिका,
दै दूती को बाँहीं।
सूरदास उठि चलहु राधिका,
संग इती पिय पाहीं॥

उपर्युक्त काव्य-पंक्तियों से हमारी बात सुस्पष्ट हो जायेगी। मनुष्य की स्थायी वृत्तियाँ तो इसमें प्रकट हैं ही, उनमें उन स्थायी वृत्तियों के जीवन-मूल्य भी, जो मानव-मूल्य हैं, प्रकट हैं। यही कारण है कि सूरदास का काव्य अपने सर्वोच्च सौन्दर्य-क्षणों में अत्यन्त मानवीय है।

जिस वर्ग अथवा समाज में ये जीवन-मूल्य नहीं हैं, जहाँ व्यक्तिगत प्रेम-परिणय के अधिकार तथा उससे निःसृत सामाजिक उत्तरदायित्व की मान्यता नहीं है, वहाँ दोनों स्थितियों में भ्रष्टाचार फैलेगा—प्रेम-परिणय अधिकार के अभाव में, अथवा सामाजिक उत्तरदायित्व के अभाव में। वहाँ वेश्या-व्यवसाय तथा भ्रष्टाचार की व्यापकता तो होगी ही, वह सही कही भी जायेगी, तथा काव्य से ऐसी गूँजें निकलेंगी :

अंबुज कंज से सोहत हैं अरु कंचन कुम्भ भरे से धये हैं।
वारे खरे गदकारे महा बटपारे लसे अरु मैन छये हैं॥
ऊँचे उजागर नागर हैं अरु पीय के चित्त के मित्त भये हैं।
हैं तो नये कुच के सजनी पर जौ लौं नये नहीं तौ लौं नये हैं॥

इस प्रकार अत्यन्त कामुक भाव के सैकड़ों उदाहरण हिन्दी साहित्य से दिये जा सकते हैं। जिस वर्ग तथा समाज में प्रेम के समान साधारण मनोवृत्तियों पर दवाव होता है, उस वर्ग में न केवल दासीत्व के आदर्शीकरण पर प्राप्त विवाहिता स्त्री ही कष्ट भोगती है, वरन् अधिकारी पुरुष के जीवन-मूल्य भी अस्वस्थ और रुग्ण हो उठते हैं। ऐसे समाजों में स्त्री की दशा केवल यही होती है :

आँचल में है दूध, और आँखों में पानी।
अवला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी॥

अधिक-से-अधिक नारी के आदर्शीकरण के सम्बन्ध में पुरुष यह कहता है :

नारी, तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत-नग-पग तल में,
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में।

दोनों में वह पुरुष की सहचरी नहीं है। वर्ग-समाजों में पहले स्त्री की स्वतन्त्रता की हत्या की गयी। उसे 'देवी' बनाया गया या दासी अथवा वेश्या। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। लक्ष्मण के लिए उर्मिला का यह कथन सहचरत्व की मानव-भावना को ध्वनित करता है :

खोजती हैं किन्तु आश्रय मात्र हम।
चाहती हैं एक तुम-सा पात्र हम ॥
आन्तरिक सुख-दुःख हम जिसमें धरें।
और निज भवभार यों हलका करें ॥

इन चार पंक्तियों में मैथिलीशरण गुप्त जैसे बुजुर्ग कवि ने प्रत्येक स्त्री के मन की बात कही है। वास्तविक सहचरत्व—चाहे वह मैत्री ही क्यों न हो—आन्तरिक सुख-दुःखों की पारस्परिक प्रेषणीयता के बिना असम्भव ही है। इस पारस्परिक साहचर्य की भावना के बिना हमारे कितने ही भारतीय परिवार रह रहे हैं। कालिदास का दुष्यन्त बहु-विवाह-प्रणाली से ग्रस्त है। किन्तु जहाँ तक शकुन्तला से उसके प्रेम का प्रश्न है, वह अत्यन्त सरल, स्वाभाविक तथा स्वस्थ है। इसीलिए हमें उसकी ये पंक्तियाँ अच्छी मालूम होती हैं :

कार्यासैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी।
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनः ॥
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोः निर्मातुमिच्छाम्यधः।
पार्श्वे कृष्णमृगस्य वामनयने कण्डूयमानां मृगीम् ॥

कृष्ण-मृगों का चित्र खड़ा करके, दुष्यन्त शकुन्तला के सम्बन्ध में अपनी इच्छा को ही प्रकट कर रहा है। पूरा चित्र मूर्त वास्तव यथार्थ पर आधारित है। किन्तु वह मूर्त वास्तव यथार्थ, एक ही साथ, दुष्यन्त-शकुन्तला के सौन्दर्यालोकपूर्ण मनोजगत् तथा उस मनोजगत् की गहन और सुन्दर इच्छाओं को व्यक्त करता है। संक्षेप में वह, एक ही साथ, मूर्त यथार्थ चित्र है, और निगूढ़ इच्छाओं का प्रतीक-चित्र। हमारी सांस्कृतिक परम्परा में से हमें वही भाव आकर्षित करते हैं, जो हमारे वर्तमान जीवन के आदर्शों तथा मूल्यों को विकसित करने में योग देते हों, तथा वर्तमान जीवन-मूल्यों की स्थिति-रक्षा करते हों। यदि हमारे वर्ग तथा समाज में ग़लत जीवन-मूल्य प्रचलित हैं, तो हम पुराने साहित्य से केवल उन्हीं के अनुसार अपने लिए चुनाव करते हैं। उदाहरणतः, एक हिन्दी के नौजवान कवि ने, अपनी कहानियों में, उरोजों को ऐसे कपोतों की उपमा दी है जो उड़ने के लिए मानो तैयार बैठे हों। अब इस भाव को पजनेस की निम्नलिखित पंक्ति से मिलाइये :

उरज उठौना चक्रवाकन के छौन कैंधौं,
मदन खिलौना या सलौना प्रानप्यारी के।

स्पष्ट है कि उस नौजवान कवि ने अपनी कहानी में चक्रवाक को केवल कपोत बना दिया है। बात वही है।

वर्तमान युग में ऐसे पुराने साहित्य के प्रति व्यापक आकर्षण नहीं रह गया है, जिसमें संकुचित (अथवा कह लीजिये साम्प्रदायिक) धार्मिक भाव हों, चाहे वे कबीर के हों या किसी दूसरे के। इंगला, पिंगला, सुषुम्ना, अनहद नाद आदि पारिभाषिक शब्दावली मन में विशेष भावोत्तेजन नहीं करती। जन-मानस की व्यापक दृष्टि से देखने पर यह पता चलता है कि बहुत-सी धार्मिक कल्पनाएँ भी

आज मृतवत् हैं, तथा अभिरुचि भी बदल गयी है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक विशेष युग में विशेष प्रकार के साहित्य के श्रेष्ठ अस्तित्व मात्र से वह साहित्य हर युग के लिए उतना ही विशेष आकर्षण रखे, यह आवश्यक नहीं है। इसीलिए, साधारणतया, श्रेष्ठ माने जानेवाले साहित्य पर भाषण इत्यादि होते हैं; किन्तु भाषणकर्त्ताओं से एकान्त में यदि जानकारी ली जाये तो उनमें से पचास फ़ीसदी यह कहेंगे कि केवल बचपन में या शुरू की जवानी में उन्होंने उस 'श्रेष्ठ' साहित्य को पढ़ा था। ध्यान में रखने की बात है कि तुलसीदासजी का **रामचरितमानस** भी अब लोगों के लिए उतना आकर्षक नहीं रह गया है जितना कि वह पहले था। साहित्य की श्रेष्ठता-मात्र ही उसके नित्य आकर्षण का आधार नहीं है। उसकी श्रेष्ठता का युगयुगीन आधार है— वे जीवन-मूल्य तथा उनकी अत्यन्त कलात्मक अभिव्यक्ति, जो मनुष्य की स्वतन्त्रता तथा उच्चतर मानव-विकास में सक्रिय रूप से सहयोग दें, चाहे ऐसे सहयोगी जीवन-मूल्यों का प्रतिपादन करनेवाले गोरखनाथ या तुलसीदास ही क्यों न हों। इन जीवन-मूल्यों का मैं मात्र राजनैतिक अर्थ नहीं लगा रहा हूँ। उनमें वे सभी मूल्य सम्मिलित हैं जो मनुष्य के विभिन्न पक्षों का दिशानिर्देशन करते हैं, जैसे, श्रम-कार्य, प्रेम इत्यादि से सम्बन्धित मूल्य। सारांश यह कि पुराने साहित्य का केवल वही श्री-सौन्दर्य हमारे लिए ग्राह्य होगा, जो हमारे नवीन जीवन-मूल्यों के विकास में सक्रिय सहयोग दे, अथवा उसकी स्थिति-रक्षा में सहायक हो। किन्तु, यदि ये जीवन-मूल्य स्वयं हमारी ह्रास-ग्रस्त दशा से उत्पन्न हैं, तो वह श्रेष्ठ साहित्य हमारे नवीन भावों के अनुकूल न होने से, हम उसका आदर करते हुए भी उससे रस न ले पायेंगे। शुद्ध साहित्यिक सौन्दर्य, मात्र-सौन्दर्य, निरपेक्ष सौन्दर्य की निरपेक्ष सत्ता स्वीकार करनेवाले लोग या तो स्वयं धोखे में हैं, अथवा धोखा देना चाहते हैं।

ऐसे लोग सौन्दर्य के मानों को उनके सामाजिक सम्बन्धों से दूर करके तो देखते ही हैं, वे चित्रकला, संगीत, शिल्प, तथा स्थापत्य-कला के सौन्दर्य-मानों के दृष्टिकोण से साहित्यिक सौन्दर्य की व्याख्या करके उसके नित्य-आकर्षण की काल-निरपेक्षता सिद्ध किया चाहते हैं। वस्तुतः, चित्रकला, शिल्प, आदि कलाएँ अपनी रेखाओं और गठन की मनोहारिता के साथ-साथ विशेष भावों और भाव-दृष्टियों को प्रदर्शित करती हैं। किन्तु जहाँ यह गठन और भाव अधिक शैली-ग्रस्त तथा प्रस्तरीभूत हो जाते हैं, उनका आकर्षण भी हमारे लिए कम हो जाता है। आगे चलकर उनकी अपील तो हमारे लिए केवल आलंकारिक हो जाती है। निश्चय ही, यह विकार तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक मूल्यों की रूढ़िग्रस्त अवस्था की जड़ता से उत्पन्न है। किन्तु यदि उस कला में जीवन-भावों का प्रस्फुरण है, तो हम, उनकी धार्मिक कल्पनाओं के बावजूद, उनसे प्रभावित होते हैं। वस्तुतः, प्रभावित होते समय हम उनकी धार्मिक सीमाओं को अचेतन रूप से अपने मन से हटाकर उनके आकर्षण को ग्रहण करते हैं। जितना अधिक उनका आकर्षण होगा, उतना ही प्रभावन अधिक होगा, उतनी ही अपने-अपने मन में, उनकी

अनुकूलता का आस्वादन करने के लिए, प्रतिकूलता की काट-छाँट भी होगी। कालिदास के **अभिज्ञान शाकुन्तल** में ज़रा-ज़रा-सी वात पर जब पद्यों का व्यवहार होता है, तव हमारे रसास्वादन में वाधा होती है, किन्तु कवि-नाटककार ने अपनी निपुणता के तथा कला-विवेक के सचेत प्रयोग द्वारा उन पद्यों को पात्र तथा कथा के विकास में योगकारी वना दिया है, मनोहारी तो उन्हें वनाया ही है। **राम-चरितमानस** के वहुत-से अंशों को हमें इसीलिए नज़रअन्दाज़ करना पड़ता है कि उनके विना तुलसीदासजी का भाव-जगत् ही हम ग्रहण न कर पाते। किन्तु वाधा तो होती ही है। यह वाधा चित्रकला तथा शिल्प में भी होती है।

किन्तु, यह कहकर हम इस वात को नहीं टाल सकते कि अनगिनत अतीत युगों की कला के सौन्दर्य-मानों को देखकर हम क्यों न ऐसा एक सौन्दर्य-मान खड़ा करें कि जिसमें वाधाजनक तत्त्व कुछ भी न हों। वस्तुतः, यह प्रश्न स्वाभाविक होते हुए भी ख़तरे से भरा हुआ है। इस प्रश्न को देखकर मन में सहज रूप से यह भाव उठता है कि ऐसा कोई सार्वभौम सौन्दर्य-मान ज़रूर है, जिसको हम खोजने पर पा सकते हैं। उस सार्वभौम सार्वकालिक सौन्दर्य-मान की तुलना हम विज्ञान के उन सिद्धान्तों से कर सकते हैं, जो मनुष्य की सत्ता न रहने पर भी प्रकृति के नियम-रूप में सक्रिय रहते हैं। इस सम्वन्ध में यह जान लेना ज़रूरी है कि सौन्दर्य एक जीवन-मूल्य है। उसका उद्‌गम मनुष्य के भीतर मनोवेगों के उदात्तीकरण से है। यह उदात्तीकरण अन्य प्रधान जीवन-मूल्यों के संयोग से ही सम्भव है, उनके विना असम्भव है। यही कारण है कि वास्तविक जीवन में अपने मनोभावों का उदात्तीकरण हमें कलात्मक सौन्दर्य से भी अधिक आनन्द देता है। कला में निखरे हुए सौन्दर्य से पहले, मन में उभरे हुए सौन्दर्य में न केवल मनोवेग-संयुक्त विषय-वस्तु रहती है, वरन् उन मनोवेगों का अन्तःकरणगत उदात्तीकरण अन्य जीवन-मूल्यों के घुल-मिल जाने से प्रसूत होता है, भले ही कला की अपनी सीमाओं के कारण अपनी पूर्ण चेतना-वस्तु को प्रकट न कर सकें। मन में जव इतनी और ऐसी प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं, तव यह आवश्यक नहीं कि हम उन सभी प्रक्रियाओं के अंग-प्रत्यंग से वैज्ञानिक पद्धति से सचेत रहें। इन उदात्तीकृत मनोभावों को प्रकट करने के लिए ही हम विविध उपमाओं की मालिका तैयार करते हैं।

इस उदात्तीकरण के लिए न केवल विषय-वस्तु के यथार्थ से तन्मयता आव-श्यक है, वरन् उस यथार्थ के प्रति लेखक अथवा कलाकार के अन्तःकरण की सन्तु-लित तथा यथार्थ भाव-दृष्टि भी आवश्यक है, अर्थात् उस विषय-वस्तु के यथार्थ के साथ विभिन्न यथार्थों के परस्पर सम्वन्ध तथा जीवन में उसके विशिष्ट स्थान के सचेत आकलन-ग्रहण की पीठिका पहले से तैयार होनी चाहिए। यदि लेखक अथवा कलाकार अपने वास्तविक जीवन में जागरूक होकर अपनी समझ का विस्तार करता रहता है, तो—चाहे उसकी विषय-वस्तु पौराणिक ही क्यों न हो—उसकी विषय-वस्तु स्वयं लेखक के जीवन का उदात्तीकृत प्रतीक वनकर अत्यन्त उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण करेगी। यह उदात्तीकरण कैसा हो, यह एक महत्त्वपूर्ण

प्रश्न है। कुछ लोग अपनी उन्मुक्त, अहंग्रस्त कामेच्छाओं को, पौराणिक कल्पना-चित्र द्वारा, ऐसे आदर्श रूप में प्रस्तुत करते हैं, मानो वह भयानक काम-व्याकुलता मनुष्य की आध्यात्मिक भावना की द्योतक है। ऐसा उदात्तीकरण दिनकर-कृत **उर्वशी** में देखा जा सकता है।

संक्षेप में, जिन मनोवेगों का जितना और जैसा उदात्तीकरण होगा, उनका सौन्दर्य उतना ही घटिया या बढ़िया होगा। इस उदात्तीकरण के लिए दूसरे जीवन-मूल्यों का उसमें मिश्रण तथा संगति आवश्यक है, तभी वह उदात्तीकरण है। यदि ये जीवन-मूल्य ग़लत अथवा शोषक-वर्ग-बद्ध जीवन-मूल्य हुए, तो जो उदात्तीकरण होगा वह भी अनुचित-असंगत होगा, तत्कालीन स्थिति में भले ही वह उपादेय तथा उचित सिद्ध हो। इस प्रकार का उदात्तीकरण हमारे लिए आकर्षण की वस्तु नहीं। किन्तु शोषक-शासक वर्गों में भी बहुत बार, उनकी विशेष परिस्थितियों में तथा जनमत के दबाव के कारण, उनके विशेष क्षेत्रों में विशेष जीवन-मूल्य भी हो सकते हैं, जो तत्कालीन परिस्थितियों में प्रगतिशील सिद्ध हों। जैसे, रूस में सामन्ती शासक महान पीटर अपने देश की उन्नति के लिए अनेक प्रगतिशील देशोत्थान-मूलक कार्य करता है। ऐसी स्थिति में जिन जीवन-मूल्यों ने उसे देशोत्थान के कार्य में लगाया, वे जनता के अनुकूल थे। अतः वे प्रगतिशील थे। सामाजिक प्रगतिविरोधी जीवन-मूल्य ग़लत जीवन-मूल्य भी हैं, भले ही वे अनेक मनोहर नाम-रूप धारण करके हमारे सामने आयें। ग़लत जीवन-मूल्यों से संयुक्त उदात्तीकरण रिक्त सौन्दर्य होगा या सौन्दर्य ही नहीं होगा--और कुछ भले ही हो, तथा कुछ लोगों को उसमें सौन्दर्य भले ही दिखायी दे। मनोवेगों का सच्चा उदात्तीकरण सही जीवन-मूल्य-संयुक्त मनोवेगों से ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। ये जीवन-मूल्य कलाकार के वास्तविक जीवन से, तथा उनके आधार पर बनी हुई भाव-दृष्टि से, सम्बद्ध हैं। इस दृष्टि के बिना तथा सचेत वास्तविक जीवन के आधार के बिना, कृत्रिम रूप से मात्र बौद्धिक प्रणाली से अथवा काल्पनिक रीति से किया गया जीवन-मूल्यों का सम्मिश्रण, रिक्त सौन्दर्य को जन्म देगा अथवा उसमें सौन्दर्य ही नहीं होगा। इन सही जीवन-मूल्यों का भावात्मक, हार्दिक अन्तःकरणमूलक समस्त-व्यक्तिगत-उत्सर्गशील ग्रहण तब तक सम्भव नहीं है, जब तक लेखक अथवा कलाकार प्रगतिशील मानवीय जीवन-मूल्यों से, तथा उनको वहन करनेवाली शक्तियों से, और समाज के उस पक्ष से जिसको हम जनता का पक्ष कहते हैं, अपने को तदाकार नहीं कर लेता। किन्तु, यह ध्यान में रखने की बात है कि सब युगों में यह सम्भव नहीं है। क्योंकि जनता यदि निद्रावस्था में लीन है, यदि उसके भीतर उसके अपने तीव्र भावों का वहन करनेवाले महापुरुष या प्रतिभाशाली प्रतिनिधि उत्पन्न नहीं हुए हैं, अथवा ऐसी परिस्थिति पैदा हुई है कि जिसमें उसके इन प्रतिनिधियों का प्रभाव नहीं है—और उसका अपना स्वयं का प्रभाव नहीं है—संक्षेप में, यदि वह एक प्रायः अन्धकार-युग है, तो ऐसी स्थिति में कलाकार भी प्रायः उसी युग के भावों का प्रतिनिधित्व करेगा। आज के युग में जन-जीवन के पक्ष से तदाकार होने की वास्तविक

जीवनगत सचेत प्रक्रिया लेखक के लिए बड़ी भारी नैतिक परीक्षा है। उसमें न केवल अपने भीतर पुराने और नये के बीच—(पुरानी आदतों और नयी जीवनगत आवश्यकताओं के बीच, पुराने संस्कारों और नये सत्यों के बीच, आचरणात्मक धरातल पर व्यक्तिगत जीवन के सभी पक्षों के क्षेत्रों में)—युद्ध छिड़ जाता है, वरन् अपने वर्ग तथा समाज से भी द्वन्द्व-युद्ध करना पड़ता है। ऐसे मौक़े पर बहुत कम ऐसे साथी होते हैं, जो आदर्शों का राम-नाम स्मरण करते हुए भी सच्ची सहानुभूति तथा प्रेरणा देते हों। इसके साथ ही, कलाकार के इस नैतिक साहस के अतिरिक्त उसकी कार्यकारी-क्षमता पर भी निर्भर रहेगा कि वह यथार्थ का कितना परस्पर-सम्बन्धों से युक्त विवेकपूर्ण आकलन कर सकता है। कलाकार की इस दिशा की ओर सक्रिय जितनी बड़ी पीड़ा होगी, उतनी ही उसकी दृष्टि मर्म-भेदी तथा सक्रिय होगी। ठीक उसी के अनुपात में उसकी कला-सृष्टि भी सबल रहेगी। किन्तु, साथ-ही-साथ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि वास्तविक जीवन की वास्तविक परिणति मात्र आत्म-सीमित कार्य नहीं है। उसकी पूर्णता वास्तविक समाज की प्रगतिशील शक्तियों के संघर्ष में सम्पूर्ण हार्दिक तथा सक्रिय योग देने की संवेदनशील कार्यकारी क्षमता के विकास पर निर्भर है। साथ-ही-साथ, यह इस बात पर भी निर्भर है कि वे प्रगतिशील शक्तियाँ समाज में कहाँ तक प्रभावशाली हैं, मानव-हृदयों को वे कहाँ तक सिंचित और आप्लावित कर सकी हैं।

इस स्थापना के सम्बन्ध में सोचते समय, एक फूहड़ सवाल की याद आती है। प्रश्न यों किया जाता है: क्या कालिदास ने आपकी ऊपर लिखी शर्तों का पालन किया था? किन्तु उसकी कला भी तो सार्वभौम सार्वकालिक है। देखिये, उसके सम्बन्ध में गेटे ने क्या कहा था: 'यदि कालिदास जर्मनी तक में लोकप्रिय हो सकता है तो फिर उसकी उच्चता में सन्देह नहीं है। किन्तु उसकी श्रेष्ठता आपकी शर्तों का पालन करने से नहीं हुई है।'

इस सम्बन्ध में हमारा उत्तर, संक्षेप में, इस प्रकार है। वह काव्य या कला जो हमें भावोत्तेजित तो करती है, किन्तु हमारे वास्तविक जीवन-पथ में मूल्यवान होकर सहायक नहीं बनती, निश्चय ही वह कला श्रेष्ठ होते हुए भी श्रेष्ठतम नहीं है। मेरे इस कथन से कालिदास के यश में कोई धब्बा नहीं लगता। न मैं किसी स्थूल उपयोगितावाद का समर्थन कर रहा हूँ। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि जो तात्कालिक रूप से उपयोगी है वही सत्य है। यह स्थूल उपयोगितावाद वास्तविक भौतिकवाद से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। मनुष्य अपने प्राचीन पूर्वकालीन समाजों के जीवन, रीति-नीति, कार्य-व्यवहार, उनकी श्रेष्ठ उपलब्धियों तथा सीमाओं में दिलचस्पी रखता आया है। निश्चय ही, जब हम कालिदास के काव्य का अनुशीलन करते हैं, तो हम उस जीवन के सौन्दर्य-चित्रों तथा तत्कालीन सूक्ष्म दृष्टियों में आनन्द लेते हैं। कालिदास का काव्य हमारे लिए आज आधुनिक अर्थों में प्रेरणाप्रद भले न हो, किन्तु हमारा रंजन करने की शक्ति तो उसमें है। इसलिए कि, बावजूद सामन्ती समाज के क्रिया-कलापों के चित्रण

के, मनुष्य-प्रेम तथा प्रकृति-प्रेम की उसमें जो तस्वीरें मिलती हैं, उनकी पूर्व-पीठिका में हमारे वर्तमान जीवन को रखने पर यह पता चलता है कि वैसा समाज-बाधा-हीन मानव-सुलभ प्रेम तथा प्रकृति-सौन्दर्य आज हमारे जीवन में नहीं रहा है। हमारे इस अभाव से ही कालिदास के प्रति हमारी अनुरक्ति बढ़ जाती है। किन्तु इस अभाव के अभाव में भी, कालिदास के प्रति हमारी आसक्ति इसलिए स्थिर रहती है कि उसमें मानव-सुलभ प्रेम तथा प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति स्वाभाविक अनुरक्ति के दर्शन होते हैं। उसमें प्रेमी द्वारा प्रेमिका की भयानक उपेक्षा का जो विरोध कलात्मक माध्यम से प्रस्तुत हुआ है, वह हमारे जीवन-मूल्यों को दृढ़ करता है, और हमारे हृदय को स्पर्श करता है।

वस्तुतः, साहित्य की शाश्वतता का प्रश्न परम्परा के रूपायन का प्रश्न है। हमारे पूर्वकालीन समाजों की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियाँ, जिन्हें हम अमर कहते हैं, इसीलिए हमारे लिए मूल्यवान हैं कि उनके भीतर समाये हुए जीवन-तत्त्वों को हमने अपनी परम्परा में अन्तर्भूत कर लिया है। यह अवश्य है कि परम्परा में पूर्व-कालीन जीवन-तत्त्वों को अन्तर्भूत करते हुए हमने उनका रूप ही बदल डाला है। मानव-सुलभ प्रेम तथा प्रकृति-सौन्दर्य में स्वाभाविक मानव-अनुरक्ति हमारी परम्परा का अंग है; किन्तु बहु-विवाह उस परम्परा का अंग नहीं है, रति-विलास उस परम्परा का अंग नहीं है—कालिदास के लिए भले ही वह महत्त्वपूर्ण हो। पुराने 'राजाओं के अन्तःपुर-उद्यान आदि के भीतर भोग-विलास या रंग-रहस्य के रूप में' भी प्रेम के चित्र खींचे गये हैं, जिसमें 'सपत्नियों के द्वेष, विदूषक आदि के हास-परिहास और राजाओं की स्त्रैणता आदि का दृश्य होता है। उत्तर-काल के संस्कृत नाटकों में इसी प्रकार के पौरुषहीन निःसार और विलासमय प्रेम का वर्णन हुआ है, जैसे, **रत्नावली, प्रियदर्शिका, कर्पूरमंजरी**, इत्यादि में। इसमें नायक को कहीं बाहर वन-पर्वत आदि के बीच नहीं जाना पड़ा है, वह घर के भीतर ही लुकता-छिपता चौकड़ी भरता दिखाया गया है।' (**जायसी ग्रंथावली** की भूमिका, पृष्ठ 36, रामचन्द्र शुक्ल)। निश्चय ही, इस प्रकार की रति तथा प्रेम का हमारी परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। किन्तु इसके विपरीत भवभूति, कालिदास, कबीर ,तुलसी, सूर, घनानन्द, आदि के काव्य में हमें जहाँ-जहाँ मनोहर सूक्ष्म-दृष्टियाँ, जीवन-पक्षों का मार्मिक उद्घाटन तथा जीवन-विवेक दृष्टिगोचर होता है, वह सब साहित्य हमारी स्थायी सम्पत्ति है। यह सम्पत्ति केवल पुस्तकों में ही बँधी नहीं रहती, वरन्, वास्तविक पथदर्शक जीवन-मूल्यों के रूप में परिणत होकर, हमारे उन जीवन-मूल्यों को अधिक सम्पन्न कर, हमारी परम्परा का अंग बन जाती है। कला-कौशल की दृष्टि से किसी काव्य का मनोरंजक हो जाना एक बात है—बिलकुल भिन्न बात है उसका जीवन-मूल्यों के रूप में हमारे सामने आना। मात्र भावोत्तेजित करनेवाली कला हमारे वास्तविक जीवन-पथ के लिए मूल्यवान भी हो, यह आवश्यक नहीं है। हमारे लिए मूल्यवान कला वह है, जिसमें मार्मिक जीवन-विवेक, सूक्ष्म-दृष्टियाँ तथा जीवन के वास्तविक पक्षों का उद्घाटन हो।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि साहित्य की केवल ऐतिहासिक अथवा स्थूल समाज-शास्त्रीय विवेचना कर चुकने में जो आलोचक अपनी इतिकर्त्तव्यता समझ लेते हैं, वे न केवल एकपक्षीय अतिरेक करते हैं, वरन् वे, मनुष्य का विवेचन करने के स्थान पर, केवल उसके अस्थि-पंजर को ही पाठकों के सामने करके यह कहते हैं कि देखो मनुष्य जो कुछ है वह यही है। वस्तुतः, अस्थि-पंजर के बिना मनुष्य का रूप ही असम्भव है। किन्तु जब तक उस अस्थि-पंजर तथा उस पर आधारित सम्पूर्ण शरीर को हम हृदयंगम नहीं कर लेते, तब तक हमें उसके प्राणिशास्त्रीय महत्त्व का बोध नहीं हो सकता, तब तक शारीरिक अवयवों की तथा सम्पूर्ण शरीर की वैज्ञानिक जानकारी भी प्राप्त नहीं हो सकती। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि मनुष्य की ऐतिहासिक-सामाजिक सत्ता ने ही उसको अपने पूर्वकालीन पाशव स्तर से ऊपर उठाकर मानव स्तर तक विकसित किया, तथा विभिन्न अधिकाधिक विकसित समाजों के उत्थान-क्रम के द्वारा उसे अपने वर्तमान रूप तक पहुँचाया है। इस ऐतिहासिक-सामाजिक सत्ता द्वारा विकसित मनोवैज्ञानिक रूप ही मानव-चेतना है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि ऐतिहासिक-सामाजिक शक्तियों द्वारा उसकी यह जो चेतना विकसित है, वह उन शक्तियों से स्वयं सचेत हो। जब तुलसी-दासजी की चेतना रामचन्द्र का चरित्र उपस्थित करती है, तब तुलसीदासजी यह नहीं जान रहे कि वे, वस्तुतः, रामचरित के द्वारा सामन्ती समाज के मानव-सम्बन्धों को उपस्थित कर रहे हैं। उन मानव-सम्बन्धों का सामन्ती स्वरूप उनकी समस्त चेतना के बाहर है। किन्तु वह सामन्ती स्वरूप तो सत्य है ही—तुलसीदासजी उसे जानें या न जानें।

तुलसीदासजी के लिए, स्वभावतः ही, सृष्टि तथा समाज के मूल विकास-नियम नहीं थे। समाज की एक विशेष विकासावस्था में, जब पूँजीवादी समाज के भीतर मज़दूर वर्ग परिपक्व हो जाता है, तब उसकी विचार-धारा के रूप में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद उपस्थित होता है, जो सृष्टि तथा मानव-समाज के मूल विकास-नियमों का वैज्ञानिक उद्घाटन करता है। तब से वैज्ञानिक पद्धति से समाज के रूपान्तर की कार्य-प्रणालियाँ निर्धारित की जाती हैं, तथा मानव-विकास-क्रमों का वैज्ञानिक उद्घाटन किया जाता है। ये मूल विकास-नियम मानव-संकल्पों से पृथक् तथा स्वतन्त्र हैं। समाजवादी समाज में भी वे मानव-संकल्पों से स्वतन्त्र ही रहते हैं। पुराने तथा समाजवादी समाज में, इस सम्बन्ध में, स्थिति-भेद केवल यही है कि समाजवादी समाज में मनुष्य, उन मूल विकास-नियमों के प्रति जागरूक रहने के कारण, अपने को उनके अनुसार सचेत रूप से ढालता चलता है, किन्तु विकास-नियमों को वह स्वयं बदल नहीं सकता। पुराने समाजों में वह इन नियमों से सचेत भी नहीं रहता। पूँजीवादी वर्ग इन नियमों के अस्तित्व को मानता ही नहीं, इसलिए कि वे नियम उसके उत्थान, ह्रास तथा अवश्यम्भावी परिसमाप्ति

की केवल घोषणा ही नहीं करते, वरन् ऐतिहासिक लक्ष्यानुसार ऐसी कार्य-पद्धतियाँ भी निर्धारित करते हैं जो पूँजीवाद के अन्त तथा समाजवाद की स्थापना के वैज्ञानिक कार्य-सिद्धान्तों का विकास करते हैं। वैचारिक क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा आदर्शवादी विचारधाराओं का यह युद्ध, वस्तुतः, श्रमिक वर्ग के जनवाद तथा पूँजीवाद के बीच तुमुल संगर है।

हम ऊपर यह कह चुके हैं कि पूर्वकालीन समाजों में समाज-विकास के मूल नियमों का उद्घाटन न होने के कारण, साहित्यकार यह नहीं जान पाता था कि, जिस समाज का वह चित्रण कर रहा है, उसके मानव-सम्बन्ध, वस्तुतः, उस समाज के मूल आर्थिक ढाँचे के रूप-स्वरूप में निहित तथा उससे उद्गत हैं। तुलसीदासजी यह नहीं जानते थे कि जिन मानव-सम्बन्धों का वे चित्रण तथा आदर्शीकरण कर रहे हैं वह समाज सामन्ती समाज है। किन्तु ध्यान में रखने की बात है कि सामन्ती मानव-सम्बन्धों तथा उनकी तत्कालीन स्थिति ने ही तुलसीदासजी की चेतना रूपायित की। अतएव, तुलसीदासजी की साहित्यिक अभिव्यक्ति के मर्म को समझने के लिए, उनके सन्देश तथा उनके काव्य-सौन्दर्य के वास्तविक आकलन-ग्रहण के लिए, हमें तुलसीदासजी का ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय विश्लेषण करना ही होगा। इसके बिना हम उनके वास्तविक महत्त्व तथा हमारे लिये उनके मूल्य का भी आकलन ठीक-ठीक नहीं कर सकते।

हमारे वर्तमान साहित्य-शास्त्रियों ने साहित्य-समीक्षा की चार प्रचलित पद्धतियाँ बतलायी हैं: (1) साहित्यिक, (2) मनोवैज्ञानिक, (3) प्रभावाभिव्यञ्जक, (4) प्रगतिवादी, अर्थात् ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्यिक पद्धति को ही सर्वोत्तम माना है। वस्तुतः, समाजशास्त्रीय-ऐतिहासिक पद्धति अपने भीतर इन चारों का समाहार करती है। यह बात अलग है कि हमारी वर्तमान ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय पद्धति अधिक विकसित न होने के कारण, हम जीवन की साहित्यिक अभिव्यक्ति के मनोवैज्ञानिक तथा कलात्मक पक्षों का सम्पूर्ण उद्घाटन न कर पाये। किन्तु प्रगतिवाद के विरोधियों ने मनोवैज्ञानिकता के नाम पर झूठे मनोविज्ञान को खड़ा किया। यदि प्रसादजी ने इड़ा को बुद्धि का प्रतीक माना, तो इन तथाकथित मनोवैज्ञानिकों ने, इड़ा के चित्रित चरित्र का विश्लेषण न करते हुए, स्वयं भी उसे बुद्धि का प्रतीक मान लिया। यदि प्रसादजी ने मनु को मानव-मन का प्रतीक माना, तो इन साहित्य-शास्त्रियों ने, मनु के चित्रित चरित्र की विवेचना न करते हुए, स्वयं भी उसे मानव-मन का प्रतीक माना, यद्यपि मनु स्वयं एक विशेष प्रकार से कमज़ोर मानव का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, सारे मनुष्यों का नहीं।

ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय समीक्षा, वस्तुतः, दो भागों में विभाजित की जा सकती है। एक वह, जो समीक्ष्य साहित्य के मनोभावों, जीवन-चित्रणों तथा उनमें प्रस्थापित जीवन-मूल्यों का विवेचन करती हुई मूल ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय उद्गम-रूपायन का विवेचन करती है; तथा दूसरी, जीवन-यथार्थ की कसौटी पर

कसकर उनका मूल्यांकन तथा प्रभाव-मापन करती है, तथा इस विवेचन के दौरान में जितने कला-विवेक-सम्बन्धी प्रश्न उठते हैं उनका संक्षिप्त अथवा विस्तृत उत्तर देती चलती है। निश्चय ही यह बहुत बड़ा काम है, जिसके लिए एक लेख नहीं, वरन् एक वृहत् अथवा अनेक वृहत् ग्रन्थों के गुंफन की आवश्यकता है। इस ओर अभी तक हिन्दी में विशेष रूप से कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ।

[3]

साहित्य-विवेक मूलतः जीवन-विवेक है। इसलिए जीवन से दूर अपनी आरामकुर्सी पर बैठा हुआ समीक्षक, बड़ा विद्वान ही क्यों न हो, जीवन का वैज्ञानिक विवेचन नहीं कर सकता, फिर उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति से विश्लेपण की तो बात ही क्या! बग़ैर जीवन को जाने, बग़ैर ज़िन्दगी को पहचाने, जो आलोचक केवल जीवन की गूँजों (साहित्यिक अभिव्यक्ति) का विश्लेषण करता है, उसको किसी-न-किसी हद तक यान्त्रिकता का सहारा लेना ही पड़ता है। अर्थात्, दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति जीवन की गतिमान प्रक्रियाओं को नहीं जानता, [वह] इन प्रक्रियाओं के साहित्यिक प्रतिबिम्ब के स्वरूप को भी नहीं पहचान सकता। जीवन से दूर आलोचक की मुश्किल इसलिए भी रहती है कि साहित्य के बाहरी रूप-विधान (छन्द इत्यादि) से पृथक् कला के भीतरी अपने नियम भी होते हैं। ये गतिमान प्रक्रियात्मक नियम, वस्तुतः, साहित्य-सृजन की मूल मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हैं, और उनके अभिप्राय उसे तब तक समझ में नहीं आ सकते, जब तक आलोचक स्वयं उस जीवन को नहीं पहचानता जिसे लेखक उपस्थित करना चाह रहा है। सच्ची बात तो यह है कि आलोचक के लिए यह आवश्यक है कि वह उस जीवन को लेखक से भी अधिक पहचाने। तभी वह लेखक द्वारा कलात्मक रूप में उपस्थित जीवन, तथा जीवन-रूप में उपस्थित कला की सच्चाई, ऊँचाई या निचाई को पहचान सकता है। बहुधा ऐसा होता है कि स्वयं लेखक जिस जीवन का कलात्मक रूप उपस्थित करना चाहता है, उसे वह अधूरा ही समझता है (उसका उसे पूरा ज्ञान नहीं होता), अथवा उसे एकपक्षीय दृष्टिकोण से देखते हुए उसके किसी एक अंग को ज़्यादा फुलाकर देखता है, और उसके इस विकृत अथवा अर्ध-विकृत रूप को उपस्थित करता है। निश्चय ही, ऐसे मौक़े पर यह आवश्यक है कि आलोचक लेखक द्वारा कलात्मक रूप में प्रस्तुत जीवन को लेखक से भी अधिक पहचाने। तभी वह जीवन की एकपक्षीय अथवा विकार-प्रेरित उपस्थिति को उद्घाटित कर सकता है, लेखक की मूलभूत अक्षमताओं और अविवेकों का पर्दाफ़ाश कर सकता है।

अब तक ऐतिहासिक-सामाजिक विवेचना स्थूल रूप से ही होती आयी है। वह आलोच्य साहित्य के सामाजिक-ऐतिहासिक परिवेश का तो यथातथ्य निरूपण कर देती है, किन्तु लेखक के व्यक्तित्व के भीतर उसके सन्निवेश के मनोवैज्ञानिक मर्म को उद्घाटित नहीं करती। सच्चा ऐतिहासिक दृष्टिकोण वह है जो न केवल बाहरी स्थिति-परिस्थिति को, वरन् साहित्य के मनोवैज्ञानिक तथ्यों को, समाज की

विकासात्मक-ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण करता है, तथा उन मनोवैज्ञानिक तथ्यों को विकास की गतिमान धारा की बीच की लहरों के रूप में उद्घाटित करता है।

भाववादी समीक्षा के प्रेरक छायावाद की केवल मनोवैज्ञानिक व्याख्या कैसे असंगत तथा असम्पूर्ण है, यह यहाँ बतलाया जायेगा। छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहना बेमानी-सा लगता है। यदि हम 'स्थूल' का अर्थ द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मकता ग्रहण करते हैं, अथवा हमारे दैनिक जीवन के लोक-व्यवहारात्मक पक्ष को लेते हैं, और 'सूक्ष्म' का अर्थ हृदय की निविड़ रोमैण्टिक इच्छाओं, अथवा भावुक आकांक्षाओं और सुकुमारताओं को लेते हैं, तो हमारे सामने तुरन्त ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर क्यों व्यवहारात्मक अथवा (उसकी नैतिक-साहित्यिक अभिव्यक्ति के) इतिवृत्तात्मक पक्ष के विरोध में यह तथाकथित 'सूक्ष्म' उठ खड़ा हुआ। हमको यह जानना चाहिए कि छायावाद के पूर्व भी, हज़ार डेढ़ हज़ार वर्ष के सामन्ती युग में, प्रेम-सम्बन्धी सुकुमार भावनाओं की कविता हुई थी, और हृदय की कोमल वृत्तियों की सुन्दर कलात्मक अभिव्यक्ति भी उसमें हुई थी। कालिदास को कौन भूल सकता है? सूर के साहित्य को कौन आँखों की ओट रख सकता है? प्रेम के मतवाले सूफ़ी कवियों और उर्दू शायरों को हम नजरअन्दाज़ नहीं कर सकते। मीरा जब लोक-लाज खो देती है, तब क्या उसमें स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं है? कबीर जब पण्डितों और मुल्लाओं को डाँट देते हैं, तब क्या वह स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं है? तुलसीदास जब समाज में यह देखते हैं कि 'नारि मुई सब सम्पत्ति नासी। मूँड़ मुड़ाय भये संन्यासी', अथवा वे जब यह कहते हैं कि ब्राह्मण शूद्र का काम कर रहे हैं और शूद्र ब्राह्मणों का, और उनके विरुद्ध वे राम का चरित्र लेकर वर्णाश्रम-धर्म का आदर्श उपस्थित करते हुए भी यह कहते हैं कि राम को केवल अपने भक्त ही प्यारे हैं, चाहे वे किसी भी जाति अथवा धर्म के हों, तो क्या वे मनुष्य के कर्त्तव्याकर्त्तव्य को भावुकता में गूँथकर, उसको सुकुमार बनाकर, तथा उसे दृढ़ता प्रदान कर, तत्कालीन सामाजिक-सांस्कारिक व्यवहार के विरुद्ध उपस्थित नहीं कर रहे थे? मनुष्य के हृदय के जो तथाकथित 'सूक्ष्म' हैं, उसके तो अनेक रूप हो सकते हैं, अच्छे और बुरे दोनों। एक कबीर के हृदय का 'सूक्ष्म' है, तो दूसरा पद्माकर के कामुक हृदय का।

कबीर का 'सूक्ष्म' निस्सन्देह तत्कालीन समाज के अत्यन्त उच्च भावों की अग्र-भूमि में उपस्थित किसी जागरूक सशस्त्र प्रहरी का काम करता है। इसी 'सूक्ष्म' के बल पर कबीर का मूल फक्कड़पन समाज की विषमताओं की मुट्ठी में दबे हुए गले को, अपने को, मुक्त कर लेने का सबक़ पढ़ाता है, निम्न जातियों में आत्म-गरिमा का संचार करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आपको यह बतलाना होगा कि छायावादी 'सूक्ष्म' किसी प्रकार मध्ययुगीन 'सूक्ष्म' से भिन्न है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो गया है कि वस्तुतः जिसे हम 'सूक्ष्म' कहते हैं, वह यदि वस्तुतः सूक्ष्म है, तो सामाजिक-ऐतिहासिक विकास-धारा का अंगभूत होकर ही वह 'सूक्ष्म'

है, अन्यथा वह कुछ है ही नहीं। सामाजिक-ऐतिहासिक शक्तियाँ जिस प्रकार बाह्य सामाजिक-ऐतिहासिक स्थिति-परिस्थिति निर्माण करती हैं, ठीक उसी तरह वे व्यक्ति के भीतर प्रवेश कर उसके 'सूक्ष्म' का निर्माण करती हैं, उसके 'सूक्ष्म' को विकसित कर उसे बल प्रदान करती हैं। साहित्य की सामाजिक-ऐतिहासिक व्याख्या 'सूक्ष्म' के रूप-स्वरूप की ही वास्तविक व्याख्या है। उदाहरणतः, हम छायावाद के तथाकथित 'सूक्ष्म' का तब तक विशदीकरण नहीं कर सकते, जब तक हम मध्ययुगीन 'सूक्ष्म' से भिन्न उसकी विविध विशेषताओं का निरूपण नहीं करते। इन विशेषताओं का निरूपण भी अधूरी सामाजिक-ऐतिहासिक व्याख्या है, जब तक हम यह नहीं बतलायेंगे कि ये विशेषताएँ उत्पन्न ही क्यों हुई ? एक विशेष देश-काल और वर्ग में ही उनका आविर्भाव क्यों हुआ ?

हमारे यहाँ साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब माना गया है। किन्तु प्रतिबिम्ब तो निष्क्रिय होता है। इसके विपरीत बहुत-सा ऐसा साहित्य है जिसने समाज के विचारों को बदल दिया, उसे अग्रगामी और प्रगतिशील बना दिया। मराठी के प्रसिद्ध उपन्यासकार हरिनारायण आप्टे ने **पण लक्षांत कोण घेतो** आदि सामाजिक उपन्यासों के द्वारा मध्यवर्गीय परिवार में सामन्ती उत्पीड़न के विरुद्ध नारी के जो करुण दृश्य सामने रखे, उन्होंने महाराष्ट्रीय मध्यम-वर्गीय स्त्री-पुरुष समुदाय की चेतना ही बदल दी।

आगे चलकर स्वयं स्त्री-साहित्यकारों ने ही अपने पीड़ित जीवन का चित्रण, उनके प्रति की गयी वंचनाओं और अन्यायों का अंकन किया, तथा अपनी मुक्ति की खोज की। फलतः, आज तुलनात्मक दृष्टि से महाराष्ट्रीय स्त्री अन्य-प्रान्तीय स्त्रियों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है, चाहे वह निरक्षर ही क्यों न हो। बंगाल में शरत् ने अपने नारी-पात्रों के गम्भीर अन्तःस्वरूप का उद्घाटन तो किया, किन्तु कमला को छोड़, शरच्चन्द्र के किसी स्त्री-पात्र ने पुरुष की नारी-सम्बन्धी सामाजिक धारणाओं और भावनाओं को इतना नहीं झिंझोड़ा। परिस्थिति-वैषम्य से धक्का खाते हुए विकसित होनेवाली, चरित्र की भीतरी गम्भीरता हमें चाहे जितना पिघला दे, वह गम्भीरता न तो परिस्थिति के वैषम्य का औचित्य ही है, न वह गम्भीरता परिस्थिति के वैषम्य को धक्का देने के लिए पाठक को मजबूर ही कर पाती है। वह गम्भीरता हमें उन वैषम्यों की ओर ध्यान देने के लिए बाध्य करे ही, यह आवश्यक नहीं है। शरत् का पाठक नारी के चरित्र का गम्भीर सौन्दर्य देखता है, उस गम्भीरता के पीछे की मजबूरी और उसके कारणों की ओर नहीं खिचता। आख़िर इसका कारण क्या है ? कारण है बंगाल की ज़मींदारी प्रथा से आक्रान्त मध्यम-वर्ग की सामन्ती लौह-शृंखलाएँ।

तात्पर्य यह कि जब तक हम समीक्ष्य साहित्य के मनोवैज्ञानिक-सौन्दर्यात्मक विवेचन का समाजशास्त्रीय विश्लेषण नहीं करते, तब तक हम उसके अन्तःस्वरूप का, उसकी क्षमताओं तथा सीमाओं का, पूरा विवेचन तथा मूल्य-मापन भी नहीं कर सकते।

जीवन-तथ्य एक विचित्र शब्द है, आजकल के कलाकारों की दृष्टि से। वस्तुत:, बाह्य-जगत् से संवेदनात्मक तथा ज्ञानात्मक प्रतिक्रिया करके हमने विश्व का आभ्यन्तरीकरण किया है, और इस आत्म-जगत् के द्वारा बाह्य-जगत् को स्वानुकूल करने का प्रयत्न किया है, और इस बाह्य-जगत् से हमने विविध प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किये हैं। इन सब क्रियाओं से हमने अपने अन्त:करण में भाव-पुंज बनाये हैं। इन भाव-पुंजों में, जगत् से हमारे सम्बन्ध, उसके प्रति हमारी भाव-दृष्टि तथा जीवन-मूल्य—ये सब उन्हीं के रंग में डूबे हुए होने के कारण भले ही अलग-अलग दिखायी न दें, किन्तु वे जीवनानुभव के रूप में अपने विभिन्न पक्ष रखते ही हैं। अतएव वे जीवनानुभव एक ही साथ वस्तु-तथ्य भी हैं, और एक संवेदनात्मक तथा भावात्मक पुंज भी।

दूसरे शब्दों में, जीवनानुभव के दो प्रधान पक्ष, मूलभूत पक्ष, नित्यश: एकीभूत स्थिति में विराजमान रहते हैं। एक है, बाह्य सन्दर्भ-सूत्र, जो बाह्य-जगत् को और उससे आत्म-सम्बन्धों को सूचित करते हैं। जीवनानुभव का दूसरा पक्ष है, बाह्य परिवेश के प्रति की गयी संवेदनाओं की प्रक्रियाएँ, जो अन्तर में भाव-पुंज उपस्थित करके उस पूरे जीवनानुभव को अत्यन्त आत्मीय बना देती हैं।

चूँकि यहाँ हम, प्रधानत:, जीवनानुभव के बाह्य सन्दर्भ-सूत्र को ध्यान में रखकर बात करना चाहते हैं, इसलिए हम जीवनानुभव को जीवन-तथ्य भी कह सकते हैं। ध्यान में रखने की बात यह है कि ये जीवन-तथ्य अनुभवात्मक रूप में ही हृदय में विद्यमान रह सकते हैं, इसलिए उन्हें जीवनानुभव कह देने में भी कोई हर्ज नहीं।

यह ध्यान में रखने की बात है कि विश्व का आभ्यन्तरीकरण जो हमने किया है, और बाहर हमने जो तरह-तरह के अपने सम्बन्ध स्थापित करके रखे हैं, वे एक विशेष परिवार, वर्ग, समाज, राष्ट्र और देश में ही। और यह सारी बाह्य इयत्ता आदिकाल से चली आती हुई मानव-सत्ता के विकास की एक विशेष अवस्था का द्योतन करती है। और इस विशेष अर्थ में मनुष्य के अन्तर्तत्त्व ऐतिहासिक-सामाजिक शक्तियों द्वारा प्रदत्त हैं, क्योंकि वे शक्तियाँ, अपनी पूरी गति और स्थिति में, सामाजिक-सांस्कृतिक-आध्यात्मिक परम्परा के रूप में, नवीन आदर्श तथा मान-मूल्यों के रूप में, सदभिरुचि तथा संस्कार के रूप में, तथा इसके अतिरिक्त सामाजिक-राजनैतिक वातावरण बनकर, आर्थिक सुस्थिति अथवा दु:स्थिति को धारण करनेवाली परिस्थिति के रूप में—और न मालूम कितने ही अकल्पनीय रूप लेकर ये मानव-अन्त:करण में कार्य करती हैं। और मनुष्य स्वयं, उनसे क्रिया-प्रतिक्रिया करता हुआ, बाह्य विश्व को स्वानुकूल बनाने का प्रयत्न करता हुआ, और स्वयं को विश्व के अनुकूल बनाने की कोशिश करता हुआ, और इस पूरी प्रक्रिया में दोनों की काट-छाँट करता हुआ, अपनी जीवन-यात्रा करता रहता है। संक्षेप में, मनुष्य की वास्तविक जीवन-यात्रा और जीवनयापन-पद्धति तथा इन दोनों के मूल में अपनी आकांक्षाएँ तृप्त करते रहने

की उसकी प्रवृत्ति—ये तीनों मिलकर उसके हृदय के तत्त्वों का, उसके अन्तःकरण के तत्त्वों का, रूपायन करती हैं। अतएव, अन्तःकरण में संचित इन तत्त्वों का ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय विश्लेषण न केवल सम्भव है, वरन् वह आवश्यक भी है।

वह आवश्यक उसे प्रतीत होगा जिसे समग्र मानव-सत्ता में अनुराग हो। इतरों को, निःसन्देह, वह कुछ स्थूल-बुद्धि समीक्षकों का, कलाकारों, सौन्दर्यवादियों तथा अध्यात्मवादियों के विरुद्ध, षड्यन्त्र-जैसा प्रतीत होगा।

किन्तु व्यक्ति-चेतना कितनी सीमित है, क्या हमें यह नहीं मालूम ? न हम पूरा आत्म-साक्षात्कार ही कर सकते हैं, न पूरा अपना चरित्र-साक्षात्कार। कभी-कभी हमें उसकी झलक-भर दिखायी देती है।

इसीलिए हमें इतरों की आवश्यकता होती है—कवि-कलाकार, उपन्यासकार, चित्रकार से लेकर तो विज्ञान के महर्षियों की। तभी हम पूरी मानव-सत्ता को, और उसके आलोक में अपने-आपके जीवन को, अपनी आत्म-सत्ता को, देख-परख सकते हैं।

लेखक की भाव-दृष्टि से समन्वित जीवनानुभव, जो उसकी अनुभूति के माध्यम से कला के तत्त्व बन जाते हैं, अपनी प्रारम्भिक मूल अवस्था में जीवन-तथ्य होने के कारण समाजशास्त्रीय तथा ऐतिहासिक विशेषताओं से युक्त होते हैं; समाज-विकास की ऐतिहासिक शक्तियों के द्वारा लेखक के हृदय के भीतर अभिव्यक्त होते हैं। लेखक जीवन-तथ्यों का, भावों का, स्रष्टा नहीं होता, उनका नियामक तथा प्रवर्तक नहीं होता, उनका केवल अनुभविता, भोक्ता और अभिव्यंजक होता है, यद्यपि लेखक के हृदय में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वे जीवन-तथ्य अनुभूति बनकर अपने प्रकटीकरण के लिए अकुलाते रहते हैं। और इस प्रकार निगूढ़ मार्मिक अनुभव के क्षणों में लेखक उन्हें अपने भाव, अपने अनुभव, अपनी कल्पना, आदि कहकर पुकारता है, फिर भी वे जीवन-तथ्य लेखक द्वारा उत्पादित नहीं होते। लेखक उन जीवन-तथ्यों का अनुभव, चित्रण, मूल्यांकन करता है। जीवन-तथ्यों को अपने हृदय में अनुभव करते हुए, लेखक उन्हें निजी बना लेता है। तदनन्तर, उसकी विधायक शक्ति, सृजनशील कल्पना के द्वारा, उन्हें कलात्मक रूप में उपस्थित करती है। इन्हीं सीमित अर्थों में लेखक अपनी कला का विधाता है। वस्तुतः, वे जीवन-तथ्य, लेखक के हृदय के भीतर उपस्थित होते हुए भी, अपने अस्तित्व के लिए मात्र उसकी सत्ता पर ही अवलम्बित नहीं रहते। वे सामाजिक अनुभवों के रूप में सबके हृदयों में विराजमान रहते हैं। उन जीवन-तथ्यों से जुड़नेवाला मूल्यांकनकारी, विवेचनकारी, मार्मिक दृष्टिकोण भी लेखक के विकास का ही एक बिन्दु है। यह विकास मात्र व्यक्तिगत न होकर, समाज-विकास की ऐतिहासिक शक्तियों द्वारा प्रवर्तित होता है, जिनके एक अंग रूप में वह लेखक स्वयं रहता है। सारांश यह है कि, वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर, हमारे सामने यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य उपस्थित होता है कि साहित्य की समाजशास्त्रीय-ऐतिहासिक व्याख्या वस्तुतः उतनी बाहरी नहीं है जितनी कि समझी

जाती है। वह बाहरी और भीतरी, दोनों से युक्त और दोनों के परे है। कला के भीतर रूप से पृथक् (हम मात्र विश्लेषण की सुविधा के लिए यह पृथक्ता मान रहे हैं, रूप और तथ्य कभी एक-दूसरे से पृथक् नहीं रह सकते) तत्त्व की आलोचना समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक भी हो सकती है, भले ही हम समाजशास्त्र और ऐतिहासिक विकास-शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग न करें (न यह हमेशा ज़रूरी होता है)। किन्तु हमारी आलोचना को वास्तविकता पर आधारित होने के लिए समाज-रचना के ऐतिहासिक विकास के स्तर, आलोच्य वस्तु के समय प्रचलित भाव-परम्परा, लेखक के वर्ग परिवार तथा व्यक्तिगत विकासावस्था, तत्कालीन सांस्कृतिक विकास, आदि-आदि बातों के अध्ययन के साथ ही, लेखक की उस समस्त स्थिति-परिस्थिति से की गयी प्रतिक्रिया का अध्ययन भी नितान्त आवश्यक है, और इस अध्ययन के अन्तिम गर्भितार्थ समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक ही हो सकते हैं।

लेखक के सम्बन्ध में उपर्युक्त वक्तव्यों से यह भ्रम सम्भव है कि लेखक अपने साहित्य में जीवन-तथ्यों को सक्रिय रूप से उपस्थित नहीं करता, अर्थात् उसमें वे यान्त्रिक रूप से प्रकट हो जाते हैं। यह निष्कर्ष आधारहीन है। वस्तुतः, लेखक साहित्य द्वारा न केवल समाज के किसी पक्ष या प्रवृत्ति की आवाज़ को दृढ़ करता है, तथा इस प्रकार न केवल मूल सामाजिक द्वन्द्व में किसी पक्ष या उप-पक्ष की, प्रवृत्ति या उस प्रवृत्ति के किसी सूत्र या उप-सूत्र की, आवाज़ को मज़बूत बनाता है, वरन् ऐसे ही जीवन-अनुभव या अनुभूति या तथ्य को उपस्थित करता है, जो उस पक्ष या उप-पक्ष या प्रवृत्ति या उप-प्रवृत्ति की स्थिति को दृढ़ करें। पिछले वक्तव्यों से एक भ्रम यह भी हो सकता है कि लेखक मानो हमेशा ही जीवन-तथ्यों को, उन जीवन-तथ्यों की मूलभूत वास्तविकता को पहचानकर, कलात्मक रूप में उपस्थित करता हो। यह निष्कर्ष भी आधारहीन है। असलियत यह है कि बहुत बार लेखक जिन जीवन-तथ्यों को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करना चाहता है, उनको वह ठीक ढंग से नहीं समझता। उनके प्रति उसका दृष्टिकोण भी बहुत बार ग़लत होता है। ऐसी स्थिति में लेखक वास्तविकता के यथार्थ-बोध के स्थान पर अधिकतम कल्पना का सहारा लेकर अपना काम पूरा करता है। उसकी यह अक्षमता न केवल व्यक्तिगत होती है, वरन् वह उस पक्ष से सम्बद्ध होती है, जो उन जीवन-तथ्यों के वास्तविक रूप को तथा उनके वास्तविक मूल्यों को प्रच्छन्न अथवा नितान्त गुप्त रखना चाहता है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या मात्र एक छोटे-से लिरिक, महादेवी के एक गीत, शेली के चार पद्य, कीट्स की एक कविता, की समीक्षा के लिए सम्पूर्ण मानवेतिहास को प्रस्तुत करना आवश्यक है? क्या ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से, समाजशास्त्रीय विकास-स्तर तथा तत्कालीन स्थिति और परिस्थिति आदि-आदि बातों का सम्पूर्ण निरूपण आवश्यक है? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि जिस दृष्टि से जिस अनुभूति को, जिस जीवनानुभव को, जिस जीवन-

तथ्य को, कवि उपस्थित कर रहा है, उसके समस्त समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सन्दर्भ और अर्थ आपके ध्यान में रहने चाहिये। निश्चय ही, जब ये सन्दर्भ और अर्थ आपमें रमे हुए हैं, तो आप पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग करें या न करें, अथवा आप लेखक के केवल मानसिक पक्ष अथवा उसके शुद्ध अभिव्यक्ति-पक्ष का ही उद्‌घाटन करते हों, वे समस्त सन्दर्भ और अर्थ आपके विवेचन और निर्णयों में रमे हुए रहेंगे। अतएव, लेखक के संवेदनात्मक उद्देश्यों को पहचानकर उसकी कलाकृति का विवेचन किया जाना चाहिये, तथा उसके संवेदनात्मक उद्देश्यों और अन्तरानुभवों को व्यापकतर मानव-सत्ता के तथ्यों से जोड़ना चाहिये।

[सम्भावित रचनाकाल 1950-51। लेखक की **कामायनी** पुस्तक के अन्तिम अंश के रूप में मुद्रित, पर अप्रकाशित। **कामायनी : एक पुर्नविचार** में इसे छोड़ दिया गया था। **नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र** में संकलित]

जनता का साहित्य किसे कहते हैं ?

ज़िन्दगी के दौरान में जो तजुर्बे हासिल होते हैं, उनसे नसीहतें लेने का सबक़ तो हमारे यहाँ सैकड़ों बार पढ़ाया गया है। होशियार और बेवक़ूफ़ में फ़र्क़ बताते हुए, एक बहुत बड़े विचारक ने यह कहा, "ग़लतियाँ सब करते हैं, लेकिन होशियार वह है जो कम-से-कम ग़लतियाँ करे और ग़लती कहाँ हुई यह जान ले और यह सावधानी बरते कि कहीं वैसी ग़लती तो फिर नहीं हो रही है।" जो आदमी अपनी ग़लतियों से पक्षपात करता है उसका दिमाग़ साफ़ नहीं रह सकता।

ग़लतियों के पीछे एक मनोविज्ञान होता है। या, यूँ कहिये कि ग़लतियों का स्वयं एक अपना मनोविज्ञान है। तजुर्बे से नसीहतें लेते वक़्त, अपने ग़लतियोंवाले मनोविज्ञान के कुहरे को भेदना पड़ता है। जो जितना भेदेगा, उतना पायेगा। लेकिन पाने की यह जो प्रक्रिया है वह हमें कुछ सिद्धान्तों के किनारे तक ले जाती है, कुछ सामान्यीकरणों को जन्म देती है। यानी, तजुर्बे की कोख से सिद्धान्तों का जन्म होता है।

मैं अपने तजुर्बे से कौन-सा निष्कर्ष निकालूँ, यह एक सवाल है, और तजुर्बा यह है।

एक उत्साही सज्जन को जब मैंने यह कहा कि फ़लाँ पार्टी छुईखदान गोली-काण्ड पर इतनी देर से क्यों वक्तव्य निकाल रही है, तो उसका जवाब देते हुए

उन्होंने यह कहा कि वक्तव्य मैंने लिखा (वे उस पार्टी के हैं), और पार्टी उसे पास करने जा रही है। आपका भी यह काम था कि आप उस वक्तव्य को जल्दी-से-जल्दी लिखते और पास करवा लेते।

मैंने इसका जवाब यह दिया कि वह मेरा काम नहीं है। मेरे काम में हिस्सा बँटाने के लिए क्या वे लोग आते हैं? ('मेरे काम' से मेरा मतलब 'साहित्यिक कार्य' से था)। उन्होंने उसका जवाब यह कह कर दिया कि यह आपका व्यक्तिगत कार्य है और वह सामूहिक।

इसका यह मतलब हुआ कि साहित्य एक व्यक्तिगत कार्य है, और राजनीति सामूहिक कार्य, और सामूहिक कार्य में व्यक्तिगत स्वार्थ की कोई महत्ता नहीं।

लेकिन क्या यह सच है? क्या कवि-कर्म मात्र व्यक्तिगत है? क्या साहित्य-कार्य की मूल प्रेरणा और क्षेत्र शुद्ध व्यक्तिगत है?

मज़ेदार बात यह है कि साहित्य को मात्र व्यक्तिगत कार्य कहकर, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व कहकर, अपने हाथ झाड़-पोंछकर साफ़ करनेवाले ठीक वे ही लोग हैं, जो 'जनता के लिए साहित्य' का नारा बुलन्द करते हैं, गो उन्हें यह मालूम नहीं कि जिन शब्दों को वे बार-बार दुहरा रहे हैं, उनका मतलब क्या है।

यह छोटी-सी बात हमारे हिन्दुस्तान के पिछड़ेपन को ही सूचित करती है। स्वतन्त्र होने पर भी, हमारा देश आर्थिक दृष्टि से अभी ग़ुलाम है। औपनिवेशिक देश के बुद्धिजीवी निश्चय ही उतने ही पिछड़े हुए हैं जितना कि उनका अर्थ-तन्त्र।

यूरोप में एक-एक विचार की प्रस्थाना के लिए बड़ी-बड़ी क़ुरबानियाँ देनी पड़ी हैं। लेकिन हिन्दुस्तान को पका-पकाया मिल रहा है। लेकिन, चूँकि उसके पीछे स्वतः उद्योग नहीं है, इसलिए बहुत-से विचार हज़म नहीं हो पाते। शरीर में उनका खून नहीं बन पाता। आँखों में उनकी लौ नहीं जम पाती। मस्तिष्क में उनका प्रकाश नहीं फैल पाता। इसीलिए विचारों में बचकानापन रहता है, और कार्य विचारों का अनुसरण नहीं कर पाते। यह बात हिन्दुस्तान के औपनिवेशिक रूप पर ही हमारी दृष्टि ले जाती है।

हम अपने मूल प्रश्न पर आयें। क्या साहित्य-कार्य मात्र व्यक्तिगत कार्य है, मात्र व्यक्तिगत उत्तरदायित्व है?

इसका जवाब यों है:

1. साहित्य का सम्बन्ध आपकी संस्थिति से है, आपकी भूख-प्यास से है—मानसिक और सामाजिक। अतएव किसी प्रकार का भी आदर्शात्मक साहित्य जनता से असम्बद्ध नहीं।

2. 'जनता का साहित्य' का अर्थ जनता को तुरन्त ही समझ में आनेवाले साहित्य से हरगिज़ नहीं। अगर ऐसा होता तो किस्सा तोता मैना और नौटंकी ही साहित्य के प्रधान रूप होते। साहित्य के अन्दर सांस्कृतिक भाव होते हैं। सांस्कृतिक भावों को ग्रहण करने के लिए, बुलन्दी बारीकी और खूबसूरती को पहचानने

के लिए, उस असलियत को पाने के लिए जिसका नक़्शा साहित्य में रहना है, सुनने या पढ़नेवाले की कुछ स्थिति अपेक्षित होती है। वह स्थिति है उसकी शिक्षा, उसके मन का सांस्कृतिक परिष्कार। साहित्य का उद्देश्य सांस्कृतिक परिष्कार है, मानसिक परिष्कार है। किन्तु यह परिष्कार साहित्य के माध्यम द्वारा तभी सम्भव है जब स्वयं सुननेवाले या पढ़नेवाले की अवस्था शिक्षित [की] हो। यही कारण है कि मार्क्स का **दास कैपिटल**, लेनिन के ग्रन्थ, रोम्याँ रोलाँ के, तॉल्स्तॉय और गोर्की के उपन्यास एकदम अशिक्षित और असंस्कृतों के न समझ में आ सकते हैं, न वे उनके पढ़ने के लिए होते ही हैं। 'जनता का साहित्य' का अर्थ 'जनता के के लिए साहित्य' से है, और वह जनता ऐसी हो जो शिक्षा और संस्कृति द्वारा कुछ स्टण्डर्ड प्राप्त कर चुकी हो। ध्यान रहे कि राजनीति के मूल ग्रन्थ बहुत बार बुद्धिजीवियों के भी समझ में नहीं आते, जनता का तो कहना ही क्या। लेकिन वे हमारी सांस्कृतिक विरासत हैं। ऐसे राजनीति-ग्रन्थों के मूल भाव हमारी राजनीतिक पार्टियाँ और सामाजिक कार्यकर्ता अपने भाषणों और आसान ज़बान में लिखी किताबों द्वारा प्रसारित करते रहते हैं। चूँकि ऐसे ग्रन्थ जनता की एकदम समझ में नहीं आते (बहुत बार बुद्धिजीवियों की समझ में भी नहीं आते), इसलिए वे ग्रन्थ जनता के लिए नहीं यह समझना ग़लत है। अज्ञान और अशिक्षा से अपने उद्धार के लिए जनता को ऐसे ग्रन्थों की ज़रूरत है। जो लोग 'जनता का साहित्य' से यह मतलब लेते हैं कि वह साहित्य जनता के तुरन्त समझ में आये, जनता उसका मर्म पा सके यही उसकी पहली कसौटी है—वे लोग यह भूल जाते हैं कि जनता को पहले सुशिक्षित और सुसंस्कृत करना है। वह फ़िलहाल अन्धकार में है। जनता को अज्ञान से उठाने के लिए हमें पहले उसको शिक्षा देनी होगी। शिक्षित करने के लिए जैसे ग्रन्थों की आवश्यकता होगी, वैसे ग्रन्थ निकाले जायेंगे और निकाले जाने चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि उसको प्रारम्भिक शिक्षा देनेवाले ग्रन्थ तो श्रेष्ठ हैं, और सर्वोच्च शिक्षा देनेवाले ग्रन्थ श्रेष्ठ नहीं हैं। ठीक यही भेद साहित्य में भी है। कुछ साहित्य तो निश्चय ही प्रारम्भिक शिक्षा के अनुकूल होगा, तो कुछ सर्वोच्च शिक्षा के लिए। प्रारम्भिक श्रेणी के लिए उपयुक्त साहित्य तो साहित्य है, और सर्वोच्च श्रेणी के लिए उपयुक्त साहित्य जनता का साहित्य नहीं है, यह कहना जनता से ग़द्दारी करना है।

तो फिर 'जनता का साहित्य' का अर्थ क्या है? जनता के साहित्य से अर्थ है ऐसा साहित्य जो जनता के जीवन-मूल्यों को, जनता के जीवनादर्शों को, प्रतिष्ठापित करता हो, उसे अपने मुक्तिपथ पर अग्रसर करता हो। इस मुक्तिपथ का अर्थ राजनैतिक मुक्ति से लगाकर अज्ञान से मुक्ति तक है। अतः इसमें प्रत्येक प्रकार का साहित्य सम्मिलित है, बशर्ते कि वह सचमुच उसे मुक्तिपथ पर अग्रसर करे।

जनता के मानसिक परिष्कार, उसके आदर्श मनोरंजन से लगाकर तो क्रान्तिपथ पर मोड़नेवाला साहित्य, मानवीय भावनाओं का उदात्त वातावरण उपस्थित करनेवाला साहित्य, जनता का जीवन चित्रण करनेवाला साहित्य, मन को मान-

वीय और जन को जन-जन करनेवाला साहित्य, शोषण और सत्ता के घमण्ड को चूर करनेवाले स्वातन्त्र्य और मुक्ति के गीतोंवाला साहित्य, प्राकृतिक शोभा और स्नेह के सुकुमार दृश्योंवाला साहित्य—सभी प्रकार का साहित्य सम्मिलित है वशर्ते कि वह मन को मानवीय, जन को जन-जन बना सके और जनता को मुक्ति-पथ पर अग्रसर कर सके। साहित्य के सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण जनता का दृष्टि-कोण है। फ़्रांस के लुई ऐरॅगाँ ने द्वितीय विश्व-युद्ध में जनता के बीच काम किया, और युद्ध-समाप्ति पर रोमैण्टिक उपन्यास लिखा। शायद उन्हें जन-संघर्ष के दौरान में दुश्मनों से लड़ते-लड़ते रोमैण्टिक अनुभव भी हुए हों। उन अनुभवों के आधार पर उन्होंने रोमैण्टिक उपन्यास लिखे। किन्तु तुरन्त बाद ही वे ऐसे उपन्यास लेकर आये जिसमें, अलावा एक रोमैण्टिक धारा के, जनता के संघर्ष का सौन्दर्यात्मक चित्रण था। यही हाल इलिया एहरेनबर्ग आदि का है। उनका उपन्यास **स्टॉर्म** (तूफ़ान—इसका हिन्दी में अनुवाद हो चुका है) भी जन-संघर्ष के दौरान का चित्रण करता है, जिसमें कई मानवोचित रोमैण्टिक घटनाओं और उपकथाओं का सन्निवेश है। उसी तरह सोवियत साहित्य के अन्तर्गत द्वितीय विश्वयुद्ध के विशाल साहित्य-चित्रों में मानवोचित सुकुमार रोमैण्टिक कथाओं और प्राकृतिक सौन्दर्य-दृश्यों का अंकन किया गया है।

जो जाति, जो राष्ट्र जितना ही स्वाधीन है, यानी जहाँ की जनता शोषण और अज्ञान से जितने अंशों तक मुक्ति प्राप्त कर चुकी होती है, उतने ही अंशों तक वह शक्ति और सौन्दर्य तथा मानवादर्श के समीप पहुँचती हुई होती है। आज की दुनिया में जिस हद तक शोषण बढ़ा हुआ है, जिस हद तक भूख और प्यास बढ़ी हुई है, उसी हद तक मुक्ति-संघर्ष भी बढ़ा हुआ है, और उसी हद तक बुद्धि तथा हृदय की भूख-प्यास भी बढ़ी हुई है।

आज के युग में साहित्य का यह कार्य है कि वह जनता के बुद्धि तथा हृदय की इस भूख-प्यास का चित्रण करे, और उसे मुक्तिपथ पर अग्रसर करने के लिए ऐसी कला का विकास करे जिससे जनता प्रेरणा प्राप्त कर सके और जो स्वयं जनता से प्रेरणा ले सके। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि जनता के साहित्य के अन्तर्गत सिर्फ़ एक ही प्रकार का साहित्य नहीं, सभी प्रकार का साहित्य है। यह बात अलग है कि साहित्य में कभी-कभी जनता के अनुकूल एक विशेष धारा का ही प्रभाव रहे—जैसे प्रगतिशील साहित्य में किसान-मज़दूरों की कविता का।

इस विवेचन के उपरान्त यह स्पष्ट हो जायेगा कि जनता के जीवन-मूल्यों और जीवनादर्शों को दृष्टि में रख जो साहित्य निर्माण होता है, वह यद्यपि व्यक्ति-व्यक्ति की लेखनी द्वारा उत्पन्न होता है, किन्तु उसका उत्तरदायित्व मात्र व्यक्तिगत नहीं, सामूहिक उत्तरदायित्व है। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोग-शाला में अनुसन्धान करता है, और शोध कर चुनने पर एक फ़ॉर्मूला तैयार करता है, यद्यपि वह साधारण जनता की समझ में न आये, लेकिन वैज्ञानिक यह जानता है कि उस फ़ार्मूले को कार्य में परिणत करने पर नयी मशीनें और नये रसायन तैयार

होते हैं, जो मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी हैं। तो उसी तरह जनता भी यह जानती है कि वह वैज्ञानिक जनता के लिए ही कार्य कर रहा है। उसी तरह साहित्य भी है। उदाहरणतः, साहित्य-शास्त्र का ग्रन्थ साधारण जनता की समझ में भले ही न आये, किन्तु वह लेखकों और आलोचकों के लिए ज़रूरी है—उन लेखकों और आलोचकों के लिए जो जनता के जीवनादर्शों और जीवन-मूल्यों को अपने सामने रखते हैं। यह बात ऐसे साहित्य के लिए भी सच है जिसमें मनोभावों के चित्रण में बारीकी से काम लिया गया है, और अत्याधुनिक विचारधाराओं के अद्यतन रूप का अंकन किया गया है।

वास्तविक बात यह है कि शोषण के खिलाफ़ संघर्ष, तदनन्तर शोषण से छुटकारा, और फिर उसके बाद दैनिक जीवन के उदर-निर्वाह-सम्बन्धी व्यवसाय में कम-से-कम समय खर्च होने की स्थिति, और अपनी मानसिक-सांस्कृतिक उन्नति के लिए समय और विश्राम की सुविधा-व्यवस्था की स्थापना, जब तक नहीं होती, तब तक शत-प्रतिशत जनता साहित्य और संस्कृति का पूर्ण उपयोग नहीं कर सकती, न उससे अपना पूर्ण रंजन ही कर सकती है।

इस सम्पूर्ण मनुष्य-सत्ता का निर्माण करने का एकमात्र मार्ग राजनीति है, जिसका सहायक साहित्य है। तो वह राजनैतिक पार्टी जनता के प्रति अपना कर्तव्य नहीं पूरा करती, जो कि लेखक के साहित्य-निर्माण को व्यक्तिगत उत्तर-दायित्व कहकर टाल देती है।

[नया ख़ून, फ़रवरी 1953 में प्रकाशित। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित]

'प्रगतिशीलता' और मानव-सत्य

इस नदी का जन्म कहाँ और कैसे हुआ, यह कहना मुश्किल है। भूगर्भशास्त्रियों का मत है कि इस हिमयुग में (यह शायद चौथा हिमयुग है) हज़ारों सालों से एकत्र प्राचीन हिम-खण्डों का भार जब अधिकाधिक असन्तुलित होने लगा, तब एकाएक उसके कुछ हिस्से अपनी-अपनी जगहों पर हिलने लगे। ज्यों-ज्यों भार बढ़ता गया, त्यों-त्यों हिम-खण्डों के पैर उखड़ते गये, और आख़िर वह समय भी आया जब वे हिमनदी या ग्लेशियर्स बनकर अनेकों महासरिताओं के आदि-स्रोत बन बैठे।

नदियाँ हमारे सामने हैं। उनका मूल स्रोत अमुक हिमनदी है, यह कहना मुश्किल है। किन्तु यह पक्की बात है कि उनका आदि-हिम बहुत पुराना है।

यह आदि-हिम क्या है, इसका पता नहीं है ऐसी बात नहीं। आज की ज़िन्दगी में वही दृश्य हमें दिखायी देते हैं जो महाभारत काल में थे। अन्तर इतना ही है कि गुरु द्रोण के प्रांगण में आधुनिक कौरव और पाण्डव दोनों तालीम पा रहे हैं। दोनों पक्षों में, आन्तरिक उद्देश्यों और स्वभावों के भेद के साथ-ही-साथ, एक बात सामान्य है, और वह यह है कि समाज की ह्रासकालीन स्थिति और व्यक्तित्व की ह्रास-ग्रस्त मति के दृश्य दोनों की परिस्थिति बन गये हैं। इनके विरुद्ध या इनके अनुकूल कौन कैसी प्रतिक्रियाएँ करता हुआ, अपने व्यक्तित्व और जीवन का तथा उसके द्वारा समाज का किस ढंग से विकास करता चलता है, इस पर सब कुछ निर्भर है। अभी भी बहुत-से महापुरुष कौरवों की चाकरी करते हुए पाण्डवों से प्रेम करते हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। किन्तु द्रोण, भीष्म और कर्ण-जैसे प्रचण्ड व्यक्तित्वों की ऐतिहासिक पराजय जैसी महाभारत काल में हुई थी, वैसी आज भी होनेवाली है।

अन्तर इतना ही है कि इस संघर्ष में (जो आगे चलकर आज नहीं तो पच्चीस साल बाद तुमुल युद्ध का रूप लेगा) कौन किस स्वभाव-धर्म और समाज-धर्म के आदर्शों से प्रेरित होकर ऐतिहासिक विकास के क्षेत्र में अपना-अपना रोल अदा करेगा, इसकी प्रारम्भिक दृश्यावली अभी से तैयार है।

हज़ारों सालों के महाभारत में और आज के महाभारत में उतना ही अन्तर है जितना कि प्रथम हिमयुग और चौथे हिमयुग के बीच। भूगर्भशास्त्रियों का कहना है कि अति-प्राचीनकाल में सिन्धु, सतलज, सरस्वती, यमुना और गंगा एक ही घाटी में बहती थीं। यानी उस काल में भौगोलिक स्थिति कुछ दूसरी ही थी और ये विभिन्न नदियाँ न थीं, वरन् एक ही सरिता थी जो पश्चिम से पूर्व की ओर बहती थी। आज उस प्राचीन स्थिति को सूचित करनेवाली सिर्फ़ पुरानी घाटी के शिला-प्रसार हैं, जो आज भी सिन्धु की तलहटी से चलकर गंगा के मुहाने तक घाटी के चिह्नों के रूप में विराजमान हैं, और भूगर्भशास्त्रियों के ज्ञान के उपकरण बने हुए हैं। तात्पर्य यह कि जल के मूल तत्त्वों में परिवर्तन न होते हुए भी, वर्तमान नदियों की दिशाओं में परिवर्तन हो गया है। परिवर्तित दिशा-कोणवाली इन नदियों का महत्त्व कौन न स्वीकारेगा, जबकि आज उनका मधुर जल पीकर प्रगल्भ सभ्य शक्तियाँ स्वयं को पुष्ट करती जा रही हैं, और जिनके तट पर से बहती हुई हवा अनेक मानसिक और शारीरिक व्याधियों की दवा बन बैठी है।

यह दिशा-परिवर्तन बौद्धिक सत्य की अपेक्षा जीवन का एक जीता-जागता तथ्य है। यह अलग बात है कि कुछ लोग इस तथ्य का पौराणिक विश्लेषण करें और कुछ लोग वैज्ञानिक। हर समय, हर युग में, ऐसी शक्तियाँ रही हैं जो पहले 'नवीन' का विरोध करती हैं, किन्तु जब वे उस नवीन को बदल नहीं सकतीं तो

उसकी इस प्रकार से व्याख्या करती हैं, कि जिससे वह 'नवीन' पुरातन का जारज मानसिक पुत्र बनकर उनके घर सेवा-चाकरी करता रहे। नवीन सत्यों के आधुनिक पौराणिक व्याख्याकार हमारे बीच में अनगिनत हैं, और यह पर्याप्त सम्भव है कि नये साहित्यिक युवक सामाजिक और साहित्यिक महत्त्व-प्राप्ति की खोज में पुराणपन्थियों के दत्तक-पुत्र बनने में ही अपना अहोभाग्य समझें।

आज का युग ही ऐसा है कि पुराणपन्थियों में से बहुतेरों ने अपना-अपना जामा बदल दिया है, अपने मुहावरे और अन्दाज़ भी बदल दिये हैं। हो सकता है कि ये लोग आज युनेस्को की अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली में बात करते हों, और यह भी हो सकता है कि नागपुर यूनिवर्सिटी से तुलसीदास के दर्शन पर उन्होंने अपनी पुस्तक प्रकाशित करवायी हो। पुराणपन्थी से हमारा तात्पर्य उन सभी सज्जनों से है जिनका सौजन्य सामान्य-जन की बौद्धिक-सामाजिक-राजनैतिक मुक्ति के आड़े आता है। 'सामान्य-जन' या 'जनता' शब्द के प्रयोग से घबराने की ज़रूरत नहीं (यद्यपि तरह-तरह के अवसरवादियों द्वारा इस शब्द का खूब दुरुपयोग किया गया है)। मध्य-वर्ग के ग़रीब बुद्धिजीवी लोग भी जनता में शामिल हैं, बशर्ते कि वे समाज की थैली-शाही के भोंपू न बनें। हो सकता है कि ग़रीब बुद्धिजीवी और लेखक भटका हुआ हो, किन्तु उसकी स्वयं की स्थिति कोई उससे छीन नहीं लेता। और आम तौर पर उसकी स्थिति ही ऐसी है कि वह जनता में है। चण्डीदास का वह पद—शुनह मानुष भाई शबार ऊपर मानुष शत्तो ताहार ऊपरे नाई।—जिस मनुष्य-सत्य की घोषणा करता है उसका मूल अधिष्ठान जनता में है। इस जनता को आँखों से ओझल करके देशभक्ति नहीं हो सकती।

सच तो यह है कि स्वयं के मनोभावों की कविता प्रत्यक्षतः व्यक्ति की होने से जन-विरोधी नहीं हो जाती, बशर्ते कि वे मनोभाव समाज के बीच में रहकर स्वाभाविक हुए हों। जन-मन की सर्व-साधारण मनःस्थिति व्यक्ति की मनोदशाओं द्वारा प्रकट हो, तो फिर क्या कहना! वे मनोभाव तो उत्पीड़ित वर्गों की साधारण मनःस्थिति के ही द्योतक हैं। अपनी बिकी हुई मेहनत, बेसहारा ज़िन्दगी की आकांक्षाएँ, सामाजिक उलझनों से होनेवाले मानसिक तनाव, स्थिति-परिस्थिति की क्रिया-प्रतिक्रियात्मक संवेदनाएँ आदि को अपने में सम्मिलित करनेवाला विचार-वेदना-मण्डल, जब लोक-मुक्ति की नयी भावधारा से और भी सशक्त, और भी संवेदनमय हो जाता है, तब जिस साहित्य का आविर्भाव होता है उसमें महान् 'मनुष्य-सत्य' होता है। इस मनुष्य-सत्य का अनादर करनेवाले साधारण रूप से दो परस्पर विरोधी क्षेत्रों से आते हैं। एक वे, जो मात्र क्रान्तिकारी शब्दों का शोर खड़ा करनेवालों के हिमायती के रूप में अपने सिद्धान्तों की यान्त्रिक चौखट तैयार रखते हैं—जो उसमें फ़िट हो जाये वह प्रगतिशील, और जो उसमें कसा न जा सके वह प्रगति-विरोधी। यह उनका प्रत्यक्ष, परोक्ष, प्रस्तुत और अप्रस्तुत, मुखर और गोपनीय निर्णय होता है। ये लोग उत्पीड़ित मध्यवर्ग के जीवन के तत्त्वों से दूर अलग-अलग होते हैं। भले ही ये लोग शाब्दिक रूप से ग़रीबों के कितने ही

हिमायती क्यों न हों, इनका व्यक्तित्व स्वयं आत्मबद्ध, अहंग्रस्त महत्त्वाकांक्षाओं का शिकार और राग-द्वेष की बहुमुखी प्रवृत्तियों से निपीड़ित होता है। बोधहीन बौद्धिकता का शिकार, यह वर्ग जिस संवेदनमय कविता की आलोचना करता है, उसकी संवेदनाओं की मूल आधार-भूमि को वह हृदयंगम नहीं कर सकता।

हमारे उत्पीड़ित मध्यवर्गीय सचेत युवकों के कष्टों का इतिहास केवल तात्कालिक व्यक्तिगत आर्थिक कारणों से ही नहीं है, वरन् वर्ग के अनेक रूप पुराण-पन्थी संस्कारों और अविचारों से, संघर्ष की रक्ताल वेदनाओं से, आच्छन्न है। अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा की आरामकुरसी पर बैठे हुए ये मसीहा निर्णय दे सकते हैं, लेकिन नवयुवक लेखक को बाँह पकड़कर सहारा नहीं दे सकते, उसकी काव्यो-न्मुखी मनोदशाओं को नहीं समझ सकते। उसके व्यक्त कष्टों में उन्हें कोई मनुष्य-सत्य नहीं दिखायी देता। वे तो उस कविता को अपना प्रमाण-पत्र देंगे जिसमें उनकी अभिरुचि की ज़िद पूरी होती हो। असलियत यह है कि आलोचकगण उस जीवन-भूमि को ही नहीं समझते (अथवा उनमें इतनी संवेदन-क्षमता नहीं है कि वे समझ सकें), जिसमें ग़रीब नवयुवक लेखक की प्रतिभा का जन्म हुआ है। इस-लिए ये लोग व्यवहार और विचार में भेद रखनेवाले (विचार और काव्य से प्रगति-शील, किन्तु वास्तविक जीवन में उच्चवर्गीय दृष्टि और जीवन-प्रणाली के स्तूप) लोगों की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाते हैं, या फिर ऐसे लोगों को ही 'प्रगतिवादी' समझते हैं जो उनकी 'राजनैतिक' शब्दोंवाली परिभाषाओं की कविता करते हों। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि नवीन कष्टग्रस्त प्रतिभा का लेखक प्रोत्सा-हन और प्रेरणा के लिए उनकी तरफ़ नहीं देखता। इसलिए कि हमारे ये साहि-त्यिक नेता हृदय और बुद्धि के क्षेत्र में कठोर अहंवादी हैं, कष्टग्रस्त मनुष्य-जीवन के मर्मज्ञ होने के पहले वे आलोचक और मसीहा हैं। मनुष्य-जीवन के भव्य संवेदना-सत्यों के प्रति उनमें आवश्यक नम्रता भी नहीं है। न इतनी आस्था है कि वे ये मानें कि युग-सत्य विभिन्न रूपों और विविध आलोकों में विविध विचारों और भावनाओं में वलयित होकर आज की कष्टग्रस्त मानवता के हृदय में अधि-ष्ठित है। इस आस्थाहीनता के कारण ही, उनके द्वारा समर्थित कविता में सम्पूर्ण मनुष्य की गौरवपूर्ण नीतिमत्ता, सर्वांगीण मानवीय पक्षों का भव्य दृश्य, सुकुमार भावनाओं की मनुष्योचित गरिमा दिखायी नहीं देती, वरन् पिटी-पिटायी क्रान्तिकारिता का सभामंची आत्म-प्रदर्शन दिखायी देता है।

कहने का तात्पर्य किसी व्यक्ति को नीचे दिखाना नहीं है, अथवा हिन्दी के प्रगतिशील आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण सफलताओं को नजर-अन्दाज़ करना भी नहीं है। इन सफलताओं का एक महत्त्वपूर्ण कारण ये नेता भी हैं, इसमें कोई शक नहीं। और जो लोग उनके प्रति राग-द्वेष की अहंग्रस्त भावना से आक्रमण करते हैं, उनके प्रधान निन्दकों में से हम स्वयं हैं। किन्तु यह भी निश्चित है कि इस नेतृत्व की कमज़ोरी ने हिन्दी के वास्तविक प्रगतिशील साहित्य के और आगे विकास में बाधा उपस्थित की है, और उनके व्यक्तिगत दुराग्रहों ने (जिस पर मार्क्सवाद का मुलम्मा

चढ़ाया जाता है) उसका गला घोंटने में कोई कसर नहीं रखी है। यही कारण है कि प्रगतिशील कविता अधिक उन्नति न कर सकी।

नवीन कष्टग्रस्त प्रतिभा का विरोध एक दूसरे क्षेत्र से भी होता है। इस क्षेत्र के प्रतिनिधि कष्टग्रस्त जीवन के कारण कवि में उत्पन्न हुई अन्तर्मुखता का उपयोग अपने लिए करना चाहते हैं। वे उस अन्तर्मुखता के मूल उद्वेगों के क्रान्तिकारी अभिप्रायों को दवाकर, उस अन्तर्मुखता को इस प्रकार से प्रोत्साहन देते हैं कि वह अन्तर्मुखता अपने प्रधान विद्रोहों से छूटकर अलग हट जाय। अन्तर्मुखता में 'व्यक्ति' को ही प्रधान मानकर, उस व्यक्ति को सामाजिक परिवर्तन की आग्रही शक्तियों से अलग हटाते हुए, वे 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' की घोषणा करते हैं। असलियत यह है कि जिस मन की अन्तर्मुखता जन-मन की भावनाओं में भीगी हुई है, उसके क्षोभों और द्रोहों में सबल हुई है, पीड़ित मानवता का मर्मज्ञ वह मन, जनता से छिटककर 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और 'अहं' के कॉफ़ी हाउस में यूरोपीय और भारतीय संस्कृति की गप्प नहीं लड़ा सकता। आरामपसन्द अर्ध-सामन्ती उच्च-मध्यवर्ग की लालसाओं में जकड़े हुओं ने उस लालसा का आध्यात्मीकरण किया है। उनकी महत्त्वाकांक्षा वर्तमान समाज में शासन करने की है—अपने विचारों द्वारा, अपनी भावनाओं द्वारा। ध्यान में रखने की बात है कि आज उच्च-मध्यवर्ग और ग़रीब निम्न-मध्यवर्ग में खाई पड़ी हुई है, भेद की दीवार खड़ी हुई है। उच्च-मध्यवर्गीय संस्कृति के ये प्रतिनिधि ग़रीब मध्यवर्गीय कविता की वामपक्षीय दृष्टि और उसमें पाये जानेवाले जनशक्ति के तत्त्वों से परहेज़ करते हैं। और वे काफ़ी हद तक उसे दवाने में सफल भी हो चुके हैं।

हमारे ग़रीब मध्यवर्गीय युवक को इन बातों से सावधान रहना होगा। अपनी कविता की पुष्टि के लिए उसे अपने मूल उद्वेगों की स्थिति-परिस्थितिगत स्रोतों का पता लगाना होगा, और उन परिस्थितियों को दूर करने के लिए उसे सही और निर्णायक, कदम बढ़ाने होंगे। उसे अपने माता-पिता की याद करनी होगी जिन्होंने शक्ति दी, किन्तु सुख नहीं दिया। अपने कष्टग्रस्त माता-पिता, भाई-बहनों, संगी-साथियों के सजल आन्तरिक आशीर्वाद से पुष्ट, इस ग़रीब मध्यवर्गीय कविता का प्रधान 'सेंटिमेण्ट' जनतान्त्रिक ही रहेगा, चाहे उसका विषय शृंगार ही क्यों न हो। उसका शृंगार गीतगोविन्द, ह्यूल रोमांय आदि का शृंगार नहीं होगा, वरन् होरी और धनिया तथा सिलिया का शृंगार होगा। उसकी करुणा, दया और प्रेम में यही सार्वजनिक मानवीयता काम करेगी। पर्यंकशायी अध्यात्म की अन्तर्मुखता के वजाय उसमें सूर और मीरा की तन्मयता और कवीर का फक्कड़पन होगा। नयी कविता कप रूप चाहे जो हो, उसकी धारा वड़ी आस्थावान है।

[इस लेख का एक प्रारूप 'नयी दिशा' (सम्पादक श्रीकान्त वर्मा तथा रामकृष्ण श्रीवास्तव) के एक अंक में छपा था। बाद में इस प्रारूप में लेखक ने स्वयं कई प्रकार के संशोधन किये और

कई अंश वीच में और फिर अन्त में काट दिये। यहाँ लेख के वीच में काटे हुए अंशों को तो छोड़ दिया गया है, और लेख उसी रूप में दिया जा रहा है जैसा स्वयं मुक्तिवोध ने संशोधन के वाद रहने दिया था। पर उसका अन्तिम अंश जो 'नयी दिशा' वाले प्रारूप में मौजूद था, शामिल कर लिया गया है क्योंकि वह उस पत्रिका के साथ मुक्तिवोध के सम्वन्ध को जाहिर करता है। 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' पुस्तक में यह लेख वड़े ही भ्रष्ट रूप में छपा था जिसमें जगह-जगह पंक्तियाँ छूट गयी थीं, और एक-दो अंश वे भी शामिल हो गये थे जिन्हें मुक्तिवोध ने काट दिया था।—सं०]

नयी दिशा मध्यप्रदेश के ग़रीब मध्यवर्ग के कष्टग्रस्त नवयुवकों का एक सहकारी साहित्यिक प्रयास है। उसमें अभी हाथ की सफ़ाई और वात की सफ़ाई भले ही न हो, किन्तु स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति और प्रेरणा है। इस संकल्प-पुस्तिका के सम्पूर्ण समायोजन का श्रेय निस्सन्देह श्री श्रीकान्त वर्मा को है। इस पुस्तिका में, हम अपने आदर्शों के वहुत समीप नहीं आ सके हैं। अनेकों कठिनाइयों को पार कर, ये पुस्तिका निकल सकी है। श्री वर्माजी—जो स्वयं मध्यप्रदेश के एक महत्त्व-पूर्ण नये कवि हैं—इस प्रयास में कितने पिसे हैं, ये वे और हम जानते हैं। मध्यवर्गीय लेखकों की कष्टग्रस्त प्रतिभा के प्रकाशन के मार्ग खोजने का काम, एक वहुत वड़ा काम है, जो वर्माजी ने अपनी छोटी-सी देह पर उठा लिया। इस पुस्तिका का सम्पादन भी उन्होंने वहुत मेहनत और लगन के साथ किया है। आशा है कि हमारे वन्धुगण इसकी त्रुटियों को क्षमा करेंगे और अपनी सद्भावना-द्वारा हमें प्रोत्साहित करेंगे। असल में, श्रीरामकृष्ण श्रीवास्तव और श्री श्रीकान्त वर्मा ही वे प्रधान स्तम्भ हैं, जिन पर ये सारी इमारत खड़ी हुई है।

आगे चलकर, इसी सहकारिता के आधार पर, हम मध्यप्रदेश के प्रतिभा-सम्पन्न नये कवियों का एक संग्रह 'नर्मदा की सुवह' निकालने जा रहे हैं। इस संग्रह में नये कवियों की प्रतिनिधि प्रवृत्तियों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जायेगा। हमें आशा है कि ये संग्रह मध्यप्रदेश के नये कवियों की ऊँचाइयों और गहराइयों का वास्तविक प्रतिनिधित्व कर सकेगा।

एक वात और। इस पुस्तिका में एक लेख मेरा भी है, जिसमें मैंने जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे विचार-विमर्श के लिए, वहस-मुबाहिसे के लिए और किसी वास्त-विक निष्कर्ष पर सामूहिक विचार-विनिमय द्वारा आने के लिए ही है। उनके वारे में, मेरी भी कोई अन्तिम राय नहीं है। हो सकता है, पाठकों की सहायता से यह मत भी वदला जावे। अन्त में, त्रुटियों के लिए पाठकों से क्षमा माँगता हुआ विदा लेता हूँ।

विनीत
गजानन माधव मुक्तिवोध

[नयी दिशा, मई 1955 में प्रकाशित]

संघर्ष करनेवाले व्यक्ति को जिस क्षत्र में, जिन वास्तविकताओं के विरुद्ध, जिन मूल्यों की स्थापना के लिए, प्रयास करना होता है, उसे सर्वप्रथम जीवन के उन दृश्यों से तदाकार होना पड़ता है, जो उसके स्वयं के दृश्य और उसके आसपास के लोगों के दृश्य हैं। न केवल यह, इन दृश्यों का एक छोर, यदि वह स्वयं और उसकी जीवन परिधि है, तो दूसरा छोर विरोधी वास्तविकताओं तक फैलकर उन्हें समेटे हुए है। इस सम्पूर्ण के भीतर व्यक्ति और स्थिति के आपसी भीतरी सम्बन्धों, उनके रूप-स्वरूप, उनकी तेज़ या धीमी होती गतिविधियों और उनकी दिशाओं के ज्ञान का अर्थ ही यह है कि मनुष्य अपनी वास्तविकताएँ समझता है, और उन्हें समझकर, उनकी आन्तरिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के तजुर्बे से सहायता लेते हुए, वह अपने प्रयास में तत्पर रहता है।

साहित्य-समीक्षा के मूल बीज वास्तविक जीवन में तजुर्बे के बतौर उपलब्ध होनेवाले ज्ञान-संवेदन तथा संवेदन-ज्ञान में ही हैं। इस ज्ञान-संवेदन और संवेदन-ज्ञान के परे जानेवाली 'समीक्षा' में न 'ईक्षा' यानी देखना या दृष्टि है, न सम्यक्ता। जब-जब समीक्षा इस मूलाधार को छोड़कर, विचारों की बारीकी और लक्ष्यों की ऊँचाई प्रदर्शित करने के गोपनीय या प्रकट उद्देश्य से, इधर-उधर भटकी है, उसने लेखकों और पाठकों को सच्ची सहायता देना छोड़ दिया है। कहा जाता है कि साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब है। इस खण्ड-तथ्य को हम यों भी कह सकते हैं कि साहित्य में इन प्रतिबिम्बों की रचना अनेकों पैटर्न्स में होती है। जब तक समीक्षक उस जीवन को नहीं जानता, जिसके प्रतिबिम्बों के विभिन्न पैटर्न्स में गुँथी हुई रचना की वह आलोचना करने बैठा है, तब तक वह समुद्र-दर्शन के नाम पर लहरें गिनता हुआ बैठा है। यदि वे लहरें आलोचक की बुद्धि की आज्ञाएँ न मानें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! आलोचक या समीक्षक का कार्य, वस्तुतः, कलाकार या लेखक से भी अधिक तन्मयतापूर्ण और सृजनशील होता है। उसे एक साथ जीवन के वास्तविक अनुभवों के समुद्र में डूबना पड़ता है, और उससे उबरना भी पड़ता है, कि जिससे लहरों का पानी उनकी आँखों में न घुस पड़े। अपने वर्ग, समाज या श्रेणी की ज़िन्दगी में अपनी ज़िन्दगी की सही हिस्सेदारी के बग़ैर, जो समीक्षक उस ज़िन्दगी के प्रतिबिम्बों के पैटर्न्स का मूल्यांकन करने बैठता है, वह कभी भी सच्ची आलोचना नहीं कर सकता। जीवन के वास्तविक अनुभवों से प्राप्त सत्यों के अभाव में, बौद्धिक ख़ामख़याली को वह सूक्ष्मदर्शिता का लिबास भले ही पहना दे, उसकी समीक्षा कभी भी सृजनशील नहीं हो सकती। क्योंकि साहित्य में उतरे हुए उन प्राण-प्रतिबिम्बों का महत्त्व वह समझ ही नहीं सकता, चाहे वह कविता हो, निबन्ध हो या उपन्यास।

जिस प्रकार अनुभव-ज्ञानसम्पन्न मनुष्य, वास्तविक जीवन में पाये जानेवाले

व्यक्तित्वों, परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का हार्दिक और बौद्धिक आकलन करके अपना मार्ग बनाता है, यानी, दूसरे शब्दों में, अपनी संवेदनात्मक ज्ञान-शक्ति के द्वारा वह मार्ग बनाने के लिए लगातार समीक्षा करता चलता है (इस समीक्षा के बग़ैर उसका मार्ग ही नहीं बन सकता), उसी प्रकार, ईमानदार समीक्षक वास्तविक जीवन की मूल भूमि में उपजी हुई समीक्षा-शक्ति के सहारे साहित्य की समीक्षा करता है। यदि वह ऐसा न करे तो शैले के कल्पना-बिम्बों के रूप-स्वरूप के कारणों को, वह स्पेन्सर के कल्पना-बिम्बों के रूप-स्वरूप के कारणों से, अलग नहीं कर सकता। आज भी, इसी भारतीय ज़िन्दगी में, शैले, व्यक्तित्व की दृष्टि से, एक 'टाइप' है, स्पेन्सर दूसरा 'टाइप'। तॉल्स्तॉय की नैतिक भावना की मूल पीड़ा जिन परिस्थितियों में बद्ध और ग्रस्त जिस 'टाइप' में हो सकती है, वह परिस्थिति और व्यक्तित्व का वह 'टाइप' आज भी हमारे भारतीय जीवन में, जैसा कि वह जिया जाता है, पाया जाता है। असल में, वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति के अभाव में, साहित्य के क्षेत्र की समीक्षा-शक्ति थोथी होती है। इसीलिए समीक्षक का आदि कर्त्तव्य वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति का विकास करना है। जीवन की परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, गतिविधियों, और उसमें पले हुए व्यक्तित्वों का संवेदनात्मक ज्ञान जब तक समीक्षक को नहीं है, (और वह हो नहीं सकता जब तक कि अपने वर्ग, श्रेणी या समाज की व्यापक ज़िन्दगी में समीक्षक की ज़िन्दगी की हिस्सेदारी न हो), तब तक समीक्षक की साहित्यिक समीक्षा कुतिया के उस बच्चे के समान है जिसकी आँखें नहीं खुली हैं।

वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति के द्वारा ही हम यह जान लेते हैं कि प्रत्येक परिस्थिति की सर्वसामान्यता और निजी विशेषता कौन-सी है, और किस प्रकार अलग-अलग व्यक्तित्वों पर उसका भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है। परिस्थिति की सर्वसामान्यता के कारण, प्रभाव में भी सामान्यता है, किन्तु व्यक्तित्वों की भिन्नता के कारण ही प्रभावों की विशेषता है। सारांश यह कि वास्तविक जीवन के संवेदनात्मक धरातल पर लेखक और समीक्षक की होड़ है। लेखक और समीक्षक की यह प्रतियोगिता निःसन्देह अत्यन्त वांछनीय है। ज़िन्दगी को कौन ज़्यादा समझता है? समीक्षक या लेखक? यद्यपि इन दो के कर्त्तव्य अलग-अलग हैं, फिर भी उनके कर्त्तव्यों की पूर्ति जीवन के वास्तविक संवेदनात्मक ज्ञान के आधार पर ही होगी। यदि साहित्य जीवन का उद्घाटन है, तो समीक्षक को तो यह जानना ही पड़ेगा कि उद्घाटित जीवन वास्तविक जीवन है या नहीं। असल में, कसौटी वास्तविक जीवन का संवेदनात्मक ज्ञान ही है, जो न केवल लेखक और समीक्षक में होता है, वरन् पाठक में भी रहता है। वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति किसी की बपौती नहीं है। इसी समीक्षा-शक्ति के सहारे बड़े-बड़े व्यक्तित्वों का निर्माण होता है।

साधारण मनुष्य में प्रकट होनेवाली महानता भले ही उसे समाज के ऊर्ध्व-स्थान पर प्रतिष्ठित न करे, उसी की महानता पूरी दुनिया को चला रही है।

नहीं तो राग-द्वेष के आघात-प्रत्याघातों से वह कभी की चूर-चूर हो गयी होती। साधारण मनुष्य की इस असाधारणता का मर्म समीक्षक क्या समझेगा, यदि उसकी ज़िन्दगी अपने वर्ग, श्रेणी या समाज के वास्तविक जीवन की हिस्सेदार नहीं है ! घर की पड़ोसिन, जो बड़ी लड़ाकू है, न मालूम कब और क्यों पिघल जाती है, कि आपके संकट के काल में सारा भार अपने ऊपर ले लेती है ! उसके हृदय का न मालूम कौन-सा छोर भीग गया है !

क्या समीक्षक को इन तथ्यों से मतलब नहीं है ? साहित्य में व्यक्तित्व-चरित्रों का, मानव-मूल्यों का, जीवन-प्रवृत्तियों का उद्घाटन होता है। ज़िन्दगी से तटस्थ रहकर उसके साहित्यिक प्रतिबिम्बों की नाप-जोख करनेवाला समीक्षक, सामाजिक प्रतिष्ठा के शिखर की फटी हुई पताका का एक लत्तर भले ही हो जाय, वह उस शिखर के नीचे बैठी हुई देवमूर्ति की स्थापना करनेवाले अनगिनत लोगों का जीवन नहीं समझ सकता।

वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति के अभाव में, साहित्य-समीक्षा का हाल बुरा होता है। रोम्याँ रोलाँ के प्रसिद्ध उपन्यास **ज्याँ क्रिस्तोफ़** के अन्तर्गत दार्शनिक मनःस्थिति में लिखे गये प्रदीर्घ जीवन-आलोचनात्मक खण्डों को निकाल देने की सलाह देनेवाले समीक्षकों की कमी कभी नहीं रही। मोपासाँ तक आते-आते फ़्रेंच साहित्य ह्रासग्रस्त हो गया था। ठीक उसी प्रकार, समीक्षा ने भी ह्रास-कालीन चौखटों के मूल्यों की वकालत शुरू कर दी थी। वस्तु-सत्यों के मानवीय महत्त्व का लोप होकर, यानी स्वरूप को आँखों से ओझल कर, रूप की सराहना होने लगी। निश्चय ही, यह रूप भी विशिष्ट कोटि या विशिष्ट श्रेणी का होना चाहिए। समीक्षा जब ह्रासकालीन जीवन-मूल्यों की वकालत करने लगती है, तब रूप के नाम पर भी एक विशेष प्रकार के रूप का ही समर्थन किया जाता है। ह्रास-कालीन फ़्रेंच लेखकों की वास्तविक जीवन-संवेदनाओं से, इन समीक्षकों का कोई सम्बन्ध नहीं था। फिर भी, उनकी निराशा, नकारवाद, उदास रंग की वकालत करने में वे, वस्तुतः, ख़ुद की वकालत कर रहे थे। इसके विपरीत मैक्सिम गोर्की इन लेखकों की वास्तविक अन्तर्भूमि समझता था। उनकी वेदना के रूप-स्वरूप के कारणों का विश्लेषण करके, उनकी पीड़ा में अपनी हिस्सेदारी करके भी, मैक्सिम गोर्की ने ह्रास-मूल्यों की वकालत नहीं की। मैक्सिम गोर्की ज़्यादा गहरा उतरा। उस ढंग की जीवन-गहराई के सत्यों का निरूपण करके उन्हीं सत्यों के अनुभव-सिद्ध तर्कसंगत निष्कर्ष उसने सामने रख दिये। किन्तु, फ़्रेंच समीक्षक कभी अतीत के साहित्य की तुलना में नवीन को हेच ठहराने लगे, तो कभी नये ह्रासकालीन साहित्य के जीवन-मूल्यों की वकालत करने लगे।

वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति की दुर्बल मनःस्थिति का ही यह परिणाम है कि समीक्षा कभी साहित्य के पीछे-पीछे चलने लगती है, (उसकी अनुगामी हो जाती है), या उसके नेतृत्व के जोश में मीलों आगे बढ़ जाती है। किन्तु उसका हाथ पकड़, उसके साथ-साथ चलते हुए, उसको मार्ग नहीं बताती।

हम इसका एक उदाहरण देंगे। छायावाद की आलोचना करनेवाले हमारे महान् आलोचक छायावाद के निःसहाय बच्चे हैं। प्रसाद ने 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास-रजत-नग पग-तल में' कहा, तो आलोचकों ने नारी का कैसा-कैसा आदर्शीकरण नहीं किया ! वास्तविक नारी और समाज में उसके व्यक्तित्व की गरिमा की स्थापना के लिए सामाजिक संघर्ष आदि समस्त बातें छूट गयीं। छायावादी आलोचक छायावाद के कल्पना-स्वप्नों के उलझे भटकावभरे मार्ग पर ही चले। छायावादी सम्मोह और उसके अद्वैतवादी प्रयास साहित्यिक आलोचना के मानदण्ड नहीं हैं। इन सम्मोहों, कल्पना-स्वप्नों का भावुक विवरण, विश्लेषण नहीं है। बताया जाना चाहिए था कि छायावादी मनोवृत्ति क्यों और कैसे उत्पन्न होती है। उसमें सन्निहित भावों और मनोविचारों और जीवनमूल्यों से आच्छन्न होने की कोई जरूरत ही नहीं थी।

साहित्य के वास्तविक जन्मदाताओं के जीवन से मीलों आगे बढ़कर नेतृत्व प्रदान करनेवाले आलोचकों में प्रगतिवादी समीक्षकों का स्थान अग्रणी है। उस पीढ़ी का जीवन, जो आगे आ रही है और लिख रही है, इन समीक्षकों के लिए तभी तक महत्त्वपूर्ण है, जब तक वह 'प्रगतिवादी' भावों को उन्हीं के ढर्रे पर प्रकट करे। उस पीढ़ी की असली ज़िन्दगी के संघर्ष, कष्ट और संवेदनाओं से उन्हें कोई मतलब नहीं। जब यह पीढ़ी निराशा, घुटन, उदासीनता, प्रणय, स्नेह, सौन्दर्य, आश्चर्य, साहस, उत्साह, संघर्ष और विजय की भावनाओं का मनोवैज्ञानिक चित्रण करती है, तो उन्हें वह आत्मबद्ध, आत्मग्रस्त, कुण्ठामय, अवरुद्ध और व्यक्तिनिष्ठ, अहंवादी और गतिरुद्ध, प्रतीत होती है। कुल मिलाकर नतीजा यह है कि ये आलोचक साहित्य की वास्तविक जन्मदात्री पीढ़ी की ज़िन्दगी समझ ही नहीं पाते। एक ओर ऐतिहासिक भौतिकवाद की दृष्टि से वे साहित्य की व्याख्या करते हैं, किन्तु उसी दृष्टि से वे हमारे साहित्यिक नौजवानों के जीवन को और उनकी मनोभावनाओं को हृदयंगम नहीं कर पाते। नतीजा यह है कि हमारे नवयुवक साहित्यिकों को उनकी आलोचनाओं से विशेष लाभ नहीं होता। वास्तविक जीवन की ज्ञान-संवेदनात्मक और संवेदन-ज्ञानात्मक समीक्षा-बुद्धि का अभाव ही इस असामर्थ्य का मूल कारण है।

समीक्षकों की इस दयनीय उपहासात्मक स्थिति के कारण ही आज प्रत्येक लेखक को अपना समीक्षक होना पड़ रहा है। लेखक, और कुछ न सही, जीवन की संवेदनाएँ प्रकट करने का प्रयत्न तो कर रहा है। समीक्षक तो एकदम 'चिन्तक' हो गया है, उसको असली ज़िन्दगी के आवेगों से कोई मतलब नहीं। यह सही नहीं है कि लेखक समीक्षा की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। बहुधा, उसके मतों में एकांगिता और उसके निर्णयों में अधूरापन पाया जाता है। अपने जीवन में प्राप्त संवेदनात्मक अनुभव के आधार पर ही वह मत बना रहा है, या निर्णय दे रहा है। यह हो सकता है कि उसके ये आधार सभी के लिए समान न हों। अंग्रेज़ी में कोलरिज, वर्ड्सवर्थ, शैले, टी. एस. ईलियट, आदि प्रमुख कलाकार आलोचक

हैं। इनमें से मुख्यत: विचारणीय कोलरिज और टी. एस. ईलियट ही हैं। स्पष्ट है कि इन सवके मूलाधार अलग-अलग हैं। किन्तु कौन कह सकता है कि वास्तविक साहित्यिक सृजन में इनकी समीक्षाओं का योगदान न रहा! कारण साफ़ है। इनका समीक्षात्मक चिन्तन वास्तविक अनुभवों का निष्कर्ष है। वुजुर्ग की सीख सभी के लिए और सब जगह यकसाँ फ़ायदेमन्द नहीं होती। किन्तु उनका आधार वास्तविक जीवन होता है। लोग अपनी-अपनी विवेक-वुद्धि से अपने लिए अनुकूल वातें उठा लेते हैं, प्रतिकूल अस्वीकार कर देते हैं। समीक्षा के वारे में यह विलकुल सही रुख है। किन्तु ऐसे लेखक-समीक्षकों में वहुधा जीवन के महत्त्वपूर्ण सत्यों के ऐसे-ऐसे उद्‌घाटन होते हैं कि दंग रह जाना पड़ता है।

क्या इसका अर्थ यह है कि आलोचना के कोई मूल सिद्धान्त नहीं हैं? हैं, किन्तु सिद्धान्तों का प्रयोग किस ढंग से होना चाहिए, यह भी महत्त्वपूर्ण है। यह विज्ञान या शास्त्र, मूलतः, इन्डक्शन (आगमन) पर आधारित है, उसके बाद ही डिडक्शन (निगमन) होता है। डिडक्शन इन्डक्शन का स्थान नहीं ले सकता, वह अपने सही होने के लिए इन्डक्शन पर ही अवलम्बित है। ठीक उसी प्रकार, सिद्धान्त जीवन के आन्तरिक और वाह्य तथ्यों का स्थान नहीं ले सकता, वस्तुतः, वह स्थिति के लिए उन्हीं पर अवलम्बित है। जो सिद्धान्त इन तथ्यों और सत्यों की अवहेलना कर आगे बढ़ेंगे, वे चाहे किसी वाद की दुहाई दें, असफल ही रहेंगे, क्योंकि उन सिद्धान्तों का प्रयोग वास्तविक जीवन-सत्यों को हृदयंगम करके नहीं किया जा रहा है। केवल वही समीक्षा महत्त्वपूर्ण होती है जो संवेदनात्मक जीवन के सत्य उद्‌घाटित करते हुए लेखक को अपने वस्तु-सत्यों से अधिक परिचित सचेत करती है। लेखक जीवन की विभिन्न मनोवृत्तियों, स्थितियों, आदि-आदि का अंकन करने का प्रयत्न करता है। समीक्षक को इन जीवन-सत्यों से अधिक परिचय होने की आवश्यकता है, तभी वह लेखक की सहायता कर सकता है, उसकी चेतना की परिधि विस्तृत कर सकता है, अन्यथा नहीं। लेखक को सचमुच सहायता करनेवाले समीक्षक जीवन-सत्यों से लेखक से भी अधिक परिचित होते हैं। तभी वे लेखक द्वारा प्रस्तुत की गयी जीवन-समीक्षा की समीक्षा कर सकते हैं। समीक्षक द्वारा प्रस्तुत की गयी ऐसी समीक्षा का आधार वस्तुत: जीवन, जैसा कि वह जिया जाता है, ही है, कितावी शब्द-समुदाय नहीं। जीवन-सत्यों पर आधारित साहित्यिक समीक्षा स्वयं एक सृजनशील कार्य है, और वह न केवल लेखक को वरन् पाठक को भी जीवन-सत्यों के अपने उद्‌घाटनों द्वारा सहायता करती जाती है।

कहा जायगा कि ये सव प्रारम्भिक वातें हैं। समीक्षा इसके वहुत आगे वढ़ गयी। इस आपत्ति का उत्तर यह है कि वर्तमान समीक्षा ऐसी मूलभूत वातें भूल रही है, जिन वातों के आधार पर ही सिद्धान्तों की मीनारें खड़ी की जा सकती हैं। वास्तविक जीवन की ज्ञान-संवेदनात्मक और संवेदन-ज्ञानात्मक समीक्षा-शक्ति का इतना ह्रास हो गया है कि सिद्धान्तों के आधार पर साहित्यिक वातें देखी जाती

हैं, किन्तु जीवन-सत्यों के आधार पर स्वयं सिद्धान्तों का परीक्षण और प्रयोग नहीं किया जाता। सीधी बात यह है कि आज की तरुण संघर्षशील पीढ़ी की ज़िन्दगी के भीतर समायी हुई पीड़ित मनुष्यता को किस समीक्षा ने अपना आधार बनाया है ? इस पीढ़ी के संघर्षशील जीवन के स्नेह और मैत्री, बाधा और विजय, अनुत्साह और निराशा, उत्साह और विश्वास, लक्ष्य और आदर्श को ज़रा नज़दीक से देखने पर पता चलेगा कि उसके द्वारा पैदा किये गये साहित्य की समीक्षा किस ढंग की होनी चाहिए। एक ओर, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और व्यक्तित्व की सम्पूर्ण मानवीय गरिमा की स्थापना, और दूसरी ओर, सामाजिक प्रवंचनाओं तथा बाधावरोधों पर विजय की स्थिति की स्थापना, इस ज़िन्दगी का तकाज़ा है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और व्यक्तित्व की सम्पूर्ण मानवीय गरिमा, तथा नये साम्यमूलक शोषणविहीन मानवोचित समाज की स्थापना, एक ही सत्य के दो पहलू और दो तक़ाजे हैं, जो एक-दूसरे पर अपनी पूर्ति के लिए, अपने विकास के लिए, अवलम्बित हैं। प्रश्न यह है कि यह सत्य ज़िन्दगी में किस प्रकार, किन मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं, स्थिति-प्रतिस्थितियों, आघात-प्रत्याघातों द्वारा प्रकट होते हैं? इनका उद्घाटन करनेवाला साहित्य, इनका उद्घाटन करनेवाली समीक्षा, वस्तुतः, महत्त्वपूर्ण साहित्य और महत्त्वपूर्ण समीक्षा होगी।

आलोचना दो प्रकार की होती है; एक, रूप की; दूसरी, तत्त्व की। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रूप अपनी स्थिति के लिए तत्त्व पर ही अवलम्बित होता है। तत्त्व अपने प्रकट होने की प्रक्रिया में रूप निर्धारित और विकसित करता है। इसीलिए तत्त्व की आलोचना रूप की आलोचना से अधिक मूलभूत है। आपत्ति की जायगी कि यह तत्त्व, जो समीक्षा का विषय है, साहित्यिक तत्त्व है, (साहित्य में प्रकट तत्त्व है), न कि जीवन में जिया जानेवाला तत्त्व। जीवन में जिये जानेवाले तत्त्व साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र के बाहर की चीज़ हैं। यह आपत्ति एकदम निराधार है। साहित्य में प्रकट तत्त्व की सत्यता की जाँच की कसौटी क्या है ? सिद्धान्त ? समीक्षक की कल्पनाएँ ? नहीं, बिल्कुल नहीं। साहित्य में प्रकट तत्त्व की जाँच की कसौटी है—वास्तविक जीवन में पाये जानेवाले तत्त्व। इसी कसौटी के आधार पर हम यह कहते हैं कि अमुक कवि के आँसू वास्तविक करुणा नहीं, करुणा की विलासपूर्ण कल्पना हैं। इसी कसौटी के आधार पर हम यह कहते हैं कि सच्ची वेदना की 'भावना' छायावाद में मुख्य नहीं है, जैसे आपको बहुत-से ठाकुर-जैसे रीतिकालीन कवियों और सूर और मीरा-जैसे सन्तों में मिल जायेगी। पात्रों के चरित्र की स्वाभाविकता या कृत्रिमता हम वास्तविक जीवन के अपने अनुभवों से ही घोषित करते हैं।

निष्कर्ष यह कि जब तक वास्तविक जीवन की संवेदन-ज्ञानात्मक और ज्ञान-संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति लेखक और समीक्षक दोनों में विकसित और सम्पन्न नहीं होती, तब तक हमारे सारे प्रयत्न अधूरे हैं। जिस लेखक की यह जीवनगत समीक्षा-शक्ति बढ़ी हुई होगी, वह अपनी संवेदनाओं के माध्यम से जीवन-तथ्यों

का सही-सही मूल्यांकन और चित्रण करेगा, उसकी दृष्टि उतनी ही गहरी और विशाल होगी। समीक्षक की सफलता के लिए भी यही स्थिति आवश्यक है।

[वसुधा, मई 1956 में प्रकाशित। नयी कविता का आत्मसंघर्ष में संकलित]

समीक्षा की समीक्षा

साहित्यिक समीक्षा की समस्याएँ जितनी विविध हैं उतने ही उनसे सम्बन्धित दृष्टिकोण भी। दृष्टिकोण के इस वैविध्य के भीतर बहुधा मात्र वैयक्तिक रुचि और संस्कार की शक्ति ही दिखायी देती है, तो कभी यथार्थदर्शी मौलिक चिन्तन भी प्रकट होता है। इसलिए यह आवयश्क हो जाता है कि समीक्षा के क्षेत्र में विभिन्न मन्तव्यों को प्रकट करनेवाला साहित्य भी समीक्ष्य वस्तु के रूप में ग्रहण किया जाये। इसी दिशा की ओर, हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक श्री प्रभाकर माचवे-कृत **समीक्षा की समीक्षा** एक ऐसा प्रयास है जिस पर विद्वानों तथा साहित्य के विद्यार्थियों का ध्यान जाना ज़रूरी है। इसका एक कारण तो यह है कि हिन्दी समीक्षा की सीमाओं और उसकी समस्याओं पर उन्होंने न केवल अपनी टिप्पणी प्रस्तुत की है, वरन् सम्बन्वित प्रश्नों को इस प्रकार रखा है कि पाठक को बरबस उन सबके सम्बन्ध में सोचने-विचारने के लिए उद्यत होना पड़ता है। दूसरे, हिन्दी के सभी प्रसिद्ध अलोचकों की एक साथ एक जगह समालोचनावाली पुस्तकें हिन्दी में बहुत ही कम हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी से लेकर तो शिवदानसिंह चौहान तक, सभी आलोचकों की दृष्टियों को प्रकट करना और उनकी व्याख्या करना निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है।

समीक्षा के क्षेत्र में किसी विशेष पुस्तक को लेकर भले ही मतैक्य हो—यह भी प्राय:, कठिन है; उदाहरणत:, देखिये, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और नगेन्द्र का प्रेमचन्द और गोदान-सम्बन्धी दृष्टिकोण, दोनों में समानता होते हुए भी भेद बहुत है; अथवा महादेवी वर्मा के सम्बन्ध में डा. देवराज और नन्ददुलारे वाजपेयी का दृष्टिकोण—कला के मूल सिद्धान्तों तथा परिकल्पनाओं के बारे में बहुत मतभेद है। वस्तुत: यह विचारों और निर्णयों और निष्कर्षों का दण्डकारण्य है। **समीक्षा की समीक्षा** का महत्त्व यही है कि वह इस जंगल में कई पगडण्डियाँ बना देती है। वीथियों और वन-मार्गों का जाल बिछा देती है। पाठक की गन्तव्य-दिशा के ज्ञान पर यह निर्भर करता है कि वह अपने लिए इनमें से कौन-सा पथ चुने।

वास्तविक वात यह है कि अगर हम मूल विचारधाराओं के आधार पर ही समीक्षा-चिन्तन का विभाजन करें, तो भी हम यह देखते हैं कि एक ही विचारधारा के भीतर अनेक शाखा-प्रशाखाएँ निकलती हैं। पाश्चात्य यूरोपीय भाववादी-आदर्शवादी विचारधाराओं में यद्यपि मूलभूत समानताएँ हैं, या, कहिये, मूल-भूत एकता है, स्वरूप की समानता है, फिर भी, इतना मतभेद है कि हमें उसमें नितान्त वैचारिक अराजकता प्रतीत होती है। जिन लोगों की दृष्टि यह है कि विचार का सम्वन्ध मानव-सत्ता तथा समाज के उच्चतर रूपान्तर के कार्य से है, उन्हें यह अराजकता कभी वर्दाश्त नहीं हो सकती। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के नाम पर चलनेवाली यह वैचारिक अराजकता तो उन लोगों का भूषण है जो जनता से दूर एकान्त में, कुर्सी पर, वैठकर कला का चिन्तन करते हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार, वह आत्मिक स्वास्थ्य का लक्षण है, तो हमारे अनुसार वह जीवन के वास्तविक रूपान्तर-कार्य के पथ में वाधा है। हम एक वार या सौ वार एक प्रश्न पर वहस करके अन्तिम निष्कर्षों पर आ जाते हैं और आगे वढ़ जाते हैं, तो इन स्वच्छन्द स्वतन्त्रतावादियों के लिए प्रश्न स्वयं चरम है, कोई भी उत्तर चरम नहीं।

कला के क्षेत्र में इतने मतभेदों से माचवेजी स्वयं सुपरिचित हैं, अतएव उन्होंने इस वैचारिक दण्डकारण्य में अनेक पगडण्डियों के जाल का रूप ग्रहण करना ही स्वीकार किया है। इसका एक कारण यह भी है कि उनका दृष्टिकोण विद्यार्थियों को भी दृष्टि में रखना है। फलतः, वह अनेक वादों और मत-मतान्तरों से उन्हें परिचित कराना चाहता है। इसलिए, माचवेजी ने प्रभूत सामग्री एकत्र तथा व्यवस्थावद्ध कर दी है। कला-समीक्षा-सम्वन्धी मूल परिकल्पनाओं का उन्होंने पर्याप्त विस्तार से निरूपण किया है, तथा मतों का विस्तृत विवरण देने का प्रयास किया है। अगर हम माचवेजी की पुस्तक को विविध मतों का संग्रह अथवा कोश कहें तो अनुपयुक्त न होगा। अनेक यूरोपीय तथा भारतीय विचारकों को यथा-स्थान उद्धृत करते हुए लेखक ने एक पक्ष के भीतर समाये हुए अनेक उपांगों तथा तथ्यों का जिस शैली से निरूपण किया है, उसका फल यह होता है कि हमारा ध्यान तथ्य अथवा समस्या के एक ही पहलू या अंग की सीमाओं में विंधा हुआ न रहकर, वह तुरन्त उस पक्ष के दूसरी ओर भी देखने लगता है, अथवा उसे उस तरफ़ नजर फेरने के लिए प्रेरित किया जाता है। साहित्य के विद्यार्थियों तथा अन्य जिज्ञासुओं को सम्वन्धित विचारों की झाँकी मिल जाय, इस उद्देश्य से माचवेजी ने पौर्वात्य तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा व्याख्यात मतों और निष्कर्षों की ओर वार-वार पाठक की दृष्टि केन्द्रित करते हुए भी, उसकी वुद्धि को अपने तर्कानु-शासन से नियमित करने का प्रयत्न नहीं किया है। पाठक के सामने साहित्य-चिन्ता-सम्वन्धी अनेक समस्याओं और उन पर दिये गये निर्णयों और निष्कर्षों की पंक्ति खड़ी हो जाती है, जिसमें से कुछ को उसे अपने लिये चुन लेना है तो कुछ को उसे त्याग भी देना है। प्रस्तुत समीक्षक इस वात के लिए आतुर जान पड़ता

है कि पाठक स्वयं अपने विवेक से किसी भी तथ्य, मत अथवा निष्कर्ष को अपना ले। इसी बात को ध्यान में रखकर, उसने दूसरों के लेख-के-लेख अवतरित किये हैं जो उसके मतानुसार मूल्यवान है, तथा जिसका अनुशीलन पाठक के लिए आवश्यक है। प्रस्तुत समीक्षक पाठक का सतत मार्गदर्शी न बनकर उसका सहचर रहने में ही अपने को कृतकार्य समझता है। इसका फल यह होता है कि **समीक्षा की समीक्षा** की उपादेयता और भी बढ़ जाती है।

हर क्षमता की अपनी सीमा है। इसलिए इस कार्य-शैली का भी एक दूसरा पक्ष है, जिसे हम उसकी सीमा कह सकते हैं। पहली बात तो यह है कि इस शैली के अपनाने का एक स्वाभाविक परिणाम तो यह हुआ कि माचवेजी किसी भी एक सिद्धान्त-प्रणाली की विस्तृत रूपरेखा, उसके मूलाधारों की विस्तृत व्याख्या, किसी दृष्टि-बिन्दु का विशद निरूपण, और किसी निष्कर्ष का ऊहापोह नहीं कर सके हैं। उन्हें मात्र अपनी टिप्पणियों से ही सन्तोष करना पड़ा है। किन्तु विषय ऐसा है कि जिसके प्रति योग्य न्याय करने के लिए टिप्पणियों की विशदता आवश्यक है। फल उसका यह होता है कि माचवेजी के मतों का औचित्य मात्र विश्वास का विषय हो जाता है, वैज्ञानिक विवेक का विषय नहीं। कदाचित्, इसका मूल तथा सर्वप्रधान कारण यह है कि इस समीक्षक को अपने मतों का विशेष आग्रह भी नहीं है, अपने व्याख्यानों से वे पाठक की बुद्धि को अनुशासित नहीं करना चाहते। इस बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि इस समीक्षाकार के लिए कोई भी बात मूलभूत अथवा अन्तिम नहीं है, जिसे दोष भी कहा जा सकता है।

इस कार्य-शैली से दूसरी कमज़ोरी भी आ जाती है जिसकी तरफ़ हमारा ध्यान जाना ज़रूरी है। वह यह है कि यदि लेखक किसी भी प्रश्न पर विविध मतों और अनेक निष्कर्षों की झाँकियाँ प्रस्तुत करता है, तो, दूसरी ओर, वह अपने अन-जाने ही ऐसे निष्कर्षों और मतों को अपनी स्वीकृति प्रदान कर देता है जो उसे अच्छे तो लगते हैं, किन्तु जिनका निरूपण और विश्लेषण वह सम्यक् रूप से नहीं कर पाता है। बहुत बार इसका परिणाम यह होता है कि वे मत परस्पर-विरोधी-से प्रतीत होते हैं। हम यहाँ एक उदाहरण लेंगे। रामचन्द्र शुक्ल पर लिखे निबन्ध (देखिये, पृ. 23) में वे कहते हैं, "शुक्लजी इस कारण परम्परा को, छायावाद की पलायनवादी वृत्ति को, नहीं देख सके", तो, दूसरी ओर (पृ. 26 पर), वे यह कहते हैं, "वस्तुतः छायावादी काव्य, नैतिक धरातल पर जनतान्त्रिक समत्व भावना और व्यक्ति की महत्त्व-घोषणा का काव्य है।" यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि श्री माचवे के अनुसार छायावाद व्यक्ति की महत्त्व-घोषणा का काव्य है, तो उसमें (पूर्वो-ल्लिखित मन्तव्य के अनुसार) पलायन वृत्ति कैसे है और कहाँ है? और यदि उसमें 'पलायन वृत्ति' है तो उसमें 'नैतिक धरातल पर जनतान्त्रिक समत्व भावना' कैसे आयी? स्पष्ट है कि माचवेजी को अपने विचारों की विशद व्याख्या करनी चाहिए थी। हुआ यह है कि छायावाद के सम्बन्ध में यदि एक ओर उन्हें एक विचार

भला मालूम हुआ है, तो, दूसरी ओर, उन्हें अन्य विचार भी अच्छा लगा है। फलतः, उन पर उन्होंने अनजाने ही अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी है। यदि वे विस्तृत ऊहापोह करते, सम्यक् व्याख्या करते, तो यह दोष न आता। उनका तरीक़ा, वस्तुतः, इम्प्रेशनिज़्म का तरीक़ा है, जिससे बहुत बार बहुत-से महत्त्वपूर्ण तथ्य भी वे सामने रख देते हैं (जैसा कि उनकी भूमिका से स्पष्ट है, जो बहुत अच्छी लिखी गयी है) तो उसमें ऐसी असंगतियाँ भी रह जाती हैं। असल बात यह है कि माचवेजी की वृत्ति गुण-ग्राहक सर्व-संग्राहक ही अधिक है।

हम उनकी वृत्ति का एक दूसरा उदाहरण भी लेंगे। प्रगतिवादियों की आलोचना की प्रारम्भिक प्रस्तावना में उन्होंने हिन्दी के प्रगतिवाद को ऐसी गाली दी है, जिसे हम उनकी अन्धता कह सकते हैं। किन्तु जब वे व्यक्तिगत प्रगतिवादी आलोचकों की तरफ़ मुड़े हैं तब उन्होंने इतनी अनुदारता नहीं बतलायी है। दूसरे, रामविलास शर्मा पर वे काफ़ी बिगड़े हैं। किन्तु, उनकी शक्ति, उनकी प्रमुख महत्त्वपूर्ण पुस्तकें (जो हमारे समीक्षा साहित्य की निधि हैं), उन पर वे मौन हैं। ऐसा क्यों? इतना पक्षपात क्यों? ध्यान में रखना चाहिए कि यदि डाक्टर रामविलास शर्मा ने लोगों को काटा है, तो यह भी सच है कि प्रगतिशीलों के विरोधियों ने प्रगतिवादियों की भयानक रूप से विचित्र भर्त्सनाएँ भी की हैं। ऐसी स्थिति में, सैद्धान्तिक दृष्टि से, माचवेजी को यह चाहिए था कि रामविलासजी की क्षमताओं का भी विशद निरूपण करते, जैसा कि उन्होंने नहीं किया।

जहाँ माचवेजी प्रसिद्ध समीक्षा-पुस्तकों की आलोचना को छोड़कर व्यक्तिगत आलोचकों पर उतरते हैं, वहाँ वे बहुत अच्छी तरह अपनी बात कहते हैं। उनकी समीक्षा वहाँ ख़ूब अच्छी तरह गले उतरती है। इसका सबसे बड़ा नमूना उनका लेख है शान्तिप्रिय द्विवेदी पर। **समीक्षा की समीक्षा** में रामचन्द्र शुक्ल, डा. श्यामसुन्दर दास, गुलाब राय, शचीरानी गुर्टू, लक्ष्मीनारायण सुधांशु तथा हिन्दी के अन्य आलोचकों पर लिखा गया है। प्रथम पाँच बड़े निबन्ध हैं। इनमें सर्वोत्कृष्ट निबन्ध रामचन्द्र शुक्ल और लक्ष्मीनारायण सुधांशु पर हैं। इन दो में माचवेजी ने साहित्य के विविध प्रश्नों की चर्चा की है। इससे माचवेजी के ज्ञान, पाण्डित्य तथा समीक्षा-बुद्धि की शक्ति का पता चलता है। मुक्त छन्द पर माचवेजी के विचार जानने योग्य हैं। शचीरानी गुर्टू और गुलाब राय के सम्बन्ध में माचवेजी ने जल्दबाज़ी की है। गुलाब राय पर उनका लेख उस लेखक पर न होकर अपनी ज्ञान-सामग्री का संग्रह-प्रकोष्ठ होकर रह गया है। इन पाँच निबन्धों में माचवेजी साहित्य के मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्यशास्त्रीय और दार्शनिक पहलुओं पर उतरे हैं। किन्तु **समीक्षा की समीक्षा** इतनी संक्षिप्त पुस्तक है कि उसमें सम्बन्धित प्रश्नों का विस्तृत विवेचन होना असम्भव-सा ही था। माचवेजी के समीक्षा-सम्बन्धी मन्तव्यों पर यह कहा जाता है कि उनका झुकाव रसवादी मनोवैज्ञानिक आलोचना की मूलभूत विचारधारा की ओर ही अधिक है, यद्यपि उन्होंने यत्र-तत्र प्रगतिवादियों द्वारा व्याख्यात मतों और निष्कर्षों को भी राह चलते अपना लिया है।

समीक्षा की समीक्षा साहित्य के विद्यार्थी के लिए कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और उपयोगी पुस्तक है। यदि एक ओर माचवेजी नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयी से मतभेद रखते हैं, तो, दूसरी ओर, इधर-उधर से घूमघामकर, उनकी पंक्ति में बहुत बड़े मध्यान्तर के बाद बैठते-से दिखायी देते हैं।

[केवल टाइप की हुई प्रति उपलब्ध जिसमें इससे आगे के पृष्ठ अप्राप्य। पूरा लेख सम्भवतः कहीं प्रकाशित हुआ होगा जिसका पता न चल सका। सम्भावित रचनाकाल 1950-58 के बीच।—सं०]

आत्मबद्ध आलोचना के ख़तरे

संक्षेप में, रचना-प्रक्रिया की विशिष्टता कवि-स्वभाव-सिद्ध संवेदनात्मक उद्देश्यों की विशिष्टता से उद्गत है।

किन्तु, प्रश्न यह है कि इस निवेदन का कारण क्या है ? आखिर, क्यों मैं यह कह रहा हूँ ? उत्तर मिलता है कि (1) रचना-प्रक्रिया का कोई सामान्यीकृत सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता; (2) रचना-प्रक्रियाएँ जितनी भी हैं, उनका अन्वेषण करने से सौन्दर्य की व्याख्या हो सकती है। अर्थात्, रचना-प्रक्रिया की समस्त विविधताओं में जो मूलभूत समानताएँ हैं, उन्हें संकलित और संगठित करने से, सम्भवतः, सौन्दर्य-गुण की उत्पत्ति के, और सौन्दर्य के स्वरूप के, सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित किये जा सकते हैं।

उपर्युक्त दोनों बातें एक-दूसरे के विपरीत जान पड़ती हैं। यदि रचना-प्रक्रिया का कोई सामान्यीकृत सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता, तो सौन्दर्य की व्याख्या कैसे की जा सकती है ? और, यदि विभिन्न रचना-प्रक्रियाओं में पाये जानेवाले समान तत्त्वों के आधार पर, और उनसे तर्कशः उद्गत, वस्तुतः प्रकट, सचमुच सौन्दर्य-सम्बन्धी कोई परिकल्पना प्रस्तुत की जा सकती है, तो फिर वैसी स्थिति में उस परिकल्पना की दृष्टि से किसी कलाकृति में प्रकट सौन्दर्य का विवेचन क्यों नहीं किया जा सकता ? ये प्रश्न स्वाभाविक, सर्वथा उचित और अपरिहार्य हैं।

इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार है। पहली बात तो जो मुझे समझ में आती है, वह यह कि रचना-प्रक्रियाओं के अन्तर्गत प्राप्त समान तत्त्वों के आधार पर बनी हुई सौन्दर्य-कल्पना इतनी अधिक सर्व-सामान्य होती है कि वह किसी विशिष्ट कलाकृति की विशिष्ट रचना-प्रक्रिया की विशेषताओं को ध्यान में नहीं रखती।

भरत मुनि की रस-तत्त्व सम्बन्धी व्याख्या इसका एक ज्वलन्त प्रमाण है। यही नहीं, जब भी हमारा आलोचक, व्यावहारिक क्षेत्र में, आलोचना करने बैठता है, उसके अन्तःकरण में सौन्दर्य-सम्बन्धी कल्पना जो भी होती है वह वस्तुतः एक पैटर्न, एक रूप और आकार को लेकर होती है। एक स्टैण्डर्ड पैटर्न, वस्तु-तत्त्वों का एक विशिष्ट रूपाकार, उसके मन में होता है। वह उस पैटर्न को, उस रूप-तत्त्व या तत्त्व-रूप को, एक कसौटी-सा समझकर, अपने जाने या अनजाने उस पैटर्न या तत्त्व-रूपवाली कसौटी के आधार पर कलाकृति को कसकर देखता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो कलाकृतियाँ और कलाकार उस पैटर्न या तत्त्व-रूप वाली कसौटी के अनुकूल हैं, उन्हें तो वह निश्चयतः सुन्दर समझता है, और शेष को वैसा कहने में उसे पीड़ा होती है। बड़े-बड़े लोग इस रोग के शिकार रहे हैं। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल को छायावादी काव्य असुन्दर और विद्रूप और अवांछनीय जान पड़ा था। डाक्टर रामविलास शर्मा को प्रयोगवादी कविता या नयी कविता भयानक विद्रूप और प्रतिक्रियावादी जान पड़ती है। उसी प्रकार, नयी कविता के अन्तर्गत जो कई शिविर बन गये हैं, उन्हें भी अन्य शिविरवालों की कृतियों में सौन्दर्य-लक्षण नहीं दिखायी देते। जो उदारता के नाम पर रचनात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत सौन्दर्य के उद्भास के तथ्य को महत्त्व देते हैं, उन्हें भी उनकी अपनी से भिन्न रचनात्मक प्रक्रिया से उद्गत कलाकृति में सौन्दर्य के दर्शन नहीं होते। नाम लेने की आवश्यकता नहीं है। नयी कविता के क्षेत्र में ही कलाकृति की विभिन्न रूप-शैलियाँ, या, कहिये, अभिव्यक्ति के विभिन्न रूप चल पड़े हैं। इनका कोई सुव्यवस्थित सौन्दर्य-विवेचन या मूल्यांकन नहीं किया जाता—मैं स्वयं नहीं कर पाता।

ये असफलताएँ ऐतिहासिक हैं। इन असफलताओं के पीछे हमारे देश-जीवन और समाज-जीवन की सीमाएँ और प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। अतएव उन्हें कमज़ोरी कहकर टाला नहीं जा सकता। महत्त्व की बात यह है कि ये असफलताएँ विचारकों और सिद्धान्तशास्त्रियों की हैं, भले ही उनमें से बहुत-से कवि क्यों न हों, या कवि क्यों न रहे हों।

दूसरे शब्दों में, मूल समस्या सामान्यीकरण की है। जैसा कि सुविदित है, सामान्यीकरण समान तत्त्वों को, समान रूप से प्राप्त समान तत्त्वों को, ग्रहण करने का फल है। सौन्दर्य-सम्बन्धी परिकल्पना किसी-न-किसी सामान्यीकरण के आधार पर ही उपस्थित होती है, चाहे वह पश्चिमी ढंग की हो या प्राचीन भारतीय। तो ऐसी स्थिति में, सामान्यीकरण करने की प्रक्रिया में, विशिष्टों को छोड़कर केवल समान रूप से प्राप्त समान तत्त्वों को ही ग्रहण किया जाता है, और यह समझा जाता है कि सामान्यीकरण संगत और सफल है।

किन्तु, प्रश्न यह है कि उन विशिष्टों का क्या होगा जो समान रूप से समान तत्त्वों के रूप में प्राप्त नहीं होते? क्या उन विशिष्टों की कोई संगत, सुस्पष्ट और उचित व्याख्या हो सकती है, या नहीं?

इस प्रकार के प्रश्न एक विशेष प्रसंग में उठते हैं। काव्य-धारा जब बदलने लगती है, अथवा अनेक अभिव्यक्ति-पद्धतियाँ प्रकट होने लगती हैं, तब उनमें प्राप्त जो विशिष्ट तत्त्व हैं, या विशिष्ट रूपरेखाएँ हैं, वे अब तक किसी भी काव्य-सौन्दर्य-सम्बन्धी परिकल्पना के भीतर जो मूलभूत सामान्यीकरण है, उन सामान्यीकरणों के क्षेत्र के भीतर के समान रूप से प्राप्त समान तत्त्वों में से नहीं थीं, उनमें शामिल नहीं थीं, यानी, दूसरे शब्दों में, जिन तत्त्वों का सामान्यीकरण हुआ है, उन तत्त्वों में से वे नहीं थीं।

और, चूँकि ऐसा नहीं था, चूँकि वे एकदम नवीन विशिष्ट थीं, जो उन सामान्यीकरणों के क्षेत्र के बाहर थीं, इसलिए उन सामान्यीकरणों पर आधारित सौन्दर्य-सम्बन्धी परिकल्पना उन पर लागू नहीं हो सकती थी। अतएव यह मान लिया गया कि चूँकि सौन्दर्य-सम्बन्धी परिकल्पना सार्वभौमिक और सार्वकालिक है, इसलिए वह विशिष्ट तत्त्व या रूपरेखा अनुचित और विद्रूपता-प्रेरक है। यह नहीं सोचा गया, या सोचा जाता, कि सौन्दर्य-सम्बन्धी परिकल्पना के भीतर सामान्यीकरण, विद्यमान स्थिति में, अपर्याप्त, असंगत और अनुचित है। यानी, दिमाग़ फ़ेल हो जाता है, लेकिन सोचा यह जाता है कि कलाकृति दोष-पूर्ण है। इस प्रकार के प्रसंग और उदाहरण पं. रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. रामविलास शर्मा आदि ने प्रस्तुत किये हैं। इनमें नन्ददुलारे वाजपेयी-जैसे आचार्य भी सम्मिलित हैं। यही बात नयी कविता के विभिन्न शिविरों द्वारा सीमित विचारधाराओं पर भी लागू होती है, कम या अधिक मात्रा में।

प्रश्न यह है विशिष्ट कैसे उत्पन्न और विकसित होता है? पुराने सामान्यीकरण कैसे गड़बड़ हो जाते हैं? उन सामान्यीकरणों पर आधारित सौन्दर्य-सम्बन्धी परिकल्पनाएँ कैसे अनुचित और असंगत हो उठती हैं?

कहा तो यह जाता है कि तत्त्व अपने-आप रूप को विकसित करता है। किन्तु इस सिद्धान्त का प्रयोग कुशलता और सफलतापूर्वक नहीं हो पाता। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि आलोचक को अपने घेरे के बाहर जाना पड़ता है, और वैसा करना न सहज है न कठिन। उसके लिए दूसरे प्रकार के आलोचक की आवश्यकता होती है। वह प्रकार ही भिन्न है।

ऐसा आलोचक तत्त्व के रूपायन की प्रक्रिया को देखेगा। तत्त्व के स्वरूप को आत्मसात् करके ही वह तत्त्व के आत्म-रूपायन की प्रक्रिया को जान सकेगा, अन्यथा नहीं। संक्षेप में, आलोचक का एक आत्मोन्मुख डिसिप्लिन होता है। और, यह डिसिप्लिन उस कमाण्डर की अन्तर्व्यवस्था या मानसिक व्यवस्था होती है, जो बदलती हुई परिस्थितियों में, बदलते हुए संघर्ष-प्रकारों के अनुसार, अपने सैन्य-तत्त्वों में उचित और प्रभावकारी परिवर्तन के प्रयत्न करता रहता है। जिस प्रकार युद्ध के मोर्चे पर परिस्थिति द्रवणशील अर्थात् परिवर्तनशील होती है, उसी प्रकार आलोचक के सामने प्रस्तुत कलाकृति के अन्तर्गत विभिन्न तत्त्व द्रवणशील और संक्रामक होते हैं। उन्हें आत्मसात् करना, उनकी गतियों को आत्मसात् करना,

सहज भी नहीं है, कठिन भी नहीं है। उसके लिए आलोचक की दृष्टि ही भिन्न चाहिए, अर्थात् प्राक्-सामान्यीकरण-जन्य सौन्दर्य-सम्बन्धी परिकल्पनाओं को कलाकृति पर न लादे। यानी, आलोचक को सबसे पहले विशदीकरण करनेवाला व्याख्याकार होना आवश्यक है, मूल्य-निर्णय वह बाद में दे।

आलोचक द्वारा की जानेवाली व्याख्या कहाँ तक यथार्थ और संगत है, यह आलोचक के केवल दृष्टिकोण पर निर्भर नहीं करता, वरन् उसके जीवन-ज्ञान पर भी निर्भर होता है। मोटी तनख्वाह पानेवाले कुर्सी-तोड़ आलोचकों की बधिरान्धता, वस्तुतः, उनके जीवन-ज्ञान की अल्पता को, संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनों की हास्यास्पद क्षीणता को, प्रकट करती है। वे बुद्धिजीवी होने के कारण अपने अज्ञान को सैद्धान्तिक रूप-गर्व प्रदान करते हुए आगे बढ़ते हैं। इसके एक नहीं, अनेकानेक उदाहरण हमारे सामने मौजूद हैं।

[2]

मैं ये सब बातें कार्यशील आलोचकों के ही लिए नहीं कह रहा हूँ। प्रत्येक मनुष्य—लेखक और कवि—किसी-न-किसी रूप में आलोचक है। अतएव आलोचना को केवल पेशेवर आलोचकों का काम कहकर टाला नहीं जा सकता। आलोचनात्मक कार्य चूँकि हमारे हाथ या मुँह से होते ही रहते हैं, इसलिए हमें काव्य की रचना-प्रक्रिया जैसे विषय जान लेना ज़रूरी है। मैं स्वयं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि, बावजूद समानताओं के, काव्य की रचना-प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं। न केवल कवियों के स्वभाव और व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न हैं, वरन् उनके मूल संवेदनात्मक उद्देश्य और काव्य-सम्बन्धी उनकी अपनी समस्याएँ भी भिन्न हैं। शमशेर की काव्य-सम्बन्धी जो समस्याएँ हो सकती हैं, वे, सम्भवतः, अन्य की नहीं हैं। उसी प्रकार एतत्सम्बन्धी जो मेरी समस्याएँ हो सकती हैं, वे दूसरों की नहीं। अभिव्यक्ति-सम्बन्धी संघर्ष प्रत्येक कवि का अपना अलग-अलग है। ऐसा इसलिए है कि उनके कथ्य भिन्न-भिन्न हैं, उनके अपने संवेदनात्मक पुंज अलग-अलग हैं।

नयी कविता या प्रयोगवादी कविता की सबसे बड़ी हानि तो इस कारण हुई, या हो रही है, कि उसके रचयिताओं की समीक्षा ठीक-ठीक न हो सकी। समीक्षा एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। नयी कविता के सामान्य विरोध या सामान्य समर्थन में तो बहुत-से लेख देखने में आये और आते हैं, किन्तु उसके विशिष्ट कवियों की रचनाओं की ऐसी समीक्षा, जिनसे कला-सम्बन्धी समस्याएँ प्रस्तुत की जा सकें, नहीं देखने में आयीं। नयी कविता के क्षेत्र में विभिन्न अभिव्यक्ति-पद्धतियों और भाव-परम्पराओं का आविर्भाव हुआ है। उन सबकी समुचित व्याख्या और उन व्याख्याओं के आधार पर मूल्यांकन करने के अतिरिक्त, कला-सम्बन्धी समस्याओं को मूर्त्त रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक है। तभी, अर्थात् उस स्थिति में, रचना-प्रक्रियाओं के वैविध्य पर दृष्टि रखकर उनके स्वरूपों की विशिष्टताओं का विशदीकरण किया जा सकता है, जिससे कि उन सबमें, तथा पूर्वयुगीन रचना-प्रक्रियाओं

में, जो सर्व-सामान्य है, उसका आकलन और विश्लेपण, और, उसके अलावा, उनमें जो विशिष्ट है—प्रवृत्ति-विशिष्ट, व्यक्ति-विशिष्ट—उन सबकी व्याख्या और विश्लेपण, किया जा सके।

किन्तु इन सव कार्यों के अभाव में, रचना-प्रक्रिया की व्याख्या, मूलतः, आत्मबद्ध अर्थात् सब्जेक्टिव होगी। इसमें तो सन्देह नहीं कि इस प्रकार की व्याख्याएँ किसी-न-किसी रूप में उपयोगी ही होती हैं। किन्तु, मेरा अपना यह खयाल है कि वे व्याख्याएँ, अति-व्याप्ति के दोप से पूर्ण होंगी। यदि इस खतरे को ध्यान में रखकर फिर उन व्याख्याओं का आकलन किया जाय तो अत्यन्त लाभप्रद ही सिद्ध होगा।

[अपूर्ण। रचनाकाल अनिश्चित। सम्भवतः 1958 के आसपास]

मार्क्सवादी साहित्य का सौन्दर्य-पक्ष

'मार्क्सवादी साहित्य का सौन्दर्य-पक्ष' शीर्षक के अन्तर्गत लिखते हुए, मेरे मित्र गोरखनाथजी ने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनसे सहमत होना मेरे लिए मुश्किल हो गया है।

गोरखनाथजी के लेख से यह जान पड़ता है कि वर्तमान चीनी साहित्य में व्याप्त जन-मंगल-भावना से उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। यह शुभ संकेत है। इस बात में मैं उनके साथ हूँ कि वह साहित्य जन-मंगल की भावना से अनुप्राणित होने के अतिरिक्त अधिक कलात्मक भी है।

किन्तु इसके आगे, मेरे लिए उनसे सहमत होना मुश्किल हो रहा है। वे कहते हैं कि आये-दिन चीन में पाठकों की वेतहाशा वृद्धि और विस्तार के साथ-साथ नये लेखकों की जो एक वेशुमार भीड़ आगे बढ़ रही है, उससे 'मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा' के परिपोप के लिए खतरा है। 'खतरा' शब्द का प्रयोग उन्होंने नहीं किया है, किन्तु उनके कहने का तात्पर्य लगभग यही है। वू येन नामक चीनी लेखक ने नये लेखकों की इस वेशुमार भीड़ के विरुद्ध यह जो स्थापना की कि इस

'वसुधा' मार्च '60 के अंक में श्री गोरखनाथ ने चीनी साहित्य के सन्दर्भ में यह स्थापना की थी कि प्रायः मार्क्सवादी साहित्य सौन्दर्य-पक्ष की अवहेलना करता है। यह निवन्ध उक्त लेख का प्रत्युत्तर है और 'वसुधा' में ही प्रकाशित हुआ था।—सं०

भीड़ के कारण कलात्मक सौष्ठव की रक्षा नहीं हो रही है और कलाहीन साहित्य उत्पन्न हो रहा है—इस स्थापना के समर्थन में गोरखनाथजी ने अपने लेख में दूसरे प्रश्न भी उठाये हैं।

सवसे पहले तो मैं यह कहना चाहूँगा कि प्रत्येक युग में साहित्य को नये विषय प्राप्त होते हैं। सचमुच युग ही विषयों का संकलन करता है। साहित्य-विषयों से युग का आवयविक सम्वन्ध है। किसी युग-विशेष में विशिष्ट विषय-क्षेत्र आवृत्त और पुनरावृत्त होते हैं। उन विषयों के प्रति लेखक-गण जो दृष्टिकोण विकसित करते हैं, उनमें भी वहुत-सी मूलवद्ध समानताएँ होती हैं।

आज चीनी साहित्य में जो विषय प्रचलित हैं, वे उस देश के युग के अनुरूप ही हैं। ये विषय सामान्य जनता के अतिशय निकट हैं, इसलिए कि वे उन्हीं के जीवन से सम्वन्ध रखते हैं। विषयों की इस अतिशय निकटता के फलस्वरूप आज वहाँ की सामान्य जनता साहित्य-क्षेत्र में सक्रिय हो उठी है। साहित्य-क्षेत्र में सामान्य जनता तभी सक्रिय हो उठती है, जव उसमें कोई व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन चल रहा हो—ऐसा आन्दोलन, जो उसके आत्म-गौरव और आत्म-गरिमा को स्थापित और पुनःस्थापित कर रहा हो। किसी ज़माने में हमारे भारत में भी (भिन्न परिस्थितियों में ही क्यों न सही) ऐसा ही हुआ था, दलित-पीड़ित और ग़रीव वर्गों के लोग साहित्य-क्षेत्र में सक्रिय हो उठे थे। हमारे भक्ति-आन्दोलन के पूर्वार्ध का स्मरण कीजिये। उस समय भी शास्त्री-कलाकारों और पण्डित कवियों ने उनका विरोध किया था, क्योंकि साहित्य-सौन्दर्य के उनके मानदण्डों के अनुसार, ग़रीव लोगों का वह साहित्य तुच्छ और विद्रूप था।

आज चीन में मुक्ति के वातावरण में जनता साँस ले रही है, और वह अपने देश के पुर्ननिर्माण में लगी है। उस देश में आज जो युग है उसके अनुसार वहाँ के साहित्य-विषय हैं। ये साहित्य-विषय जनता के अत्यधिक निकट होने से, तथा उसी के वास्तविक जीवन से सम्वन्धित होने के कारण, वह (जनता) स्वयं अव साहित्य-क्षेत्र में सक्रिय हो उठी है, और वहाँ के जन-क्षेत्र व्यापक सांस्कृतिक-सामाजिक आन्दोलन से अनुप्राणित हो उठे हैं। इस सांस्कृतिक आन्दोलन की एक अभिव्यक्ति के रूप में, स्वयं जनता के हाथों से गढ़ा हुआ, नया साहित्य प्रस्तुत हुआ है। चूँकि जनता स्वयं साहित्य तैयार कर रही है, इसलिए लेखकों की वेशुमार भीड़ होना स्वाभाविक ही है। साथ ही यह भी स्वाभाविक है कि जनता द्वारा उत्पन्न सारा-का-सारा साहित्य वस्तुतः उच्च कोटि का न हो।

इस साहित्य का कलात्मक स्तर और ऊँचा उठाने का क्या उपाय है? क्या इसका उपाय यह है कि उन लेखकों को साहित्य-प्रकाशन की सुविधा दी जाये? अथवा यह कि उनका लेखन-कार्य निषिद्ध ठहराया जाय? अथवा यह कि जनता में जो सांस्कृतिक आन्दोलन चल रहा है, उसमें सक्रिय भाग लेकर लेखकों की रचनात्मक आलोचना की जाय?

आलोचक का कार्य केवल गुण-दोप-विवेचन ही नहीं है, वरन् साहित्य का

नेतृत्व करना भी है। आलोचक का धर्म साहित्यिक नेतागिरी करना नहीं है, वरन् जीवन का मर्मज्ञ बनना और उसी विशेषता की सहायता से कला-समीक्षा करना भी है। साहित्य-नेतृत्व करने के लिए तो जीवन-मर्मज्ञता की और भी अधिक आवश्यकता है। संक्षेप में, सामान्यतः जनता के, और विशेषतः जनता के बीच से आये हुए लेखकों के, शैक्षणिक-सांस्कृतिक-स्तर तथा उनके कलात्मक-स्तर और भी अधिक विकसित करना आवश्यक है।

यह कार्य मुख्य है। यदि इस कार्य को लक्ष्य बनाकर वू येन द्वारा आलोचना की गयी होती, और उस आलोचना में कलात्मक स्तर के विकास के उपायों को निर्देशित किया गया होता, तो बात अलग थी। किन्तु लेखकों की बाढ़ से 'मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा' को खतरे का नारा देकर जो आलोचना की जायगी, वह न केवल निरर्थक और असंगत होगी, वरन् वह उस व्यक्तिवाद को सूचित करेगी, कि जो व्यक्तिवाद जनता को ढोर समझता है, मूर्ख समझता है।

यह सही है कि साहित्य-रचना में प्रतिभा का बहुत बड़ा स्थान होता है। किन्तु वास्तविक प्रतिभावान कौन कहाँ तक है, इसका निर्णय महान् उपलब्धियों के पूर्व नहीं पश्चात् होता है। पूर्वतर स्थिति में तो सभी लेखक गुणवान होते हैं। सच तो यह है कि समय की कसौटी पर जिस लेखक का साहित्य खरा उतरेगा, वही प्रतिभावान कहलायेगा। लेकिन, क्या इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम सभी को लिखने दें, ऐसों को भी कि जो पेशेवर साहित्यिक नहीं हैं ?

हिन्दी साहित्य में पेशेवर साहित्यिकों के कारण जीवन का वैविध्य प्रकट नहीं हो पाता, ज़िन्दगी के असली तजुर्बे नहीं आ पाते, और वे जीवन-मूल्य स्थापित नहीं हो पाते कि जिनके लिए साधारण व्यक्ति संघर्ष करता है। साहित्य में जीवन के ज्वलन्त प्रतिबिम्ब अपनी सम्पूर्ण निष्कलुपता के साथ उतर नहीं पाते। पेशेवर साहित्यिकों में जो 'साहित्यिक योग्यता' है, यदि वह सचमुच योग्यता होती तो देश का कल्याण हो जाता ! सच तो यह है कि ऐसी योग्यता जिसमें महान् प्रेरणा न हो, जिसमें लोक-कल्याण के लिए त्याग की भावना न हो, जिसमें जन-जीवन की अन्तर्धाराओं को देखने की दृष्टि न हो—ऐसी योग्यता निरर्थक है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं वास्तविक साहित्यिक योग्यता का अनादर कर रहा हूँ। यह योग्यता किसानों में भी हो सकती है, ग़रीब मध्यवर्ग में भी, मज़दूरों में भी। उसके लिए साहित्यकारों द्वारा अनुमोदित और समर्थित होकर 'साहित्यिक' बनना आवश्यक नहीं है। जिस देश में साहित्यकारों का एक अलग वर्ग होता है, वह देश भयानक विषमताओं से पीड़ित होता है, यह निर्विवाद है। साहित्यकारों के वर्ग में भी वास्तविक प्रतिभावान साहित्यिक बहुत थोड़े होते हैं।

किन्तु जनतन्त्र में हर एक को यह अधिकार है कि वह लिखे। उसकी रचना यदि सर्वमान्य स्तर की है, तो उसके प्रकाशित होने में कोई रुकावट नहीं होनी

चाहिए। आज चीन की सामान्य जनता यदि सामान्य कोटि की रचना करती है, तो इसका कारण यह है कि समाजवादी संस्कृति का वहाँ इतना अधिक विकास नहीं हुआ है जितना कि अन्य देशों में सदियों से चली आ रही पूँजीवादी-व्यक्तिवादी संस्कृति का। संक्षेप में साहित्य का वहाँ एक नये आधार पर विकास हो रहा है। उसके सम्पूर्ण उत्कर्ष के लिए समय लगेगा।

ध्यान दीजिये उस ज़माने पर, जब हमारे यहाँ भारतेन्दु युग था। तब हमारी कृतियों का क्या साहित्यिक स्तर था? जब खड़ी बोली में बड़े पैमाने पर कविताएँ लिखना शुरू हुआ, तब ब्रजभाषावालों ने 'कलात्मकता' के नाम पर ही उसका विरोध किया। जब प्रयोगवादी कविता शुरू हुई, तब कलात्मक स्तर के नाम पर भी उसकी भीषण आलोचना की गयी। ऐसी स्थिति में, किसी नयी प्रवृत्ति का जो प्रारम्भिक चरण होता है वह, आपेक्षिक रूप से तथा पिछली उपलब्धियों की तुलना में, अविकसित और अपुष्ट ही होता है।

ऐसी नयी प्रवृत्तियों का प्रत्येक विरोधक, उस प्रवृत्ति द्वारा प्रेरित रचनाओं में से जो अति साधारण या हीन कोटि की होती हैं उन्हें ही लक्ष्य में रखकर, उन प्रवृत्तियों की नवीन उपलब्धियों की ओर ध्यान न देते हुए, उस प्रवृत्ति का विरोध करता है, तथा पिछली स्वदेशिक प्रवृत्तियों की अथवा वर्तमान विदेशिक प्रवृत्तियों की उपलब्धियों का उदाहरण सामने रखकर, ऐसी वर्तमान स्वदेशिक प्रवृत्तियों की आलोचना करता है जिनका अभी पूर्ण विकास और उत्कर्ष नहीं हुआ है। ऐसे विरोध का एकमात्र उद्देश्य नयी प्रवृत्ति को हतोत्साह करना है।

रूस, फ़्रांस, ब्रिटेन, अमरीका बहुत बड़े देश हैं। वहाँ अनगिनत पत्र-पत्रिकाएँ हैं, और उनमें लिखनेवाले लेखक अनगिनत हैं। ऐसी स्थिति में वहाँ लेखकों में गहन स्पर्धा है। अच्छे लेखकों को भी ज़रा देर से मान्यता मिलती है। फिर भी उस स्पर्धा की परीक्षा में गुज़रकर सफल होनेवाला साहित्य, अपने प्रभावोत्पादक गुणों के कारण ही, न केवल उन देशों में वरन् विदेशों में भी—अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर—यशस्वी हो उठता है। वहाँ की 'मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा' को लेखकों के अनगिनतपन से डर नहीं लगता। तो ऐसी स्थिति में, चीन में सामान्य लेखकों के अनगिनतपन द्वारा 'मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा' वालों को खतरा क्यों महसूस होना चाहिये?

निष्कर्ष—(अ) मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभावालों को वस्तुतः यदि कोई खतरा है, तो अपने भीतर से है, बाहर से नहीं। यदि उनकी प्रतिभा सचमुच मौलिक तथा विशिष्ट है, तो अपने प्रभावोत्पादक गुणों के फलस्वरूप वह स्वयं उदाहरण-स्वरूप बन जायेगी, यहाँ तक कि वह किसी उज्ज्वल परम्परा को जन्म देगी। यदि वह मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा के नाम पर पनपनेवाला मात्र एक साहित्यिक अहंवाद है, तो इतिहास उससे वैसा व्यवहार करेगा।

(ब) कोई भी नयी साहित्यिक प्रवृत्ति, साधारणतः, शुरू में अपरिपक्व ही होती है। उस साहित्यिक प्रवृत्ति की व्यापक अपरिपक्वता की भर्त्सना करने के

बजाय, उसके अधिकाधिक विकास में योग देकर उसे अधिक परिष्कृत करने की आवश्यकता है।

(स) चीन का नया सांस्कृतिक-साहित्यिक आन्दोलन जनता की अपनी चीज़ है। जनता के शत-सहस्र प्रदीर्घ प्रयासों से ही सफलताओं का आविर्भाव होगा।

यह कहना ग़लत है कि चीन में आज जो सारा साहित्य उत्पन्न हो रहा है, उसमें कलात्मकता का एकदम अभाव है। इसके विपरीत, यह कहना सही है कि चीन में पिछले दस वर्षों के भीतर कुछ स्मरणीय उपलब्धियाँ भी विराजमान हैं। अगर उनमें किसी को अनुभूति के दर्शन न हों, मात्र प्रचार दीखे, और वह निष्प्राण प्रतीत हो, तो यही कहा जायेगा कि देखनेवाले को उस साहित्य के मूल मानवीय उत्सों से कोई सहानुभूति नहीं है।

दूसरे, यह बात भूलने की नहीं है कि साधारण लेखक-वर्ग, बहुधा, मर्मज्ञ पाठक-वर्ग होता है, जो अभिव्यक्ति की अभिलाषा के कारण लेखक-रूप में परिणत हो जाता है। साहित्य-प्रयासों द्वारा पाठक स्वयं साहित्य-मर्मज्ञ बनता है। ऐसी स्थिति में एक व्यापक लेखक-वर्ग के रूप में जो एक विशाल प्रबुद्ध पाठक-वर्ग है, उसका साहित्य के विकास में बहुत बड़ा योग होता है। चीन के 'मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा' वालों को वह योग प्राप्त है बशर्ते कि वे उसको स्वीकार करें। किन्तु यदि वे अपनी उच्चतर स्थिति के शिखर पर बैठकर उन पदतलवासियों को अवहेलना की दृष्टि से देखें, तो इसके लिए कोई क्या करे। सौन्दर्यवाद के नाम से प्रचलित व्यक्ति-बद्धता की जो एक प्रवृत्ति है, उसे हम उस सौन्दर्यवाद से अलग करके देखते हैं जिसका सम्बन्ध व्यापक प्रभावोत्पादकता के साहित्यिक गुण से है। अतएव हम कलात्मकता के उन समर्थकों के साथ हैं, जो वस्तुतः समर्पित भाव से जनता में से आये हुए लेखकों के कलात्मक स्तर को ऊँचा उठाने की तत्पर बुद्धि रखते हों, तथा अपने स्वयं की साहित्य-रचना द्वारा वास्तविक कलात्मकता का मार्ग प्रशस्त करते हों। किन्तु हम कलात्मकता के उन समर्थकों के विरुद्ध हैं, जो जनता में से आये हुए लेखकों की आपेक्षिक अपरिपक्वता का निदर्शन-प्रदर्शन केवल इसलिए करते हैं कि उनके साहित्यिक शिखरवाद की, अर्थात् व्यक्तिवादी सांस्कृतिकता की, रक्षा हो। साहित्य-क्षेत्र में सौन्दर्यवाद और कलात्मकतावाद की ऐसी एक प्रवृत्ति रही है, जिसने लेखकों को सामान्य जन-अनुभव से अलग कर दिया है। ऐसी स्थिति में, जब गोरखनाथजी मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा को अनतिशिक्षित और अनतिसंस्कृत साधारण लेखकों के कन्ट्रास्ट में—विरोधात्मक भूमिका में—रखना चाहते हैं, तो मेरे मन में वैसी शंका उठना स्वाभाविक ही है।

गोरखनाथजी ने कहा कि रूस देश में आज तॉल्स्तॉय जैसे लेखक पैदा क्यों नहीं होते। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि पूंजीवादी-साम्राज्यवादी समाज-रचना के अनन्तर रूस में जो एक उच्चतर समाजवादी समाज-रचना स्थापित हुई तो साहित्य को भी उसी हिसाब से नये समाजवादी युग में श्रेष्ठतर होना चाहिये था।

मुझे लगता है कि उनका आशय उपर्युक्त ही है, यद्यपि वह कुछ प्रच्छन्न है।

साहित्येतिहास का विद्यार्थी यह जानता है कि युग-परिवर्तन के साथ ही, साहित्य-क्षेत्र में जो नये विषय अवतीर्ण होते हैं, उनकी गहन कलात्मक अभिव्यक्ति दीर्घ साधना का फल होती है। यह साधना एक व्यक्ति या एक पीढ़ी की नहीं, वरन् कई पीढ़ियों द्वारा की गयी होती है। जब उन विषयों को लेकर कई पीढ़ियाँ खप जाती हैं, तब कहीं कला विलक्षण उत्कर्ष को प्राप्त होती है, जैसे कि वह तॉल्स्तॉय के साहित्य में दिखायी पड़ी। इसका अर्थ यह नहीं है कि रूस का क्रान्ति-उत्तर साहित्य श्रेष्ठ नहीं है। दुनिया के कई बड़े-बड़े देशों के साहित्य से वह आज भी सफलतापूर्वक मुक़ाबला कर सकता है। उस साहित्य का प्रभाव यूरोप और अमरीका के विभिन्न क्षेत्रों में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। मैक्सिम गोर्की को हम छोड़ भी दें, तब भी, उसके अनन्तर, अलेक्जी तॉल्स्तॉय, शोलोख़ोव, ऑस्ट्रोवस्की, वान्दा वासिलेवस्की, मायकोवस्की, वेरा पेनोवा, गेलिनिना विश्नेवस्की, त्वारदोवस्की, पॉस्तॉवस्की, एलेक्ज़ैण्डर गोचेर, लिओनिद लिओनोव विश्वख्याति प्राप्त कर चुके हैं। फिर भी यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि भूतकाल के शिखरों की तुलना में रूस में आज का साहित्य अपनी सम्पूर्ण उच्चता को अभी नहीं पहुँचा है।

किन्तु क्या ब्रिटेन, अमरीका या फ़्रांस का आज का साहित्य उनके पूर्वतर शिखरों की तुलना में तुंगतर और उच्चतर है? क्या फ़्रांसीसी साहित्य ने उत्तरोत्तर उत्कर्ष की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए रोम्याँ रोलाँ को बहुत पीछे छोड़ दिया? यह विवादास्पद विषय है। मैं पूछता हूँ कि छायावाद और प्रगतिवाद के अनन्तर प्रयोगवादी कविता ने अपने पूर्वतरों से उज्ज्वलतर, उच्चतर सफलताएँ प्राप्त कीं? यदि नहीं, तो इसका अर्थ यह है कि हमारी विचारधारा में कोई ख़ामी है, या ख़ामी विचारधारा में न होकर किसी और जगह है!

गोरखनाथजी चीन के साहित्य को लेकर साम्यवादी जगत् के साहित्य पर उतर आते हैं, और फिर उस साहित्य की तथाकथित श्रीहीनता का दोष मार्क्स-वाद के मत्थे मढ़ने की कोशिश करते हैं।

अमरीका, फ़्रांस, ब्रिटेन, भारत आदि सभी देशों में साहित्यिक लेखन ख़ूब ही होता है। सामान्य श्रेणी का साहित्य संख्या की दृष्टि से बहुत होता भी है। किन्तु हम उन-उन देशों के साहित्य की सफलता सिर्फ़ चोटी के कलाकारों में ही देखते हैं। हम अमरीकी साहित्य की श्रेष्ठता को सिंकलेअर लेविस, अपटन सिंकलेअर, एज़रा पाउण्ड, हेमिंग्वे, आदि कलाकारों के साहित्य से ही मापते हैं। तो यही सुविधा हम रूसी तथा चीनी साहित्य की श्रेष्ठता को मापने के लिए उनके चोटी के कलाकारों को ही क्यों न दें? क्या हम रोज़मर्रा धड़ल्ले से पैदा होनेवाले अमरीकी साहित्य से उस देश के साहित्य की श्रेष्ठता को मापते हैं? क़तई नहीं! तो हम रूस और अन्य साम्यवादी देशों में धड़ल्ले से पैदा होनेवाले साहित्य के स्तर की अति-साधारणता को ध्यान में रखकर उसे दरिद्र क्यों कहें? क्यों न हम

उनकी सर्व-स्वीकृत उपलब्धियों की उच्चता मापकर उस साहित्य की श्रेष्ठता स्वीकार करें ?

आश्चर्य की बात यह है कि एक ओर गोरखनाथजी 'मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा' की दुहाई देते हैं, किन्तु वे उन प्रतिभाओं की ओर ध्यान नहीं देते जिन्होंने उन-उन देशों के साहित्य का सिर ऊँचा किया। वरन् वे यह सूचना देते-से प्रतीत होते हैं कि जन-मंगल की भावना से प्रेरित साम्यवादी साहित्य प्रचारात्मक है, अर्थात्, दूसरे शब्दों में, वह कलाहीन है, श्रीहीन है, अनुभूति-प्रवण नहीं है। साम्यवादी जगत् में सबसे अधिक विकसित साहित्य रूस का है। क्यों न वे उस साहित्य को देखकर यह ठहरायें कि मार्क्सवाद साहित्य को किस ऊँचाई पर ले गया ? मार्क्सवाद मनुष्य को कृत्रिम रूप से बौद्धिक नहीं बनाता है, वरन् उसे ज्ञानालोकित आदर्श प्रदान करता है। मार्क्सवाद मनुष्य की अनुभूति को ज्ञानात्मक प्रकाश प्रदान करता है। वह उसकी अनुभूति को बाधित नहीं करता, वरन् बोधयुक्त करते हुए उसे अधिक परिष्कृत और उच्चतर स्थिति में ला देता है। संक्षेप में, मार्क्सवाद का मनुष्य की संवेदन-क्षमता से कोई विरोध नहीं है, न हो सकता है।

गोरखनाथजी ने मार्क्सवाद से सम्बन्धित सौन्दर्यशास्त्र की बात उठायी है। उनकी बातों से कुछ ऐसा जान पड़ता है कि मार्क्सवादी साहित्यिक विचारकों ने सौन्दर्यशास्त्रीय प्रश्नों पर या तो विचार नहीं किया है और यदि किया भी है तो वह विचार सतही ढंग से हुआ है। उनके विचार से, शायद, यही कारण है कि मार्क्सवादी साहित्य-कला में प्रचारात्मकता अधिक और सौन्दर्य-तत्त्व कम होते हैं। इसलिए गोरखनाथजी का अनुरोध है कि मार्क्सवादी साहित्य-विचारक सौन्दर्यशास्त्रीय प्रश्नों पर और गहराई से विचार करें।

इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है कि मार्क्सवादी साहित्य-विचारकों ने सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रश्नों पर विस्तृत रूप से विचार किया है। रूस में इन प्रश्नों पर विशेष चिन्तन हुआ है। जिस देश में उज्ज्वल साहित्य की एक विशाल परम्परा हो, उस देश में सौन्दर्यशास्त्रीय प्रश्नों पर विचार होना स्वाभाविक है। उनके तत्सम्बन्धी विचार हमारे लिए बहुत-कुछ उपादेय हैं। हमने भी साहित्य-शास्त्र के अन्तर्गत कई समस्याओं पर बहुत-कुछ चिन्तन किया है। मेरा अपना ख़याल है कि हमारे तत्सम्बन्धी विचार भी उनके लिए उपादेय हो सकते हैं। एक तो वहाँ के कलाकारों ने स्वयं ही कलात्मक सौन्दर्य के सम्बन्ध में मूल्यवान विचार प्रकट किये हैं। चूँकि वे विचार अनुभव-प्रसूत हैं, इसलिए उनका अपना एक विशेष महत्त्व है। तुर्गनेव, तॉल्स्तॉय और मैक्सिम गोर्की से लेकर इलिया एहरेनबर्ग और पॉस्तॉवस्की तक ने इस सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। एहरेनबर्ग के लेख काफ़ी प्रसिद्ध हो चुके हैं। उसी प्रकार, पॉस्तॉवस्की की गोल्डन फ़्लॉवर नामक पुस्तक अत्यन्त पठनीय है। इसके साथ ही, समय-समय पर सोवियत लिटरेचर नामक मासिक-पत्र में, एतत्सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार प्रस्तुत

होते हैं। उनसे बहुत-कुछ जाना-सीखा जा सकता है। खेद है कि सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी अन्य उत्तमोत्तम पुस्तकें रूसी ज़बान में धरी रह जाती हैं, और वे अंग्रेज़ी में अनूदित होकर हम तक पहुँच नहीं पातीं।

सौन्दर्यशास्त्र एक विचित्र शास्त्र है। वह वस्तुतः एक मूल्य-शास्त्र है, आदर्श-शास्त्र है। चूँकि हमारे जीवन की प्रधान दिशाएँ और तत्सम्बन्धी जिज्ञासाएँ विभिन्न युगों में बदलती रही हैं और बदलती रहेंगी, इसलिए इस शास्त्र का वैसा विकास नहीं हो पाता जिस प्रकार कि, उदाहरणतः, भौतिकशास्त्र का है, जिसमें परवर्ती विचारक पूर्ववर्ती चिन्तक के सिद्धान्तों को या तो नयी व्यवस्था में बाँधता है, अथवा उसके कन्धे पर खड़े होकर नव-नवीन-विकास के परिदृश्य देखता है। सौन्दर्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, आदि मूल्य-शास्त्र होने के कारण, वे मुख्यतः सिद्धान्त-प्रणालियों के समवाय के रूप में प्रस्तुत होते हैं। अन्तिम निर्णय करने का भार हम पर ही रह जाता है कि उनमें से कौन-सी बात हमारे लिए स्वीकरणीय है और कौन-सी त्याज्य। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में तो सिद्धान्तों का एक जंगल-का-जंगल खड़ा हो गया है।

सौन्दर्यशास्त्र के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसके सिद्धान्तों में परिवर्तन होता रहता है, और किसी युग में किसी विशेष प्रवृत्ति की औचित्य-स्थापना के लिए वैसे सौन्दर्य-सिद्धान्त बनते और बनाये जाते हैं। आज की स्थिति तो यह है कि आधुनिकतम चित्रकला को समझने के लिए सबसे पहले हमें उसकी सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं का ही अध्ययन करना चाहिये।

किसी प्रवृत्ति की औचित्य-स्थापना के हेतु जिस सौन्दर्य-सिद्धान्त का जन्म होता है, वह सिद्धान्त उस प्रवृत्ति के ह्रास के साथ ही निर्बल हो जाता है। आज पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित हम लोग जिस भाव और उसकी जिस अभिव्यक्ति में सौन्दर्य देखते हैं, उसका कारण यह है कि हमारी मनःप्रवृत्तियाँ भी उसी भाव के अनुकूल हैं। साधारणतः, आत्मोन्मुख साहित्य-धारा में सौन्दर्य का जो अर्थ हो सकता है, वह अर्थ बहिरन्तर समग्र-जीवनोन्मुख साहित्य-धारा में परिवर्तित हो जाता है। फलतः, जिसे हम सौन्दर्य कहते हैं, उसमें कुछ लोग अपूर्णता या एकांगिता तथा बाधाग्रस्तता देखते हैं; और वे जिसे सौन्दर्य कहते हैं उसमें हमें खोखलेपन की बू आती है। यह एक वास्तविक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। हममें, हम सबमें, साहित्यिक संस्कृति का इतना विकास नहीं हुआ है कि हम अपनी प्रवृत्तियों और रुझानों, धारणाओं और अभिरुचियों के घेरे से उठकर, वस्तुतः, अन्य तथा कभी-कभी विरोधी प्रवृत्ति के साहित्य की क्षमताएँ पहचान सकें और उन क्षमताओं को गहराई से पहचानकर उसकी सीमाएँ भी जान सकें।

भारत में पहुँचनेवाला रूसी तथा चीनी साहित्य-पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्य हमेशा उच्च कोटि का नहीं होता, यह कहने की आवश्यकता नहीं। उन पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्य को देखकर उन-उन देशों की प्रधान उपलब्धियों के बारे में सोचना असंगत होगा। किसी भी देश के किसी भी युग में श्रेष्ठ

साहित्यिक थोड़े ही होते हैं। उन्हीं के नाम से उस देश के साहित्य की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता पहचानी जाती है, न कि पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर निकलनेवाले साहित्य से। किन्तु—और यह बहुत बड़ा किन्तु है—पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्य और उसके लेखक साहित्य के विकास में अपने प्रयत्नों द्वारा योग देते हैं। उनसे सूचित होता है कि राष्ट्र की प्रधान प्रवृत्तियाँ और प्रयत्न क्या हैं। यह आवश्यक है कि ये प्रवृत्तियाँ स्वस्थ और कल्याणकारी हों। इस आवश्यकता से कौन इनकार करेगा? इस आवश्यकता को ध्यान में रखकर काम करने की ज़रूरत है।

मैं गोरखनाथजी को धन्यवाद देता हूँ कि उनके लेख ने मुझे अपने विचार प्रकट करने के लिए आतुर कर दिया। गोरखनाथजी का लेख सद्भावनापूर्ण था, बुनियादी तौर पर। इसीलिए मैंने उत्तर देने का साहस किया। उत्तर देते समय मैं इधर-उधर अपने विचारों में भटक गया हूँ। लेकिन इसमें मुझे कोई हानि मालूम नहीं होती।

[वसुधा, 1960 में प्रकाशित। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित]

वस्तु और रूप : एक

[इस लेख के चार रूप उपलब्ध हैं। अनेक प्रकार की पुनरावृत्तियों के बावजूद, प्रत्येक में किसी-न-किसी अलग और विशिष्ट पक्ष पर जोर है। इस तरह से वे मिलकर मूल विषय को अधिक समग्रता में और कई स्तरों पर प्रस्तुत करते हैं। साथ ही, उनसे मुक्तिबोध की चिन्तन और लेखन-प्रक्रिया की बड़ी उत्तेजक जानकारी मिलती है। इसलिए लेख के चारों ही रूपों को प्रकाशित करना उपयुक्त समझा गया। इनमें से पहला उज्जैन से निकलनेवाले मासिक 'कालिदास' के दो अंकों में प्रकाशित हुआ था। इसकी पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं है। बाक़ी तीन अप्रकाशित हैं। दूसरा और तीसरा अपूर्ण भी हैं। चौथा यद्यपि पूर्ण है, पर उसमें भी बीच के एक-दो पृष्ठ नहीं हैं। चौथे में ही, सम्भवतः, पुनरावृत्ति सबसे अधिक है। उसके शुरू में लेख की पूरी सिनाप्सिस भी दी हुई है।—सं०]

जब कभी कोई नयी काव्य-प्रवृत्ति अथवा साहित्य-प्रवृत्ति अवतरित होती है, कला के मूल तत्त्वों के सम्बन्ध में, सिद्धान्तों के बारे में, बहस शुरू हो जाती है। यदि इस विचार-विनिमय को वास्तववादी होना है, तो उसे एक साथ दो काम करने होंगे।

एक तो अपने युग-विशेष की प्रवृत्तियों को उसे समझना होगा; दूसरे, नयी काव्य-प्रवृत्ति के स्वरूप को हृदयंगम करना होगा। नयी काव्य-प्रवृत्ति अभी तक पण्डितों, आचार्य-प्रवरों और आलोचक-वरेण्यों द्वारा हृदयंगम नहीं हो सकी है। किन्तु यह चिन्ता की बात नहीं है। चिन्ता की बात यह है कि नयी काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र के भीतर से ऐसी कोई आलोचना अभी नहीं उठ खड़ी हुई है, जो उसकी सीमाएँ बताये, अर्थात् उस प्रवृत्ति की व्यापक समीक्षा करे।

कला के वस्तु और रूप का प्रश्न आज ही क्यों उठ खड़ा हुआ ? वह भी इतने ज़ोर से क्यों ? संवेदनशील कवि को उसके आस-पास की वास्तविकता के मार्मिक पक्ष गहरी चुनौती देते हैं। यह चुनौती दो प्रकार की होती है—एक, तत्त्व-सम्बन्धी; दूसरी, रूप-सम्बन्धी। आज के कवि के हृदय में तनाव भी है, साथ ही एक विचित्र घिराव भी। किन्तु कवि-हृदय फैलना चाहता है, आत्म-विस्तार करना चाहता है। फैलने की इस मनोवृत्ति के सक्रिय होते ही उसे मानव-वास्तविकता के मूल मार्मिक पक्ष दिखायी देने लगते हैं। किन्तु, कहना चाहिए कि उन मार्मिक पक्षों का संवेदनात्मक आकलन करने की सारी तत्परता होते हुए भी, अभिव्यक्ति लँगड़ा जाती है। आज की काव्य-प्रवृत्ति की मनोवैज्ञानिक धारा यदि विशुद्ध आत्मपरक भाव-धारा होती, अर्थात् अनायास प्रवाहित होनेवाले स्वच्छन्द भावों का वह प्रवाह होता, तो दिक़्क़त का सामना न करना पड़ता। किन्तु वह कविता संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनों के तीव्र मानसिक प्रतिक्रियाघातों को प्रकट करना चाहती है (वह सर्वत्र कहाँ तक सफल है, यह एक अलग प्रश्न है)। ऐसी स्थिति में, उसे न केवल अनुभूति-पक्ष के, वरन् वस्तु-पक्ष के और उससे सम्बन्धित परिज्ञान के, विकास की अपेक्षा है। यह सवाल, या इससे सम्बन्धित प्रश्न, कवि-जनों के मन में उठते रहते हैं।

ज्ञान-पक्ष संवेदना से हटकर काव्योपयोगी नहीं रहेगा। यह तथ्य स्वीकृत करने पर भी इस बात से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि आज की नयी कविता के प्रगल्भ विकास के लिए कवि की मूलभूत संवेदन-शक्ति में विलक्षण विश्लेषण-प्रवृत्ति चाहिए।

ऐसा क्यों ? इसलिए कि आज की कविता पुराने काव्य-युगों से कहीं अधिक, बहुत अधिक, अपने परिवेश के साथ द्वन्द्व-स्थिति में प्रस्तुत है। इसीलिए उसके भीतर तनाव का वातावरण है। परिस्थिति की पेचीदगी से बाहर न निकल सकने की हालत में मन जिस प्रकार अन्तर्मुख होकर निपीड़ित हो उठता है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आज की कविता में घिराव का वातावरण भी है।

अतएव, आज की कविता किसी-न-किसी प्रकार से अपने परिवेश के साथ द्वन्द्व में उपस्थित होती है, जिसके फलस्वरूप यह आग्रह दुर्निवार हो उठता है कि कवि-हृदय द्वन्द्वों का भी अध्ययन करें, अर्थात् वास्तविकता में बौद्धिक दृष्टि द्वारा भी अन्तःप्रवेश करें, और ऐसी विश्व-दृष्टि का विकास करें जिससे व्यापक जीवन-जगत् की व्याख्या हो सके, तथा अन्तर्जीवन के भीतर के आन्दोलन, आरपार फैली

हुई वास्तविकता के सन्दर्भ से व्याख्यात, विश्लेषित और मूल्यांकित हों।

तभी हम आस-पास फैली हुई मानव-वास्तविकता के उन मार्मिक पक्षों का, जो हमारे हृदय में व्याप्त हैं, उद्घाटन-चित्रण कर सकेंगे। माना कि यह उद्घाटन-चित्रण मात्र विवेचनात्मक बौद्धिक दृष्टि से नहीं होगा। किन्तु उस बौद्धिक कार्य के फलस्वरूप संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन अधिक पुष्ट होंगे, अनुभूति को ज्ञान-प्रेरित जीवनानुभव प्राप्त होने की सम्भावना बढ़ जायेगी। इस प्रकार, व्यक्तित्व अधिक सक्षम हो सकेगा। किन्तु केवल इतना ही काफ़ी नहीं है। इस वैविध्यपूर्ण, स्पन्दनशील, आस-पास फैले हुए मानव-जगत् के मार्मिक पक्षों के संवेदनात्मक चित्रण के लिए अभिव्यक्ति-सम्पदा भी चाहिए। केवल आत्मरक तीव्र संवेदनाघातपूर्ण मानसिक प्रतिक्रिया करनेवाली काव्य-शैली को अधिक लचीली, अधिक सक्षम और सम्पन्न बनाना होगा, जिससे कि वह, एक ओर, कवि-हृदय की अत्यन्त सूक्ष्म संवेदनाएँ मूर्तिमान कर सके; तो, दूसरी ओर, वास्तव जीवन-जगत् की लहर-लहर को हृदयंगम कर उसे समुचित वाणी दे सके। पुरानी शास्त्रीय शब्दावली में कहा जाये तो, उसे भाव-पक्ष के साथ विभाव-पक्ष का चित्रण करना होगा।

सच बात तो यह है कि आज के कवि को एक साथ तीन क्षेत्रों में संघर्ष करना है। उसके संघर्ष का यह त्रिविध स्वरूप है या होना चाहिए : (1) तत्त्व के लिए संघर्ष, (2) अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने का संघर्ष, (3) दृष्टि-विकास का संघर्ष। प्रथम का सम्बन्ध मानव-वास्तविकता के अधिकाधिक सक्षम उद्घाटन-अवलोकन से है; दूसरे का सम्बन्ध चित्रण-सामर्थ्य से है; और तीसरे का सम्बन्ध थियॅरी से है, विश्व-दृष्टि के विकास से है, वास्तविकताओं की व्याख्या से है। यह त्रिविध संघर्ष है।

इन बातों को ध्यान में रख मैंने आगे आनेवाले पृष्ठों में अपने कतिपय विचार मित्रों और सहृदयों के सम्मुख रखे हैं। ये सारे विचार वैकल्पिक हैं, अन्तिम कुछ भी नहीं। वे केवल प्रस्ताव रूप में हैं, विचारार्थ प्रस्तुत हैं।

कला के वस्तु-तत्त्व अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था का ही एक भाग हैं। वे ऐसे अन्तर्तत्त्व हैं जो बाहर के धक्के से या उन धक्कों के संचय से उद्वेलित, अर्थात् (1) तरंगायित, (2) मानसिक दृष्टि के सम्मुख उद्घाटित, (3) जीवन-मूल्यों तथा पूर्वतर अनुभवों से आलोकित, तथा (4) अभिव्यक्ति के लिए आतुर, हो उठते हैं।

तरंगायित होकर जब वे मानसिक दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हो उठते हैं, तभी उनमें रूप आ जाता है, अर्थात् कल्पना-बिम्ब या स्वर या प्रवाह से युक्त-संवृत हो उठते हैं। कल्पना का कार्य यहीं से शुरू हो जाता है। बोध-पक्ष अर्थात् ज्ञान-वृत्ति भी यहाँ सक्रिय हो उठती है। यह उद्घाटन-क्षण है—यह कला का प्रथम क्षण है। इसके अनन्तर कवि की मानसिक दृष्टि अर्थात् दर्शक-मन, जो उस तत्त्व-

रूप को अन्तर-नेत्रों से देख रहा था, उसके रस में निमग्न-सा होने लगता है, साथ ही बोध-पक्ष यानी ज्ञान-वृत्ति की प्रेरणा के फलस्वरूप वह तटस्थ भी हो जाता है। वह अन्तःप्रवेश करने लगता है, साथ ही वह बाहर से पर्यवलोकन भी करता है। फलतः, एक ओर, रस का प्रवाह या भाव-प्रवाह अन्य सम-स्वभावी और सम-रूप अनुभवों को उस तत्त्व में मिलाता हुआ चलता है; तो, दूसरी ओर, हृदय में संचित जीवन-मूल्यों की, अर्थात् हमारे अन्तःकरण में स्थित आदर्शात्मक सत्ता की, भी एक धारा उस मनोमय मूल-तत्त्व में मिलने लगती है। कल्पना-शक्ति उद्दीप्त होकर, संवेदना से आप्लुत उस मूल तत्त्व को समरूप अनुभवों और जीवन-मूल्यों से संश्लेषित करते हुए, एक संश्लिष्ट जीवन-बिम्ब-माला उपस्थित कर देती है। यह कला का दूसरा क्षण है, कि जिसमें हमारे वेदनात्मक हेतु और संवेदनात्मक अभिप्राय किसी व्यापक मार्मिक जीवन-महत्त्व से न्यस्त हो जाते हैं; और हमारे लिए वह आत्मतत्त्व इतना अधिक महत्त्वमय मालूम होता है कि हम उसकी अभि-व्यक्ति के लिए छटपटाते हैं। इस छटपटाहट को जब हम शब्द, रंग तथा स्वर में अभिव्यक्त करने लगते हैं, तब कला का तीसरा क्षण शुरू हो जाता है। अभिव्यक्ति के साधन (अर्थात् हमारे लिए भाषा) सामाजिक है; दूसरे, उसके शब्द-संयोग भाव-परम्परा और ज्ञान-परम्परा से आपूर्ण हैं। अतएव, हमें अपने हृद्गत तत्त्वों को उनके मौलिक रूप-रंग और भाव-गाम्भीर्य में स्थापित और प्रकट करने के लिए नये शब्द-संयोग बनाने या लाने पड़ते हैं। शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो, हमें नवीन वक्रोक्तियों और भंगिमाओं का सहारा लेना पड़ता है। साथ ही कल्पना-शक्ति भी नव-नवीन रूप-बिम्बों का विधान करती है, कि जिससे मनस्तत्त्व अपने मौलिक रूप-रंग में प्रकट हो सकें।

अभिव्यक्ति का संघर्ष दीर्घ होता है। कला का यह तीसरा क्षण दीर्घ है। उस संघर्ष में अभिव्यक्ति के स्तर तक आते-आते हमारे मनोमय तत्त्व-रूप बदलने लगते हैं। होता यह है कि उस संघर्ष के दौरान में भाषा के भीतर अवस्थित ज्ञान-परम्परा और भाव-परम्परा के फलस्वरूप जो पहले से शब्द-संयोग बने हुए हैं— अर्थात् उन शब्द-संयोगों के साथ अनिवार्य रूप से जुड़े हुए जो अर्थानुषंग हैं, उन अर्थानुषंगों के प्रभाव में आकर मनोमय रूप-तत्त्व, समशील-समरूप अर्थानुषंगों को आत्मसात् कर अपने को और पुष्ट करते हैं। फलतः, वे उस हद तक बदल भी जाते हैं। जब वे अपना ख़ास साइज़, अपनी ख़ास प्रकार की अभिव्यक्ति, पा लेते हैं, तब वे मनोमय तत्त्व-रूप पहले से बहुत कुछ बदले हुए होते हैं। सामाजिक सम्पदा होने के कारण भाषा मनोमय रूप-तत्त्वों को उनके प्रकट होने के दौरान में घटा-बढ़ा देती है, और अनजाने ढंग से उनसे नये तत्त्व-रूप मिला देती है। साथ ही, यह अभिव्यक्ति-संघर्ष भी भाषा को कुछ बदल देता है, उसे नवीन शब्द-संयोग, नवीन अर्थवत्ता, नयी भंगिमाएँ और व्यंजनाएँ देता है। इस प्रकार कलाकार भाषा का भी निर्माण करता है। अभिव्यक्ति समाप्त होते ही, उसके संघर्ष का अन्त होते ही, कला का तीसरा क्षण भी समाप्त होता है। कलाकृति सामने आ

जाती है। अब उसमें [सिवाय] केवल इधर-उधर कुछ शब्दों या स्वरों के फेरफार के,अर्थात् रि-टचिंग के, कुछ बाक़ी नहीं रह जाता।

यदि उपर्युक्त स्थापना सही है तो उससे कई निष्कर्ष निकलते हैं :

सृजन-प्रक्रिया के दौरान में काव्य के मनोमय तत्त्व और रूप स्थिर नहीं होते। वे मनोमय तत्त्व-रूप तब तक अपने को विकसित और संशोधित करते जाते हैं, अपने को पुष्ट और प्रकाशान्वित करते जाते हैं, जब तक कि अभिव्यक्ति में सम्पूर्णता आकर कला का तीसरा क्षण समाप्त न हो जाये। इसका अर्थ यह है कि जो महानुभाव आत्मोद्घाटन को ही काव्य का उद्देश्य समझते हैं, आत्म-प्रकटीकरण को प्रधान मानते हैं, वे सज्जन आत्म-प्रकटीकरण की प्रक्रिया ही हृदयंगम नहीं कर सके हैं। कवि अपने अन्तर में व्याप्त जीवन-जगत् को प्रकट करता है। वह किसी भावोद्देश्य को प्रकट करता है। किन्तु यह भावोद्देश्य निरा व्यक्तिगत नहीं होता। सच तो यह है कि मनुष्य जब काव्य में अपने-आपको प्रकट करता है, तब वह केवल आत्म-प्रस्थापना ही नहीं करता, वरन् वह आत्म-औचित्य की भी स्थापना करता है। आत्म-औचित्य की स्थापना के द्वारा ही वह आत्म-प्रस्थापना करता है। फलतः, इस औचित्य-स्थापना की भावना से प्रेरित होकर वह अपने भीतर जो कुछ उसका अपना विशिष्ट है उसे सामान्य में—उस सामान्य में जिसे वह सामान्य समझता है—इतना अधिक मिला देता है कि उस सामान्य के प्रवाह में बहकर उसका विशिष्ट आत्म-भाव बदल जाता है। और जब वह विशिष्ट सामान्य में घुल-मिलकर रूपान्तरित हो जाता है, तब कवि आह्लाद और प्रकाश का अनुभव करता है। और उसे लगता है कि उसका विशिष्ट, जो अब विशिष्ट रहा ही नहीं, बहुत ही मार्मिक महत्त्व-प्रकाश विकीरित कर रहा है। यह सामान्य क्या है ? वे जीवन-मूल्य हैं, और वे जीवन-दृष्टियाँ हैं, जो कवि ने अपने विस्तृत जीवन में पायीं। दूसरे शब्दों में, उसके अन्तर में व्याप्त ये जीवन-मूल्य और जीवन-दृष्टियाँ बाह्य जीवन-जगत् का ही मनोवैज्ञानिक रूप हैं।

सृजन-प्रक्रिया के दौरान में एक विलक्षण बात प्रस्तुत होती है। एक तो यह कि विशिष्ट जब सामान्य में घुलता है, तब उस विशिष्ट के कारण कवि की आत्म-बद्ध दशा का जो संवेदनात्मक पुंज है वह तो स्थायी रहता है, किन्तु उस बद्धता के घेरे की दीवारें नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार कवि-मन संवेदनात्मक पुंज धारण करते हुए भी—जो पुंज उसकी आत्मबद्ध स्थिति में उद्बुद्ध हुए थे—सामान्य भूमि पर आकर जीवन-मूल्यों और जीवन-दृष्टियों से समन्वित होने से, अपने को उन संवेदना-पुंजों से ऊपर उठा हुआ अर्थात् तटस्थ महसूस करता है; साथ ही, वे संवेदना-पुंज जीवन-मूल्यों और जीवन-दृष्टियों तथा अनुभवों से मिलकर अपने को व्यापक महत्त्व और प्रकाश से युक्त कर लेते हैं। अतएव उन संवेदना-पुंजों में दर्शक-मन को एक अद्वितीय आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार दर्शक-मन अपने को एकदम तटस्थ, तो, दूसरी ओर, एकदम रसमग्न अनुभव करता है। विशिष्ट को सामान्य करने के हेतु कवि-मन वेदनात्मक उद्देश्य से प्रेरित होकर निरन्तर

भाव-संशोधन और भाव-सम्पादन करता रहता है। यह कवि की आन्तरिक क्रिया का एक अंग है। कविता एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है।

सृजन-प्रक्रिया के अन्तर्गत विशिष्ट को सामान्य बनाने की यह क्रिया तभी से शुरू हो जाती है जब कवि कला के प्रथम क्षण में अन्तर-नेत्रों से इस तत्त्व को देखने लगता है, कि जो तत्त्व उसकी आँखों के सामने तरंगायित और उद्घाटित हो उठा है। आगे चलकर समरूप अनुभवों से मिलाते हुए वह मनोमय तत्त्व, जब जीवन-मूल्यों और जीवन-दृष्टियों से अपना संगम करता है, तब वह और भी सामान्य हो उठता है। प्रश्न यह उठता है कि वे जीवन-मूल्य और जीवन-दृष्टियाँ किसकी हैं ? यह प्रश्न स्वाभाविक है। यह प्रश्न हमें समाजशास्त्रीय आलोचना की ओर ले जाता है। आगे चलकर जब कवि अपने मनोमय तत्त्व-रूप को बाह्य-अभिव्यक्ति के साँचे में ढालने लगता है, या जब वह बाह्य-अभिव्यक्ति को अन्तर-अभिव्यक्ति (मनोमय तत्त्वात्मक रूप) के साइज़ की काट की रंग की बनाने लगता है, तब उसकी आँखों के सामने सौन्दर्य-प्रतिमान किस सौन्दर्याभिरुचि ने, अर्थात् किस वर्ग की सौन्दर्याभिरुचि ने, उत्पन्न किया है, यह प्रश्न स्वाभाविक हो उठता है। सौन्दर्याभिरुचि यदि मात्र व्यक्तिजन्य होती तो बात अलग थी। किन्तु सौन्दर्याभिरुचि का वह फ़्रेम मात्र व्यक्तिजन्य नहीं है। अतएव यह प्रश्न बिलकुल स्वाभाविक है कि उस बीते सौन्दर्याभिरुचि के फ़्रेम का विकास [किसने] किया, क्यों किया, उसका औचित्य क्या है, उसकी सीमाएँ क्या हैं, आदि-आदि।

ध्यान रहे कि सौन्दर्याभिरुचि अपनी रक्षा के सेंसर्स का भी विकास करती है। प्रश्न यह है कि सेंसर्स किन मनस्तत्त्वों के विरुद्ध हैं, क्या हैं, क्या इसका विश्लेषण आवश्यक नहीं है ? उदाहरण के लिए, आज की 'नयी कविता' में कर्कश विद्रोह-स्वर, अथवा गली-कूचों की धूल और मिट्टी की बदरंग तसवीर, अथवा क्रान्तिकारी चण्डता सौन्दर्यात्मक नहीं समझी जाती। भद्रवर्ग की बैठकों में सुनायी गयी ऐसी कविताओं के प्रति प्रतिष्ठित महारथियों ने अविश्वास, अरुचि और वैराग्य ही प्रकट किया। उन्होंने बार-बार यह कहा कि उन्हें प्रतीत नहीं होता कि वह चण्ड स्वर वस्तुतः आत्मानुभूति है। अर्थात्, उन्होंने उस पर अविश्वास किया। दूसरे शब्दों में, 'नयी कविता' खास काट की, खास शैली की, होने के अलावा, कुछ विशेष विषयों और मनस्तत्त्वों तक ही सीमित रहनी चाहिए। स्पष्ट है कि उनकी सौन्दर्याभिरुचि एक विशेष वर्ग की है, कि जिस विशेष वर्ग ने विशेष स्थिति में ही, उस विशेष सौन्दर्याभिरुचि को अंगीकार किया है। उस अभिरुचि के अन्तर्गत सेंसर्स काफ़ी सक्रिय हैं। उस उच्च-मध्यवर्गीय सौन्दर्याभिरुचि के अधीन हो, निम्न-मध्यवर्गीय कविजन जाने-अनजाने (उस फ़्रेम के कारण) सेंसर्स लगाते रहते हैं, और इस प्रकार अपने स्वयं के मानव-स्पन्दन और मर्मानुभव [सीमित] करते रहते हैं। निस्सन्देह, सौन्दर्याभिरुचि और उसके अधीनस्थ सेंसर्स के विश्लेषण के सिलसिले में हमें उस सौन्दर्याभिरुचि और सेंसर्स की सामान्य भूमि अर्थात् वर्गीय भूमि तक पहुँचना ही पड़ता है।

सच तो यह है कि काव्य की विशिष्ट और सामान्य भूमियों को पूर्णतः समझने का अभी प्रयास नहीं किया गया है, अथवा इन प्रयासों में सर्वांगीण पूर्णता नहीं आ पायी है। जो हो, यह सही है कि कविता में कवि का आत्मोद्घाटन उतना विश्वसनीय नहीं है, जितनी कि उसकी सामान्य भूमि।

सृजन-प्रक्रिया के उपर्युक्त विश्लेषण से जो दूसरा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है, वह यह कि यदि कलाकार के तीनों क्षण पूर्ण न हुए, या उनमें शिथिलता आयी, तो कविता सुन्दर नहीं होगी, उसके तत्त्वों में निखार नहीं आयेगा। जो कविताएँ वस्तुतः दुर्बोध हो जाती हैं, उन कविताओं में मन रस-मग्नता के साथ-ही-साथ पर्यवलोकनपूर्ण तटस्थता का निर्वाह नहीं कर पाता। तटस्थता के पूर्ण-निर्वाह के अभाव का प्रमुख कारण यह है कि वह अपनी वेदनाओं को, जीवन-मूल्यों और जीवन-दृष्टियों के प्रकाश में नहीं देख रहा है, कि वह अभी भी व्यक्तिवद्ध है, आत्म-बद्ध है। वे दृष्टियाँ और वे मूल्य उसके संवेदनानुभूति-तत्त्वों का अंग नहीं बनी हैं, उनका सायुज्यीकरण नहीं हुआ है। मैं कला के दूसरे क्षण की बात कर चुका हूँ। फलतः, कवि अपने आत्मबद्ध भाव को तो देख पाता है, किन्तु वह पूर्वगत अनुभवों से प्रकाशित और जीवन-मूल्यों से समन्वित करनेवाली जीवन-दृष्टि से एकात्म नहीं हो पा रहा है। इस सामान्य भूमि पर खड़े होकर ही वह तटस्थ हो सकता है। जब तक उसकी वेदना व्यापक मार्मिक अर्थ नहीं देती, तब तक कला का दूसरा क्षण सम्पन्न ही नहीं हो सकता।

संक्षेप में, वह उस सामान्य भूमि को और अपनी विशिष्ट अनुभूति को समन्वित और एकात्म नहीं कर पाता। फलतः, वह मात्र आत्मग्रस्त होकर रह जाता है। इसके विपरीत, जिन कवियों के पास अपना संवेदन शिथिल है, वे शीघ्र ही तटस्थ हो जाते हैं, अपने से बहुत जल्दी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु मनोमय तत्त्व में आनन्द प्राप्त होने की दशा क्षीण होने के कारण वे उस मनोमय तत्त्व के संवेदना-पुंजों को ही ग्रहण नहीं कर पाते। फलतः, उनकी कविता रिक्त रह जाती है, शुष्क हो जाती है। मनोमय तत्त्व के संवेदना-पुंजों को प्राप्त करना कवि का आद्य-प्राथमिक कर्तव्य है। वे उसे ही भूल जाते हैं। सच तो यह है कि कवि सृजन-प्रक्रिया के दौरान में निराला जीवन जीता है। उसे उस जीवन को ईमानदारी से, आग्रह-पूर्वक, ध्यानलीन होकर जीना चाहिए। नहीं तो बीच-बीच में साँस उखड़ जायेगी, और उसके फलस्वरूप काव्य में खोट पैदा होगी।

सृजन-प्रक्रिया के उपर्युक्त विश्लेषण से एक तीसरा निष्कर्ष निकलता है। यह कि यदि कवि की संवेदन-क्षमता, कल्पना की संश्लेषण-शक्ति और बुद्धि की विश्लेषण-शक्ति, इन तीनों में से कोई भी बात कमज़ोर हुई तो मनोमय तत्त्व-रूप अपनी सही-सही ऊँचाई को प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसके साथ अभिव्यक्ति-सामर्थ्य को भी जोड़िये।

अभिव्यक्ति-सम्पदा-प्राप्ति के लिए निरन्तर संघर्ष आवश्यक है। वह प्रयत्न-साध्य है। अभ्यासवश है।

हमारे जन्म-काल से ही शुरू होनेवाला हमारा जो जीवन है, वह बाह्य जीवन-जगत् के आभ्यन्तरीकरण द्वारा ही सम्पन्न और विकसित होता है। यदि वह आभ्यन्तरीकरण न हो, तो हम अन्ध-कृमि—पानी का जीव, हाइड्रा—बन जायें। हमारी भाव-सम्पदा, ज्ञान-सम्पदा, अनुभव-समृद्धि तो उस अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था ही का अभिन्न अंग है, कि जो अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था हमने बाह्य जीवन-जगत् के आभ्यन्तरीकरण से प्राप्त की है। हम मरते दम तक वाह्य जीवन-जगत् का आभ्यन्तरीकरण करते जाते हैं। किन्तु बातचीत, बहस, लेखन, भाषण, साहित्य और काव्य द्वारा हम निरन्तर स्वयं का वाह्यीकरण करते जाते हैं। बाह्य का आभ्यन्तरीकरण और आभ्यन्तरीकृत का बाह्यीकरण एक निरन्तर चक्र है। यह आभ्यन्तरीकरण मात्र मनन-जन्य नहीं, वरन् कर्म-जन्य भी है। जो हो, कला अभ्यन्तर के वाह्यीकरण का एक रूप है।

वातचीत, बहस भाषण, लेखन, चित्रकला, काव्य-साहित्य, आदि द्वारा हम वाह्य जीवन-जगत् के साथ या तो सामंजस्य उत्पन्न करते हैं, या उस सामंजस्य के अनुकूल प्रस्तुत होते हैं। अथवा उसके साथ हम द्वन्द्व में उपस्थित होते हैं। काव्य भी या तो वाह्य जीवन-जगत् के साथ सामंजस्य में, या उसके अनुकूल, उपस्थित होता है; अथवा उसके साथ द्वन्द्व-रूप में प्रस्तुत होता है। अथवा काव्य-प्रवृत्ति (बातचीत, भाषण, लेखन के समान ही) एक स्तर या क्षेत्र में सामंजस्य और दूसरे स्तर या क्षेत्र में द्वन्द्व को लेकर प्रस्तुत होती है। संक्षेप में, अभ्यन्तर का बाह्यीकरण सामंजस्य या द्वन्द्व अथवा दोनों के मिश्र-रूप में उपस्थित होता है। कला इस नियम का अपवाद नहीं है, नहीं है।

आज की कविता में उक्त सामंजस्य से अधिक द्वन्द्व ही है। इसलिए उसके भीतर तनाव या घिराव का वातावरण है। आज का पद्याभास गद्य जो बात, मुख्यतः, व्यक्त करता है, वह यह कि इस द्वन्द्व में, इस घिराव में, सुमधुर लयात्मक किन्तु गणित-यन्त्रीय छन्दों का स्थान नहीं। संक्षेप में, इस पार्श्वभूमि को देखकर ही वर्तमान कविता की विवेचना होनी चाहिये।

किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि हम इस द्वन्द्व को पूर्णतः समझें और तदनुसार अनुभव-समृद्धि बढ़ायें। मेरा अपना मत है कि हमारी साहित्य-चिन्ता या कलात्मक सृष्टि का विकास तभी होगा, जब हम वास्तविक जीवन में व्यापक तथा विविध जीवनानुभवों से सम्पन्न होंगे, तथा हम विक्षुब्ध उत्पीड़ित मानवता के (वायवीय नहीं मूर्त) आदर्शों से एकात्म होंगे। इसके बिना तत्त्व-समृद्धि और तत्त्व-परिष्कार की समस्या अधूरी ही रह जायगी। लेकिन पता नहीं क्यों, मुझे यह विश्वास है कि नयी काव्य-प्रवृत्तियाँ, चाहे वे गीत-रूप में ही क्यों न आयें, उक्त कार्य कर सकेंगी। वास्तविक जीवन-जगत् के मार्मिक पक्षों को प्रकट करने के लिए, दूसरे शब्दों में, हमारे अभ्यन्तर में व्याप्त वास्तविक जीवन-जगत् के मार्मिक पक्षों की अभिव्यक्ति के लिए, हमें कुछ खतरों से सावधान रहना होगा।

उनमें से एक खतरा है जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि का। नयी काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र

के कुछ महान् व्यक्ति, अपनी वर्गीय अभिव्यक्ति के फलस्वरूप, सौन्दर्य का जो प्रतिमान हमारे सामने रखते हैं, उसमें जब तक व्यापक संशोधन नहीं होता, तब तक हम अपने ही जीवन्त अनुभवों का मूर्त और प्रभावशाली चित्र उपस्थित नहीं कर सकते। स्थित्यात्मक व्यक्तित्व, जो एक 'बन्द सन्दूक' (क्लोज़्ड सिस्टम) बनता है ('तुम नहीं व्याप सकते, तुम में जो व्यापा है उसी को निबाहो'), जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि को प्रस्तुत कर रहा है। इस तरह की जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि के फलस्वरूप ही कुछ साहित्यिक समाजशास्त्री अपने ढर्रे के बाहर के क्षेत्र में उपस्थित नयी काव्य-समृद्धि में विद्रूपता के अतिरिक्त कुछ नहीं देखते। यदि हमें वैविध्यपूर्ण, पर स्पष्ट, द्वन्द्वमय मानव-जीवन के (अपने अन्तर में व्याप्त) मार्मिक पक्षों का वास्तविक प्रभावशाली चित्रण करना है, तो हमें जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि और उसके सेंसर्स त्यागने होंगे, तथा अनवरत रूप से अपने ढाँचों और फ़्रेमों में संशोधन करते रहना होगा। मनुष्य-जीवन का कोई अंग ऐसा नहीं है जो साहित्याभिव्यक्ति के अनुपयुक्त हो। जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि एक विशेष शैली [को] दूसरी शैली के विरुद्ध स्थापित करती है। गीत का नयी कविता से कोई विरोध नहीं है, न नयी कविता को उसके विरुद्ध अपने को प्रतिष्ठापित करना चाहिये। आवश्यकता इस बात की है कि गीत में नये तत्त्व आयें, न कि गीत-शैली की धारा की समाप्ति हो। किन्तु जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि ज़बर्दस्ती का विरोध पैदा करा देगी। वह स्वयं अपनी धारा का विकास भी कुण्ठित करेगी, साथ ही पूरे साहित्य का भी। नयी कविता के विभिन्न कवियों की अपनी-अपनी विशेष शैलियाँ हैं। इन शैलियों का विकास अनवरत है। आगे चलकर जब वे प्रौढ़तर होंगी, नयी कविता विशेष रूप से ज्योतिर्मान होकर सामने आयेगी। महत्त्व की बात है कि नयी कविता में स्वयं कई भाव-धाराएँ हैं, एक भाव-धारा नहीं।

इनमें से एक भाव-धारा में प्रगतिशील तत्त्व पर्याप्त हैं। उनकी समीक्षा होना बहुत-बहुत आवश्यक है। मेरा अपना मत है कि आगे चलकर नयी कविता में प्रगतिशील तत्त्व अधिकाधिक बढ़ते जायेंगे और वह उत्पीड़ित मानवता के समीपतर आयेगी।

[कालिदास, (उज्जैन), के दिसम्बर 1961 और जनवरी 1962 के अंकों में दो किस्तों में प्रकाशित]

वस्तु और रूप : दो

काव्य के 'वस्तु और रूप' के सम्बन्ध में सोचते हुए, मैं किन्हीं विशेष बातों पर रुक जाता हूँ। 'वस्तु' का क्या अर्थ है? क्या 'वस्तु' से हमारा अभिप्राय काव्य-विषय से है? किन्तु, विषय स्वयं अपने-आपमें काव्य का विषय नहीं होता। उदाहरण के लिए, तुलसी का मानस, और वाल्मीकि की रामायण, दोनों का विषय एक होते हुए भी, मेरे खयाल से, दोनों के काव्यगत वस्तु-तत्त्व अलग-अलग हैं। उषाकाल पर लिखी हुई दो कविताओं के वस्तु-तत्त्व अलग-अलग हो सकते हैं, होते हैं। सच तो यह है कि काव्य का वस्तु-तत्त्व वह मनस्तत्त्व है जो कि कलाभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठा है। हाँ, यह सही है कि इस मनस्तत्त्व का आधार-कारण कवि की प्रकृति और जीवन-जगत् इन दोनों की परस्पर-प्रतिक्रिया के गुम्फों से तैयार हुआ है। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि कलात्मक अभिव्यक्ति भी कवि-प्रकृति और बाह्य जगत् के द्वन्द्वों का ही, किसी एक उच्च मनोवैज्ञानिक स्तर पर आविर्भूत, रूप है। इससे अधिक कुछ नहीं। किन्तु यह द्वन्द्वात्मक विश्लेषण आवश्यक है। कुछ भाववादी आलोचक-विचारकगण अपने अध्यात्मवाद अथवा आत्म-स्वातन्त्र्यवाद को सिद्ध करने के फेर में, कला की 'वस्तु' की 'मात्र-आध्यात्मिक' अथवा 'मात्र-मनोवैज्ञानिक' व्याख्या करते हैं। इस प्रकार की व्याख्या उनके दृष्टिकोण की औचित्य-सिद्धि के लिए बहुत आवश्यक होती है।

संक्षेप में, काव्य का विषय और काव्य की वस्तु—इन दोनों में बहुत भेद है। 'विषय' शब्द का अर्थ व्यापक है, 'वस्तु' का संकुचित। उपर्युक्त बात को सिद्ध करने के लिए अनेकानेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

काव्य की वस्तु, अर्थात् मनस्तत्त्व (जिसके भीतर बाह्य जीवन-जगत् के बिम्ब और अन्तर की प्रतिक्रियाएँ, दोनों का समावेश होता है) कवि-मन के भीतर की अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था का ही एक भाग होते हैं। ये अन्तर्तत्त्व बाह्य जीवन-जगत् के आभ्यन्तरीकरण का जो सिलसिला बचपन से चालू होता है उसी के विकसित रूप में उपस्थित होते हैं। निःसन्देह, क्रियावान संवेदनशील मन, अपनी वृत्तियों के अनुसार, उनका सम्पादन-संशोधन करता है। महत्त्व की [बात] केवल इतनी ही है : (1) ये अन्तर्तत्त्व बाह्य जीवन-जगत् के संशोधित-सम्पादित तत्त्व होते हैं। समाज के परम्परागत अर्जित ज्ञान के अतिरिक्त वे उन तत्त्वों को भी आत्मसात कर लेते हैं जो हमारे समाज की अच्छी या बुरी प्रवृत्तियाँ समझी जाती हैं। (2) मन की क्रिया का अधिष्ठान प्राणिशास्त्रीय होते हुए भी, मन की क्रिया उसकी वृत्तियों और इच्छाओं (तथा प्रयत्नों) में प्रकट होती है। ये वृत्तियाँ और इच्छाएँ बाह्य-जीवन-जगत् से इतनी अधिक प्रभावित, संस्कारित और सीमित होती हैं कि 'आत्म-स्वातन्त्र्यवाद' का सहारा लेना ग़लत सिद्ध होता है।

जो यह कहना चाहते हैं कि बाह्य जीवन-जगत् के सन्दर्भ से यदि हमने अन्तः-

तत्त्वों की व्याख्या की तो हमें मन के स्वरूप को पैसिव—निष्क्रिय—मानना पड़ेगा, तो उन्हें मेरा उत्तर यह है कि मन की क्रिया का जो गति-पक्ष है वह तो स्वतन्त्र है, किन्तु उसके भीतर के जो तत्त्व हैं, [वे] वाह्याधारित हैं, वाह्य-निर्मित हैं। मन प्रवहमान है—मरते दम तक। किन्तु वे तत्त्व जिन पर वह प्रतिक्रिया करता है, और उस प्रतिक्रिया के तत्त्व जो उसकी क्रिया का ही एक अंग हैं, जीवन-जगत् द्वारा निर्धारित हैं और स्वयं द्वारा संशोधित हैं, किन्तु वे स्वयं द्वारा निर्मित नहीं हैं। मन की गति तो केवल उसकी ऊर्जा है। आत्म-स्वातन्त्र्यवाद में जिस स्वतन्त्र क्रिया की वात कही जाती है, उस 'स्वतन्त्र क्रिया' की कल्पना के भीतर वे मानसिक तत्त्व और मानसिक गति इन दोनों का समावेश करते हैं। यह निराधार है।

यह तो सही है कि मन का मूलाधार प्राणिशास्त्रीय है। और इसलिए, उसकी मूल वृत्तियाँ—जैसे भोजन, प्रजनन, आत्मरक्षा, इत्यादि—उसे अन्य प्राणियों से मिला देती हैं। ये वृत्तियाँ देह-जन्य हैं, जो मन की ऊर्जा में परिणत होती हैं। मानव-स्तर पर आकर ऊर्जा वाह्य जीवन-जगत् के तत्त्वों को आत्मसात् करके उन्हें ज्ञान-तत्त्वों में ढाल देती है। ये ज्ञान-तत्त्व हज़ारों वर्षों से चली आती हुई ज्ञान-परम्परा की समृद्धि के ही विम्व होते हैं। मन जव किसी वात पर प्रतिक्रिया करता है, तो उसके संवेदनात्मक या भावनात्मक पक्ष में ज्ञान-पक्ष भी होता है। हो सकता है वह मिथ्या ज्ञान है, फिर भी वह वोध-पक्ष है। मन की जो ऊर्जा है, वह वाह्य जीवन-जगत् को आत्मसात् करके ही प्रतिक्रिया कर सकती है, अन्यथा नहीं। संक्षेप में, (1) अन्तर्तत्त्व संशोधित-सम्पादित-आत्मसात्कृत वाह्य जीवन-जगत् ही हैं; (2) मन का स्वातन्त्र्य सापेक्ष है; (3) मन की ऊर्जा में ही उसकी स्वतन्त्रता है, किन्तु वह ऊर्जा भी देह-स्थिति और वातावरण से नियन्त्रित है।

यदि उपर्युक्त वातें सही हैं, [तो] इसके दो निष्कर्ष निकलते हैं। एक तो यह है कि मनस्तत्त्वों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या वहाँ तक सही हो सकती है जहाँ तक वह वर्णनात्मक और विवेचनात्मक है। किन्तु जहाँ वह मात्र मनोवैज्ञानिक आधार पर ही जीवन-जगत्-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान का प्रासाद खड़ा करती है, वहाँ वह ग़लत हो उठती है। पूंजीवादी युग में, केवल मन की अध्यात्मवादी कल्पना को लेकर, (जिसे वे 'चेतना' कहते हैं—शब्दावली अलग-अलग है) अथवा केवल फ़िज़िक्स के सहारे, या केवल वायलॉजी या प्राणिशस्त्र को लेकर, जीवन-जगत्-सम्बन्धी दृष्टि-कोण का विकास किया गया है। (स्पेंगलर ने इसी प्राणिशास्त्र की कल्पना, 'मानव-सभ्यता', को एक ऑर्गेनिज़्म कहा है)। वर्गसों का elan vital प्राणिशास्त्र की कल्पना पर ही आधारित है। हमारे वहुत-से भाईवन्द आज भी कला की भी केवल मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए आध्यात्मिक कल्पना पर आते हैं, अथवा आध्यात्मिक कल्पना के आधार पर खड़े होकर कला की व्याख्या करते हैं। इसकी प्रतिक्रिया से ही मानो कला की व्याख्या प्राणिशास्त्रीय भी की जाती है। ये व्याख्याएँ केवल एकपक्षीय ही नहीं, वरन ग़लत भी हैं, क्योंकि यहाँ उत्साहियों ने अपने प्रिय

विज्ञान के क्षेत्र का ऐसा अतिक्रमण किया है जो क्षम्य नहीं कहा जा सकता।

मन, आरम्भ-काल से ही, जीवन-जगत् से प्रतिक्रिया करते हुए अपना विकास करता है। यद्यपि प्राणिशास्त्रीय आधार पर उत्थित ऊर्जा मन की अपनी है, किन्तु आत्मसात्कृत जीवन-जगत्, अर्थात् संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन, के मूर्त तत्त्व जीवन-जगत् के ही होते हैं। यह जीवन-जगत् समाज और वर्ग और परिवार के भीतर पायी जानेवाली मानव-स्थिति और मानव-सम्बन्धों और मानव-प्रयत्नों द्वारा अर्जित परम्परागत ज्ञान या मिथ्या ज्ञान से बना हुआ होता है। मन के तत्त्व जीवन-जगत् के दिये हुए तत्त्व हैं।

अतएव, मनुष्य की समाजशास्त्रीय व्याख्या और मनोवैज्ञानिक व्याख्या को एक-दूसरे से अलग करना सुविधाजनक भले ही हो, इन दोनों की सीमाएँ जान लेना आवश्यक है। इस सीमा-बोध के अभाव ने ही कला की व्याख्या को यदि एक ओर यान्त्रिक समाजशास्त्रीय बना दिया है, तो दूसरी ओर उसे विशुद्ध मनोविज्ञान का या अध्यात्मवाद का अंग मान लिया गया है।

कला के मनस्तत्त्व अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था का ही एक भाग हैं। यह अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था आत्मसात्कृत जीवन-जगत् ही है। अतएव, कला के मनस्तत्त्व भी आत्मसात्कृत जीवन-जगत् का अंग हैं। आत्मसात्कृत जीवन-जगत् [और] बाह्य जीवन-जगत् में हमेशा द्वन्द्व होता है, फिर सामंजस्य होता है, फिर द्वन्द्व होता है। आत्मसात्कृत जीवन-जगत् मन की विकासमान स्थिति का द्योतक है। बाह्य जीवन-जगत् मानव-सम्बन्धों की अपनी विकासमान विशेष स्थितियों के विशेष स्तर को उपस्थित करता है। परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करनेवाले इन दोनों केन्द्रों में आधार-भूत परस्पर-सामंजस्य है, साथ ही द्वन्द्व भी है। ये दोनों एक-दूसरे को संशोधित-परिवर्धित-परिवर्तित करते रहते हैं। इनका द्वन्द्व सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। सामंजस्य सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। यह विवेचन क्यों आवश्यक है, इसका उत्तर आगे मिलेगा।

बाह्य जीवन-जगत् के प्रत्याघात से विचलित होकर जब अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था का अंगभूत कोई मनस्तत्त्व, एक तीव्र लहर के रूप में उत्थित होकर, मन की आँखों के सामने तरंगायित और उद्घाटित और आलोकित होते हुए, अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठता है, तब वह कला के वस्तु-तत्त्व के रूप में प्रस्तुत हो जाता है। ध्यान रहे कि कला-वस्तु बनने के लिए मन की आँखों के सामने (1) तरंगायित, (2) उद्घाटित, (3) आलोकित, (4) अभिव्यक्ति के लिए आतुर, हो उठना नितान्त आवश्यक है।

तरंगायित होने का सम्बन्ध आवेग से है। उद्घाटित होने की अवस्था का सम्बन्ध बोध-पक्ष से है—ऐसे बोध-पक्ष से जो ज्ञानात्मक आधार पर स्थिर होकर व्यक्तिबद्धता की स्थिति से अनुभव-कर्ता को ऊँचा कर देता है। वस्तुतः, यहीं से रूप पक्ष भी आरम्भ हो जाता है। मनस्तत्त्व यहाँ रूप लेकर प्रस्तुत होता है। यह कला का प्रथम क्षण है। किन्तु यह रूप स्थिर नहीं है। कला का द्वितीय क्षण तब से

आरम्भ होता है, जब वह मनस्तत्त्व अन्य समशील मनस्तत्त्वों अथवा अनुभवों से मिल अधिक मूर्त, अधिक संश्लेषित तथा कल्पनालोकित हो जाता है। ऐसी स्थिति में, कला के प्रथम क्षण में उपस्थित रूप कुछ-न-कुछ बदल जाता है, उसमें व्यापक अर्थ आ जाता है, वह अधिक सामान्य हो जाता है, वह किसी व्यापक महत्त्व से भर उठता है। व्यक्तिबद्धता की स्थिति नष्ट होकर उस तत्त्व के व्यापक महत्त्व की अनुभूति होने लगती है। इस महत्त्वानुभूति के बोध के कारण अनुभव-कर्त्ता उसे शब्द-स्वर-रंग में अभिव्यक्त करने के लिए आतुर हो उठता है। यहाँ से कला का तीसरा क्षण आरम्भ होता है। जब वह उन रूपों या रूप-क्रम को अभिव्यक्त करने लगता है, तब वे रूप बहुत-कुछ बदल जाते हैं। परिणामतः, पूर्ण की हुई कविता, पूर्ण की हुई कलाकृति, अपनी पूर्वगत तत्त्वानुभूति की वास्तविकता से बहुत-कुछ भिन्न हो जाती है।

संक्षेप में, तत्त्व अपना रूप लेकर उपस्थित होता है। किन्तु न यह तत्त्व स्थिर है और न यह रूप। यह हृदय में समशील तत्त्वों और अनुभवों से संयुक्त होता हुआ व्यापक अर्थमत्ता से अपने को परिपूर्ण करता जाता है। उसके आंगिक अवयवों का विकास होता जाता है, व्यक्तिबद्धता की स्थिति हटती जाती है, और एक विशेष प्रकार की हार्दिक मुक्तावस्था बढ़ती जाती है। वह तत्त्व-समुदाय या रूप-समुच्चय जब शब्द-रंग-स्वराभिव्यक्ति के प्रयत्नों में लीन होता है, तब वह स्वयं भी बदलने लगता है।

शब्द, आदि सामाजिक परम्परा से उपलब्ध होते हैं। विभिन्न शब्द-संयोगों द्वारा मनस्तत्त्वानुकूल प्रभावों को संगठित करने की कोशिश की जाती है। कवि यह अनुभव करता है कि वह अपने अन्तरानुभूत तत्त्वों को प्रकट कर रहा है। होता यह है कि वह अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में उन तत्त्व-रूपों को अनजाने में बदलने लगता है। वस्तुतः, आत्मसात्कृत जीवन-जगत् कलात्मक आवेग में तरंगायित होकर कवि के हृदय में जब एक कलात्मक वेदना बन जाता है, तब वह अपने बाह्यीकरण के लिए छटपटाने लगता है। कलात्मक चेतना अन्तर्तत्त्वों की बाह्योन्मुख गति-धारा से बनी हुई है। जिस प्रकार हम जीवन में बाह्य जीवन-जगत् को अपने अभ्यन्तर में संशोधित-सम्पादित कर आत्मसात् करते जाते हैं, उसी तरह हम शब्दों द्वारा आत्मसात्कृत को बाह्यगत करते जाते हैं, चाहे ये शब्द साधारण बातचीत में प्रकट हों, भाषणों में, लेखों में प्रकट हों, अथवा छन्द-लय में उद्घाटित हों। बाह्य का आभ्यन्तरीकरण और आभ्यन्तरीकृत का बाह्यीकरण—यह एक चक्र है जो अविरत है।

बाह्य के आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया में बाह्य और अभ्यन्तर का सामंजस्य और द्वन्द्व छिपा हुआ है, उसी प्रकार अभ्यन्तर के बाह्यीकरण में भी सामंजस्य और द्वन्द्व सन्निहित है।

कलाकार, साधारणतः, जिन विषयों का कला के लिए चुनाव करता है, वह युगानुरूप ही होता है। यदि हम कलाकृतियों का ऐतिहासिक अध्ययन करें तो हम

पायेंगे कि विशेष युग में विशेष विषयों को लेकर ही कलाकृतियाँ सामने आयी हैं। जो वर्ग संस्कृति के क्षेत्र में सक्रिय है, वह अपने वर्ग-सम्बन्धों के भीतर उपस्थित मानव-सम्बन्धों को ध्यान में रख, अपनी विशेष स्थिति और अवस्था के अनुसार, अपनी विशेष प्रवृत्तियाँ प्रकट करता है। उदाहरणतः, हिन्दी साहित्य के सामन्ती काल में वीर, शृंगार और अध्यात्म—ये तीन ही विषय आवृत्त और पुनरावृत्त होते [रहे]। आत्मासात्कृत जीवन-जगत् तो वैविध्यपूर्ण है। किन्तु क्या कारण है कि साहित्यिक प्रयास केवल वीर, शृंगार और अध्यात्म तक ही सीमित रहे? क्या कारण है कि आत्मसात्कृत जीवन-जगत् के वैविध्य की उपेक्षा की गयी? इसका क्या उत्तर है? क्या कारण है कि सांस्कृतिक क्षेत्र में सक्रिय वर्ग—चाहे वह निम्न वर्ग से उठे हुए कबीर [हों,] या शासक सामन्ती वर्ग से उठे हुए रहीम—शृंगार और अध्यात्म को ही प्रधानता देते रहे? इस प्रश्न को यह कहकर टरका दिया जाता है कि उन दिनों आत्म-चेतना विकसित नहीं हुई थी। किन्तु अन्तश्चेतना के विकास के मानी भी क्या हैं?

स्पष्ट है कि बाह्य जीवन-जगत् को संशोधित-सम्पादित करते हुए जो आत्मसात्कृत जीवन-जगत् हृदय में उपलब्ध होता है, उस आत्मसात्कृत जीवन-जगत् के केवल वे ही अंग प्रकाश में लाये जाते हैं, अर्थात् कलात्मक रूप से बाह्यीकृत किये जाते हैं, कि जिन अंगों का समाज में कोई मूल्य हो, कोई स्थान हो, अथवा मूल्य हो सकने की सम्भावना हो, स्थान पा सकने की सम्भावना हो।

महत्त्व की बात यह है कि समाज के भीतर मानव-सम्बन्धों की जो अवस्था है, वह अवस्था अर्जित ज्ञान-परम्परा या भाव-परम्परा में ही अपने-आपको उद्‌बुद्ध और सचेत पाती है। मध्ययुग में निम्न वर्ग से आये सन्त और कवि इस अर्जित ज्ञान-परम्परा या भाव-परम्परा में ही कुछ फेरफार करके अपने को उद्‌बुद्ध और सचेत पाते हैं। इस अर्जित ज्ञान-परम्परा या भाव-परम्परा के ही कुछ तत्त्वों को (भक्ति-तत्त्व को) अपने लिए उपयुक्त समझ, उसके आधार पर अपनी स्थिति संगठित करते हैं। और फिर इन तत्त्वों के अनुसार जो बातें समाज में नहीं हैं या उसके बिलकुल विरुद्ध जाती हैं, उनका खण्डन करते हैं, अथवा ऐसी जीवन-पद्धति या भाव-पद्धति का निर्माण करते हैं जिनसे वे प्रतिकूल बातें खण्डित हों। इस प्रकार वे, एक ओर, समाज के साथ सामंजस्य, तो, दूसरी ओर, उसके साथ द्वन्द्व—इन दोनों का निर्माण करते हैं। समाज के साथ सामंजस्य और द्वन्द्व की यह युगपत् प्रक्रिया हमें भक्ति-आन्दोलन में परिलक्षित होती है। समाज के साथ सामंजस्य और द्वन्द्व एक साथ उपस्थित करनेवाले इस भक्ति-आन्दोलन की विशेषता दृष्टव्य है।

संक्षेप में, अर्जित ज्ञान-परम्परा या भाव-परम्परा के उन तत्त्वों को, जो आत्मसात्कृत जीवन-जगत् का ही अंग हैं, कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए चुना जाता है, जो बाह्य जगत् से या तो वर्तमान वास्तविकता के आधार पर अपने वर्ग से मनोवैज्ञानिक सामंजस्य स्थापित करें, अथवा किसी बृहत्तर अभिलषित

सामंजस्य के लिए द्वन्द्व स्थापित करें, अथवा सामंजस्य और द्वन्द्व दोनों को एक साथ लेकर चलें। कौन-सी बात द्वन्द्व स्थापित करेगी और कौन-से तत्त्व सामंजस्य स्थापित करेंगे, यह बात अपनी-अपनी श्रेणी की वास्तविक मनोवैज्ञानिक स्थिति पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में,उस श्रेणी के जीवन-मूल्यों पर अवलम्बित है। महत्त्व की बात यह है कि केवल उन अभ्यन्तर तत्त्वों को कलात्मक बाह्यीकरण के लिए आवश्यक समझा जाता है, जो उक्त सामंजस्य या द्वन्द्व के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हों या महत्त्वपूर्ण प्रतीत हों। कलाकार अन्तर में उत्थित उन तत्त्वों को ही प्रधानता देता है, जो उसे महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। यह महत्त्व-भावना केवल सब्जैक्टिव नहीं है। वह महत्त्व-भावना उस वर्ग की मनोवैज्ञानिक स्थिति के आधार पर खड़ी हुई मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के अनुसार बनती है। फलतः, अन्य अन्तर्तत्त्वों की कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। बाह्य जीवन-जगत् से प्राप्त जो जीवन-मूल्य उसने गृहीत, सम्पादित और संशोधित किये हैं, उनके अनुसार वह बनी हुई है। संक्षेप में, यह मूल्य-भावना अथवा महत्त्व-भावना केवल आत्म-सम्भूत नहीं है, वरन् वह बाह्य जीवन-जगत् के मूल्यों से समन्वित-संशोधित है।

अर्जित ज्ञान-परम्परा और भाव-परम्परा के आधार पर ही सामन्त-काल में कलाकारों ने वीर, शृंगार और अध्यात्म-सम्बन्धी विषय लिये। सामन्ती समाज में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के मूल्यों का अभाव होने से, अन्य अन्तर्तत्त्वों की बाह्याभिव्यक्ति न हो सकी।

ब्रिटिश छत्र-छाया के अन्तर्गत पूंजीवादी आधुनिक युग का जो अभ्युत्थान हुआ, उसमें, एक ओर, व्यक्ति-स्वातन्त्र्यानुकूल व्यक्ति-निष्ठ भाव-धारा और राष्ट्रीय भाव-धारा का उत्थान हुआ। इन जीवन-मूल्यों के अनुसार, अर्जित ज्ञान-परम्परा और भाव-परम्परा का सम्पादन-संशोधन-संकलन और विकास किया गया। कलाकारों ने वे ही विषय चुने जो उनके युग-प्रवृत्तियों के अनुकूल हों। छायावाद का जन्म और विकास इन्हीं आग्रहों के उत्थान का रूप है।

छायावादी प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रगतिवाद का जो महान् आन्दोलन उठ खड़ा हुआ, वह एक विशेष काल में मध्यवर्ग की एक विशेष मनोवैज्ञानिक स्थिति का द्योतक है। हमारे राष्ट्रवाद ने राष्ट्रीय मुक्ति की जो कल्पना की थी उसका सार-तत्त्व प्रगतिवाद में पूर्ण रूप से स्फुट हुआ। प्रगतिवादी काव्य राष्ट्रीय काव्य है। राष्ट्रवादी आन्दोलन में बार-बार उठाये [गये] शोषण से सर्वांगीण मुक्ति के स्वप्न को वह तर्क-संगत निष्कर्षों तक ले गया। निराला और पन्त का इस आन्दोलन में आना या अन्यों का उसमें समीप रहना यही बताता है।

संक्षेप में, आत्मसात्कृत जीवन-जगत् के वे ही अंश कलाकार को अभिव्यक्ति के लिए बाध्य करते हैं, कि जो अंश समाज अथवा वर्ग की मनःस्थिति से उत्पन्न तथा उसके द्वारा प्रदत्त जीवन-मूल्यों से हृदय में उत्पन्न हुई महत्त्व-भावना द्वारा अभिव्यक्ति के लिए संकलित किये जाते हैं। कला के ऐतिहासिक अनुशीलन से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है।

संक्षेप में, आत्माभिव्यक्ति बाह्य जीवन-जगत् में प्रचलित जीवन-मूल्यों के आग्रहों से संचालित है। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि मन की स्वतन्त्रता, वस्तुतः, अत्यन्त सीमित और सापेक्ष है। यह कारण है कि अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था का बहुत थोड़ा अंश—अपने जीवनानुभवों, ज्ञान-संवेदनाओं और संवेदनात्मक ज्ञान का बहुत थोड़ा भाग—कला के वस्तु-तत्त्व के रूप में प्रकट और अभिव्यक्त होता है। बहुत-से महान् और महत्त्वपूर्ण अनुभव अप्रकट रह जाते हैं। इसका कारण ही यह है कि प्रकटीकरण के लिए अन्तर्तत्त्वों का संकलन करनेवाली जो महत्त्व-भावना है, वह बाह्य जीवन-जगत् के आत्मसात् किये हुए जीवन मूल्यों से बनी हुई है। यही कारण है कि युग-विशेष में कला के क्षेत्र में अभिव्यक्ति के लिए विशेष-विशेष विषय ही चुने जाते हैं। कलाकार यह सोचता है कि वह विषय के चुनाव में स्वतन्त्र है। सच तो यह है कि उसका यह स्वातन्त्र्य, उसके अनजाने ही, काट-तराशकर बहुत ही छोटा, सीमित और सापेक्ष कर दिया गया है। चूंकि उसकी तथाकथित स्वतन्त्रता को काटने-तराशनेवाली यह शक्ति, प्रच्छन्न और परोक्ष रहकर, अदृश्य रूप से उसके अन्तःकरण में प्रवेश कर, उसी के अन्तःकरण का भाग बनकर, काम करती है, इसलिए वह सोचता है कि वह स्वतन्त्र है।

कहने का सारांश यह है कि कला के वस्तु-तत्त्व वे अन्तर्तत्त्व हैं जो बाह्य जीवन-जगत् के आत्मसात् किये हुए जीवन-मूल्यों द्वारा संयुक्त होकर मन की आँखों के सामने आलोकित और तरंगायित हो उठते हैं, और जिनके बारे में यह प्रतीत होता रहता है कि वे अभिव्यक्ति के लिए, अर्थात् कलात्मक बाह्यीकरण के लिए, किसी-न-किसी प्रकार से महत्त्वपूर्ण हैं। इस महत्त्व-भावना के अभाव में कलाभि-व्यक्ति असम्भव है।

यह महत्त्व-भावना ही कलाभिव्यक्ति को वर्ग या समाज से सामंजस्य में स्थापित करती है, अथवा बृहत्तर सामंजस्य के लिए उसे द्वन्द्व रूप में उपस्थित करती है। कौन-सी रचना समाजशास्त्रीय दृष्टि से प्रगतिशील या अप्रगतिशील है, इसका विचार करने के लिए पहले यह प्रश्न पूछना होगा कि वह द्वन्द्व या सामंजस्य समाज या वर्ग की किस स्थिति, अवस्था या प्रवृत्ति के साथ है। यह प्रश्न पूर्णतः वैध है।

आलोचना रूप की भी होती है, तत्त्व की भी। जब तत्त्व की आलोचना की जाती है तब समाजशास्त्रीय प्रश्न दरकिनार रखना ग़लत है। हाँ, यह हो सकता है कि समाजशास्त्रीय विवेचनों में मतभेद हों। परन्तु इस प्रश्न को उड़ा देना अन्धता है।

हम कला के तीन क्षणों का उल्लेख कर चुके हैं। अभ्यन्तर में तत्त्व रूप के बिना प्रकट होना असम्भव है। रूप का अर्थ केवल चित्र ही नहीं, वरन् शब्द-रंग-स्वर-प्रवाह, इनमें से कुछ भी हो सकता है, अथवा उनका संयोग हो सकता है। मनस्तत्त्व का रूप—या तत्त्व स्वयं— निश्चल नहीं है। वह समशील अन्तर्तत्त्वों से संयोग करता हुआ रूप-विकास या रूप-संशोधन करता जाता है। सच तो यह है

कि उनका पल्लवन और विकसन होता जाता है। इस अन्तर-अभिव्यक्ति को जब बाह्य अभिव्यक्ति में बदला जाता है तब अन्तर-अभिव्यक्ति का रूप भी बहुत-कुछ परिवर्तित हो जाता है।

भाषा एक सामाजिक सम्पत्ति है। आत्मसात्कृत जीवन-जगत् के तत्त्व, जब इस सामाजिक माध्यम द्वारा प्रकट होने के लिए आतुर हो उठते हैं, तब उनके प्रयत्नों में दो विशेषताएँ दिखायी पड़ती हैं। एक तो यह कि मनस्तत्त्व अपनी अन्तर-अभिव्यक्ति को क़ायम रखने और उसी मौलिक रूप में प्रकट होने के लिए भाषा में विविध प्रकार के शब्द-संयोगों की रचना करते हैं। इस प्रकार वे भाषा पर अपना प्रभाव छोड़ जाते हैं। साथ ही भाषा की सामाजिकता के ढाँचे में अपने को फ़िट करने के लिए स्वयं ही अपने-आपको काटते-तराशते रहते हैं।

वस्तु और रूप : तीन

काव्य के 'वस्तु और रूप' के सम्बन्ध में सोचते हुए, मेरा मन किन्हीं बातों पर रुक जाता है। पहली बात तो यह कि क्या काव्य की वस्तु का मेरे हृदय से सीधा सम्बन्ध है? उत्तर है, 'हाँ'। किन्तु, जब मैं इस 'हाँ' की पड़ताल करने बैठता हूँ तो पता चलता है कि उस 'वस्तु' का जो व्यापक अभिप्राय है, उसे मैंने अनुभूत किया है, इसीलिए मैंने बड़ी मेहनत से उसे (उस वस्तु को) प्रस्तुत किया है। 'व्यापक अभिप्राय' से मेरा मतलब क्या है? इसका उत्तर देते हुए, असन्दिग्ध रूप से, मैं बाह्य जीवन-जगत् पर आ जाता हूँ। 'बाह्य' का अर्थ है, मुझसे बाह्य—मित्र, परिवार, परिवेश, साहित्य-जगत्, राजनैतिक क्षेत्र, आदि-आदि। हाँ, यह हो सकता है कि मेरी कविताएँ कोई न पढ़े, वे रद्दी की टोकरी में डाल दी जायें, मेरी मृत्यु के बाद वे जला दी जायें। फिर भी मैं उन्हें लिखता अवश्य हूँ। मेरा वातावरण, मेरा परिवेश, मुझे साहित्यिक कार्यों के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं देता। इसके विपरीत, वह मुझे परावृत्त करता है। फिर भी, मैं लिखता हूँ। दीर्घ कविताएँ लिखता हूँ। एक-एक कविता छह-छह महीना चलती है। सब कार्य उसके अधीन कर देता हूँ। क्यों लिखता हूँ?

यह एक विचित्र प्रश्न है, जो मैं स्वयं अपने-आपसे पूछता हूँ। एक ही उत्तर मिलता है मुझे। कोई समान-धर्मा पुरुष जरूर उन्हें पढ़ेगा, आज नहीं, मेरी मृत्यु के बाद सही! उसे अच्छी नहीं लगेंगी, वह आलोचना करेगा, किन्तु उसे उसके कुछ

हिस्से अवश्य पसन्द आयेंगे ! तो, उस समान-धर्मा के इन्तज़ार में—या यूँ कहिये कि आशा में—मेरे इस कमरे में कवि-कर्म चल रहा है ! उस समान-धर्मा का रूप मेरी आँखों के सामने अवश्य प्रस्तुत होता है। वह मुझसे अधिक बुद्धिमान, अधिक अनुभवी, अधिक उदार, अधिक सहृदय, अधिक मर्मज्ञ, अधिक मेधावी होगा। वह मेरे गुण-दोषों का विवेचन करेगा।

किन्तु, मैं इस प्रकार की कल्पना करके किन निष्कर्षों को छुपा रहा हूँ या प्रकट कर रहा हूँ ? उत्तर मिलता है : (1) यह युग उस पूँजीवाद का युग है, कि जो पूँजीवाद कविता का दुश्मन है। पूँजीवाद एक वार सुप्रतिष्ठित हो जाने पर सांस्कृतिक क्षेत्र में सबसे पहले कविता पर हमला करता है। कविता को समस्त भावावेशों से छिन्न कर, इस विशाल परस्पर-द्वन्द्वमय महान् गुणों से युक्त वैविध्य-पूर्ण जीवन-जगत् के सार्थक स्पन्दों से बहुत दूर हटाकर, यह युग उसे (कविता को) निष्प्राण अथवा क्षीण-छाया-समान बना देता है।

(2) सबसे पहले यह पूँजीवाद कवियों को वह विश्व-दृष्टि और विश्व-स्वप्न रखने ही नहीं देता, कि जो दृष्टि या जो स्वप्न जीवन-जगत् की व्याख्या और उसकी विकासमान प्रक्रिया के आभ्यन्तरीकरण से उत्पन्न होता है। कवि भले ही अपनी आस्था के तत्त्व गिनाये, सच तो यह है कि वह किसी वायवीय मानवता में ही वायवीय आस्था रखता है। यह आस्था प्रेरणाप्रद सिद्धान्त नहीं बन पाती। ऐसी आस्था किसी विशाल उद्देश्य और लक्ष्य की ओर जीवन-क्रिया को प्रवाहित नहीं करती। जीवन-जगत् में चलनेवाले प्रक्रिया-आवेगों में कवि आध्यात्मिक और क्रियात्मक रूप से भाग नहीं लेता, राजनैतिक और सामाजिक क्रिया-प्रवाहों की तो बात ही दूर रही। छायावाद के पास और कुछ न सही तो व्यापक आध्यात्मिक विश्व-स्वप्न था, साथ ही राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रेरणा थी। उसके पास अपना एक दर्शन था। स्वाधीनता की प्राप्ति के अनन्तर, पूँजीवाद के सम्पूर्ण प्रभुत्व के बाद, उसकी भावनाओं का भी दार्शनिक औचित्यीकरण था। वर्तमान प्रवृत्तियों के पास तो वह भी नहीं है। फलतः, आज की प्रवृत्तियाँ एकदम व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वादी हैं।

(3) लेकिन इन बातों से मेरा क्या सम्बन्ध है ? नहीं, मैं मानूँ या न मानूँ, सम्बन्ध तो है ही ! मैंने वस्तुतः तीन युग देखे हैं। छायावाद का पूर्ण प्रकाश मेरी आँखों के सामने हुआ। किन्तु मैं कभी छायावादी नहीं हो सका। उसके विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ ही हृदय में जमा होती गयीं। मैंने प्रगतिवाद का अभ्युत्थान देखा। अपने छोटे-से क्षेत्र में, छोटे-से गाँव शहर या क़स्बे में, भरसक कोशिश की कि उसका फैलाव हो। वह खूब फैला। किन्तु मेरी कविता प्रगतिवादी ढाँचे को नहीं अपना सकी। मैंने, व्यक्तिशः, इतरजनों में उसके प्रभाव का प्रसार किया। आज भी प्रगतिवादी कविताएँ हमारे निम्न-मध्यवर्ग में बहुत लोकप्रिय हैं। अगर भद्र साहित्य-क्षेत्र से वह प्रवृत्ति उठ गयी हो तो उठ जाय। किन्तु हमारे छोटे-छोटे शिक्षक, गाँव या शहर के पोस्ट-मास्टर, उत्सुक विद्यार्थी, यहाँ तक कि हमारे चाय-

घर में बैठनेवाले युवक, आदि-आदि लोग, उसे बेहद पसन्द करते हैं। मज़ा यह है कि मैं 'नयी कविता' भी उन्हें सुना जाता हूँ, बहुतों को वे पसन्द आती हैं।

यह कहना ग़लत है कि मेरी कविताएँ लोगों को समझ में नहीं आतीं। किन्तु, यह बात सत्य है कि वे प्रगतिवादी ढाँचे की नहीं हैं, न उनकी तत्त्व-व्यवस्था विशुद्ध सामाजिक-राजनैतिक है, यद्यपि ये सामाजिक-राजनैतिक तत्त्व, बेमालूम तरीक़े से, उनमें मिले हुए हैं।

सच तो यह है कि मैंने काव्य-जगत् के आत्मीय क्षेत्र में, प्रगतिवाद-विशिष्ट यान्त्रिक रूप से चलनेवाले राजनैतिक-सामाजिक विचार-भाव, यान्त्रिक ओज और यान्त्रिक छन्द अस्वीकार कर दिये। मुझे प्रतीत हुआ कि काव्य में मनुष्य की सामाजिक-राजनैतिक इयत्ता ही प्रकट नहीं होनी चाहिए (किन्तु उसको काटकर नहीं फेंका जा सकता, जैसा कि आजकल हो रहा है), किन्तु पूर्ण मनुष्य के दर्शन, मानव-जीवन के सभी पक्षों के दर्शन, होने चाहिए, स्पन्दनशील वैविध्यपूर्ण महान् गुणों से युक्त साहसिक मानव-जीवन की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। प्रगतिवादी एक-क्षेत्रीय था, यन्त्रवत् था, वह एक विशेष काल में मध्यवर्ग की एक विशेष मनो-वैज्ञानिक दशा का ही सूचक था। वह दशा समाप्त हुई, और वह धारा भी (धारा के रूप में) समाप्त हो गयी। किन्तु उसके द्वारा उठाये गये प्रश्न आज भी सुलझे नहीं। उसके लक्ष्य अभी भी पूरे नहीं हुए। संक्षेप में, मेरे अपने मानसिक क्षेत्र में छायावाद और तदनन्तर प्रगतिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ होती रहीं। मैं चुपचाप अपनी कविता का विकास करता रहा। विशेष प्रोत्साहन भी नहीं था।

स्वाधीनता-पूर्व के काल में जो 'नयी कविता' बढ़ी है, वह अलग ढंग से बढ़ी है। 'नयी कविता' के उत्थान या आरम्भ का श्रेय (स्वाधीनता-पूर्व के काल में) एक व्यक्ति को देना अनैतिहासिक होगा। हम लोग किसी के प्रभाव में नहीं थे, न हम किसी को प्रभावित कर रहे थे। स्वाधीनता-काल शुरू होते ही, साहित्यिक क्षेत्र में अवसरवाद की बाढ़ आ गयी। सरकारी नौकरियों में तो साहित्यकार पहुँचे ही, उन्होंने अपने को साहित्यिक क्षेत्र में आयी हुई नयी पीढ़ियों से पृथक् कर लिया। इस अवसरवाद की बाढ़ में प्रगतिवाद तो सूख ही गया, उसपर हमले भी शुरू हुए। उसका रहा-सहा प्रभाव ख़त्म करने की कोशिशें हुईं। 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवाद' चल पड़ा। उन्हीं दिनों, 'नयी कविता' का दूसरा उत्थान शुरू होता है।

छायावाद और प्रगतिवाद के बाद, कोई ऐसी व्यापक मानव-आस्था मैदान में नहीं आयी जो जीवन को विद्युन्मय कर दे। मेरा मतलब साहित्यिक मैदान से है। किन्तु जो लोग साहित्य नहीं पढ़ते, साहित्यिक क्षेत्र से छिन्न होकर साधारण जनता (वह उत्पीड़ित मध्यवर्गीय जनता ही क्यों न सही) से दूर नहीं हटे, उनके भाव और बुद्धि और आस्था स्थिर रही। ये लोग वायवीय आस्था में वायवीय तरीक़े से, अपनी सुविधानुसार, विश्वास या अविश्वास नहीं करते, वरन् मूर्त मानव-आस्था के मूल्यों के अनुसार कार्यों का संगठन करना चाहते हैं। अभी उनके

पास पत्र नहीं हैं, स्याही भी नहीं है, सम्भव है कि लेखनी भी छिन जाये। किन्तु, वे हैं, वे रहेंगे (भले ही उनका नाम न रहे), क्योंकि जनता रहेगी। उस जनता के जीवन-स्पन्दों को कोई नहीं मार सकता। संक्षेप में, हमें अन्त में जनता पर ही आना पड़ता है, क्योंकि वही हमें प्रहारों से बचाती है, हमें आश्रय देती है, और अपने तरीक़े से हमें जीवन-सुविधाएँ भी देती है। उसको छोड़कर हम कहाँ जायें! उसका अँधेरा विशाल है। किन्तु उसमें अग्नि है, उससे ऊष्मा मिलती है, प्रकाश भी। हमारे पास कोई न्यस्त स्वार्थ नहीं है। ज़्यादा-से-ज़्यादा तुम कविता नहीं छापोगे। मत छापो! तुम हमें प्राइमरी स्कूलों में, जनपद-भवनों में जाने से नहीं रोक सकते!

तो, मैं यह कहना चाहता था कि कला का संघर्ष, वस्तुतः, तत्त्व का, तत्त्व के एकत्रीकरण का, तत्त्व के परिष्कार का, तत्त्व के विकास का, संघर्ष है। जो लोग यह सोचते हैं कि 'तुम नहीं व्याप सकते, तुम में जो व्यापा है, उसी को निबाहो...' तो हम मनुष्य को बन्द सन्दूक, क्लोज़्ड सिस्टम, नहीं मानते। तुम कहते हो, 'दीठ से टोह कर नहीं, मन के उन्मेष से उसे जानो'। किन्तु हमारा ख़याल है कि दीठ से टोहना भी आवश्यक है। संक्षेप में, तत्त्व के विकास और परिष्कार के बिना हम अपना स्वयं का जीवन भी परिष्कृत नहीं कर सकते, जान नहीं सकते।

यह बिल्कुल सही है कि मनुष्य का जीवन जितना व्यापक, विविध-क्षेत्रीय होगा, तथा जीवन-जगत् की विभिन्न विकासमान प्रक्रियाओं में भाग लेता रहेगा, उतना ही वह समृद्ध होगा। सच तो यह है कि वस्तु के परिष्करण के लिए अनुभव-समृद्धि आवश्यक है। इस अनुभव-समृद्धि के बिना, तत्त्व हल्का रहेगा। साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब है। इसीलिए हमें सबसे पहले जीवन की चिन्ता होनी चाहिए। किन्तु मेरी इस भूमिका को लोग नहीं मानते। वे ऐसे मौक़े पर साहित्यशास्त्रीय ढंग से इस प्रश्न पर विचार करना चाहते हैं। मेरा ख़याल है कि साहित्य-चिन्ता और जीवन-चिन्ता में जीवन-चिन्ता का स्थान प्रथम और साहित्य-चिन्ता का स्थान द्वितीय है। 'जीवन-चिन्ता' में जीवन-जगत् आ गया। जो लेखक तत्त्व के विकास और परिष्कार की चिन्ता नहीं करता, वस्तुतः वह प्रतिक्रिया के हाथों में खेलता है। यही नहीं, वह यह सोचता है कि उसकी अपनी संवेदना, जो अभिव्यक्ति चाहती है, अभिव्यक्ति की आतुरता-मात्र के कारण बहुत सिगनीफ़िकेण्ट है, मार्मिक है। उसका औचित्य वह अपनी आतुर उद्विग्नता में खोजता है। निःसन्देह, अभिव्यक्ति-कार्य के औचित्य का यह आत्म-पक्ष है। किन्तु उसका एक वस्तु-पक्ष भी है, और वह यह कि कहाँ तक हमारी व्यंजना व्यापक अभिप्राय रखती है, और कहाँ तक वह मानव-जीवन के मार्मिक पक्षों का उद्घाटन और चित्रण करती है। किन्तु लेखक का इस वस्तु-पक्ष की ओर ध्यान नहीं जाता।

इसका एक अनिष्टकारी परिणाम होता है। वह यह कि व्यक्तित्व स्थित्यात्मक और जड़ीभूत हो जाता है। जीवन-जगत् के ज्ञानात्मक संवेदनों और संवेदनात्मक ज्ञान के प्रतिपल विकास का कार्य तो पीछे छूट जाता है, और मनुष्य अपने

में घिर जाता है। सच पूछा जाये तो आज की कविता की प्रच्छन्न-अर्ध-प्रच्छन्न आधार-भूमि यही घिराव, फैलाव और तनाव है। अगर तनाव रहे तो कोई बात नहीं। तनाव केवल घिराव से ही उत्पन्न नहीं होता। वह तो सचेत और जागरूक द्वन्द्व-संघर्ष से भी उत्पन्न हो सकता है। लेकिन मुश्किल यह है कि यदि व्यक्तित्व में केवल घिराव-ही-घिराव रहे—भले ही लेखक इस घिराव को कोई-न-कोई अच्छा नाम देकर टरका दे—तो व्यक्तित्व स्थित्यात्मक हो जायेगा। मुझे भय है कि हमारी साहित्यिक टेकड़ी के सिर पर बैठे हुए बहुत-से लेखक-विचारकों का व्यक्तित्व जड़ीभूत और स्थित्यात्मक हो गया है। उनकी अभिरुचि भी जड़ीभूत हो गयी है। यहाँ मेरा अभिप्राय उनकी प्रतिभा पर कीचड़ उछालना नहीं है, वरन् यह तथ्य प्रकट करना है कि जीवन-जगत् के मार्मिक पक्षों को आत्मसात् करने और उन पक्षों की सारी भीतरी सूक्ष्मताओं तथा विशेषताओं को प्रकट करने की तत्परता न उनमें पहले कभी थी, न आगे रहेगी। उनके भीतर जो वेदना नाम की चीज़ है, वह काफ़ी पुरानी पूंजी है, जिसका वे सिर्फ़ व्याज खा रहे हैं। वह बेचारी तो कब की बुढ़िया हो चुकी। रहा यह कि उनके आस-पास जो प्रतिभाशाली लोग एकत्र हैं, वे शायद कुछ अधिक प्रदान करें, यह सम्भावना हो सकती है। किन्तु इसके लक्षण दिखायी नहीं देते। सम्भव है, वे लक्षण मेरी दृष्टि-ओझल हों।

सच बात तो यह है कि आज के कवि को आत्म-चेतस् होकर अपने काव्य-तत्त्व के विकास-परिष्कार और समृद्धि के लिए संघर्ष करना चाहिए। वास्तविकता चारों ओर से हमसे टकराती है। किन्तु, हम ऐसे संवेदनशील हैं कि चट्टान की भाँति उसे पीछे ठेल देते हैं! उसे पूर्ण रूप से हृदयंगम करने की बात तो दूर, उसके सच्चे स्वरूप और स्वरूप के भीतर की तत्त्व-व्यवस्था को आत्मसात् करने की बात तो दूर, हम तो केवल कुछ ही व्यक्तिगत मनोदशाओं या उनके प्रति प्रतिक्रियाओं की संवेदनात्मक रूपरेखा प्रस्तुत कर छुट्टी पा लेते हैं। जगत् और जीवन के प्रति सचेत और जागरूक होकर, वैविध्यपूर्ण महान् गुणों से युक्त जन-साधारण के जीवन से जो व्यक्ति सचेत है, वही सच्चा आत्म-चेतस् है। प्रश्न 'आत्म-चेतना' की परिभाषा का नहीं है। प्रश्न उस आत्म-चेतना के तत्त्वों का है। प्रश्न शास्त्रीय ढंग से विचार करने का नहीं है। सवाल है कि आप कहाँ तक अपनी वास्तविकता को, अर्थात् जीवन-जगत् की मार्मिक वास्तविकताओं को, आत्मसात् कर, आभ्यन्तरीकृ.. कर, उन मार्मिक वास्तविकताओं को कला-रूप देते हैं। यह प्रश्न है, यह एक चुनौती भी है।

यह बिलकुल सत्य है कि कला की वस्तु—मात्र विषय नहीं—यह मनस्तत्त्व है। यह भी सच है कि वह मनस्तत्त्व अपने रूप का, अपने रूपावयवों का, संगठन करेगा। किन्तु यदि हम ईमानदार हैं, तो हम स्वयं वैविध्यपूर्ण जीवन-जगत् की मार्मिक वास्तविकताओं को क्यों न आत्मसात् करें, उसे अपने मनस्तत्त्व का क्यों न अंग बनायें! कृत्रिम रूप से यह नहीं हो सकता। यदि हममें मानव-आस्था है, तो उस आस्था के लिए बलिदान देकर, उस आस्था से एकात्म होकर, हमें अपने

जीवन को, अपने व्यक्तिगत जीवन को, उस दिशा की ओर मोड़ना होगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि पहले जीवन-चिन्ता करनी होगी, साहित्य-चिन्ता उसका अनुगमन करेगी। जीवन के—आपके जीवन के, हमारे जीवन के—मूतभूत उद्देश्य ही साहित्य के उद्देश्य हैं। संक्षेप में, जब तक जीवन-जगत् की मार्मिक वास्तविकताओं का आभ्यन्तरीकरण नहीं होता, उन्हें आत्मसात् नहीं किया जाता, तब तक हमने साहित्य का उद्देश्य भी पूरा नहीं किया, यह समझा जायेगा।

यदि हमारे मनस्तत्त्व, जो कला में प्रकट होने के लिए आतुर हैं, वस्तुतः सिगनीफ़िकेण्ट हैं, मार्मिक हैं, तो हमारी कविता भी मार्मिक होगी, चाहे वह किसी भी छन्द में हो, चाहे वह विशुद्ध गद्यात्मक लय में ही उपस्थित क्यों न की गयी हो। यह एक पुरानी बात है, किन्तु उसे दुहराना आवश्यक है। वह सिगनीफ़िकेण्ट यानी मार्मिक तभी होगी, जब वह इस व्यापक मानव-जीवन की मार्मिक वास्तविकताओं को ग्रहण करेगी, और मार्मिक रूप से उनका चित्रण करेगी। अपने व्यक्तित्त्व की पूरी शक्ति, हृदय का पूरा ओज, बुद्धि की पूरी विश्लेषण-प्रतिभा, और कल्पना का सम्पूर्ण उद्दीप्त आलोक, एकत्र समन्वित और केन्द्रीभूत होकर जब उस तत्त्व का चित्रण करने लगेगा, तभी वह तत्त्व अपने सम्पूर्ण निखार में, सम्पूर्ण तेजस्विता के साथ, प्रकट होगा। यह सीधी-सादी बात कुछ लोग भूल जाया करते हैं। वे तो केवल आत्मोद्घाटन की बात करते हैं। कहाँ तक उनका यह आत्मोद्घाटन सही है, मार्मिक है, विश्वसनीय है, यह एक अलग ही प्रश्न है।

निश्चय ही, रूप के विकास का प्रश्न तत्त्व के विकास के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। वह सारे जीवन से जुड़ा हुआ है। हम अपनी बौद्धिक सुविधा की दृष्टि से भले ही रूप और तत्त्व के प्रश्नों को अलग-अलग करके देखें, वे एक-दूसरे में अविच्छिन्न हैं। इन प्रश्नों के सम्बन्ध-सूत्र, वृक्ष-मूलों की भाँति, सारे जीवन में समाये हुए हैं। सच तो यह है कि रूप की समस्या ही तब उठती है जब तत्त्व की समस्या उठती है।

विभिन्न कवियों के लिए रूप-तत्त्व की समस्या भिन्न-भिन्न है। जो समस्या मेरे लिए है, वह शमशेर के लिए नहीं। काव्य-तत्त्व केवल विषय नहीं, वह मनस्तत्त्व है। मनस्तत्त्व के स्वरूप की जिन विशेषताओं पर कवि ज़ोर देना चाहता है, उन्हीं विशेषताओं के अनुरूप ही वह अपना अभिव्यक्ति-विन्यास गठित करेगा। बहिर्मुख कवियों के लिए रूप की समस्या विशेष नहीं होती। किन्तु यदि वे जीवन-जगत् की विविध तथा विशिष्ट मार्मिकताओं के उद्घाटन और चित्रण का कार्य हाथ में लें, तो निःसन्देह ये नये तत्त्व उनकी अब तक की कमायी भाषा-सम्पदा और अभिव्यक्ति-शक्ति को चुनौती दे देंगे।

अन्तर्मुख कवियों के लिए—विशेषकर उन कवियों के लिए जिनके मानसिक तन्तु कमज़ोर हैं, अतएव भाव-विद्युत् का अधिक भार सह नहीं सकते—उनके लिए (मैं दैहिक कारण बता रहा हूँ) रूप-सम्बन्धी कार्य अधिक कठिन हो जाता है। कारण यह है कि मानसिक तन्तु संवेदनाकुल होकर या तो सारी-की-सारी

संवेदनाएँ कुछ ही पंक्तियों में उँडेल देना चाहते हैं, अथवा वे तन्तु-संवेदनाओं को बिलकुल दबाकर, छुपाकर, केवल संवेदित तत्त्वों की रूपरेखा प्रस्तुत करके चुप हो जाते हैं। या तो वे लोग बिलकुल सूखी-ठण्ठ रूपरेखा प्रस्तुत कर देंगे, अथवा उनकी संवेदनाओं के गुम्फ और उन गुम्फों के जाले अभिव्यक्ति की अपर्याप्तता के कारण दुर्बोध अथवा अस्पष्ट हो जायेंगे। सच तो यह है कि संवेदना-गुम्फों या तत्त्व-गुम्फों को प्रकट करने के हेतु, यथार्थ-प्रेरित संश्लेषणकारी कल्पना-शक्ति और विश्लेषणकारी बौद्धिक प्रतिभा, इन दोनों के संयोग और सहयोग की नितान्त आवश्यकता होती है। इनमें से यदि कोई भी कमज़ोर हुई तो बड़ी गड़बड़ हो जाती है।

महत्त्व की बात है समस्याओं का, विषयों का, चुनाव। प्रत्येक युग में विशेष विषय और विशेष शैलियाँ ही साहित्य के क्षेत्र में आती हैं। यह सच है। कला के इतिहास को आप देख जाइये। अपने देश के और यूरोप के साहित्येतिहास पर दृष्टि डालिये। युग स्वयं 'रेजिमेण्टेशन' करता है—कभी सही ढंग से, कभी ग़लत ढंग से। जहाँ सही ढंग से है वहाँ तो ठीक है। ऐसी स्थिति में हम महान् साहित्यिक युगों को देखते हैं। किन्तु कभी हम ऐसे युगों के बाद बिलकुल घटिया साहित्य-युग को भी पाते हैं। कुछ लोगों को यह चिन्ता हो जाना स्वाभाविक है कि कहीं वर्तमान युग हमें ढलान की ओर तो नहीं ले जा रहा है। यदि वे आवाज़ उठायें, और यदि वह हमें कर्कश प्रतीत हो, तो निःसन्देह हमें कुछ तो आत्म-निरीक्षण करना ही होगा। किन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि हमारी उपलब्धियों का हम अनादर करें। न यह कि हम ऐंठकर बैठ जायें।

तत्त्व और रूप का प्रश्न हमारे सामने उठता ही क्यों है? इसके दो कारण हैं। एक तो यह है कि [जो] स्पन्दनशील वैविध्यपूर्ण मानव-जीवन अपनी सारी मार्मिकताओं के साथ हमारी व्यक्तिमत्ता से टकराता रहता है, हम उसको काट कर फेंक देते हैं। क्यों? इसलिए कि उसको अभिव्यक्त करने के लिए जो शैली तथा जो शब्द-सम्पदा होनी चाहिये, उसके विकास की ओर हमने ध्यान नहीं दिया, नहीं देना चाहते! हम तो केवल अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया प्रस्तुत कर चुप रहना चाहते हैं। प्रतिक्रिया की भी हम केवल रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे।

क्यों? इसलिए कि कहीं भद्र-वर्ग के ड्राइंग-रूम में कर्कश स्वर न उठे। हमारे हाथ से कोई ऐसी बात न हो जाये, जिससे उस वर्ग की अभिरुचि को धक्का लगे। संक्षेप में, हमने भद्र-वर्ग की अभिरुचि को ही सौन्दर्य का मान स्वीकार कर लिया है। इसी प्रकार से निम्न-मध्यवर्ग अपने को उत्पीड़ित जनता की ओर ले जाने के बजाय, भद्र-वर्ग के पास पहुँचना चाहता है और उससे 'सर्टिफ़िकेट' हासिल करना चाहता है।

सारांश यह है कि अपनी व्यक्तिमत्ता के आस-पास टकरानेवाली (मानव-जीवन की) मार्मिक वास्तविकताओं को प्रकट करने के लिए जिस प्रकार की शैली और शब्द-सम्पदा चाहिए, उसके लिए संघर्ष करना आवश्यक है। यह धीरे-धीरे

होगा, अभ्यास से होगा। किन्तु सर्वप्रथम तो उन वास्तविकताओं को आत्मसात् करना पड़ेगा। अगर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर मन को पाषाणवत् जड़ीभूत नहीं करना है, तो हमें जीवन की उन मार्मिक वास्तविकताओं को आत्मसात् करना ही होगा। जागरूकता का यही अर्थ है।

तत्त्व और रूप का प्रश्न इसीलिए हमारे सामने आता है, उसे आना चाहिए। एक चुनौती खड़ी होती है वास्तविक जीवन में से; दूसरी चुनौती खड़ी होती है हमारी अभिव्यक्ति-शैली की सीमाओं और शब्द-सम्पदा की अक्षमताओं में से। (इन सीमाओं के पीछे अभिरुचि की सीमा काम कर रही है)। ये चुनौतियाँ बहुत बड़ी हैं, बहुत विशाल हैं, सम्भव है कई पीढ़ियाँ खप जायें। किन्तु काम तो करना ही होगा।

महत्त्व की दूसरी बात यह है कि हम अपने साहित्य को एक संक्रमण-काल में से गुज़रते हुए देख रहे हैं। इस संक्रमण-काल में काव्य-साहित्य का विशेष नेतृत्व आवश्यक है। यह नेतृत्व ऊपर से नहीं आयेगा। भीतर से पैदा होगा। इसलिए, आवश्यक है कि विचार-विनिमय को—अर्थात् सद्भावपूर्ण आलोचना को—अधिक स्थान दिया जाये। जो हमसे भिन्न है वह हमारा विरोधी ही हो, यह आवश्यक नहीं है। किन्तु यह आलोचना-वृत्ति सबसे पहले जीवन में ही सक्रिय होनी चाहिए। जब तक हम आलोचक की तटस्थ और साथ-ही-साथ मर्मज्ञ दृष्टि से जीवन-आलोचना नहीं करते, सूक्ष्म भावों को अवास्तव कहकर उड़ा देते हैं, उनको जीवन की शृंखला-बद्ध वास्तविकता के रूप में नहीं देखते, तब तक काम नहीं चलेगा। साथ ही, इन सूक्ष्म भावों को आसमान तक उठाकर, यदि हम अपने सामाजिक-राजनैतिक-दार्शनिक, यहाँ तक कि आध्यात्मिक, लक्ष्यों और आदर्शों से एकाकार नहीं होते, तब तक यह आलोचना भी पंगु है। सच तो यह है कि आलोचना की सक्षमता के लिए बड़ी ही आध्यात्मिक गम्भीर प्रेरणा चाहिए। वह नहीं है।

इस वास्तविक आत्मबल के अभाव के फलस्वरूप ही, हमारी कविता में व्यक्तित्व का पूर्ण प्रभाव, हृदय का गम्भीर आवेश, बुद्धि की विश्लेषण-प्रतिभा और कल्पना के दीप्त आलोक के एकत्रित समन्वित केन्द्रीकरण के दर्शन नहीं होते। इसीलिए केवल मानसिक प्रतिक्रिया की कविता चल पड़ी है। मानसिक प्रतिक्रिया की रूपरेखा प्रस्तुत कर हमारे भाईबन्द छुट्टी पा लेते हैं। सच तो यह है कि ये लोग क्लर्क हैं, अदलकार हैं—पूँजीवादी सभ्यता के कारकून। साधारणतः क्लर्क में जो टुटपुँजियाँ उद्वेग होता है और मनोबल का अभाव दिखायी देता है, लगभग वही उनमें भी प्रकट होता है। क्लर्क लोग क्षमा करेंगे, मेरी बात ग़लत भी हो सकती है। सारे क्लर्क ऐसे होते भी नहीं। न सारी 'नयी कविता' भी ऐसी है।

इस आत्मबल के अभाव के फलस्वरूप ही, यदि, एक ओर, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की बात कही जाती है, तो, दूसरी ओर, व्यक्तित्व के पूर्णोद्भास को ढाँका जाता है। काव्यात्मक अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में सेंसर्स काम करने लगते हैं, व्यक्तित्व

अपनी सम्पूर्ण तेजस्विता और दुर्दम आकांक्षा के साथ खुलकर सामने नहीं आता। यदि वह खुलकर सामने आने लगे, तो सौन्दर्याभिरुचि बीच में टाँग अड़ा देती है। मतलब यह कि मानसिक सेंसर्स काम करने लगते हैं। तभी मुझे लगता है कि आत्मविश्वास और मनोबल की बहुत बड़ी हानि हुई है, जिसको ढाँकने और दबाने के लिए मानसिक प्रतिक्रिया की रूपरेखा-मात्र प्रस्तुत की जाती है। इस हानि की परम्परा क़ायम करने की कोशिशें भी होती हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि नयी कविता में ओज और व्यक्तित्व की तेजस्विता का बिलकुल प्रकाश नहीं है। यदि वैसा होता तो वह चल नहीं पड़ती। किन्तु यह बिलकुल सही है कि बौद्धिक प्रतिक्रिया के नाम पर व्यक्तित्व की सम्पूर्ण तेजस्विता के अनुरोध की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। सच तो यह है कि नयी कविता ने बहुत-कुछ पाया है। व्यक्तिगत क्षेत्र में मर्मज्ञता और सूक्ष्म भावाकलन उसने खूब ही किया है। मनोवैज्ञानिक यथार्थ को उसने उभारा है। सूक्ष्म को मूर्त किया है। उसमें बड़ी-बड़ी सम्भावनाएँ हैं। यह काव्य-प्रवृत्ति अभी भी नयी है। उसका विकास अभी होने को है। इसी बात को दृष्टि में रखकर यहाँ विचार प्रस्तुत किये गये हैं। चूँकि मैं 'नयी कविता' से एक होकर यह बात लिख रहा हूँ, इसीलिए मेरा स्वर आलोचनात्मक हो उठा है। कई जगह वह शायद अनुचित भी हो।

मुख्य बातें दो हैं : (1) जीवन-जगत् की अभिव्यक्ति के लिए आध्यात्मिक सामर्थ्य उत्पन्न करना आवश्यक है। इस जीवन-जगत् की चुनौती बहुत बड़ी है। जीवन-जगत् की अभिव्यक्ति के लिए सबसे पहले चेतना का विकास चाहिए, ऐतिहासिक प्रवाहों के आकलन के लिए दृष्टिकोण चाहिए, विश्व-दृष्टि चाहिए, आधुनिक मानव-जीवन के प्रति गहरी मर्मज्ञ दृष्टि चाहिए। (2) अभिव्यक्ति-शैली और शब्द-सम्पदा का निरन्तर विकास आवश्यक है, विभिन्न जीवन-स्थितियों, मनोदशाओं, मानव-चरित्रों तथा वातावरणों को प्रकट करने का काम टाला नहीं जा सकता।

जैसा कि मैंने अभी बताया, हमारी काव्याभिव्यक्ति में सेंसर्स बहुत काम करते हैं। इन सेंसर्स का उद्गम हमारी उस स्थिति में है जहाँ अनुभूत सत्ता तथा अनुभविता-व्यक्तित्व के पूरे गुणों को प्रकट करने में हम अभिरुचि-दोष समझने लगते हैं। इस प्रकार के सेंसर्स के सक्रिय होने का अर्थ ही यही है कि हम जड़ीभूत हो रहे हैं, शैली के नाम पर शैलीकरण (स्टाइलाइज़ेशन) चल रहा है, अर्थात् शैली को ही हम काव्य समझने लगे हैं।

वस्तु और रूप : चार

कला के 'वस्तु और रूप' के सम्बन्ध में विचार करते हुए मेरा मन कुछ बातों पर रुक जाता है। पहली बात तो यह है कि क्या कारण है कि युग-विशेष में कुछ विशेष-विशेष विषयों पर ही कविता लिखी जाती है, कलाकृतियों के विषय ठहरे-ठहराये रहते हैं। मन के भीतर समाये हुए जगत् का जो वैविध्य-[प्रसार] है, उसका तो प्रकटीकरण हो नहीं पाता, वरन् इसके विपरीत कुछ विशेष विषयों पर कुछ विशेष संवेदनात्मक प्रकारों से दृष्टिपात किया जाता है और उन विषयों का आलेखन किया जाता है।

आज के 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' और 'आत्म-स्वातन्त्र्य' के युग में प्रवाहित 'नयी कविता' का अभी पूरा विवेचन नहीं हो पाया है, न अभी उसका पूरा-का-पूरा साहित्य प्रकाशित हुआ है। फिर भी अभी से उसमें चर्वित-चर्वण देखा जा सकता है। लगता है, कुछ ही विषयों की आवृत्ति हो रही है, मानो पूरा जीवन-जगत् जो हृदय में समाया हुआ है, उसके कुछ ही अंश महत्त्वपूर्ण हैं—वे ही अंश जिनके बारे में रचनाएँ हो चुकी हैं, प्रकाश में आ चुकी हैं। यदि, वस्तुतः, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और आत्म-स्वातन्त्र्य है, तो हमारे इस ओर-छोरहीन जीवन-जगत् के वास्तविक महत्त्व रखनेवाले पक्षों को कला में प्रकट किया जाता।

यही क्यों ? छायावादी-राष्ट्रवादी काल में भी काव्य-विषय और काव्य-शैली लगभग ठहरी-ठहरायी थी। प्रगतिवादी काव्य की शैली लगभग जड़ीभूत हो गयी थी। सामन्तकाल में वीर, शृंगार और अध्यात्म को छोड़ हम कहीं और जगह नहीं गये। ऐसा क्यों है ?

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि युग-विशेष में विशिष्ट विषय और विशिष्ट शैलियाँ ही क्यों चल पड़ती हैं, और सारी साहित्यिक प्रतिभाएँ इन्हीं शैलियों के नालों में विशिष्ट-विशिष्ट दिशाओं की ओर ही प्रवाहित होती हैं ? सामन्त-काल में तो कोई केन्द्रीय रेज़िमेन्टेशन नहीं था, किसी को हुक्म तो नहीं था कि वह केवल वीर, शृंगार और अध्यात्म की ही कविताएँ करे। आधुनिक काल में किसी को यह आदेश नहीं था कि वह मात्र रोमैण्टिक-दार्शनिक और राष्ट्रवादी विषयों पर विशेष शैलियों में ही कविताएँ करे। तब भी कोई 'रेज़िमेन्टेशन' नहीं था। फिर क्या कारण है कि कविगण 'रेज़िमेण्टेड' हो गये, स्वयं ही, अपने ही आप, खुद-ब-खुद ? उनमें विषयों की शैलियों और दृष्टियों की इतनी समानता क्यों पायी जाती है ? सच तो यह है कि यह कहना बहुत कठिन है कि काव्य [में] इन लोगों ने जो भाव-विचार प्रकट किये हैं, सारा अनुभूत जीवन-जगत् उन्हीं में समाया हुआ है। काव्याभिव्यक्ति में जो कभी नहीं आ सका, काव्य में या साहित्य में जो कभी प्रकट ही नहीं हो सका, वह जीवन-जगत् कितना वैविध्यपूर्ण, विस्तृत, मनोरम, और महान् है !

हमारे साहित्य-जगत् के आज के नेता विस्तृत, वैविध्यपूर्ण, परस्पर-द्वन्द्वमय तथा महानता के सारे गुणों से युक्त इस जीवन-जगत् को क्यों नहीं देखते और क्यों वे उन्हें किन्हीं विशेष विषयों और शैलियों के··· [यहाँ पाण्डुलिपि में कुछ पृष्ठ अप्राप्त हैं।—सं०]···बाह्य-जगत् के द्वन्द्वों का ही, किसी उच्च मनोवैज्ञानिक स्तर पर, आविर्भूत रूप है।

काव्य का वस्तु-तत्त्व कवि की अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था का ही एक उद्दीप्त रूप है। यह अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था क्या है? हम बाल्यकाल से ही बाह्य जीवन-जगत् का, बाह्य तथ्यों, व्यवहार-प्रकारों, मूल्यों, भाव तथा ज्ञान की परम्पराओं, आदि-आदि का, अपनी आयु के अनुसार आभ्यन्तरीकरण करते जाते हैं। अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था बाह्य जीवन-जगत् का, अपनी वृत्तियों के अनुसार, आत्मसात्कृत रूप है। किन्तु, यह आत्मसात्कृत जीवन-जगत् बाह्य जीवन-जगत् की प्रतिकृति नहीं है। हमारा मन ज्ञानात्मक संवेदनों और संवेदनात्मक ज्ञान द्वारा न केवल बाह्य जीवन-जगत् को ग्रहण करता है, वरन् वह उन गृहीत तत्त्वों का, अपने अनुसार, संशोधन-सम्पादन और संस्करण करता है। यह मन की क्रिया है। इस प्रकार आत्मसात्कृत जीवन-जगत् एक मनोवैज्ञानिक सत्ता है जिसकी स्थिति, गति और विकास के मनोवैज्ञानिक नियम होते हैं। इसके विपरीत, बाह्य जीवन-जगत् एक सामाजिक-भौतिक सत्ता है। उसकी स्थिति, गति और विकास के अपने अलग नियम हैं।

मन, निःसन्देह, बाल्यकाल से ही, जीवनारम्भ से ही, बाह्य जगत् के सम्पर्क में, उसके साथ सामंजस्य और द्वन्द्व में, आता है। इस सामंजस्य और द्वन्द्व से ही उस मन की वृत्तियों का विस्तार-विकास होता है। मन की क्रिया, अपने ऊर्जा-रूप में, स्वतन्त्र है। किन्तु, मन की वृत्तियाँ और इच्छाएँ बाह्य से विस्तृत और सीमित, विकसित अथवा दमित होती हैं। उन्हें अपने विकास के नये-नये क्षेत्र मिलते हैं अथवा वे संक्षिप्त हो जाती हैं। बाल्यकाल बहुत नाजुक समय होता है। संक्षेप में, बाह्य जीवन-जगत् का अन्तःसंगठन करनेवाली मन की वृत्तियाँ निरपेक्ष रूप से स्वतन्त्र नहीं हैं। ऊर्जा-रूप में वे स्वतन्त्र हैं। बोध पर आधारित सामान्यीकृत (जेनेरेलाइज्ड) ज्ञान प्राप्त करने की बौद्धिक वृत्ति भी बाह्य से प्रभावित होकर संक्षिप्त, विक्षिप्त या विकसित होती है।

संक्षेप में, मन पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं है। वह केवल ऊर्जा-रूप में स्वतन्त्र है। प्रातिभ-तत्त्व तो प्रकृति-दत्त होने से स्वतन्त्र हैं ही नहीं। उनका नियन्त्रण प्रकृति द्वारा होता है। मन की प्रतिक्रिया के तत्त्व वे तत्त्व हैं जो मन ने बाह्य से कभी-न-कभी प्राप्त कर संशोधित-सम्पादित और संस्कारित किये हैं। मन जिन तत्त्वों पर प्रतिक्रिया करता है, वे तत्त्व तो आत्मसात्कृत जीवन-जगत् के भाग हैं ही।

संक्षेप में, अन्तर्जगत् के तत्त्व मनोवैज्ञानिक तत्त्व हैं। वे तत्त्व आभ्यन्तर जगत् का भाग होते हुए भी बाह्य जीवन-जगत् के ही बिम्ब-रूप में या भाव-रूप में स्थित हैं। मन केवल ऊर्जा-रूप में स्वतन्त्र है। भोजन, प्रजनन, आत्मरक्षादि वृत्तियों से संचालित होते हुए भी, वह मानसिक ऊर्जा, बाह्य जीवन-जगत् का आभ्यन्तरीकरण

करते हुए, उस वाह्य जीवन-जगत् से सामंजस्य और द्वन्द्व की क्रिया में लगी रहती है, और इस प्रकार वह अपनी वृत्तियों को केवल मूर्त ही नहीं करती वरन् उन वृत्तियों को भी नये-नये उच्च-स्तरीय रूप या निम्न-स्तरीय रूप देती है।

अपने-आपको प्रकट करने की इच्छा आत्म-प्रस्थापना की वासना है। इस आत्म-प्रस्थापना का भावोद्देश्य वाह्य जीवन-जगत् के साथ स्वयं को एक विशेष सामंजस्य में उपस्थित करना, या एक विशेष द्वन्द्व में अथवा दोनों के परस्पर मिश्रित रूप में प्रस्तुत करना है। जिस प्रकार हम संवेदनात्मक ज्ञान तथा ज्ञानात्मक संवेदन द्वारा वचपन से ही वाह्य जीवन-जगत् को आत्मसात् कर उसे मनोवैज्ञानिक रूप देते आये हैं, उसी तरह हम इस आत्मसात्कृत, अर्थात् मन द्वारा संशोधित-सम्पादित-संस्कारित-गठित-पुनर्गठित, जीवन-जगत् को वाह्य रूप भी देते हैं। वातचीत, वहस, भाषण, लेख, वक्तव्य, कला, आदि द्वारा हम इस आभ्यन्तर आत्मसात्कृत जीवन-जगत् का वाह्यीकरण करते आये हैं। वाह्य जीवन-जगत् का आभ्यन्तरीकरण और आभ्यन्तरीकृत का वाह्यीकरण एक सनातन मानव-प्रक्रिया है। कला आत्म-जगत् के वाह्यीकरण का ही एक मार्ग है—एक विशेष रूप है। हम वाह्य जगत् से आभ्यन्तर जगत् में और आभ्यन्तर जगत् से वाह्य जगत् में मिलना चाहते हैं। इसीलिए हम कविता लिखते हैं।

हम केवल वाह्य जीवन-जगत् को आत्मसात् ही नहीं करते, वरन् उस वाह्य जीवन-जगत् में हम फैलते भी हैं। हम उसमें अपना विस्तार करते हैं, उस पर, एक विशेष अर्थ में, अधिकार करते हैं, और अपने अनुसार हम उसमें संशोधन-परिवर्तन करना चाहते हैं, करते हैं, करने में सफल-असफल भी होते हैं। मनुष्य की ज्ञान-प्रक्रिया कर्म-प्रक्रिया से अपने तत्त्व प्राप्त करती है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की इच्छा-शक्ति उसे वाह्य जीवन-जगत् में फैलने और उस क्षेत्र में कर्म करने, कार्य-संगठन करने और कार्य-विस्तार करने के लिए वाध्य करती है। उसके विना व्यक्ति-जीवन भी असम्भव है। इस कर्म-संगठन से, कार्य-विस्तार से, यत्नों द्वारा हमें नया-नया संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन प्राप्त होता है, जिसके फलस्वरूप हम जीवन-जगत् का आभ्यन्तरीकरण करते जाते हैं, अपने आभ्यन्तर जगत् को सम्पन्न और विकसित करते जाते हैं। संक्षेप में, ज्ञान कर्म की उपज है। कर्म के पीछे इच्छा-वृत्ति है, जो हमें वाह्य की ओर ले जाती है। वाह्य क्षेत्र में कर्म करके हम वोध और ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसीलिए ज्ञान-संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान का विकास होता जाता है। पुस्तकों द्वारा प्राप्त ज्ञान किसी-न-किसी के कर्म से उत्पन्न ज्ञान है, जो हमें उपलब्ध होता है।

किन्तु, जव हम कर्म-तत्पर होते हैं, तव हम निःसंग रॉविन्सन क्रूसो की भाँति अकेले नहीं होते; वरन् वह समाज द्वारा निर्धारित क्षेत्रों में, स्वयं द्वारा अंगीकृत क्षेत्रों में, होता है। अतएव हमारे व्यवसाय का, हमारे अंगीकृत वाह्य जीवन-क्षेत्र का, हम पर वहुत गहरा प्रभाव होता है। न केवल हम उस क्षेत्र से जीवन-ज्ञान प्राप्त करते हैं, वरन् वह जीवन-क्षेत्र हमारी वृत्तियों को, इच्छाओं को, नया रूप

देता है। वास्तविक जीवन का वास्तविक ज्ञान हमें कर्म से ही प्राप्त होता है। साथ ही, उस प्राप्त ज्ञान द्वारा हम कर्म को सम्पन्न और सशक्त बनाकर बाह्य क्षेत्र को प्रभावित करते हैं। मनुष्य के वास्तविक व्यक्तित्व और चरित्र की कल्पना बाह्य जीवन-क्षेत्र में कर्म-संगठन के प्राप्त दृश्यों के बिना की ही नहीं जा सकती। प्रकृति की यह विशेषता है कि उसने इच्छा-वृत्ति देकर हमें बाह्य की ओर प्रेरित किया। यह इच्छा-वृत्ति ही हमें कार्य-संगठन में लीन करती है।

संक्षेप में, आत्म-जीवन के बाह्यीकरण की एक प्रेरणा इच्छा-वृत्ति है। वह भी हमें बाह्य जगत् से सामंजस्य या द्वन्द्व में स्थापित करती है। ज्ञान या तो कर्म-सम्भूत जीवन्त ज्ञान है, अथवा वह ज्ञान-परम्परा और भाव-परम्परा, जो बाह्य सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन-जगत् का ही एक अंग है, से हमें प्राप्त होता है। कार्य और इच्छा से अलग होकर ज्ञान या भाव मिट जाता है।

संक्षेप में, मन आरम्भ काल से ही, जीवन-जगत् से प्रतिक्रिया करते हुए अपना भावात्मक और ज्ञानात्मक विकास करता है। उसके भीतर के ज्ञानात्मक संवेदन या संवेदनात्मक ज्ञान बाह्य जीवन-जगत् के ही भाव-रूप या बिम्ब-रूप मनोवैज्ञानिक तत्त्व होते हैं। इच्छा-वृत्ति द्वारा [प्रेरित] होकर मनुष्य बाह्य जगत् में फैलता है, कर्म-संगठन करता है, मानव-सम्बन्धों को आत्मसात् करता है। बाह्य जगत् में फैलने से ही, अर्थात् वास्तविक कर्म से ही, मनुष्य का ज्ञान विकसित होता है, व्यक्तित्व-चरित्र बनता और प्रकाशमान होता है। मनुष्य का अन्तर्जगत् समाज, वर्ग और परिवार के भीतर पायी जानेवाली मानव-स्थितियों तथा मानव-सम्बन्धों का संवेदनात्मक ज्ञान तो होता ही है, वह मानव-प्रयत्नों द्वारा अर्जित ज्ञान भी होता है। इस ज्ञान-सम्पदा में परम्परागत ज्ञान-सम्पदा या भाव-समृद्धि अथवा मिथ्या-ज्ञान भी शामिल है। मन के तत्त्व, मूलतः, बाह्य जीवन-जगत् के दिये हुए तत्त्व हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या या समाजशास्त्रीय व्याख्या को एक-दूसरे से अलग करना सुविधाजनक भले ही हो, इन दोनों व्याख्या-प्रकारों की दृढ़ सीमाएँ जान लेना अत्यन्त आवश्यक है।

काव्य का मनस्तत्त्व भीतर की अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था [का] ही एक भाग है, जो बाहर के धक्के से तरंगायित, उद्घाटित, और आलोकित होकर काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए छटपटा उठता है। कविता या तो बाह्य से सामंजस्य उपस्थित करती है, या द्वन्द्व अथवा इन दोनों का सम्मिश्र उलझा रूप। नयी काव्य-प्रवृत्तियों में बाह्य से द्वन्द्व के फलस्वरूप उत्पन्न तनाव का ही वातावरण अधिक है।

नयी कविता में केवल तनाव ही नहीं, वरन् घिराव भी है। नयी कविता ऐसे मध्यवर्ग की कविता है, जिसने पुरानी श्रद्धाएँ तो छोड़ दी हैं, किन्तु नयी श्रद्धाएँ विकसित नहीं कीं। भले ही वे मानवीय आस्था की बात करें, सच तो यह है कि उनकी मानवीय आस्था न केवल बहुत वायवीय है, वरन् उसकी प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो उन्हें उन मानव-सम्बन्धों की ओर ले जाती है, कि जो मानव-सम्बन्ध पूंजी-वादी वर्ग के होते हैं। फलतः, उनके काव्य में तनाव का जो वातावरण है, वह

वातावरण किसी विद्रोह का सूचक नहीं है। साथ ही, अब तनाव का यह वातावरण कुछ कवियों में प्रणय-प्रेम के ढाँचों में बदल रहा है। यह तनाव, कुछ कवियों में, कम होता जा रहा है। ऐसे 'कुछ कवि' उस खाते-पीते फ़ुरसती वर्ग के जीव हैं, कि जो वर्ग उच्च-मध्यवर्ग के रूप में, पिछले दस-बारह वर्षों में निम्न-मध्यवर्ग से पृथक् होकर, सर्वोच्च वर्ग के बैठकघरों में जाकर, सर्वोच्च वर्ग की सामाजिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक नीतियों में ख़ास हिस्सा ले रहा है। यह उच्च-मध्यवर्गीय कवि-श्रेणी, अपनी वर्ग-विशिष्ट विचारधारा के अनुसार, इस बात के विशिष्ट यत्न करती है कि साहित्यिक-सांस्कृतिक जगत् का नेतृत्व उसके हाथ में रहे; अर्थात्, उसकी (अ) अभिरुचि ही सौन्दर्य का प्रतिमान हो; (ब) उसकी विशिष्ट साहित्यिक विचारधाराएँ, जिनमें व्याख्याएँ और मूल्यांकन भी शामिल हैं, साहित्यिक प्रश्नों के उत्तर का शासन करें; (स) वे ही कवि श्रेष्ठ हों; (द) उन्हीं को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिले कि जो उनकी अपनी विचारधारा अथवा उनकी अपनी सौन्दर्य-दृष्टि के अनुकूल अथवा समीप हों।

निम्न-मध्यवर्गीय कवि के अन्तःकरण में मानव-सम्बन्धों और मानव-स्थितियों की जो प्रतिच्छायाएँ हैं, वे, एक ओर, उन्हें मानवता की वह परिभाषा करने के लिए उद्युक्त और तत्पर करती हैं कि जिस मानवता में आर्थिक उत्पीड़न नहीं है, शोषण नहीं है, सामाजिक विषमता नहीं है। यह परिभाषा उन्हें उत्पीड़कों और शोषकों के विरुद्ध संघर्ष के लिए तैयार करने लगती है।

फलतः, उनकी कर्कश, कठोर, सूखी, भावनाओं से उत्पन्न जो सौन्दर्य है, वह भद्र-वर्गीय कविजनों की सौन्दर्याभिरुचि के विरुद्ध जाता है। इसलिए, उच्च-मध्यवर्ग के कवि को चण्ड विद्रोहात्मक कर्कश स्वर अभद्र [लगता है।] यह वर्ग निम्न-मध्यवर्ग के असन्तोष के स्वर को तो सह लेता है, किन्तु विद्रोह के कर्कश स्वर उसे अच्छे नहीं लगते। अतएव, निम्न-मध्यवर्ग की व्यापक सत्ता को जाने-अनजाने विद्रोह के मार्ग से हटाने के लिए तरह-तरह के साहित्यिक और साहित्येतर प्रयोग किये जाते हैं। वे विविध हैं। उदाहरणार्थ, झूठा प्रोत्साहन देना, लोभ देना, सम्पूर्ण उपेक्षा करना, प्रकाशन की सुविधाएँ काट देना, घोषित रूप से श्रेष्ठ बना देना, निकृष्ट क़रार देना, आदि-आदि। यह सब इसलिए है कि निम्न-मध्यवर्ग में जितनी भी थोड़ी-बहुत क्रान्तिकारी सम्भावनाएँ हैं, उन्हें या तो नष्ट कर दिया जाय अथवा निर्बल बनाया जाय।

निम्न-मध्यवर्ग अपनी अवसरवादिता के कारण भले ही विचार-भावों की नोंक भोंथर कर ले, उसके हृदय में व्याप्त जो मानव-स्थितियाँ, मानव-सम्बन्ध और मानव-मूल्य हैं, वे उसके हृदय में उस तनाव की सृष्टि करते हैं, कि जो तनाव बाह्य जीवन-जगत् में उसकी और उसके वर्ग की स्थिति के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। नयी कविता में यह तनाव प्रगाढ़ रूप से पाया जाता है। साथ ही, इस वर्ग की कृतियों में यत्र-तत्र, स्पष्टतः अथवा सांकेतिक रूप से उपस्थित, प्रगतिशील तत्त्व भी मिलते हैं। मैं अपना यह लेख इन निम्न-मध्यवर्गीय साहित्यिक बन्धुओं के चरणों में ही

अर्पित कर रहा हूँ, और यदि मेरी लेखनी से कटु-तिक्त बात निकले तो उसे यह जानकर वे अवश्य क्षमा कर देंगे कि वह बात पूर्ण सद्भावना के साथ प्रकट की गयी है।

पहली बात तो यह है कि हमारे आधुनिक साहित्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम सामन्ती संस्काराच्छन्न उच्च-मध्यवर्ग ही सक्रिय हुआ—चाहे वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हों, अथवा बिगड़े रईस जयशंकर प्रसाद हों, अथवा आधुनिक परिष्कार-युक्त विलायती शिक्षा-प्राप्त अथवा उससे प्रभावित अन्य कविजन हों। किन्तु, धीरे-धीरे निम्न-मध्यवर्ग भी इस क्षेत्र में सक्रिय हुआ। आधुनिक शिक्षा-प्राप्त होकर आज यह वर्ग ज़िलों और परगनों तक के केन्द्रों में विस्तृत, और साहित्यिक क्षेत्र में सक्रिय, हो उठा है। वह परगनों के केन्द्रों से लेकर तो कलकत्ता, बम्बई, इलाहाबाद, बनारस, दिल्ली, नागपुर, आदि बड़े-बड़े शहरों के गली-कूचों में जी रहा है। आधुनिक जीवन-जगत् का बोध उसके पास है। किन्तु, उच्च-मध्यवर्ग की जगमगाहट उनकी आँखों में रहती है। सब तो उस उच्च-मध्यवर्ग की श्रेणी में बैठ नहीं सकते। वैसी सुविधा सबको नहीं मिल सकती। इसीलिए उनमें यह होड़ मची रहती है कि कौन अपने लिए 'सिक्योर' (सुरक्षित) उच्च स्थान प्राप्त कर लेगा। ऐसे लोग अपने वर्ग को (जिसमें वे उत्पन्न हुए हैं) लात मारने में अव्वल दर्जे के साबित हुए हैं। निम्न-मध्यवर्ग की स्पृहा उच्च-मध्यवर्ग में जाकर बैठने की है। किन्तु, वास्तविकता उसे पीछे ढकेलती है और निचले वर्ग के साथ होने के लिए, आर्थिक दृष्टि से भी, बाध्य करती है। संक्षेप में, उसमें उच्च-मध्यवर्गीय मनोरम स्वप्न-भ्रम है, तो, दूसरी ओर, समाज की क्रान्तिकारी शक्तियों की ओर जाने की प्रवृत्ति भी है। हाँ, मैं यहाँ व्यक्तियों की बात नहीं कर रहा हूँ। फलतः, उसके भीतर न केवल द्वन्द्व है, अपनी मूलभूत इच्छापूर्ति के अभाव के फलस्वरूप उसमें तनाव भी है। चूँकि वह मौजूदा स्थिति में अपने पूर्ण विकास का मार्ग नहीं खोज पाता, इसलिए उसमें एक ऐकान्तिक घिराव भी है।

इसके विपरीत, उच्च-मध्यवर्ग के कवियों का व्यक्तित्व अब स्थित्यात्मक हो गया है, उनकी अभिरुचि जड़ीभूत हो गयी है, उनकी दृष्टि अब पैनी नहीं रही। वे एक क्लोज़्ड सिस्टम, शीशे का एक नुमाइशी बन्द सन्दूक, बन गये हैं, जिसके भीतर कुछ अच्छी-अच्छी चमकदार चीज़ें रखी हैं। उनके पास जो देने के लिए है, वह उन्हें अब ज़्यादा नहीं उठा सकता।

इसके विपरीत, निम्न-मध्यवर्ग के कवियों में, तनाव और घिराव के बावजूद, अभी विकास की प्रक्रिया जारी है। अभी उन्हें ज़िन्दगी के कई मैदान सर करने हैं। उन्हें हारना है, जीतना है, पार करना है।

यह सामाजिक-वास्तविक पार्श्वभूमि है। इसको और भी विस्तृत रूप से बताया जा सकता है। इस पार्श्वभूमि के सन्दर्भ को ध्यान में रख नवीन काव्य-प्रवृत्ति के तत्त्व और रूप से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार किया जा सकेगा।

मुख्य बात यह है कि नयी कविता एक मानसिक संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है जो जीवन-परिवेश में उपस्थित बातों के प्रति की गयी है। वह तीव्र मानसिक

प्रतिक्रिया के रूप में उपस्थित होने ही से उसकी लय गद्यात्मक है। वह, मुख्यतः, पद्याभास गद्य है। उसका सौन्दर्य, उसकी गहराई और प्रभाव, न केवल उसकी तीव्रता में है, वरन् उसके व्यापक मार्मिक अभिप्राय में है, वशर्ते कि ऐसा व्यापक मानसिक अभिप्राय हो। कहने का तात्पर्य यह है कि जो प्रतिक्रिया व्यापक मार्मिक अभिप्राय रखती है—ऐसा अभिप्राय, जो हमारे जीवन-तथ्यों या सत्यों को उद्घाटित करता है—तो उस स्थिति में वह प्रतिक्रिया—विशेष सूचक शक्ति और महत्त्व रखती है। अर्थात् वह सिग्नीफ़िकेण्ट है, उसमें निर्देश-महत्त्व है। किन्तु, वहुत-सी ऐसी हलकी-फुलकी प्रतिक्रियाएँ होती हैं, जिनकी तथ्यात्मकता विशेष मार्मिक और महत्त्वपूर्ण नहीं होती। फिर भी, नयी कविता के क्षेत्र के महारथियों ने ऐसी महत्त्वहीन कविताएँ महत्त्वपूर्ण ढंग से और वहुत सभ्य प्रभाव के साथ प्रकाशित करवायी हैं। महत्त्वपूर्ण वात यह है कि ये प्रतिक्रियाएँ मार्मिक व्यापक महत्त्व रखें, जो, एक ओर, हमारे हृदय को स्पर्श करें, तो, दूसरी ओर, उस हृदय-स्पर्श के माध्यम से कोई विशेष वात पहुँचायें।

सच तो यह है कि नयी कविता के क्षेत्र में प्रवृत्ति की एकता नहीं है। इस क्षेत्र में एक विशेष शैली को लेकर भिन्न-भिन्न भाव-धाराएँ और उनके अनुषंग से विचार-धाराएँ वह रही हैं। इसलिए विभिन्न भाव-धाराओं की एक-दूसरे से अलग तत्त्व-सम्बन्धी समस्याएँ हैं। निश्चय ही, इन धाराओं में एक भाव-धारा प्रगतिशील है, या उसके समीपतर है, अथवा उसमें विभिन्न प्रगतिशील तत्त्व पाये जाते हैं। प्रगतिशीलता से मेरा तात्पर्य परिवेश के प्रति उस सचेतनता से है, कि जो सचेतनता उसे वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध ले जाती है।

मेरा अनुभव है कि नये कवियों में—विशेषकर नवागत तरुण कवियों में—एक ऐसी छटपटाहट है, जो उन्हें जीवन-जगत् के प्रति जागरूक होकर सोचने और जहाँ जो कुछ समृद्ध और सम्पन्न है उसे आत्मसात् करने के लिए प्रवृत्त करती है। वह वहुत वार उन्हें इसके आगे भी ले जाती है, और संघर्ष का रास्ता भी वताती है।

मैं पहले ही वता चुका हूँ नयी कविता में तनाव और घिराव का एक वातावरण है। यह उस द्वन्द्व के फलस्वरूप है, या यूँ कहिये कि उन द्वन्द्वानुभवों के परिणाम के रूप में है, कि जिन द्वन्द्वानुभवों की पूर्ण व्याख्या करने में वे असफल हैं, या हम असफल हैं। वह तनाव और घिराव तो है ही; किन्तु, उनके सारे सामाजिक गर्भितार्थ निकालने के लिए जो विद्रोहशील मनस्विता या क्रान्तिकारी विश्व-दृष्टि चाहिए, वह अभाव रूप में अथवा क्षीणतम छाया रूप में स्थित है।

किन्तु, यान्त्रिक रूप से लागू किये गये सिद्धान्त जिस प्रकार असफल हो उठते हैं, उसी प्रकार जिनके पास यह दृष्टि है वे भी असफल हो जाते हैं। कारण है अपने दैनिक संवेदनशील जीवन को अनुशासित करनेवाली, व्याख्या करनेवाली, कर्म की ओर प्रवृत्त [करने] वाली, भावावेश उत्पन्न करनेवाली, केन्द्रीय आस्था का अभाव।

अपने परिवेश के प्रति तीव्र मानसिक आघात करने से, सिवाय एकाध अच्छी कविता लिखने के और कुछ नहीं हो सकता। आवश्यकता इस वात की है, और

ईमानदारी का यह तक़ाज़ा है कि हम यदि द्वन्द्व को न भी सुलझा सकें, तो भी उसके रूप-स्वरूप का सर्वांगीण अध्ययन और विश्लेषण करते हुए हम उनके निराकरण का कोई समन्वित उपाय संगठित करें—उन मानव-सम्बन्धों का अध्ययन करें जिनके फलस्वरूप उलझनें पैदा होती हैं, व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता, और संघर्ष केवल व्यक्तिवादी विद्रोह में परिणत हो जाता है। संक्षेप में, जीवन-विवेक की नितान्त आवश्यकता है। हृदय में अनुभव और विवेक के संचय तथा विश्व-दृष्टि के विकास की प्रक्रिया में ही नयी कविता प्रौढ़तर होगी, इसमें सन्देह नहीं।

जिन महारथियों का जीवन स्थित्यात्मक है, वे ही यह कह सकते हैं कि 'तुम नहीं व्याप सकते, तुममें जो व्यापा है, उसी को निवाहो'। इसका उत्तर यह है कि हम मनुष्य को बन्द सन्दूक, क्लोज़्ड सिस्टम, नहीं मानते। वे कहते हैं, 'दीठ से टोह कर नहीं, मन के उन्मेष से उसे जानो।' किन्तु, हमारा ख़याल है कि दीठ से टोहना भी नितान्त आवश्यक है। मतलब यह कि जीवन के विस्तृत क्षेत्र में फैलाव आवश्यक है, तभी हम अपने को विकसित और समृद्ध कर सकेंगे।

सच तो यह है कि जीवन-चिन्ता के बिना साहित्य-चिन्ता नहीं हो सकती। जीवन-चिन्ता के अभाव में साहित्यिक आलोचना निष्फल और वृथा है। किन्तु, यह जीवन-चिन्तन व्यापक जीवन-जगत् में घनिष्ठ और गम्भीर भाग लिये बिना रीता है। इस भाग-योग के बिना, इस अन्तःप्रवेशशाली सायुज्यीकरण के बिना, अनुभूतियाँ अपना सारा अर्थ खो देती हैं, मात्र स्वप्न-भ्रम में परिणत हो जाती हैं, तथा विचार अपनी औचित्य-स्थापना के काम में भले ही आयें उनका मार्गदर्शकत्व नष्ट हो जाता है। उनमें उलझन पैदा हो जाती है, क्योंकि उन्हें वास्तविक जीवनानुभव का सहारा नहीं होता।

तो, वस्तुतः, कला का संघर्ष तत्त्व के संकलन, परिष्कार और विकास का संघर्ष है। हम यदि अपने-आपको बन्द सन्दूक, क्लोज़्ड सिस्टम, मान लें तो फिर यह प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु यह प्रश्न उन लोगों के सामने ज़रूर उठता है जो अपने को बन्द सन्दूक नहीं मानते, कि जो लोग यह समझते हैं कि उनके सामने कर्त्तव्य और अनुभव का, सौन्दर्य और विकास का, ज्ञान और प्रकाश का, विस्तृत क्षेत्र खुला हुआ है।

हमारे आस-पास स्पन्दशील वैविध्यपूर्ण, द्वन्द्वमय, मानव-जीवन अपने मार्मिक पक्षों का उद्घाटन करता रहता है। वह हमारे व्यक्तित्व से टकराता भी है। हम इतने निःसंज्ञ नहीं हो गये हैं कि उसकी पूर्ण उपेक्षा कर सकें। किन्तु, मनोबल-पूर्वक, यदि हम उसे अभिव्यक्त करने के लिए क़लम चलाने की कोशिश भी करते हैं, तो अब तक तैयार किया हुआ हमारा सारा रूप-विधान गड़बड़ाता हुआ लड़खड़ाकर गिर पड़ता है। यह मैं मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि द्वन्द्वमय वैविध्य-पूर्ण और भारी महानताओं के गुणों से युक्त हमारा यह जो व्यापक मानव-जीवन है, उसके मार्मिक पक्ष हमारे हृदय पर आघात नहीं करते। नहीं, वे आघात करते

हैं। किन्तु, जिस कलात्मक रूप-विधान का हमने अभ्यास कर रखा है, उसके अनुरूप जो शब्द-सम्पदा हमने एकत्र की है, जिन शब्द-संयोगों की हमने आदत बना ली है, जिन व्यंजना-पूर्ण कल्पना-बिम्बों को हमने अपने-आपमें जमा कर रखा है—वे सब उन मार्मिक पक्षों के उद्घाटन में, उसके चित्रण में, असफल सिद्ध हो रहे हैं, होते हैं। केवल तीव्र मानसिक प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के रूप-साधन व्यापक मानव-जीवन के विशेष प्रवाहों और मार्मिक पक्षों के उद्घाटन और चित्रण में असमर्थ हैं।

सच तो यह है कि कलाकार के लिए वह संघर्ष, जो अभिव्यक्ति का संघर्ष कहा जाता है, तत्त्व ही का और उसी के लिए किया गया संघर्ष है। ध्यान में रखने की बात है कि एक ही विषय या समरूप विषयों की अभिव्यक्ति-साधना के फलस्वरूप जो रूप-विधान आप-ही-आप विकसित हो जाता है, उन्हीं तत्त्वों से घनिष्ठ रूप से ग्रथित होता है। इस रूप-विधान में दूसरे तत्त्व नहीं जम सकते। हमारी अभिव्यक्ति-साधना अपने कण्डीशंड रिफ़लैक्सेज़ को जन्म देती है। अर्थात्, अभिव्यक्ति का एक पूर्व-नियन्त्रित मार्ग बन जाता है। अतएव, हमारे लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि हम विभिन्न मर्मानुभवों को काव्य का विषय बनायें।

होता यह है कि हम केवल कुछ ही चुने हुए मर्मानुभवों को प्रकट करते हैं। हमारी अभिव्यक्ति के माध्यम से जो बातें प्रकट होती हैं, उनसे कहीं अधिक विस्तृत और व्यापक हमारे मर्मानुभव हैं। किन्तु, हमने कुछ ही मर्मानुभवों के अनुरोध से तदनुरूप अभिव्यक्ति का एक ढाँचा खड़ा किया, जो आगे चलकर हमारा बन्दीगृह बन जाता है। अतएव, अपने ही व्यापक जीवनानुभवों को काव्याभिव्यक्ति यदि दी जाय, तो अभिव्यक्ति का यह ढाँचा बदलना पड़ेगा, अथवा उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण सुधार करने पड़ेंगे।

कुछ ही चुने हुए और आवृत्त-पुनरावृत्त विषयों पर (मर्मानुभवों पर) लेखनी चलाने के इस दृश्य से मुझे युग के सम्बन्ध में कुछ कहने का उत्साह हुआ है। प्रत्येक युग में कुछ विशेष दृष्टियों से, कुछ विशेष शैलियों में ही तथा कुछ विशेष विषयों पर ही, लेखनी चलायी गयी। मध्ययुग के अन्त तक श्रृंगार, वीर और अध्यात्म की कविताएँ चलती रहीं। आधुनिक युग में छायावाद, प्रबन्ध-काव्यात्मक प्रवृत्ति, राष्ट्रीय भावनाओं की कविताएं तथा रोमैण्टिक प्रगीत होते रहे—मानो हिन्दी जगत् का सारा मानव-अनुभव, सारा जीवन-चिन्तन केवल इन्हीं विषयों व वृत्तियों तक ही सीमित हो। विषयों और शैलियों का इस प्रकार का संकलन कौन करता है? छायावाद के युग में, सारा काव्य राष्ट्रवादी सांस्कृतिक भावना अथवा रोमैण्टिक प्रणयात्मक भावना तक ही सीमित क्यों रहा? सच तो यह है कि युग स्वयं रेजिमेण्टेशन करता है। कविताएँ स्वयं अपने-आप रेजिमेण्टेड होने लगती हैं और कवि रेजिमेण्टेड होने के लिए तैयार बैठे रहते हैं—अर्थात् वे वैविध्यपूर्ण मानव-जीवन के वास्तविक मार्मिक पक्षों का उद्घाटन-चित्रण करने के बजाय, किन्हीं विषयों में घिर जाते हैं। यहाँ तक कि वे अपने प्रति भी न्याय नहीं

करते, अपने सम्पूर्ण मार्मिक जीवनानुभवों को भी वाणी नहीं दे पाते।

इसका कारण जो मेरी समझ में आता है वह यह है कि साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में जो वर्ग सक्रिय होता है वह न केवल अपनी अभिरुचि को सौन्दर्य के मान के रूप में स्थापित करता है, वरन् वह उन मनोवैज्ञानिक सेंसर्स को भी विकसित करता है, कि जो सेंसर्स मार्मिक जीवनानुभवों को भी काटकर फेंक देते हैं, केवल कुछ ही गिनी-चुनी मनःस्थितियों और प्रवृत्तियों और तदनुकूल शैलियों को ही जीवित रहने की इजाजत देते हैं। हाँ, यह सच है कि साहित्य-क्षेत्र में नेतृत्व करनेवाला यह वर्ग यदि अभ्युत्थानशील, मानवीय तथा प्रगतिशील ऐतिहासिक आकांक्षाओं का प्रतिनिधि वनता है, तो उसका साहित्य भी महत्त्वपूर्ण हो उठता है। किन्तु, क्या कारण है कि उसकी सारी प्रतिभा और शक्ति के वावजूद, मानव-जीवन का मार्मिक वैविध्य जो उस वर्ग ने या उसके मुख्य प्रतिनिधियों ने जाना या भोगा है, साहित्य में प्रकट नहीं हो पाता? क्या वैसा ही भाग्य 'नयी कविता' के सम्बन्ध में तो नहीं होनेवाला है? क्या 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादी' महारथी स्वयं अपना उदाहरण स्थापित कर, तथा संगठित वल और प्रभाव द्वारा, 'नयी कविता' को रेजिमेण्टेड तो नहीं वना रहे हैं? निःसन्देह, यह रेजिमेण्टेशन मनोवैज्ञानिक मार्गों से, अर्थात् एक विशिष्ट अभिरुचि को सौन्दर्य-मान का महत्त्व प्रदान कर, तथा तदनुसार मानसिक सेंसर्स का विकास कर, संगठित किया जा रहा है। यदि यह वात है तो हमें सवसे पहले सेंसर्स के सम्वन्ध में ही कहना होगा।

जव मर्मज्ञ कवि, अपनी विशिष्ट आन्तरिक आग्रह-धारा के द्वारा, किन्हीं विशिष्ट मर्मों को ही प्रकटीकरण के लिए उपस्थित करता है, तव उन मर्म-तत्त्वों की अभिव्यक्ति के सिलसिले में ऐसे सेंसर्स का विकास करता है, कि जो सेंसर्स उन तत्त्वों के अनुपयुक्त शब्द-संयोगों और कल्पना-चित्रों को रास्ते से हटा देते हैं। निषिद्ध होने पर वे शब्द-संयोग और कल्पना-चित्र अथवा भाव-विम्व अकेले पड़ जाते हैं, निरुपयोग के कारण वे असंगठित भी हो जाते हैं, और विस्मरण-शक्ति के फलस्वरूप तथा अभिरुचि के आग्रहों के विरुद्ध होने के कारण वे सव मानसिक तहखाने में दाखिल हो जाते हैं। उधर सेंसर्स अभिरुचि के आदर्शों से विशेष प्रकार का रूप-विधान तैयार करने में ही अपनी शक्ति खर्च कर देते हैं।

ये सेंसर्स रूप-सम्वन्धी और तत्त्व-सम्वन्धी दोनों प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए, 'नयी कविता' में वे सेंसर्स सामाजिक क्रान्ति की वात खुले तौर पर नहीं करने देंगे। वे विद्रोह का कर्कश स्वर नहीं आने देंगे, और यदि आया भी तो उसे इतना लचीला वना देंगे कि जिससे वह साहित्यिक ड्राइंग-रूम में खप सके। उसी प्रकार, जीवन की अन्य कठोर और कर्कश अनुभूतियों का खड़ा-खड़ा मैदानी कण्ठ भी उनके काम का नहीं है। व्यक्तित्त्व का सारा वल, हृदय का पूर्ण ओज, वुद्धि की सम्पूर्ण विश्लेषण-प्रतिभा, और कल्पना का प्रखर उद्दीप्त आलोक, यदि आपस में मिलकर, समन्वित होकर, एक ही विषय को निखार दे, तो तेजस्विता, माधुर्य, साहस और चण्डता का जो प्रवाह वहेगा, वह प्रवाह केवल तीव्र

मानसिक प्रतिक्रियाओं और छोटे-छोटे संवेदनाघातों को प्रकट करनेवाली और उसी में अपनी सार्थकता समझनेवाली 'नयी कविता' में भला कैसे बह सकेगा, जब तक कि इस 'नयी कविता' के रूप-शिल्प में आवश्यक संशोधन न हो। मेरा अपना ख़याल तो यह है कि 'नयी कविता' के बहुतेरे कवि इस ओर दत्त-चित्त हैं, और अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुरूप अपनी नयी शैलियों का उन्मेष करते जा रहे हैं। शैलियों की भिन्नता तो हमें आज भी दिखायी दे रही है, और वह समय दूर नहीं है जब इन शैलियों में अधिक घनत्व और विस्तार एक साथ आ सकेगा।

समीक्षा की समस्याएँ

कवि और लेखक होने के नाते, समीक्षा-साहित्य की वर्तमान प्रवृत्तियों पर मेरी नज़र जाना स्वाभाविक ही है। मुझे समीक्षकों की स्थिति पर दुःख होता है।

मुझे बार-बार लगता है कि वे खुद ज़िन्दगी से बहुत दूर हैं। वे मध्यवर्गीय जनसाधारण के भाव-क्षेत्र से भी दूर हैं। नये प्रकार के समीक्षक-विचारक (अब उन्हें नया नहीं कहा जा सकता), जो बनते हुए साहित्य की समीक्षा के क्षेत्र में दिशा-निर्देश करते रहते हैं, उनमें से कुछ मुझे त्याज्य प्रतीत होते हैं। मुझे बार-बार लगता है कि वे लेखक को ज़िन्दगी के तजुर्बों से हटा देना चाहते हैं। उनका सौन्दर्य-सम्बन्धी सिद्धान्त, कलाकार के धर्म और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में उनके विचार, आधुनिक भावबोध की उनकी धारणा, जनसाधारण की उपेक्षा करके लघु-मानव की उनकी कल्पना, समाज और जनता को भीड़ कहकर उसका अपमान करने की उनकी प्रवृत्ति, पूँजीवादी समाज-रचना और साम्यवादी समाज-रचना दोनों को औद्योगिक सभ्यता कहकर उस औद्योगिक सभ्यता के अन्तर्गत व्यक्ति के व्यक्तित्व के नाश की अनिवार्यता को मानना, और इस प्रकार मानव की विफलता और अगतिकता को मूलभूत और चरम मानकर अनाशा की प्रस्थापना करना—ये मुझे असंगत, अनुचित और हानिप्रद मालूम होते हैं। यद्यपि इन धारणाओं को बहुत-से कवियों ने प्रायः मान लिया है, किन्तु फिर भी (जैसाकि देखने में आ चुका है) सब कवियों ने इन्हें ग्रहण नहीं किया है, अथवा पूरा-का-पूरा ग्रहण नहीं किया है। इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि भारत ब्रिटेन-अमरीका नहीं है। यह एक पिछड़ा देश है। औद्योगिक क्रान्ति उसमें चल रही है, किन्तु पूरी नहीं हुई है। दूसरे यह कि यद्यपि कवियों के अन्तर्व्यक्तित्व और काव्य पर किसी दर्शन-विशेष का भावात्मक

नियन्त्रण नहीं है, फिर भी धर्म और परिवार के माध्यम से पुराने संस्कार शेष हैं। तीसरे यह कि विश्व-मानवता की कोई-न-कोई कल्पना उनके पास है, ऐसी कल्पना जो उनके भावात्मक जीवन में किसी-न-किसी रूप में उपस्थित है। चौथे यह कि ऊपर बतायी गयी धारणाएँ जब तक व्यापक रूप से शिक्षित मध्यवर्ग में, उच्च-मध्यवर्ग में, निम्न-मध्यवर्ग में, बुद्धिजीवी वर्ग में मूलबद्ध नहीं होतीं, और अपना एक विशेष सामाजिक वातावरण नहीं बनातीं, तब तक वे लेखकों में भी व्यापक नहीं हो सकतीं। और, चूंकि भारत ब्रिटेन-अमरीका की उन सामाजिक विकासावस्थाओं को अब तक पार नहीं कर सका है जो, सम्भवतः, उन्होंने सौ साल पहले ही पार कर ली थीं, इसलिए ब्रिटेन-अमरीका की वर्तमान भावात्मक प्रवृत्तियाँ इस देश में उपजाऊ ज़मीन नहीं पा सकतीं, भले ही कुछ लोग और कुछ क्षेत्र इसे बड़े चाव के साथ ग्रहण कर लें।

एक बात स्पष्ट है। प्रयोगवादी या नयी कविता में, प्रारम्भ काल से लेकर तो आज तक के इस समय-क्रम में, अनाशा और वैफल्य की भावना के साथ-ही-साथ स्वस्थ मानवीय उन्मेषशील मानव-कल्याणमूलक तथा कोमल मानवीय भावनापूर्ण और प्रगतिशील तत्त्व रहे हैं। वे आज भी हैं।

किन्तु, मानव-कष्ट-दुःख-सन्ताप की जीवन-भूमि इतनी स्पष्ट और सहज संवेद्य है (आज की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में ऐसा होना ही स्वाभाविक है) कि उससे इनकार नहीं किया जा सकता। वह विविध रूपों में काव्य में भी व्यक्त है। यह सही है कि वह जीवन-प्रसंगों के अन्तर्गत भाव-प्रसंग या भाव-दशा को सूचित करती है, न कि वास्तविक जीवन-प्रसंगों के सामाजिक ताने-बाने को।

पश्चिमी क्षेत्रों में सभ्यता-समीक्षा के अन्तर्गत मानव की, या कहिये व्यक्ति की, कल्पना के प्रकाश में व्यक्ति-सत्ता के विनाश के तथ्य को जो निरूपित किया गया है, और उसके चरम वैफल्य, अगतिकता और अनाशा का जो बोध कराया गया है, इन सारी बातों की श्रेणी में—उस अनाशा, उस अगतिकता, उस वैफल्य की श्रेणी में—नयी कविता की सारी दुःखात्मक अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों को नहीं डाला जा सकता। किन्तु इस खतरे को तो समझा ही जा सकता है कि स्वयं लेखक अपने भावों की व्याख्या जाने-अनजाने उस प्रकार से कर सकता है, क्योंकि उनमें से कुछ अवश्य ही वैसा करते हैं।

यह खतरा कम करके भी नहीं आँका जाना चाहिए। अध्यात्मवादी, भाववादी समीक्षक अपनी अध्यापकीय या सरकारी ऊँचाइयों पर बैठे हुए नयी धाराओं का विरोध करते हैं, और उनसे अलग रह जाते हैं। उनका उद्देश्य भलाई के दो-चार शब्द कहकर, उपदेश देकर, साहित्य-सिद्धान्त निरूपित कर, छुट्टी पा लेना है। पुराने प्रगतिवादी समीक्षक अभी भी नयी काव्य-शैली के प्रति अपनी विरक्ति को दूर नहीं कर सके हैं। इसके विपरीत, वे कसकर उसका अभी भी विरोध किये जा रहे हैं। और इस प्रकार उन्होंने यह पूरा क्षेत्र अपने प्रतिपक्षियों को समर्पित कर दिया है।

हमारा कवि (विशेष-विशेष अपवादों को छोड़कर) यह मान चुका है कि उसे जीवन-जगत् की व्याख्या करनेवाली दार्शनिक मानवीय भाव-धारा से, सामाजिक-राजनैतिक भाव-धारा से, कोई मतलव नहीं। उसका सर्वप्रधान उद्देश्य कलात्मक सौन्दर्य से पूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत करना है।

किन्तु कवि-कलाकारों की ऐसी रचनाओं को प्रकाशित करनेवाली प्रकाशन-संस्थाओं के संचालकों को सामाजिक-राजनैतिक विचारधारा से तो दिलचस्पी है ही। सम्पादकगण अ-कलाकारों से सामाजिक-राजनैतिक भाव-धारा को अवश्य ही प्रकट कराते रहते हैं। और उनके लेख अवश्य ही छापते रहते हैं। इस प्रकार कवि-कलाकार न केवल ह्वीलर स्टॉल से, वरन् पत्र-पत्रिकाओं से जिनमें कभी-कभी उनकी रचनाएँ छपती हैं, सामाजिक-राजनैतिक विचार, दार्शनिक-राजनैतिक भाव प्राप्त कर, उन्हें अवश्य ही हृदयंगम करते हैं। इस प्रकार, किसी-न-किसी अंश में, उन्होंने अपने अन्त:करण के संस्कार के कार्य का दायित्व दूसरों को दे डाला है। उनका तो दृष्टिकोण ही यह है कि कलाकार का धर्म केवल कला-कर्म है, सौन्दर्य-पूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत करना ही उनका दायित्व है। शेष जो कुछ है उससे उन्हें, एक कलाकार के रूप में, एक कलाकार की हैसियत से, कोई मतलव नहीं। और मेरा विचार यह है कि विश्व के प्रत्येक स्पन्दन से कलाकार का सम्वन्ध है।

किन्तु साथ ही, यह वात भी ध्यान में रखने की है (नहीं तो हम किसी वात की व्यर्थ ही अतिरंजना करते जायेंगे) कि आज किसी भी व्यवस्थावद्ध-जैसी विचारधारा का समाज में प्रभाव नहीं—इतना व्यापक, सर्वांगीण और सघन प्रभाव नहीं कि लेखक सामाजिक वातावरण में से उसे खींचकर आत्मगत कर सके। यह है परिस्थिति, जिसे प्रगतिवादी, आधुनिक भाववोधवादी, आदर्शवादी इत्यादि समीक्षकों को, नयी कविता की व्याख्या और मूल्यांकन के समय, ध्यान में रखना चाहिए।

प्रगतिवादी तथा आदर्शवादी समालोचक पूरी नयी काव्य-शैली के विरोधी हैं। विरोध का उतना प्रश्न नहीं, जितना इस वात का कि यह विरोध वे वनते हुए साहित्य की जीवन-भूमि से असंपृक्त रहकर, साहित्यांकित जीवन और साहित्य-सृजन की वास्तविक मानव-भूमि, इन दोनों के घनिष्ठ परस्पर-सम्वन्धों के स्वरूप का, इन दोनों के अपने-अपने विशिष्ट-विशिष्ट स्वरूप का, आकलन न करते हुए, या छिछली-सतही-दृष्टि से उनका आकलन करते हुए, न्याय-निर्णय प्रदान करते हैं। वास्तविक और विविध नवीन साहित्य-प्रवृत्तियों तथा विविध साहित्य-कृतियों का मार्मिक विश्लेपण तथा मूल्यांकन करना उन्हें अभीष्ट नहीं। सच तो यह है कि [वे] अपने-अपने सिद्धान्तों की तर्क-व्यवस्था के ऊँचे आयवरी टॉवर पर वैठे, वनते हुए साहित्य को देखते हैं। वहाँ से उन्हें आदमी छोटा नज़र आता है। इस-लिए वे अरुचि और विरक्ति से अपना मुँह फेर लेते हैं।

ध्यान में रखने की वात है कि सत् और असत् का विवेक, नित्यश:, इतना सीधा और सरल नहीं होता कि साहित्य-सृजन की जो वास्तविक जीवन-भूमि है

उससे, उस वास्तविक जीवन-भूमि की विविध परिस्थितियों तथा प्रक्रियाओं से, साहित्यिक कलाकारों के बाह्य तथा अन्तर्जीवन से—इन सबसे या इनमें से किसी एक से, असंपृक्त और सम्बन्धहीन बनकर, उनके और अपने बीच लम्बे-चौड़े फ़ासले क़ायम करके, वह समीक्षकीय सत्-असत्-विवेक एक अनिवार्यतः होनेवाले परिणाम की भाँति अपने ही आप सत्य प्राप्त कर सके।

सही है कि मानव-ज्ञान स्थिति-सापेक्ष है, वह काल-सापेक्ष है। लेखक के अन्तःकरण में संचित संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन समीक्षक को प्राप्त करना कठिन भी है। यह सचमुच सम्भव नहीं है कि समीक्षक लेखकों का आत्मवृत्त जाने। किन्तु यह तो हो ही सकता है कि समीक्षक अपने स्वयं के उद्योग से लेखक के अन्तर्बाह्य जीवन में ज़्यादा दिलचस्पी ले। इस प्रकार की ज्ञान-प्राप्ति से निःसन्देह उसे लाभ होता, और उससे समीक्षा अधिक यथार्थोन्मुख और गहरी होती।

हम लोग परिवार और पारिवारिक जीवन को साहित्य के अध्ययन में विशेष महत्त्व ही नहीं देते। आज भी व्यक्ति का विकास बाह्य समाज में तो होता ही है, वह परिवार में भी होता है। परिवार व्यक्ति के अन्तःकरण के संस्कार में तथा प्रवृत्ति-विकास में पर्याप्त योग देता है।

मेरा अपना यह ख़याल है (और इसके लिए पर्याप्त आधार है) कि आज के बहुत-से लेखकों के काव्य में आज जो वैफल्य का भाव है, उस वैफल्य की संवेदनाओं का एक स्रोत उसके (लेखक के) परिवार की स्थिति और दशा में, या परिवार के भीतर उसकी स्थिति और दशा में, खोजा जा सकता है।

क्या यह बताने की ज़रूरत है कि परिवार के भीतर नये और पुराने का ज़बर्दस्त संघर्ष चलता है, कि उसके भीतर अहंवादी तथा अनुदार संकुचित दृष्टि-वादी प्रवृत्तियों की टकराहट होती है,—उस प्रवृत्ति से, जो अधिक उदार है, अधिक व्यापक दृष्टिवाली है।

और क्या सिर्फ़ इतना समझकर ही सन्तुष्ट हुआ जा सकता है? क्या यह नहीं जानना चाहिए कि परिवार में जिस व्यक्ति से प्रेम का प्रगाढ़ सम्बन्ध होता है (कभी-कभी [या] बहुत बार भी) उसी से हृदयविदारक संघर्ष होते हैं? क्या यह जानता ज़रूरी नहीं है कि अगर कहीं दिल सबसे ज़्यादा टूटता है, तो परिवार के भीतर रहकर पारिवारिक संघर्ष में ही? जिस व्यक्ति से प्रगाढ़ प्रेम, उसी से तीव्र विरक्ति—क्या ये दृश्य हमें दिखायी नहीं देते? क्या इस प्रकार का एम्बी-वैलेन्स (जो कि परिवार ही से शुरू होता है), यह द्विविध विपरीत-विधि प्रवृत्ति, हमें अपने अन्तःकरण में भयानक पीड़ा प्रदान नहीं करती?

जब कवि कहता है—बार-बार कहता है—कि मैं केवल अपने-आपको प्रकट कर रहा हूँ, तो क्यों यह समझा जाय कि वह जगत् का प्रतिनिधित्व कर रहा है? उसकी विफलता के भाव को, उसकी निराशा के भाव को, उसका जीवन-दर्शन क्यों माना जाय, उसकी दो-चार कविताओं को ही देखकर?

यह आवश्यक है कि हम उसकी सब रचनाओं को देखें, और यदि वह कहानी-

कार और निबन्धकार भी है, तो उसकी उन रचनाओं को भी पढ़ जायें। तब इस समग्र को पढ़कर लेखक-व्यक्तित्व की आनुमानिक आकृति अपने सामने उपस्थित करें। जहाँ उसका विरोध करना है, उसके विचित्र तत्त्वों की प्रतिकूल आलोचना करनी है, वह अवश्य ही करें। किन्तु यह सब जल्दबाज़ी में न हो, अपने किसी पूर्वप्राप्त सिद्धान्त अथवा मान्यता की पुष्टि ही के लिए, उसी लेखक के अन्य उदाहरणों को छोड़कर, न हो।

यह एकदम सही है कि कविता एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। इस अर्थ में वह सांस्कृतिक प्रक्रिया है कि लेखक अपने जाने-अनजाने अपने अन्त:करण में संचित भावावेगों के साथ जीवन-मूल्य भी प्रकट कर रहा है—गूँज की एक अनुगूँज के रूप में।

वह इस अर्थ में भी सांस्कृतिक प्रक्रिया है कि लेखक, शिक्षा, संस्कार और परम्परा से क्षालित और परिमार्जित जो भाव-समुदाय हैं, उन्हें निज-विशिष्ट भूमि से ऊपर उठाकर, सर्व-सामान्य भूमि पर स्थापित करते हुए, सर्व-विशिष्ट बना रहा है।

यह सब सही है। किन्तु वह इस अर्थ में सांस्कृतिक प्रक्रिया नहीं है कि लेखक काव्य में नेतृत्व प्रदान करता है, या उपदेश देता है, अथवा केवल उच्च, उदात्त, श्रेष्ठ तथा महापुरुषोचित भावनाओं को ही प्रकट करता है। वह सामान्य मानव के रूप में सामान्य किन्तु प्रधान भावनाएँ प्रकट करता है—वे भावनाएँ जो उसकी स्थिति को सूचित करती हैं।

और, इस प्रकार की भावनाएँ यदि सौन्दर्यपूर्ण होकर, कलात्मक स्वरूप धारण कर, काव्य में प्रस्तुत होती हैं, (बशर्ते कि भावना रूप में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट होनेवाले जीवन-मूल्य उचित हों, और यथार्थ की संवेदनात्मक व्याख्या सही हो) तो नि:सन्देह वह कविता या काव्य पाठक को मानव-यथार्थ में अन्तर्दृष्टि प्रदान करेगा, संवेदनात्मक जीवन-मूल्य प्रदान करेगा, उसकी संवेदनाओं को उद्बुद्ध करके उसे अधिक संवेदनक्षम बनायेगा। चूँकि साहित्य यह सब बातें करता है, इसीलिए वह (इस अर्थ में) पाठक को अधिक मानवीय भी बनाता है।

किसी ज़माने में प्रयोगवादी कविता प्रगतिवाद के अधिक निकट थी। किन्तु प्रगतिवादियों ने उसकी खूब उपेक्षा की।

जो अपने से भिन्न है, वह अपना विरोधी भी है। जो काव्य के अपने माने हुए ढाँचे में जमा हुआ नहीं है, वह ग़लत भी है, असुन्दर भी है, प्रतिक्रियावादी है। इस प्रकार का सोच-विचार समीक्षकों की मानव-यथार्थ से दूरी—लम्बे-चौड़े फ़ासले—सूचित करता है।

और इन फ़ासलों ही के कारण साहित्य-क्षेत्र में एक विशेष प्रकार की परिस्थिति पैदा हो जाती है, जो साहित्य-विकास के अनुकूल नहीं कही जा सकती।

प्रगतिवादियों के व्यवहार द्वारा यह सूचित होता [था] कि वे मुक्ति-संघर्ष, राष्ट्र-प्रेम, प्राकृतिक सौन्दर्य, नारी-सौन्दर्य, यथार्थ-आलोचन-भावना, आशा,

उत्साह, तथा तत्समान अन्य भावों को प्रगतिशील समझते हैं। किन्तु शेष सब भावनाएं, जैसे, भयानक ग्लानि, निराशा-अनाशा, वैफल्य तथा इसी श्रेणी की अन्य भावनाएं, प्रतिक्रियावादी हैं। यह उनकी पसन्दगियों से, उनके व्यवहार से, उनकी बातचीत के ढंग से, और उनके सम्पादकीयों अथवा लेखों से, सूचित होता था। इस प्रकार लगता था मानो वह एक योजनावद्ध विभाजनीकरण हो।

कोई भी भावना न अपने-आपमें प्रतिक्रियावादी होती है, न प्रगतिशील। वह वास्तविक जीवन-सम्बन्धों से युक्त होकर ही उचित या अनुचित, संगत या असंगत, सिद्ध हो सकती है। किसी भी भावना के जीवन-सम्बन्धों को देखना आवश्यक है। घृणा यदि उचित के प्रति है तो वह स्वयं घृण्य है, यदि वह अनुचित के प्रति है तो वह प्रशंसनीय है। उसी प्रकार, वैफल्य और निराशा किन जीवन-सम्बन्धों के आधार पर है? उस निराशा की जन्मभूमि जो मानव-जीवन है, उसको ध्यान में रखकर ही, उसका विश्लेषण और मूल्यांकन किया जा सकता है।

यह कैसा अजीव आग्रह है कि कविता एक खास क़िस्म के ढांचे में ही बँधी हुई होनी चाहिए! आज भी वे उसी छायावादी-प्रगतिवादी युग के काव्य-पैटर्न से नयी कविता को परखते हैं।

सच तो यह है कि वे काव्य को अपने सिद्धान्तों के उदाहरण के रूप में देखना चाहते हैं। चूंकि यह हो नहीं पाता, इसलिए वे विगड़ पड़ते हैं।

महत्त्व की बात यह है कि [वे] अपने सिद्धान्तों के टॉवर पर से नीचे उतरकर, वास्तव मानव-यथार्थ और उसकी काव्यात्मक प्रतिक्रियाओं से सम्पर्क स्थापित करना, और निरपेक्ष भाव से उसके स्वरूप का अध्ययन करना नहीं चाहते। मेरा अभी भी विश्वास है कि यदि वे अभी भी नीचे उतरें, और नदी के कगार पर खड़े होकर उसके बांके-तिरछे वहे जाने को उतना न कोसें, वरन् स्वयं उसका सर्वांगीण समीक्षण करें, तो उन्हें उसमें इतनी बुराई नहीं दीखेगी।

साथ ही, उससे निकट सम्पर्क, गहन आत्मीय सम्पर्क स्थापित करने के उपरान्त ही, वे उसे अपना भी कुछ दे सकेंगे। नहीं तो नहीं।

मार्क्सवादी दर्शन एक यथार्थ दर्शन है; यथार्थ-विकास का, मानव-संज्ञा के विकास का, दर्शन है। अतएव उसके लिए सर्वाधिक मूलभूत और महत्त्वपूर्ण है, जीवन-तथ्यों की वास्तविकता, जो राजनीति, समाजनीति, कला, आदि को उपस्थित करती है।

जीवन-तथ्यों की वास्तविकता अर्थात् मानव-यथार्थ को दृष्टि से ओझल करके सिद्धान्तों को जब लागू किया जाता है, तब भूल होना स्वाभाविक होता है। महत्त्व की बात यह है कि जब मानव-यथार्थ ही को ठीक ढंग से नहीं समझा जा रहा है, तो उसके (कलाकार द्वारा किये गये) सामान्यीकरणों को, उन सामान्यीकरणों के चित्र-रूपों को, उनके प्रतीकों को, उनके बिम्बों को, कैसे समझा जायेगा!

मेरे उपर्युक्त निवेदन का यह अर्थ नहीं है कि मैं इस स्थान पर लेखकों का

कोई डिफ़ेन्स खड़ा कर रहा हूँ। मैं तो केवल यह कहना चाह रहा हूँ कि महान् से महान् समीक्षक जब काव्य-सृजन की मानव-भूमि से कट जाता है, तब वह एक बहुत बड़ा खतरा उठाता है। सच बात तो यह है कि ये लोग अपनी सिद्धान्त-व्यवस्था के भीतर अटक गये थे।

नयी काव्य-प्रवृत्तियों के आधारभूत मानव-जीवन के प्रति उन्हें कोई अनुराग न था। इसलिए उन प्रवृत्तियों के विशेष सन्दर्भ भी वे न समझ सके। अतएव उन प्रवृत्तियों को ग़लत सन्दर्भ में देखा गया। निराला की सघन बिम्ब-व्यवस्था और महादेवी की सघन प्रतीक-व्यवस्था उन्हें समझ में आ सकती थी, किन्तु नयी कविता की नहीं।

चूँकि मैं समीक्षा-सिद्धान्तों के वास्तविक प्रयोग, वास्तविक व्यवहार, के सम्बन्ध में यहाँ लिख रहा हूँ, इसलिए इस विषय के भीतर भी पैंठना चाहता हूँ। मैं जानबूझकर प्रगतिवादियों का विरोध करने के लिए, किसी राजनैतिक दृष्टि से प्रेरित दुर्भाव को लेकर नहीं बैठा हूँ। इसलिए और भी तत्पर होकर मैं इस सम्बन्ध में अपने कुछ निवेदन प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

आत्मग्रस्त व्यक्तिकेन्द्री काव्य! क्या शैले का काव्य आत्मग्रस्त व्यतिकेन्द्री नहीं था? क्या रवीन्द्र का काव्य आत्मग्रस्त व्यक्तिकेन्द्री नहीं था? क्या महादेवी और प्रसाद का काव्य आत्मग्रस्त व्यक्तिकेन्द्री नहीं था?

था, था, था! किन्तु उनमें जीवन के व्यापक आदर्श, जीवन की प्रबुद्ध चेतना, मानव-प्रेम, अपूर्व सौन्दर्य-दृष्टि थी। उसमें अन्तरात्मा का सौन्दर्य था। और प्रयोगवादी कविता नयी कविता में यह सब नहीं है—उसमें वैयक्तिक विफलता, वैयक्तिक निराशा तथा ग्लानि, और दूसरे कई भावों में व्यक्त आत्मग्रस्तता है। इसलिए हम उसका विरोध करते हैं। हम ठीक विरोध करते हैं।

किन्तु महोदय, क्या आप यह बतायेंगे कि उस नये काव्य-रूप में कहीं भी आपको ऐसी भयानक विफलता के अतिरिक्त, इन भावों के अतिरिक्त, दूसरे भाव नहीं मिले? क्या आपने शमशेर की, नरेश मेहता की तथा अन्य कवियों की सब कविताएँ देखीं?

और क्या आपने वास्तविक काव्य-कृतियों को उनकी समग्रता में लेकर किसी कवि-विशेष का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत किया? (क्या आपने प्रगतिशील लेखक, जैसे, यशपाल—इनके सम्बन्ध में, अथवा अन्य, जैसे डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी—इनके सम्बन्ध में ऐसा किया?) सर्वाधिक काव्य-संग्रह अज्ञेयजी के ही प्रकाशित थे। आप उन सबको पढ़कर (अपने दृष्टिकोण से) विशेष विश्लेषण प्रस्तुत कर सकते थे, उनका मूल्यांकन उपस्थित कर सकते थे!

यदि आप समीक्षा के क्षेत्र में कार्य कर रहे थे—आप अवश्य ही इस क्षेत्र में क्रियाशील रहे आये हैं—तो क्या यह आवश्यक नहीं था कि किसी भी कवि की समग्र रचनाएँ पढ़कर आप उसके सम्बन्ध में अपनी धारणाएँ बनाते?

और, अगर आपके पास उसकी समग्र रचनाएँ नहीं थीं, तो आप उस विशेष

कवि ने या अन्य कवियों से सम्पर्क स्थापित करके उनसे वे रचनाएँ मँगाते, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी या उसकी रचनाओं का संकलन करते ! संक्षेप में, आप इस प्रारम्भिक कार्य को तत्परतापूर्वक, विशेष चिन्तापूर्वक, सम्पन्न करते ! इस प्रकार, प्रधान कवियों को (इस धारा के उन कवियों को जिन्हें आप प्रधान समझते थे, या प्रधान समझ सकने की स्थिति में थे) अपने पास रखकर उनकी (प्राप्त) समग्र कविताओं का अध्ययन करते, विश्लेषण करते, मूल्यांकन करते ! और फिर नये काव्य-प्रकार के, नयी काव्य-धारा के, सम्बन्ध में अपना मत बनाते !

उसकी क्षमताओं और सीमाओं, उसके गुणों और दुर्गुणों, उसकी विशेषताओं, का विश्लेषण और स्पष्टीकरण करना क्या किसी भी समीक्षक के लिए आवश्यक नहीं था ? और आप तो अत्यन्त प्रसिद्ध दक्ष समीक्षक थे—ऐसे समीक्षक, जो यथार्थ की गति को एक विशेष दिशा में मोड़ना चाहते हैं ! तो क्या उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, आपको प्रयोगवादी नयी कविता की आधारभूत मानव-भूमि को समझना आवश्यक नहीं था ? सारे तथ्यों और सारी कृतियों को एकत्र करके उनकी विशेषताओं और क्षमताओं तथा सीमाओं का अध्ययन करना आवश्यक नहीं था ? और, क्या इस प्रकार किसी एक कवि की समग्र प्राप्त कृतियों का अध्ययन करके और इस प्रकार सब प्रधान और अप्रधान, किन्तु आपके अपने लेखे महत्त्वपूर्ण, कवियों का अध्ययन करके विश्लेषण और मूल्यांकन करना आवश्यक नहीं था ? और, इस प्रकार इन सब कवियों का विश्लेषण-मूल्यांकन करके, इस नयी काव्य-धारा का स्वरूप-विश्लेषण और मूल्यांकन करना आवश्यक नहीं था ? क्या सचमुच ऐसा ज़रूरी नहीं था ?

यथार्थ की गति को अनुकूल दिशा में मोड़ने के लिए, यथार्थ के व्यक्त रूपों का—समग्र व्यक्त रूपों का—उनकी गति और स्थिति में अध्ययन करना आवश्यक है, उनके बहिरन्तर सम्बन्धों और परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियाओं का आकलन आवश्यक है।

यह मूल, प्रधान, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रथम कार्य है, क्योंकि इसी के आधार पर आगे के कार्य किये जा सकते हैं। इसकी आधारभूत प्राथमिकता के महत्त्व को कभी भी कम करके नहीं देखा जा सकता, नहीं देखा जाना चाहिए। अगर यह आधार खिसक गया तो सारा भवन ढह जायेगा।

किसी भी अध्ययन-अनुशीलन के लिए प्रारम्भिक तथ्य अपनी समग्रता, अपनी सम्पूर्णता में अपने मन के सामने उपस्थित करना आवश्यक है। फिर वह विज्ञान कोई भी हो, शास्त्र कोई भी हो। इसमें सम्पूर्ण आत्म-निरपेक्षता, सतर्कता, और जाग्रत दृष्टि आवश्यक है।

साथ ही, मार्मिकता भी आवश्यक है। यथार्थ के व्यक्त रूपों की, अर्थात् तथ्यों की, अगर आपने ग़लत तसवीर खड़ी की—अपने पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होकर, स्वयं आत्मग्रस्त होकर—तो ऐसी स्थिति में आपकी जाग्रत दृष्टि आपके पूर्वाग्रहों के रंग में रँग जायेगी। इसका परिणाम यह होगा कि तथ्यों के केवल एक पक्ष या

अंग को ही आप देख सकेंगे, विभिन्न पक्षों को नहीं देख सकेंगे, समग्र को नहीं देख पायेंगे, और अपने देखे हुए उस एक अंग को ही समग्र समझने लगेंगे, अथवा उस एक अंग को ही आप सर्वप्रधान मानने लगेंगे, सारभूत मानने लगेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि ग़लत तसवीर आप खड़ी करेंगे, आपका अध्ययन भी एकांगी होकर उसका प्रभाव विश्लेषण पर भी होगा, विश्लेषण में त्रुटियाँ रह जायेंगी, मूल्यांकन विकृत हो उठेगा।

ये अत्यन्त साधारण और मूलभूत बातें हैं। किन्तु क्या हम उनको बहुत बार भूल नहीं जाते? जी हाँ, यहाँ आदमी की अकसर भूल होती है।

तथ्याध्ययन के इस अत्यन्त प्रधान और प्राथमिक कार्य में हमारे सच्चे मानवत्व की परीक्षा होती है। तथ्यों के प्रति कभी-कभी हमारे हृदय में स्थित जो निगूढ़ प्रतिकूल भाव होते हैं, उनकी क्रियाओं को थाम लेना पड़ता है। आत्म-निरपेक्षता को पहले प्राप्त करना, और फिर प्रयोग करना पड़ता है। आत्म-निरपेक्षता सहज तथ्य-वस्तु नहीं है।

जीवन के तथ्य तो और भी पेचीदा, और भी उलझे हुए, होते हैं। उनके प्रति हमारे अनुकूल या प्रतिकूल भाव पहले ही से सक्रिय होते हैं। अतएव हम बहुत शीघ्र उनके प्रति आत्मबद्ध प्रतिक्रिया कर जाते हैं। जिस समय काव्य में जीवन-तथ्य सामान्यीकृत रूप में कल्पना-चित्रों में, बिम्ब-व्यवस्था में, भाव-मात्र या केवल प्रवृत्ति-मात्र बनकर उपस्थित होते हैं, तो हमारी स्वाग्रही प्रवृत्तियाँ तुरन्त ही उन्हें स्वीकार या अस्वीकार कर डालती हैं। दूसरे शब्दों में, समीक्षा के क्षेत्र में आत्माग्रही प्रवृत्तियाँ जाने-अनजाने ढंग से, विभिन्न वेशों और रूपों में, कार्य करती हैं। वे सिद्धान्त के नाम पर, तो किसी आदर्श-विशेष के नाम पर, या सौन्दर्य के नाम पर, अपने-आपको लादने और थोपने का कार्य करती हैं। समीक्षा के क्षेत्र में आत्म-निरपेक्षता अभ्यासजन्य होती है।

मार्क्सवाद यदि एक विज्ञान है (जैसा कि वह है), तो वैसी स्थिति में उसके लिए तथ्यानुशीलन—जीवनगत और काव्यगत, दोनों एक साथ—प्राथमिक और प्रधान महत्त्व रखता है।

और यह तभी सम्भव हो सकता है जब मनुष्य स्वयं मानव-जीवन से, उसके विभिन्न रूपों और प्रवृत्तियों से, घनिष्ठ सम्बन्ध रखे। किसी काव्य-प्रवृत्ति के आधारभूत मानव-जीवन से जब तक समीक्षक एक-साथ आत्म-निरपेक्ष आत्म-सम्बन्ध स्थापित नहीं करता, तब तक वह समग्र तथ्यों को, उन तथ्यों के अपने निजी विशेष स्वरूप में, अपने मन के सामने उनके समग्र रूप में, उनके अपने अन्तःसम्बन्धयुक्त सर्वांगीण रूप में, उपस्थित ही नहीं कर सकता।

ऐसा न कर पाने के अपराध के परिणामस्वरूप, प्रगतिवादी समीक्षकों के प्रति लेखक-वर्ग की आदर-भावना जाती रही, उनकी श्रद्धा का क्षय हुआ। और [जब] इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होकर विकसित और विस्तृत होने लगी, तब विपक्षी तत्त्वों द्वारा शीतयुद्ध के उद्देश्यों से परिचालित आक्रमण शुरू हुए। अतएव प्रगति-

वादी समीक्षकों की इस असफलता का दोष, मुख्यतः,—हाँ, मुख्यतः, एकमात्र रूप से—'प्रतिक्रिया' (जिसे वे, साधारण शब्दावली में, राजनैतिक ढंग से प्रतिक्रिया कहते हैं) के सिर पर मढ़ना बिलकुल ग़लत, अनुचित और भ्रामक है। इस प्रभाव-क्षय के कारणों के मूल बीज प्रगतिवादियों की समीक्षा की अपूर्णताओं में पहले ही से विद्यमान थे, और अब तक ऐसा कोई बड़ा प्रमाण नहीं मिला है जिससे यह सिद्ध हो सके कि वे अक्षमताएँ अब नहीं हैं।

हाँ, यह सही है कि नयी कविता की भी विरोधी आलोचना हो सकती है, और खूब हो सकती है। लेकिन कब ? जीवन-यथार्थ के प्रति संवेदनशील होकर ही, उसमें संवेदनात्मक सूक्ष्म दृष्टि रखकर ही, वह हो सकती है, अन्यथा नहीं।

प्रत्येक कलाकृति के भीतर भाव-समुदाय के अपने विशेष सन्दर्भ होते हैं। उन सन्दर्भों को जब तक ठीक-ठीक नहीं समझा जाता, तब तक हम कलाकृति का भावार्थ नहीं समझ सकते। किन्तु उन सन्दर्भों को हम किस तरह पकड़ पायेंगे, जब कि वे सन्दर्भ खुलासावार, यानी साफ़-साफ़ तौरपर, भूमिका के रूप में प्रस्तुत न हों—इस प्रकार का प्रश्न किया जा सकता है।

किन्तु आधुनिक युग के आत्मपरक काव्य की एक विशेषता यह रही है कि कभी तो उसके सन्दर्भ स्पष्टतः संकेतित होते हैं, और कभी वे काव्य में व्यक्त भाव या भावना के भीतर से दीपित और ज्योतित हो उठते हैं। अतएव काव्य-भावना के आन्तरिक वास्तविक सन्दर्भों को भूलने से, या उनको ग़लत ढंग से लेने से, काम नहीं चलेगा।

ये सन्दर्भ असल में क्या हैं ? उन सन्दर्भों की क्या स्थिति होती है ? वे कहाँ किस प्रकार से अवस्थित होते हैं ? आइये, इन प्रश्नों पर हम पल-भर विचार कर लें।

भावना स्वयं हृदय में संचित प्रतिक्रियाओं का, मानसिक संवेदनात्मक प्रति-क्रियाओं का, एक समुदाय है। वह भाषा में व्यक्त होकर, भाव-रूप बनकर, विशिष्ट-विशिष्ट संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं का सामान्यीकरण बन जाता है। उस भाव-रूप के भीतर से हमें जीवन की स्थितियों की—वस्तु-तथ्यों की—सूचना मिल जाती है कि जिनके प्रति अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ की गयी हैं। इस भाव-रूप को मूर्तिमान करने के लिए कल्पना-चित्र भी प्रस्तुत होते हैं। ज़रा सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि कल्पना-चित्र स्वयं एक बोधात्मक या ज्ञानात्मक (जीवन-ज्ञानात्मक) पक्ष रखते हैं, और उनका दूसरा पक्ष निःसन्देह संवेदनात्मक होता है। इस प्रकार दोनों पक्षों के संयोग से कल्पना-चित्र में सौन्दर्य और सार्थकता उत्पन्न होती है। कल्पना और भावना, दोनों का जो मिला-जुला रूप हमें कलाकृति में दिखायी देता है, उसके माध्यम से हम उन वस्तु-सत्यों का—जीवन-स्थितियों का—अनुमान कर सकते हैं कि जिनके प्रति वास्तविक जीवन में की गयी संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ कवि-हृदय में संचित होकर भाव या भावना का रूप धारण कर चुकी हैं।

भावना में, कल्पना में झलक-झलक उठनेवाले, तथा कलाकृति के भीतर की गति में—उस गति में, जो एक विशेष दिशा की ओर धावित-प्रधावित होती है, और उसकी अन्तिम उत्स्फूर्ति में, अर्थात् ज्योतिर्मान परिणति में, इन सवमें—झलक-झलक उठनेवाले जो वस्तु-सत्य हैं, वे सव तत्समान सारे वस्तु-तथ्यों और जीवन-स्थितियों का सामान्यीकृत रूप होते हैं।

जैसा कि मैं कह चुका हूँ, भावना स्वयं हृदय में संचित संवेदनात्मक विशिष्ट-विशिष्ट प्रतिक्रियाओं का सामान्यीकृत रूप है, कल्पना उसे मूर्तिमान करती है। इस प्रकार, सामान्यीकृत भावना कल्पना द्वारा मूर्तिमान हो उठती है। इस ढंग से काव्य-रचना में अमूर्त्तीकरण (अमूर्त्तन) होता है और फिर उस अमूर्त्त को मूर्त्त वनाया जाता है। और, इस प्रकार उपस्थित यह जो मूर्त्त है, वह प्रतिनिधि हो उठता है तत्समान सारी भाव-स्थितियों, मनोदशाओं, जीवन-स्थितियों और जीवन-दशाओं—जीवन-तथ्यों का।

इसीलिए, कल्पना-चित्र या बिम्व-विधान स्वयं वस्तु-सत्यों के ज्ञान की एक विशेष प्रणाली है, जो सृजन-प्रक्रिया में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

मेरे इन वक्तव्यों का आशय यही है कि नयी कविता में जीवन-स्थितियों पर प्रकाश नहीं पड़ता है, यह वात नहीं है। ये वस्तु-स्थितियाँ, ये जीवन-स्थितियाँ, नि:सन्देह, जिस रूप में और जिस कवि-दृष्टि से काव्य में उपस्थित की गयी हैं, उस रूप की और उस कवि-दृष्टि की (समीक्षक द्वारा) आलोचना—विरोधी आलोचना—भी हो सकती है, वशर्ते कि वह आलोचना, उस कलाकृति के भीतर के तत्त्वों को हृदयंगम करते हुए, उन तत्त्वों की समुचित व्याख्या के आधार पर हो।

क्या यह दुहराया जाये कि समीक्षक का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह किसी भी कलाकृति के अन्तर्तत्त्वों को—उसके प्राण-तत्त्वों को—भावना-कल्पना को हृदयंगम करे, और एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित अन्तर्धारा की गति को, और उसकी अन्तिम परिणति को, सहानुभूतिपूर्वक अच्छी तरह समझे और तदुपरान्त उसका विश्लेपण करे। किसी भी कलाकृति के भीतर जो गतिमान तत्त्व होते हैं, उनके अर्थ व्यापक होते हैं। अतएव उन तत्त्वों के अन्त:सम्वन्ध, उन अन्त:-सम्वन्धों के समुच्चय की विशेप गठन कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती। जव हम उन गतिमान अन्तर्तत्त्वों के गहन पारस्परिक सम्वन्ध, और उन पारस्परिक अन्त:-सम्वन्धों के समुच्चय की विशेप गठन को हृदयंगम कर लेंगे, तव न केवल हम उस कलाकृति को उसकी समग्रता में समझ सकेंगे, वरन् लेखक-कलाकार के व्यक्तित्त्व और उसकी जीवन-भूमि तक सहज ही पहुँच सकेंगे। किन्तु इसके लिए समीक्षक के पास प्रगाढ़ जीवनानुभूति चाहिए, वैविध्यपूर्ण प्रगाढ़ अनुभव-सम्पन्नता तथा मार्मिक जीवन-विवेक चाहिए।

यदि समीक्षक की अन्तर्यात्रा यहाँ तक हो गयी, यदि वह स्वयं कलाकृति के भीतर के गतिमान प्राण-तत्त्वों का मार्मिक संवेदनात्मक आकलन कर सका, उन

विभिन्न अन्तर्तत्वों के अन्तःसम्बन्ध पहचान सका, संवेदनात्मक रूप से उन्हें ग्रहण कर सका, उन अन्तःसम्बन्धों के समुच्चय की विशेष गठन को आत्मगत कर सका—अर्थात् उन्हें खूब अच्छी तरह जान सका—तथा विशेष दिशा में प्रवाहित अन्तर्धारा की गति को और उसकी अन्तिम परिणति को समझ सका, तो यह समझा जायेगा कि वह क्षण अब शीघ्र ही आ रहा है जब समीक्षक स्वयं उन अन्तर्तत्वों की व्याख्या तक पहुँचेगा, और कलाकृति को उसकी समग्रता में समझ-कर, उनके स्वरूप का विश्लेषण करते हुए वह कलात्मक मूल्यांकन करेगा, तथा कवि-व्यक्तित्व और उसकी विशेष जीवन-भूमि पर प्रकाश डाल सकेगा। किन्तु यदि उसके ये प्राथमिक कार्य ही अधूरे हैं, यदि उसके पास इतनी संवेदन-क्षमता ही नहीं है कि वह कवि के साथ कुछ दूर तक चल सके, तो ऐसी स्थिति में स्वरूप-विश्लेषण और व्याख्या, तथा सिद्धान्त—प्रयोग और शब्दावलियाँ—सब भ्रामक हो उठेंगी।

किन्तु यदि प्रगतिवादी महोदय वास्तविक कला-समीक्षा के कार्य में तत्पर होते तो उन्हें प्रयोगवाद में, नयी कविता में, स्वस्थ प्रगतिकांक्षी मानवीय तत्त्व और कलात्मक सौन्दर्य का उद्भास अवश्य मिलता।

किन्तु प्रयोगवादी नयी कविता में सामाजिक-राजनैतिक पक्ष की प्रधानता न होने के कारण, (वह बिलकुल ही नहीं था, या नहीं है, यह कहना ग़लत है), उसके विषय भिन्न होने के कारण, प्रगतिवादियों में इतनी मानसिक तत्परता नहीं थी, कि जो मानसिक तत्परता अपने कार्य द्वारा विस्तृत कला समीक्षा तथा विस्तृत समीक्षा-साहित्य हमें प्रदान कर जाती।

यही कारण है कि साहित्य की रचनात्मक प्रक्रियाओं में उन्होंने कोई दिलचस्पी नहीं ली। और यदि ली भी, तो छिटपुट ढंग से। वे यह भूल गये कि लेखकों का एक विशाल समुदाय होता है। और बात इस तरह कही जानी चाहिए, ऐसी शब्दा-वली में कही जानी चाहिए कि जो लेखकों के गले उतरे, प्रयोगवादी या नये कवियों के गले उतरे, और लेखक को यह महसूस होता रहे कि समीक्षक मेरा आत्मीय बन्धु है, और वह भले ही मुझसे मतभेद रखता हो, किन्तु मुझमें और साहित्य की प्रक्रियाओं में उसकी सच्ची और गहरी दिलचस्पी है।

जिस लेखक के काव्य में जितनी ही अधिक दुःखात्मक अनवस्था व्यक्त होती है, उसे मानवीय सहानुभूति और प्रेम की उतनी ही अधिक आवश्यकता होती है। वह लेखक अपनी दुःखात्मक अनवस्था मे प्रेम और सहानुभूति के द्वारा ही ऊपर उठ सकता है। निःसन्देह, समीक्षक का यह एक प्रधान धर्म है कि इस दुःखात्मक अनवस्था के भौतिक और मनोवैज्ञानिक कारणों को हृदयंगम करे, और अपने विवेक तथा हृदय की सारी शक्ति को केन्द्रित करके, हलके-हलके, नाज़ुक ढंग से, क्रमशः अपने प्रेम और सहानुभूति की उष्ण शक्ति के द्वारा, उसे ऊपर उठाये। समीक्षक का यह मानव-धर्म है, या यों कहिये कि जीवनानुभवसम्पन्न, संवेदनशील, विवेकवान समीक्षक के समीक्षा-कार्य की यह मानवीयता है। किन्तु जहाँ समीक्षक

लेखक को अवांछनीय अथवा विपक्षी या शत्रु समझता है, व्यक्ति के रूप में नहीं, किसी प्रवृत्ति के प्रतीक या प्रतिनिधि के रूप में—ऐसे लेखक को जो आपसे भिन्न मत रख सकता है, फिर भी जो अभी विकासमान है, जिसमें अभी ज्वलन्त स्फुलिंग हैं, जो आपके विपक्षियों के घोषित दल का सिपहसालार नहीं है, जो अभी बन रहा है, प्रसिद्ध हो चुका है, किन्तु अपनी विकास-यात्रा के दीर्घ पथ को जिसे अभी पार करना है—ऐसे लेखक को यदि समीक्षक अपना, अपने आक्रमणों का, लक्ष्य बनाता है, तो भले ही उसके आक्रमण सफल हों, वह समीक्षक अपने लक्ष्य से च्युत हो गया, यह सन्देह के परे है। किन्तु समीक्षक यदि ऐसे लेखक अथवा लेखकों की उपेक्षा कर जाता है, अपनी विवेकशील सहानुभूति और प्रेम की उष्ण शक्ति का प्रयोग इस कार्य में नहीं करता, तो ऐसी स्थिति में भी वह समीक्षक भारी भूल करता है।

और समीक्षा के क्षेत्र में ऐसे भयानक विभ्राट तब होते हैं, जब समीक्षक, साहित्य-सृजन की मूलाधार वास्तविक मानव-भूमि से सम्बन्ध त्याग करके, अपने-आपमें स्वयंपूर्ण-सम्पूर्ण बनकर उपस्थित होता है, तथा पाण्डित्य का चण्डत्व और चिन्तन की चतुरता बताते हुए सैद्धान्तिक शब्दावली में अपने-आपको स्थापित करने का प्रयत्न करने लगता है। ऐसे समय समीक्षक का उद्देश्य लेखक से परस्पर संवाद करना, आत्मीय आधार पर विचार-विनिमय करना, एक-दूसरे का परिज्ञान करना, नहीं है, वरन् कुछ और है। वह अपनी मूलभूत सचाई और ईमानदारी के उष्ण और आलोकपूर्ण प्रकाश में लेखक के हृदय को जीतना नहीं चाहता, वरन् अपने-आपको उससे महत्त्वपूर्ण समझते हुए, अथवा उसे भटका हुआ समझते हुए, अपने अस्तित्व के महान् औचित्य को स्थापित करना चाहता है।

सच [यह] है कि लेखक महापुरुष बनकर पैदा नहीं होता, वह आदर्शवादी, अध्यात्मवादी, साम्यवादी बनकर नहीं जनमता। वह अपने सामाजिक वातावरण में साँस लेकर अपने परिवेश से प्रतिक्रिया करता है। उसे अपने परिवेश के भीतर जो कटु अनुभव प्राप्त हैं, उन कटु अनुभवों की बारम्बारता उसमें सघन निबिड़ कटुत्व का भाव उत्पन्न करती है, और यह भाव स्थायी भाव भी बन सकता है। उसी प्रकार अन्य अनुभवों के सम्बन्ध में भी यह सच है। एक विशेष जीवनावस्था की विशेष परिस्थितियों में, और उन परिस्थितियों की प्रायः नित्यता की स्थिति में, एक विशेष प्रकार की एक विशेष रूप-शैली की संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ अपनी तीव्रतम बारम्बारता स्थापित कर लेती है। और ऐसी प्रतिक्रियाओं की तीव्रतम बारम्बारता जब प्रायः नित्यत्व में बदल जाती है, तो लेखक के हृदय में वे संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ, क्रमशः, अपनी अभिव्यक्ति के कलात्मक उपादानों का विकास करने लगती हैं, और, अन्त में, एक कलाकृति नहीं, कलाकृतियों में परिणत हो जाती हैं।

ऐसे समय में, जो कवि-दृष्टि है, अर्थात् कवि की जो भाव-दृष्टि है, वह जीवन-दृष्टि उन संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं में डूबी हुई होती है। वह उसी प्रकार डूबी

हुई होती है जिस प्रकार ज्ञान स्वयं वेदना में डूबकर वेदनायित हो उठता है। संक्षेप में, काव्य में वेदना की भाषा दुःख की भाषा दिखायी देती है। और इस तरह के काव्य में हमें जो एक दुःखात्मक अनवस्था के भीतर जीवन-आलोचन दिखायी देता है, वह अपने परिवेश के प्रति उन क्षणों में की गयी एक प्रतिक्रिया या प्रतिक्रियाओं की तीव्राघातपूर्ण पंक्ति है। वह लेखक का कोई सैद्धान्तिक जीवन-दर्शन नहीं है।

यह एकदम सही है कि लेखक जितना अधिक अनुभवसम्पन्न, विवेकशील, और वैविध्यपूर्ण प्रसंगों का भोक्ता रहा होगा, जीवन-विस्तारों के प्रति जितनी ही अधिक उत्सुकता, जिज्ञासा और सर्वाश्लेषी भावना उसमें रही होगी, उसमें उतनी ही अधिक उदात्तता, गम्भीरता और विशालता आयेगी। यह पुस्तकी आदर्शों से अनुप्राणित होने के कारण नहीं आयेगा, वरन् साधारण जीवन में साधारण मानव की व्यक्त उदार हृदय-शक्तियों से, और उदात्त व्यक्तित्व के धारक सामान्य मनुष्यों से, अति-लघु-कण में व्यक्त सूर्य-बिम्ब की अनुभूति से, मामूली लोगों की बेमामूली खूबसूरती से, मुखमण्डल के वास्तविक चन्द्रस्मित से, प्राप्त होगी, भाषणों और पुस्तकों तथा समीक्षा-लेखों में प्राप्त आदर्शों से नहीं, नहीं ही।

लेखक अपने परिवेश में, पारिवारिक-सामाजिक तथा राष्ट्रीय वातावरण में, साँस लेता है। साहित्य-क्षेत्र में भी उसे एक वातावरण मिलता है। यदि साहित्य-क्षेत्र में प्रगतिवादियों का व्यापक प्रभाव होता, तो लेखक भी जाने-अनजाने उनके भाव-तत्त्व अपनी साँस में खींच लेता। किन्तु वैसी स्थिति नहीं है। क्यों नहीं है? क्या इसका दोष केवल, हाँ केवल, बाहर के पूंजीवादी-प्रतिक्रियावादी के मत्थे मढ़ा जा सकता है? मेरे खयाल से, वह सिर्फ़ उसी पर नहीं मढ़ा जा सकता। उसका एक कारण—उस हानि का एक कारण—स्वयं प्रगतिवादी हैं!

साहित्य-क्षेत्र में किसी प्रवृत्ति का प्रभाव कब बढ़ता है, किन स्थितियों में बढ़ता है? प्रभाव बढ़ने का या घटने का एक कारण, निःसन्देह, सामाजिक-राजनैतिक है। किन्तु हम उस विषय पर यहाँ बात नहीं करेंगे, यद्यपि वह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण है। हम यह कहना चाहते हैं कि, अलावा सामाजिक-राजनैतिक कारण के, साहित्य-क्षेत्र में किसी प्रवृत्ति-विशेष की प्रभाव-हानि का एक कारण और होता है। वह है, उस प्रवृत्ति-विशेष के भीतर की कमज़ोरियाँ।

साहित्य-क्षेत्र में सर्वाधिक प्रभावशाली होता है साहित्य और साहित्यकार, न कि समीक्षक और उसकी समीक्षा। हाँ, यह अवश्य है कि पण्डित रामचन्द्र शुक्ल और महावीरप्रसाद द्विवेदी-सरीखे लोग भी अत्यन्त प्रभावशाली रहे हैं। किन्तु निर्णायक प्रभाव कलात्मक साहित्य और साहित्यिक कलाकार का ही होता है। समीक्षा कम पढ़ी जाती है, कहानी, उपन्यास और कविता अधिक, समीक्षा से अधिक। और समीक्षक अपनी समीक्षा इतनी प्रकाण्ड और प्रचण्ड पाण्डित्यपूर्ण शब्दावली में गठित करता है कि वह कलाप्रेमी साधारण पाठकों के लिए नहीं, न

लेखकों के लिए, लिखता है (क्योंकि अगर लेखकों के हित के लिए लिखता होता तो उसका स्वर, शैली, गठन और रूप, सभी भिन्न प्रकार के होते), वह विचारों के क्षेत्र में विचरण करनेवाले, सिद्धान्तों के क्षेत्र में पर्यटन करनेवाले, और देश-विदेश से प्राप्त अनेकानेक वौद्धिक परिकल्पनाओं के क्षेत्र में आनन्द-यात्रा करनेवाले, चिन्तकों और विचारकों के लिए लिखता है।

जो हो, यह सही है कि अगर साहित्य-क्षेत्र में प्रगतिवादी कलाकारों की, प्रगतिवादियों द्वारा की गयी विस्तृत, गहन, मार्मिक तथा व्यवस्थावद्ध आलोचना होती—जैसे, यशपाल की, उपेन्द्रनाथ अश्क की, राहुलजी की, नागार्जुन की, अमृतराय की तथा अन्यों की—तो यह वात समझ में आ सकती थी कि प्रगतिवादी समीक्षक प्रयोगवादी कविता या नयी कविता के जन्मजात शत्रु ही सही, उनके सजातीयों की साहित्यिक उपलब्धियों के विशद, मार्मिक और आत्म-निरपेक्ष विश्लेषण-मूल्यांकन में दिलचस्पी रखते हैं, और उसे कर रहे हैं। वे प्रगतिवादी कलाकारों को लेकर ही क्यों न सही, अपनी कला-समीक्षा का विकास कर रहे हैं। क्या उन्होंने ऐसा किया ? विख्यात प्रगतिवादी कलाकारों के सम्वन्ध में उन्होंने कितने समीक्षात्मक ग्रन्थ निकाले ?

और, लीजिये। भारत-विभाजन के दौरान में और उसके वाद हिन्दी में उस विषय पर वहुत कुछ लिखा गया है। काफ़ी-से उपन्यास निकले, कहानियाँ निकलीं। क्या प्रगतिवादियों ने उन सवको एक जगह इकट्ठा करके, उन सवका विशद अध्ययन-विश्लेपण तथा कलात्मक मूल्यांकन किया ? इस विषय पर उन्होंने कितने ग्रन्थ प्रकाशित किये अव तक ?

छायावाद के सम्वन्ध में उन्होंने वहुत-कुछ लिखा, जिसमें से वहुतेरा प्रचारात्मक था। और वह खप गया, इसलिए [कि] उनके विचार-प्रचार में महत्त्वपूर्ण सत्यांश थे जो अपने-आप जगमगाते थे। किन्तु छायावाद के कवियों को छोड़कर शेप जो 'गौण' कवि थे—जैसे, माखनलाल चतुर्वेदी, वालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान तथा अन्य ऐसे कवि जिनकी अपनी विशेप अभिव्यक्ति-शैली थी—उनके सम्वन्ध में प्रगतिवादियों ने कितनी ग्रन्थ-रचनाएँ कीं ? यदि वे छायावादी कवियों समेत इन सवके साहित्य का विश्लेषण-मूल्यांकन करते तो उनकी कला-समीक्षा—प्रगतिवादी कला-समीक्षा—क्या उस पूरे युग को समेट न लेती ?

और, लीजिये। सन् सैंतालीस के वाद, हिन्दी में अनेक नये कहानीकार आये जो प्रगतिशील भाव-धारा के निकट थे, अथवा प्रगतिशील आदर्शों के निकट रहे, जैसे, फणीश्वरनाथ रेणु, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, भैरवप्रसाद गुप्त, हरिशंकर परसाई, कमलेश्वर तथा अन्य। प्रगतिवादियों ने इनके सव ग्रन्थों को पढ़कर, इनके कलात्मक साहित्य के विशद निरूपण-विवेचन को, उनकी कला की विशेषताओं तथा उनके मूल्यांकन को, अपनी समीक्षा का प्रधान विपय क्यों नहीं वनाया ? उनके सम्वन्ध में उन्होंने कितने ग्रन्थ लिखे ? क्या वे इस योग्य

नहीं हैं कि उनका कला-समीक्षात्मक—प्रगतिवादी कला-समीक्षात्मक—विवेचन हो सके ?

और, लीजिये। प्रगतिवाद ने हिन्दी में एक ऐतिहासिक कार्य किया है। प्रगतिवादी प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत उपन्यासकार, कहानीकार, आलोचक, कवि, विद्वान्, अनुसन्धानकर्ता तथा बहुत-से लोग आये। इन सबकी एक लम्बी फ़ेहरिस्त हो सकती है। यहाँ तक कि उनके कतिपय विपक्षियों ने भी इनके बहुत-से तर्कों और स्थापनाओं को इस तरह आत्मसात् कर लिया, मानो वे बड़े उदार हों। किसी-न-किसी रूप में प्रगतिवादी प्रवृत्तियाँ आज भी साहित्य में पनप रही हैं। तो क्या हिन्दी में प्रगतिवादी साहित्य का इतिहास-जैसा कोई ग्रन्थ नहीं लिखा जा सकता है ? हाँ, सही है, प्रगतिवाद के उपस्थापन में बहुत-सी जो भी त्रुटियाँ रही हों उनका भी आत्मालोचनपूर्ण व्याख्यान हो सकता है।

ज़रा इसे भी देखिये। हिन्दी में प्रगतिवादी समाज-दर्शन, साहित्य-दर्शन, सौन्दर्य-दर्शन तथा समीक्षा-प्रश्न, आदि पर प्रगतिवादी दृष्टिकोण से, और अत्यन्त सुविचारित व्यवस्थाबद्ध रूप से, संगठित रूप से, पुस्तक लिखी जानी चाहिए थी, जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त साहित्य तथा कला-सम्बन्धी प्रश्नों पर, न केवल रूस वरन् पोलैण्ड, हंगरी तथा अन्य देशों में, जो विचार-विनिमय हुआ है, वह विचार-विनिमय, तथा साम्यवादी जगत् के इन प्रश्नों को लेकर बाहर की दुनिया में जो सवाल खड़े किये गये हैं, और जो अपने-अपने ढंग से हलचल मचाते रहे हैं, उन सब प्रश्नों का विस्तृत सांगोपांग विश्लेषणपूर्ण प्रभावकारी समाधान उपस्थित रहे। प्रगतिवादी द्वारा लिखी हुई क्या ऐसी कोई पाठ्यपुस्तक तैयार की गयी, जिसे सामान्य पाठक हृदयंगम कर सके, और जिसमें ज्ञान-मीमांसा से लेकर, दार्शनिक सिद्धान्तों और समाज-दर्शन से होते हुए, सौन्दर्य-दर्शन की गहराई में डूबकर, साहित्य में कल्पना-चित्र के आत्मपरक और वस्तुपरक महत्त्व तक पर, समुचित और विस्तृत प्रकाश डाला गया हो, और जिसमें हिन्दी के लेखकों के मन में बार-बार उठनेवाले प्रश्नों पर खूब विचार करके उनके विशेष सन्दर्भों को समझकर उनका समाधान किया गया हो ? क्या ऐसी पुस्तकें लिखी गयीं ? नहीं, नहीं !

जबसे प्रगतिवाद आरम्भ हुआ तबसे लेकर आज तक न मालूम कितनी ही तरह से विपक्षी समीक्षक-विचारक प्रगतिवाद के सम्बन्ध में आरोप लगाते आये हैं। उनके कतिपय आरोपों के उत्तर समय-समय पर प्रगतिवादियों द्वारा दिये भी गये हैं। इन सबको फिर से सूत्रबद्ध करके, क्या ऐसी सांगोपांग अध्ययनपूर्ण पुस्तक नहीं निकाली जा सकती, जिसमें प्रगतिवादी स्थिति का विशद और विस्तृत उपस्थापन हो, जिसमें सवालों का मज़ाक़ उड़ाते हुए जवाब न दिया गया हो, वरन् आज की सामाजिक और राष्ट्रीय अवस्था में उन प्रश्नों को स्वाभाविक जान, उनका नम्रतापूर्वक उत्तर दिया गया हो ? क्या ऐसी पुस्तक सचमुच लिखी गयी है ?

हाँ, यह सही है कि एक व्यक्ति का यह काम नहीं है। अपने ढंग से डॉक्टर रामविलास शर्मा चिढ़ते-खीझते, तड़पते-छटपटाते हुए, अपनी शक्ति के अनुसार, अपनी सारी क्षमताओं और अपनी सारी सीमाओं और कमज़ोरियों के साथ, इस ओर, इस क्षेत्र में काम करते रहे हैं।

किन्तु क्या यह सही नहीं है कि यह एक व्यक्ति का काम नहीं है ? डॉक्टर रामविलास शर्मा, श्री शिवदानसिंह चौहान, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, श्री अमृतराय, डॉक्टर नामवर सिंह, तथा इनके अतिरिक्त यशपाल और नागार्जुन-जैसे लेखक-कलाकार क्या कभी इकट्ठा होकर, सम्मिलित रूप से, काम नहीं कर सकते थे ? क्या इस सम्बन्ध में, इस क्षेत्र में, संगठित और सम्मिलित प्रयास की आवश्यकता नहीं है ?

और, अगर ये सम्मिलित रूप से, संगठित रूप से, काम नहीं कर सकते तो क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि, अन्य बाधाओं के अतिरिक्त, एक बाधा यह भी है कि ये सब मध्यमवर्गीय व्यक्तिवादी हैं, जिन्हें अपनी व्यक्ति-सत्ता अन्य बातों से अधिक प्रिय है ? और फिर, क्या ऐसे लोग साहित्य-क्षेत्र पर अपने प्रभाव का विस्तार कर सकते हैं ? अपने प्रभाव का अर्थ अपनी विचार-धारा का प्रभाव है। और क्या यह सच नहीं है कि प्रगतिवाद-सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर इन सबमें भिन्न-भिन्न प्रकार की धारणाएँ और विचार हैं ? और क्या यह सच नहीं है कि वैचारिक आदान-प्रदान द्वारा एकमत स्थापित होना चाहिए ? और यदि स्थापित न हो तो उन्हें दबाकर बैठने के बजाय उन्हें स्पष्ट करना चाहिए, ताकि हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से प्रगतिवादी भाव-धारा का अधिकाधिक विकास हो सके, कि वह कुछ सिद्धान्त-सूत्रों का एक जड़ीभूत और बीच-बीच में टूटा हुआ स्तूप ही न बन पाये ? और, क्या इन सारी बातों में (प्रगतिवाद के पूर्णतः पक्षधर ही न सही, किन्तु) प्रगतिवाद के अनुकूल जो लेखक हैं उनसे सहयोग लेना ग़लत होगा ?

और, क्या प्रगतिवादी सज्जन, जिनमें से कुछ, भारत के निम्न-मध्यवर्गीय दारिद्र्य के स्तर को देखते हुए, पर्याप्त सम्पन्न हैं, क्या वे स्वयं प्रगतिवादी भाव को प्रधानता देनेवाली कोई पत्रिका नहीं निकाल सकते ? आज जब कि हमारी नयी कविता के छोटे-छोटे लेखक अपनी छोटी-छोटी पत्रिकाओं से अपना काम चला लेते हैं, तो क्या साहित्य के 'नेतृत्व' का प्रयास करनेवाले, और 'यथार्थ' को बदलने की महत्त्वाकांक्षा रखनेवाले, ये हमारे प्रगतिवादी सज्जन ऐसी कोई रचनात्मक साहित्य की सुरुचिपूर्ण और महत्त्वपूर्ण पत्रिका नहीं निकाल सकते, जिसमें लेखकों-कलाकारों, कवियों और समीक्षकों का सहयोग हो ?

जब साहित्य-क्षेत्र में रहकर आप अपना एक छोटा-मोटा पत्र भी नहीं निकाल सकते और उसके द्वारा आप वैचारिक आदान-प्रदान नहीं कर सकते, तो ऐसी स्थिति में आप यह कैसे समझ लेते हैं कि साहित्य-क्षेत्र में आप अपना एक वातावरण बना सकेंगे ? और, जब तक आप उस पत्र को आज की सामाजिक राष्ट्रीय अवस्था में बन रहे साहित्य से नहीं जोड़ते, तब तक आप यह कैसे समझ लेते हैं कि

साहित्य-क्षेत्र की विकासमान गतियों को आप मोड़ लेंगे ?

तो फिर आपकी अवतर हालत को, और आपकी जड़ीभूत अनवस्था को, आपके मध्यमवर्गीय व्यक्तिवाद को, देखते हुए यदि यह कहा जाय कि आपको वास्तविक साहित्य में कोई विशेष अनुराग नहीं है, तो इसमें ग़लती कहाँ है ?

क्या आपने अपने प्रभाव-क्षय के कारणों पर आत्मालोचनपूर्ण विचार किया ? क्या विश्व के विभिन्न प्रगतिवादी क्षेत्रों में साहित्य-प्रश्नों के सम्बन्ध में जो विचार-विनिमय हुआ करता है, उसके बारे में आपस में चर्चा करके कोई नतीजे निकाले ? क्या यह आवश्यक और उपयोगी नहीं है ? क्या आपको ज़बर्दस्त धक्का देने की जरूरत नहीं है, आपकी भयानक अनवस्था को देखकर ?

साहित्य-क्षेत्र में आपका प्रभाव आपकी उपलब्धियों से होगा, कला-समीक्षात्मक उपलब्धियों से, ईमानदार, वैज्ञानिक, नैतिक, निर्भय, तटस्थ, आत्म-निरपेक्ष, लेकिन सच्चे दिल से और अनुरागपूर्ण मन से किये गये मानवीय ज्ञान-संवेदनात्मक और संवेदन-ज्ञानात्मक समीक्षा-प्रयासों से और ऐसे ही तात्त्विक विश्लेषणों से। आपका प्रभाव आपकी समीक्षा में उद्भापित उदात्त, गम्भीर, कोमल, नम्र और अनुरागपूर्ण व्यक्तित्व से होगा, न कि सैद्धान्तिक कलह की भयानक उत्तेजनाओं के विसंवादी स्वर से। भूल न जाइये कि ठीक इसी स्वर ने आपको अपने खुद के लेखकों से अलग हटा दिया। बाहर के लेखकों की तो बात ही दूसरी है। कलहपूर्ण विसंवादी स्वर का होना, और मतभेद की स्थापना, ये दोनों एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं, यह समझ लेना शायद आपके लिए हानिप्रद नहीं है।

ध्यान में रखने की बात है कि लेखकों से 'कलह' करके, ऐसे लेखकों से जिन्हें पूरा-का-पूरा विपक्षी नहीं कहा जा सकता, जो अभी अपनी विकास-यात्रा पर आगे बढ़ रहे हैं, आप अपने उन प्रभावशाली विपक्षियों के हाथ ही मजबूत बना रहे हैं, जिनका एकमात्र उद्देश्य आपकी विचारधारा को और आपको पूर्णतः समाप्त कर देना है—ऐसे विपक्षियों के, जो आपसे अधिक एकताबद्ध, साधन-सम्पन्न और क्रियाशील हैं, और जो अपने वास्तविक कार्य-व्यवहार द्वारा विकासमान लेखक-वर्ग से घनिष्ठ सम्पर्क बनाये हुए हैं, ऐसे विपक्षी समीक्षक जो स्वयं विद्वान्, प्रभावशाली और जागरूक हैं। ऐसी स्थिति में भी यदि वे पूर्णतः साहित्य-क्षेत्र पर अपना प्रभावाधिकार नहीं जमा पा रहे हैं तो इसका एक कारण है, लेखक-वर्ग की अपनी उद्बुद्धता और चेतना। संक्षेप में, आपको स्थिति-परिस्थिति का, सामाजिक-राष्ट्रीय अवस्था का, परिप्रेक्ष्य रखना आवश्यक है। विपक्षियों से स्पर्धात्मक सफलता समीक्षा के क्षेत्र में, कला-समीक्षा के क्षेत्र में, विचार और चिन्तन के क्षेत्र में, अपनी स्वयं की गौरवपूर्ण और स्थायी मूल्य रखनेवाली उपलब्धियों से होगी। तभी आपका भाव-प्रभाव होगा, अन्यथा नहीं।

और, जब कि हिन्दी साहित्य-क्षेत्र पर आपका भाव-प्रभाव लगभग नहीं है, तब आप यह कैसे आशा करते हैं कि नये लेखक आपके अनुरोधों और आग्रहों को

स्वीकार कर लेंगे, जबकि आपमें उनकी कविताओं के भीतर के सन्दर्भ से उनके ठीक-ठीक अर्थ करना भी नहीं आता !

जब हिन्दी साहित्य-क्षेत्र पर आपका भाव-प्रभाव ही नहीं है, तब आप यह कैसे समझ लेते हैं कि लेखक भयानक अनाशा और अगतिकता से बचते हुए स्वस्थ मानवीय आकांक्षाओं को स्वर प्रदान कर सकेगा, और अगर वह ऐसा नहीं करता तो वह ग़लत क़िस्म का आदमी है, प्रतिक्रियावादी है ?

जब हिन्दी के प्रान्तों में आपका सामाजिक-राष्ट्रीय स्तर पर ऐसा कोई निर्णायक प्रभाव ही नहीं है, जो सामाजिक-राष्ट्रीय वातावरण में से सीधे-सीधे खींचा जा सके, तो फिर ऐसी स्थिति में आप यह कैसे मानते हैं कि आपकी कठोर और कटु समीक्षाओं को पढ़कर लेखक अपनी 'लाइन' बना लेगा ?

जब पश्चिम के ह्रासग्रस्त साहित्य और विचारधारा के विरोध में, जिसका कि प्रचार हिन्दी में ख़ूब हो रहा है, उसी पश्चिम की इसी सदी के सुन्दर, स्वस्थ और मानवीय साहित्य का प्रचार-प्रसार आप नहीं करते, और वहाँ के प्रभावशाली और विश्वमान्य लेखकों की कलात्मक विशेषताओं पर चर्चा नहीं करते, तो यह कैसे समझा जाये कि आप अच्छे साहित्य में दिलचस्पी रखते हैं ? अमरीका, ब्रिटेन, फ़्रांस और इटली, यहाँ तक कि पश्चिमी जर्मनी और जापान के साहित्य के सम्बन्ध में, महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों के सम्बन्ध में, सोवियत लिटरेचर में लेख समय-समय पर प्रकाशित हो सकते हैं, और ऐसे साहित्य के मानवीय महत्त्व का वहाँ प्रतिपादन किया जा सकता है, तो क्यों साहब, आप उन उत्तमोत्तम कलाकृतियों द्वारा हमारे लेखकों के हृदय का सिंचन क्यों नहीं कर सकते ? और जब आप हमारे लेखक-कलाकारों के हृदय का सिंचन नहीं कर सकते, जब आप उनकी हृदय-भूमि, उनकी मानव-भूमि की उपेक्षा करना जाने-अनजाने अपना गौरवपूर्ण समीक्षा-धर्म समझ लेते हैं, तो ऐसी स्थिति में आप क्यों यह अपेक्षा करने लगते हैं, या यह चाहने लगते हैं, कि लेखक आपकी शुष्क, नीरस, अर्थ-विक्षेप में उद्युक्त, काव्य-व्याख्या सुने और उससे अपने लिए कोई निर्देश ग्रहण करे ? और, जब आप देश-विदेश में उत्पन्न ठीक इसी संकटापन्न बीसवीं सदी के श्रेष्ठ साहित्यकारों के कलात्मक आनन्द का वितरण इस प्रकार नहीं करते, नहीं करना चाहते, तो यह क्यों न समझा जाय कि कलात्मक साहित्य में भीगने की, उसमें रस लेने की, आपमें क्षमता नहीं है ? और यदि है तो आप उसको अपने तईं रखना चाहते हैं, जिससे यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि जहाँ तक हिन्दी के लेखकों का सम्बन्ध है—ऐसे लेखकों का जो अभी विकास-यात्रा के पथ पर हैं, जिनके हृदय का सिंचन करना एक आवश्यक समीक्षात्मक कार्य है—आपको जीवन्त कलात्मक साहित्य में कोई गहरी और खास दिलचस्पी नहीं है, नहीं ही है !

और, आप अपनी ऐसी अवतर अफ़सोसनाक हालत पर नज़रसानी न करते हुए, जब आप किसी चट्टान से लड़ जाते हैं, तो आपकी उस वीरत्वपूर्ण तेज:पुंज मूर्ति का ध्यान किया जा सकता है, किन्तु उस कार्य की सार्थकता का अभावात्मक

मूल्य ही आँका जा सकता है !

सर्वाधिक विस्मयजनक और, आपके अपने सम्बन्ध में शंकाजनक, बात यह है कि पिछले बीस-पच्चीस साल के आपके कार्यकाल में प्रगतिवादी समीक्षा का अनुभव-प्रभावित विकास नहीं हुआ, और वह समीक्षा सृजनशील न हो सकी ! क्या यह आपके लिए खेदजनक नहीं है ?

अपनी बात दूसरों के गले वही उतार सकता है, जो ज़िन्दगी से खुद सीखता है। जहाँ तक वास्तविक मानव-ज्ञान का प्रश्न है—किसी भी वास्तविक ज्ञान का प्रश्न है—वह ज्ञान स्पर्धात्मक प्रयासों से नहीं, सहकार्यात्मक प्रयासों से प्राप्त और विकसित हो सकता है। दाना दुश्मन भी हमें बहुत-कुछ दे सकता है। उससे हमें सीखना चाहिए, वह बहुत-सी बातें सही कहता है, सही कह सकता है। इसलिए उसकी उन सही-सही बातों को उठा लेना ज़रूरी है। अपने प्रतिपक्षी से क्या सीखना आवश्यक नहीं है ? द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में तो दो विरोधी पक्षों का संघर्ष और उस प्रक्रिया के अन्तर्गत परस्पर-प्रवेश आवश्यक माना गया है। तभी विकास होता है।

निःसन्देह प्रतिपक्षी का विरोध आवश्यक है। प्रत्येक क्षेत्र में विचारों का युद्ध होता है। किन्तु, तटस्थ भाव से, प्रथमतः, प्रतिपक्षी के उपस्थित दृष्टिकोण को, उसकी विशेषताओं को, उसकी विशेषताओं के मूल्य को, या उसकी विशेषताओं की निरर्थकताओं को, निरूपित करना, आत्म-निरपेक्ष रूप से उन्हें और उनके अन्तःसम्बन्धों को प्रस्तुत करना, उनका विश्लेषण करना, और उसकी दृष्टि का मूल्यांकन करना, जहाँ-जहाँ आवश्यक है वहाँ-वहाँ उसका खण्डन करना, अथवा वह पूर्णतः असंगत और अनुचित है तो पाठकों और लेखकों के गले उतरने लायक ढंग से उसका सम्पूर्ण उद्‌घाटन, उसकी अन्तर्व्यवस्था का समग्र निवारण और खण्डन, जोरदार मुखालफ़त, प्रबल विरोध करना, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। संक्षेप में, प्रतिपक्षी के प्रति भी पूरी ईमानदारी बरती जाये। ईमानदारी का अर्थ है, आत्म-परक और वस्तुपरक खरी-खरी और खड़ी-खड़ी बात, जो एकदम वास्तवाधारित हो और वास्तव का उद्‌घाटन कर दे।

यह मानकर चलना ज़रूरी है कि कभी-कभी अपना शत्रु भी सच्ची-सच्ची कह सकता है, कि उसके वक्तव्य में भी यथार्थ के अल्पज्ञान या अज्ञान-पक्ष, अप्रकाशित या अर्ध-प्रकाशित पक्ष, क्षण भर के लिए ही क्यों न सही, अपनी झलक बना सकते हैं। ऐसी आस्था मानव-आस्था के अनुसार ही है, उसके विरुद्ध तो नहीं है।

यह भी समझना आवश्यक है कि जिसे हम अपना प्रतिपक्षी समझते हैं वह वस्तुतः प्रतिपक्षी है या नहीं। यह बहुत सम्भव है कि वह विरोधी पक्ष से केवल प्रभावित हो, और वह प्रतिपक्ष के तर्कों और युक्तियों की पुनर्व्याख्या कर रहा हो, अपने ढंग से, और सम्भव है कि उसकी पुनर्व्याख्या में भी सत्यांश हो।

यह भी पाया जाता है कि हम लोग, अपने से जो भिन्न है और भिन्न प्रकार के मनोविज्ञान को प्रदर्शित करता है, उसको जल्दबाज़ी में प्रतिपक्षी समझ लेते

हैं और उसके वारे में यों ही विरोध भाव वना लेते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि हम उसकी रचनाओं तक की उपेक्षा कर जाते हैं, यद्यपि उसकी रचनाएँ उपेक्षा-योग्य नहीं होतीं।

साहित्य के प्रश्न मूलतः जीवन के प्रश्न हैं। मनुष्य के अन्तःकरण में अभि-व्यक्ति की आकुलता होती है। वह जीवन तत्त्वों को, जीवन-यथार्थ को, जीवन-दृष्टि को, अपनी कृतियों में संवेदनात्मक रूप से प्रकट करता है। अतएव लेखक के वास्तविक मनोवैज्ञानिक संवेदनात्मक जीवन और उसकी अभिव्यक्ति के प्रश्न, वस्तुतः, उसके जीवन के प्रश्न होते हैं। साहित्य के प्रश्नों को हलके ढंग से नहीं लिया जा सकता। उसका समुचित, विस्तृत मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म-दृष्टिपूर्ण उत्तर प्रदान करना आवश्यक होता है। लेकिन वैसा नहीं किया गया, नहीं किया जाता।

जीवन-चिन्तन जीवन-यथार्थ के ज्ञान-संवेदनात्मक संवेदन-ज्ञानात्मक आकलन पर निर्भर रहना चाहिये। उसका मूल आधार उसकी मूल सामग्री है—जीवन यथार्थ ही। तभी बौद्धिक चिन्तन को सत्य-प्राप्ति होती है।

कोई भी विचारधारा मात्र एक बौद्धिक उपादान है— यथार्थ के स्वरूप उसकी गतिविधि, उसकी वर्तमान अवस्था, उसकी दिशा को जानने का। जिस प्रकार सुदूरतम को और सूक्ष्मतम को पाने के लिए नव-नवीन यन्त्रों का विकास होता आया है, पुराने ज्ञान में नवीन ज्ञान को जोड़कर, ठीक उसी प्रकार हमारी सिद्धान्त-व्यवस्था का भी विकास आवश्यक है। और वह किया भी जाता है। सिद्धान्त-विकास और सिद्धान्तहीनता (अथवा सिद्धान्त-विरोध) अलग-अलग वातें हैं।

तात्पर्य यह कि विचारधारा या भाव-धारा, सिद्धान्त-व्यवस्था अर्थात् ज्ञान-व्यवस्था से प्राप्त सत्य, मूलतः, यथार्थ का (सम्भाव्य रूप से) निकटतम चित्र है। किन्तु और-और निकट पहुँचने की आवश्यकताएँ और सम्भाव्यताएँ बढ़ती ही जाती हैं। इसीलिए सैद्धान्तिक विकास भी आवश्यक होता है।

संक्षेप में, संवेदनात्मक ज्ञान तथा ज्ञानात्मक संवेदन से यथार्थ को अधिकाधिक हृदयंगम करते रहना, और इस प्रकार के यथार्थ के अन्तर्तत्त्वों की, उसके अन्तः-सम्वन्धों को, उसके वाह्य-सम्वन्धों को, उसकी गति को और स्थिति को, संवेद-नात्मक और वौद्धिक रूप से ग्रहण करते रहना आवश्यक है।

ज्ञान केवल कालसापेक्ष ही नहीं, वह स्थितिसापेक्ष भी होता है। ज्ञान केवल काल ही से मर्यादित नहीं, वह स्थिति से भी मर्यादित होता है। और उसी स्थिति के भीतर केवल वर्गीय और सामाजिक स्थिति ही नहीं, वरन् व्यक्ति के अपने निज-विशिष्ट स्थान का भी समावेश होता है।

इतना ही नहीं, ज्ञान मनुष्य के प्रयोजन पर भी निर्भर होता है। इच्छा-शक्ति से परिचालित होकर आप किसी विशेष कोण में ही अपना दृष्टि-प्रसार करते हैं, अतएव यथार्थ सत्ता की अन्य दिशाएँ या दूसरे छोर आपकी दृष्टि में आ ही नहीं पाते। इसीलिए समीक्षा में समीक्षक की इच्छा-शक्ति की भी लीला होती है। परिणामतः, वह केवल स्वेच्छित क्षेत्रों, कोणों, दिशा-प्रसारों पर ही दृष्टिपात करता

है। अन्य क्षेत्र और अन्य कोण उसके ध्यान से हट जाते हैं, भले ही वे क्षेत्र, वे कोण उसके अपने क्षेत्र और कोण से गहन रूप से सम्बन्धित ही क्यों न हों।

संक्षेप में, स्थिति-मर्यादा, ज्ञान-सीमा, सत्य-बोध की आपेक्षिक क्षमता और अक्षमता को ध्यान में रखकर आलोचक को, मूलतः, यथार्थ के सम्मुख नम्र और आत्म-निरपेक्ष होना आवश्यक है। यथार्थ को इस प्रकार हृदयंगम करके ही, उसके मूल स्वरूप को संवेदनात्मक और ज्ञान-संवेदनात्मक पद्धति से आत्मसात् करके ही, समीक्षक उसकी गति को विशेष दिशा देने का यत्न कर सकता है, अन्यथा नहीं।

केवल सैद्धान्तिक ज्ञान से यथार्थ का पूर्ण बोध नहीं होता। मनुष्य के बौद्धिक उपादान क्रमशः विकसित होते हैं, बदलते हैं, किन्तु वे यथार्थ की गति के साथ ही बदलते रहेंगे, विकासमान होंगे, यह आवश्यक नहीं होता। यथार्थ बहुत आगे बढ़ जाता है, विकास-क्रम में। बौद्धिक उपादान पीछे छूट जाते हैं, कभी-कभी। इसीलिए बौद्धिक उपादानों के निरन्तर विकास की भी आवश्यकता होती है।

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि इसका अर्थ सिद्धान्त-त्याग नहीं होता। इसका अर्थ केवल यही है कि जिस प्रकार न्यूटन का सिद्धान्त आइंस्टाइन के सिद्धान्त में समाविष्ट और विकसित है, उसी प्रकार समीक्षा के क्षेत्र में भी, चिन्तन के क्षेत्र में भी, सिद्धान्त-विकास आवश्यक है।

मनुष्य का ज्ञान कितना कालसापेक्ष और स्थितिसापेक्ष है, यह चिन्तन के इतिहास से जाना जा सकता है। यही कारण है कि विचारधारा का विकास होता आया है। क्या हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी विचारधारा का विकास आवश्यक नहीं है?

ज्ञान की स्थितिसापेक्षता और कालसापेक्षता का यही प्रमाण है कि लेखकों का पुनर्मूल्यांकन होता आया है। पोलेण्ड का कवि मिस्कियेविच इसका प्रमाण है। यही नहीं, **वर्ल्ड मार्क्सिस्ट रिव्यू** में दॉस्तॉएवस्की का पुनर्मूल्यांकन हुआ है।

अपने साहित्य-चिन्तन में प्रगतिवादियों ने तटस्थ और वैज्ञानिक दृष्टि से इस बात पर प्रकाश डालने की कोशिश नहीं की कि आखिर वे कौन-से तत्त्व हैं, वे कौन-सी मूल शक्तियाँ हैं जिन्होंने काव्य-रूप बदला। यह क्योंकर हुआ कि छायावादी और प्रगतिवादी काव्य-प्रणाली बदल गयी? क्या इसका कारण केवल यह था कि स्वाधीनता के उपरान्त मध्यवर्ग—शिक्षित मध्यवर्ग—अवसरवादी होकर विशुद्ध प्रतिक्रियावादी हो गया? और, क्या इस प्रकार से, इस स्थिति से, काव्य-रूप बदल सकता है? क्या इस तरह कह डालने से ही यह प्रमाणित हो जायेगा कि प्रगतिशील प्रवृत्ति (वह जिसका नमूना इन समीक्षकों के मन में है) नष्ट हो गयी? क्या पहली बार हमारे भारत में काव्य-परम्परा और काव्य-रूप बदला है? और क्या वह जब-जब बदला है, समाज की अन्ध न्यस्त-स्वार्थवादी शक्तियों के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण बदला है?

काव्य-रूप में परिवर्तन की मूल कारक-शक्ति क्या है? उसका स्वरूप क्या है?

और क्या केवल काव्य-रूप वदल जाने से कोई काव्य प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी हो जाता है ?

प्रगतिवादियों ने कलाकार के दायित्व के प्रश्न को सामने उपस्थित करके लेखकों के अन्तःकरण को, वस्तुतः, नये प्रगतिवादी संस्कार देना चाहे थे। किन्तु उन्होंने यह काम इतने भद्दे ढंग से किया कि उसका बहुत-कुछ प्रतिकूल परिणाम हुआ। लेखक किस प्रकार भाव-ग्रहण करता है, उसका सर्जनात्मक प्रक्रिया से क्या सम्बन्ध है, लेखक की कठिनाइयाँ क्या हैं, लेखक का किस प्रकार सामाजीकरण होना चाहिये, लेखक-व्यक्तित्व का सामाजीकरण किस प्रकार सम्भव है, उसके सामाजीकरण से सम्वन्धित कौन-सी कठिनाइयाँ आती हैं—इत्यादि प्रश्नों पर ठीक ढंग से विचार उसी हालत में किया जा सकता है कि जव समीक्षक समग्र मानव-सत्ता को ध्यान में रखे, समग्र व्यक्ति-सत्ता और उसके महत्त्व को वह गौरव प्रदान करे, उस व्यक्ति-सत्ता के अनेक पक्षों और उपपक्षों के प्रति वह संवेदनात्मक सहानुभूति और सूक्ष्म दृष्टि रखे, तथा वास्तविक सर्जन-क्रियासम्बन्धी आभ्यन्तर तथा वाह्य प्रश्नों पर विचार करके, स्वयं अपनी हार्दिक-बौद्धिक एकात्म मानवीय प्रतिभा के कोमल और लक्ष्योन्मुख दृश्य प्रस्तुत करे।

जब तक जीवन-जगत् से लेखक के सम्वन्धों को (और उनके विभिन्न स्वरूपों को), जीवन-जगत् के वातावरण से भाव-ग्रहण करने की उसकी मानसिक प्रक्रियाओं को, जीवन-जगत् के प्रति—अपने परिस्थिति-परिवेश के प्रति—की जा रही उसकी तीव्र संवेदनात्मक क्रिया-प्रतिक्रियाओं को, उनके स्वरूप को, उन तीव्र संवेदनात्मक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के भावात्मक पुंजों की स्थिति को, सर्जन-प्रक्रिया में इन भावात्मक पुंजों के आविर्भाव को, तथा एतत्सम्बन्धी अन्य समस्याओं को, कोई समीक्षक स्वयं आत्मगत नहीं करता, उन पर सर्वाश्लेषी विचारणा प्रस्तुत नहीं करता, तव तक वह लेखक की सहायता नहीं कर सकता, तव तक वह वास्तविक दिशादान नहीं कर सकता। हमारा प्रगतिवादी समीक्षक स्वयं ज़िन्दगी से कटा हुआ होने के कारण, वह इन प्रश्नों पर सुविचारित मन्तव्य प्रस्तुत नहीं कर सका, उसके पास इतनी संवेदन-क्षमता और सहानुभूति-सामर्थ्य ही नहीं था कि वह ऐसे प्रश्नों पर विचार कर सके। न उसमें इतनी नम्रता थी कि ठोकर खाकर उसी ठोकर से सीखने की कोशिश करे, कि वह स्वयं आत्मालोचन करे, और, सव तरफ़ से जीवन-तत्त्वों और ज्ञान-तत्त्वों को समेटते हुए, स्वयं को अधिकाधिक परिष्कृत और समृद्ध वनाता जाये।

उसकी ऐसी स्थिति में यदि विपक्षी विचारक प्रगतिवादियों की स्थूलता से लेखक-वर्ग में उत्पन्न असन्तोष को अपने लिए अनुकूल वनाते जायें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है!

और ऐसी स्थिति में, अगर 'प्रतिक्रिया' की शक्ति हिन्दी में वहुत वढ़ गयी है तो क्या इसका एक कारण यह नहीं है कि ये समीक्षक नवीन जीवन-प्रक्रियाओं को नहीं समझ सके, और प्रयोगवादी कविता या नयी कविता के पूरे क्षेत्र को

बदनाम करके उसे 'प्रतिक्रिया' के हाथों में खेलने के लिए छोड़ दिया, अपने हाथों जानबूझकर, उनके हवाले कर दिया ? क्या प्रगतिवादियों की यह अप्रगतिशीलता नहीं है ?

एक बात निश्चित है, और वह यह कि भारतीय जन-जीवन आज भी विकासशील है। यह भी सन्देह के परे है कि अगतिकता-भाव के सारे प्रचार के बावजूद, मानव-आदर्शों के संस्कार, संस्कार-रूप में, आज भी वर्तमान स्थिति से द्रोह कर उठते हैं। अतएव यह आशा साधार रूप से व्यक्त की जा सकती है कि हमारे कवि आगे चलकर अपने ढंग के नये प्रगतिशील समीक्षक भी लेते आयेंगे।

हां, प्रगतिशील समीक्षक। भारत फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमरीका नहीं है। और बड़े-बड़े नगरों के साहित्य-केन्द्र भारत का प्रतिनिधित्व करते हों, यह भी आवश्यक नहीं है। भारत पृथ्वी के उस विशाल-तम क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है जो आज भी पिछड़ा हुआ है। इन मुक्तिकामी और प्रगतिकामी विशाल क्षेत्रों में चलती हुई भावोत्तेजनाएँ उसके अधिक निकट हैं—बनिस्बत कि कामू के, या यैस्पर्स के। भारत की भूमि उर्वर है। युग तीव्र गति से परिवर्तनशील है। नयी कविता के क्षेत्र में नव्यतम प्रतिभाएँ अपना काम कर रही हैं, भले ही वे आज प्रसिद्ध न हों।

किन्तु हमारे प्रगतिशील समीक्षकों ने यह नहीं देखा कि इस प्रयोगवादी नयी कविता के क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की भाव-प्रवृत्तियाँ और विचार-प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। उन्होंने तो एक काव्य-प्रणाली ही को,—उसके अन्तर्गत किसी विशेष प्रवृत्ति को नहीं—पूर्णतः विकृत और प्रतिक्रियावादी घोषित किया।

इसलिए वर्षानुवर्ष निर्मित होनेवाले साहित्य की उन्होंने कोई कला-समीक्षा प्रस्तुत नहीं की—ऐसी कला-समीक्षा जो कलाकृतियों के सभी पक्षों पर समान रूप से प्रकाश डालती हो, ऐसी कला-समीक्षा जो साहित्य के आन्तरिक तत्त्वों पर प्रकाश डालते हुए, कलाकार के व्यक्तित्व और उस व्यक्तित्व के माध्यम से समाज और युग की प्रवृत्तियों को निरूपित करती हो; ऐसी विस्तृत और भाव-गम्भीर कला-समीक्षा, जिसमें लगे हाथों साहित्य तथा कलात्मक सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रश्नों पर सर्वांगलेपी विचार किया गया हो। प्रगतिवादी समीक्षक ने साहित्यांकित जीवन और साहित्य-सृजन की मूलाधार जीवन-भूमि में मूलग्राही मर्मज्ञता प्रकट नहीं की। इसीलिए लेखकों को उनके बारे में सन्देह होता है।

समीक्षक के सत्य-प्रवचन सत्यनारायण की कथा इसलिए भी मालूम होते हैं कि लेखक के मन में उत्पन्न होनेवाले अनेकानेक प्रश्नों के उत्तर समीक्षक ने इस ढंग से नहीं दिये, कि जिससे लेखक को मालूम हो सके कि उसकी (लेखक की) भाव-भूमि में समीक्षक की खास और निजी दिलचस्पी है; यह नहीं मालूम होता कि प्रगतिवादी समीक्षक साहित्य-रचना की वास्तविक प्रक्रिया को समझ रहा हो, या वास्तविक रचना-प्रक्रिया में उसका अनुराग हो, कि वह लेखक की कठिनाइयों को समझने की कोशिश कर रहा हो। यह नहीं मालूम होता कि समीक्षक, बनते

हुए साहित्य से, स्वयं कुछ-न-कुछ ग्रहण कर रहा है—भले ही वह उसका विरोध क्यों न करे। कविता, कहानी, उपन्यास, निबन्ध तथा अन्य क्षेत्रों में जो विविध प्रवृत्तियाँ और कलाकृतियाँ सामने आ रही हैं, उनसे तटस्थ होकर वह केवल नेतृत्व प्रदान करना चाहता है। इसलिए उसका प्रभाव नहीं हो पाता। संक्षेप में, वह उसी जीवन से परावृत्त और निवृत्त है जो स्वयं साहित्य-रूप धारण करता है। समीक्षा की इस जीवन-विमुखता और जीवन-निरपेक्षता के कारण उसके सत्यात्मक प्रवचन सत्यनारायण की कथा मालूम होते हैं।

हमारा प्रगतिवादी समीक्षक लेखक के वर्ग, परिवार, व्यक्तित्व, परिवेश, परिस्थिति और मनोरचना आदि के प्रति भी विमुख है। उसके खयाल से लेखक इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उसका सर्वांगीण अध्ययन हो। उसके जीवन, व्यक्तित्व और साहित्य के क्रमिक विकास पर प्रकाश डालने का काम उसका नहीं। शायद समीक्षक लेखक से अधिक महत्त्वपूर्ण है। और उसके लेखे किसी भी लेखक (चाहे वे यशपाल ही क्यों न हो!) या साहित्य-प्रवृत्ति का इतना व्यापक और सारग्राही अध्ययन भी क्यों हो!

लगता है कि समीक्षक सत्यरूपी वट-वृक्ष की छाया में बैठकर स्थापनाओं की व्याख्या कर रहा है। और उन स्थापनाओं की व्याख्याओं के प्रकाश में वह साहित्य-कृति को उन स्थापनाओं की पुष्टि के लिए, उदाहरण के रूप में—केवल उदाहरण के रूप में—उपयोजित कर रहा है। इसका परिणाम यह होता है कि समीक्षक और लेखक इन दोनों के प्रारम्भ-विन्दु केवल एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं, एक-दूसरे के विपरीत दिखायी देते हैं। परिणामतः, ये दोनों—लेखक और समीक्षक—एक-दूसरे से प्रभावित नहीं होते, अप्रभावित रह जाते हैं, और इस स्थिति में समानान्तर चलते हैं। ये पूर्णतः भिन्न-भिन्न संसारों में रहकर एक-दूसरे से अजनवी वने रहते हैं।

लेखक के साथ आप तव रह सकेंगे जव आप में इतनी मानव-श्रद्धा हो कि लेखक-वर्ग में, हृदय-समृद्धि, प्रतिभा-शक्ति और विकास तथा उन्नति की सम्भावनाएँ हैं यह मानकर चलें। इसका अर्थ यह नहीं है कि आप लेखक की विरोधी और युक्तियुक्त आलोचना न करें। इसका अर्थ यह है कि आप उस मनोवैज्ञानिक स्थिति-परिस्थिति को—उस सायकॉलॉजिकल सिच्युएशन को—समझें कि जो लेखक के साहित्य-सृजन का प्रारम्भ-विन्दु वनती है। यानी आप साहित्यांकित जीवन और साहित्य-सृजन की मूलाधार जीव-भूमि को हृदयंगम करें। समीक्षक का यह वुनियादी कर्तव्य है। उसको आत्मसात् किये विना काम नहीं चलेगा। समीक्षक के अन्तःकरण की मर्मग्राही शक्ति की परीक्षा यहीं होती है। उसकी आत्म-निरपेक्ष सूक्ष्म दृष्टि की कसौटी भी यही है।

कलात्मक चिन्तन के विना समीक्षा-कार्य नहीं चल सकता। उसी प्रकार वास्तविक जीवन-ज्ञान और जीवन-चिन्तन के विना, उसका मानव-विवेक और कलात्मक विवेक (ये दोनों, एक तरह से पृथक् और दूसरी तरह से अभिन्न हैं)

विकसित नहीं हो सकता। यह सही है कि प्रत्येक समीक्षक के अपने-अपने आग्रह होंगे, अपने-अपने अनुरोध होंगे। किन्तु इन आग्रहों और अनुरोधों की सार्थकता तभी प्राप्त होगी जब वह आग्रह वास्तविक कलात्मक मूल्यों और जीवन-मूल्यों पर—एक साथ दोनों पर—आधारित होगा। इन आग्रहों और अनुरोधों में सार्थकता तभी आयेगी जब समीक्षक स्वयं भीगा हुआ हो, वृथा-भावुक या वृथा-बौद्धिक न हो। भीगकर कही हुई जीवन-विवेकपूर्ण ज़रा-सी बात का मूल्य सैद्धान्तिक आवेश के प्रवाह से कहीं अधिक होता है। समीक्षक यदि स्वयं भीगा हुआ है, मानव-हृदय और मानव-प्रकृति में यदि वह मर्म-दृष्टि रखता है, अनुभव-सम्पन्न भाव-गम्भीर विश्लेषण कर सकता है, ज्ञानात्मक संवेदनों से और संवेदनात्मक ज्ञान से परिपूर्ण है, तभी वह घनिष्ठ और आत्मीय बनकर उपस्थित हो सकता है—पाठक और लेखक दोनों का आत्मीय। यदि साहित्य-सृजन एक संघर्ष है—अभिव्यक्ति के मार्ग का संघर्ष—तो समीक्षा एक प्रेम-दर्शन है। ऐसा प्रेम-दर्शन जो आवश्यकता पड़ने पर अतिशय कठोर होता है, किन्तु सामान्यतः उदार और कोमल रहता है। ऐसी समीक्षा का विकास यदि समीक्षक करे, तो यह निश्चित है कि वह 'नेतृत्व' कर सकता है।

समीक्षक को स्वयं जीवन द्वारा कला के नव-नवीन मान मिलते हैं, अथवा पुराने मानों में नव-नवीन तत्त्व आ मिलते हैं। कलात्मक, समाजशास्त्रीय तथा दार्शनिक मान भिन्न होते हुए भी परस्पर-निर्भर हैं। इसे यों कहा जायेगा कि कला का अपना स्वायत्त स्वतन्त्र राज्य है। किन्तु उसकी यह स्वायत्तता और स्वतन्त्रता सापेक्ष है। वह अपने अस्तित्व ही के लिए, अपने जीवन-तत्त्वों के लिए, प्राण-वैभव के लिए, कलाबाह्य यह जो अपार विस्तृत जीवन है उस पर निर्भर है। अतएव, समाजशास्त्रीय शक्तियाँ और प्रवृत्तियाँ उसके प्राण-वैभव को बनाती-बढ़ाती या काटती-घटाती हैं। किन्तु ये शक्तियाँ और प्रवृत्तियाँ, उसके वर्ग, परिवार, व्यवसाय, जीवनयापन-पद्धति आदि के माध्यमों से, उसके मनो-जगत् को सँवारती-बिगाड़ती हैं। और इस प्रकार मनोजगत् बन जाने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि वह कलारूप धारण करे।

कला एक आत्मपरक प्रयास है, भले ही वह यथार्थवादी उपन्यास-रचना क्यों न हो। यहीं से कला का स्वायत्त तन्त्र स्थापित हो जाता है, और उसके स्वतन्त्र नियम कार्यशील होने लगते हैं।

प्रकृति में भी हमें यही दृश्य दिखायी देता है। फूल के विकास और ह्रास के अपने नियम और अपने कार्य हैं। किन्तु वह फूल अपने अस्तित्व के लिए सारे वृक्ष पर निर्भर है—मूल पर, स्कन्ध पर, शाखा पर, यहाँ तक कि पत्तियों पर भी, रश्मि-रासायनिक समन्वय-कार्य के लिए। पुष्प की अपनी (सापेक्ष) स्वतन्त्रता है। किन्तु उसका वह पृथक् अस्तित्व अन्य-निर्भर और अन्य-सम्बद्ध है। यह निर्भरता तथा सम्बन्ध-स्थिति, उसके पृथक् अस्तित्व के निर्वाह के लिए ही, उसके प्राणपोषण के लिए ही, अविनाभाव से उपस्थित है।

उसी प्रकार कला का अपना स्वायत्त स्वतन्त्र क्षेत्र है। किन्तु उसकी यह स्वतन्त्रता जीवनसापेक्ष है, अपने प्राणपोषण और श्रीसम्पन्नता के विकास के लिए ही। वह लेखक की मनोदशा पर, और मनोदशा के द्वारा ज्ञान-संवेदनात्मक तथा संवेदन-ज्ञानात्मक मनोजगत् पर, अनुभवसम्पन्न मनोजगत् पर [निर्भर है।] ऐसा मनोजगत्, जिसमें बाह्य विश्व आभ्यन्तरीकृत हुआ है, और मनोजगत् के माध्यम से जीवन-जगत् पर जिसने लेखक को विशेष भावभूमि प्रदान की, विशेष दृष्टिकोण प्रदान किया, जीवन-मूल्य, मूल्य-भावना, आदर्श-भावना तथा संस्कार के अतिरिक्त परिवेश प्रदान किया—ऐसा परिवेश जिसके प्रति [वह] अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रियाएं करता रहा है, ऐसा परिवेश जो राष्ट्र, समाज, वर्ग और परिवार के भीतर की विशेष स्थितियों से और वातावरण से बना हुआ है।

कलात्मक सौन्दर्य के मान, एक विशेष मर्यादा के अन्तर्गत, कलाकृति के भीतर ही हैं। किन्तु सौन्दर्य का यह अन्तरोद्भूत, अन्तर्जनित निकष, निश्चित, नियमित और नियन्त्रित होता है सौन्दर्य-मानों की उस सांस्कृतिक परम्परा से, जो पूर्वापर रूप से निरन्तर संशोधित, संस्कार-निर्मल होती आयी है, और जो वर्तमान अवस्था में भी युगीन परिस्थितियों और आवश्यकताओं तथा इतरेतर प्रभावों से संशोधित-सम्पादित होती चलती है; सौन्दर्य-मानों की उस सांस्कृतिक परम्परा से, जो आज विश्व के विभिन्न देशों के सौन्दर्य-मानों और कलात्मक उपलब्धियों से पुनः-पुनः प्रभावित, संशोधित और सम्पादित हुई जा रही हैं; सौन्दर्य-मानों की उस सांस्कृतिक परम्परा से, जिसमें मानवादर्श, नैतिक मूल्य तथा अन्य जीवन-मूल्य, संस्कार, तथा मानवीय लक्ष्यों के प्रति उद्युक्त विभिन्न जीवन-गतियाँ प्रवाहित और समाहित होती हैं; उस सांस्कृतिक परम्परा से, जिसमें कलात्मक अभिरुचि, कलात्मक आदर्श कलासम्बन्धी चिन्तन भी समाविष्ट होता है।

वह कलाकार जो अपने काव्य-वैभव को और भी विकसित करना चाहता है, वह वस्तुतः, द्विमुखी संघर्ष करता है। उसका एक संघर्ष कलाकृति को उसके पूर्ण सौन्दर्य में उद्भासित करने से, कलाकृति के अन्तर्बाह्य नियमों के अनुसार आकृति-गठन प्रस्तुत करने से, उसमें पूर्ण भाव-वैभव लाने से, सम्बन्धित है, तो उसका दूसरा संघर्ष अपने वास्तविक जीवन में अधिकाधिक मानव-अनुभव तथा अधिकाधिक वैविध्य के दर्शन प्राप्त करने से है, अपने को अधिकाधिक संवेदनक्षम जागरूक और विस्तृत करने से है, तथा ऐसा एक लक्ष्य प्राप्त करने से है, जो लक्ष्य उसके सम्पूर्ण जीवन और व्यक्तित्व को सार्थक कर दे।

जिये जानेवाले और भोगे जानेवाले वास्तविक जीवन द्वारा ही समीक्षक के मान-मूल्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि अनुप्राणित होनी चाहिए। जीवन ही के प्रकाश में, उसी से दिशा प्राप्त कर यदि सिद्धान्तों का प्रयोग हुआ, मान-मूल्यों का प्रयोग हुआ, (ऐसे मान-मूल्य जीवन ही से निर्देशित, प्रकाशित अनुप्राणित हैं), तो वैसी स्थिति में समीक्षा भटकेगी नहीं। समीक्षा में वास्तविक जीवन-सत्य

झलमलाने लगेंगे, और स्वयं समीक्षा एक सृजनशील कार्य हो जायेगी।

साहित्यिक पत्रकारिता और समीक्षा में अन्तर न समझना भूल होगी। पत्रकारिता समीक्षात्मक नहीं हो सकती, यह मैं नहीं कह रहा हूँ। मैं यह कहना चाहता हूँ कि लेख में किसी विशेष पक्ष या किसी खास बात को जोरदार ढंग से खड़ा करने के लिए, (जिससे कि दूसरों का ध्यान उस ओर खिंच सके), हमें एकपक्षीय बल और एकांगी अतिरेक प्रस्तुत करना पड़ता है, वैसा करना कभी-कभी आवश्यक हो जाता है। वैसा न करना ग़लत है। प्रतिमास प्रतिवर्ष बनते हुए साहित्य की गतिविधि को ठीक-ठिकाने रखने के लिए यह आवश्यक भी है। किन्तु हमेशा यह ध्यान में रखना होगा कि उसमें एकपक्षीय अतिरेक और बल है। दूसरे शब्दों में, साहित्यिक पत्रकारिता समीक्षा का स्थान नहीं ले सकती। दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। हाँ, इन दोनों के बीच सहयोग हो सकता है, जो कि आवश्यक भी है। किन्तु साहित्यिक पत्रकारिता साहित्यिक पत्रकारिता है, और समीक्षा समीक्षा।

यदि समीक्षा को साहित्य में फिर से प्रभावशाली होना है, तो केवल सत्यात्मक प्रवचनों से काम नहीं चलेगा वरन् वास्तविक साहित्य की सर्वांगीण समीक्षा करनी होगी। किन्तु, प्रतीत होता है कि समीक्षक वास्तविक साहित्य-समीक्षा से बचना चाहता है, क्योंकि वास्तविक साहित्य-समीक्षा में समीक्षक की सूक्ष्म-दृष्टि की परीक्षा हो जाती है। समीक्षक की हार्दिक और बौद्धिक अन्धताओं का उद्घाटन हो जाता है। इसलिए बहुत-से-समीक्षक, जिनमें प्रगतिवादी समीक्षक भी शामिल हैं, एक खास ढंग की कार्य-प्रणाली अपनाते हैं। वह इस प्रकार है।

समीक्षक ने साहित्य में दिखायी देनेवाली कुछ प्रवृत्तियों के जो मानसिक प्रभाव ग्रहण किये हैं, अथवा उसने उनके प्रति जो अनुकूल या विरोधी प्रतिक्रियाएँ की हैं, उन प्रभावों और प्रतिक्रियाओं को अपना आधार बनाकर, (उन प्रभावों और प्रतिक्रियाओं की पुनर्परीक्षा न करते हुए), उन प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में सामान्य बातें करते हुए, वह समीक्षक सामान्य स्थापनाएँ करता है। उसकी चर्चा सामान्यीकरणों से शुरू होकर सामान्यीकरणों में समाप्त हो जाती है। इस कार्य-पद्धति के फलस्वरूप उसे बहुत सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं। यह कार्य-पद्धति उसके लिए बहुत सुविधाजनक है। किस प्रकार?

चूंकि वह सामान्यीकरणों द्वारा, सामान्य स्थापनाओं में, केवल अपनी दृष्टि की स्थापना कर रहा है, इसलिए उसे उन स्थापनाओं के प्रमाण-रूप में अपने सम्बन्धित क्षेत्र में कुछेक उदाहरण मिल ही जाते हैं। उसी क्षेत्र के अन्य तथा भिन्न या प्रतिकूल उदाहरणों से उसे मतलब नहीं होता। इस प्रकार वह अपनी दृष्टि का वस्तुसंगत औचित्य स्थापित कर जाता है।

किसी भी प्रवृत्ति-विशेष के स्वरूप का अध्ययन तब हो सकता है, जब उस साहित्य-प्रवृत्ति की आन्तरिक विशेषताओं के अध्ययन के साथ-ही-साथ, उस प्रवृत्ति के भीतर झलकती हुई व्यक्ति-स्थिति, वर्ग-स्थिति, समाज-स्थिति और उन सबके परस्पर अन्तःसम्बन्ध हम आत्मगत करें, और उन सबके स्वरूप का

वस्तुगत विश्लेषण करते हुए, हम उस प्रवृत्ति-विशेष का प्रतिनिधित्व करनेवाली मुख्य-मुख्य और कुछ-कुछ गौण कलाकृतियों का सर्वांगीण अध्ययन करें, व्यापक जीवन-दृष्टि से।

किन्तु समीक्षक ऐसा क्यों करे ? विशेषकर तब कि जब वह स्वयं उस प्रवृत्ति-विशेष का ही नाश करने पर उतारू है। केवल अपनी मत-स्थापना के लिए जो आवश्यक तर्क हैं और जो आवश्यक उदाहरण हो सकते हैं, उनको उपस्थित करके अपने लेख में वह यह प्रभाव उत्पन्न करता है कि उसने उस प्रवृत्ति-विशेष का समग्र और मर्मग्राही अध्ययन और निरूपण कर लिया है, विश्लेषण-मूल्यांकन कर लिया है। और अब पाठक समीक्षक पर विश्वास करके तदनुसार अपनी दृष्टि और मत बना ले। किन्तु इस प्रकार की उसकी समीक्षा में जो अभाव रह जाते हैं, उनको पूरा करता है वह अपने लेख में उस प्रवृत्ति के विरुद्ध निन्दात्मक वातावरण तैयार करके। यदि इस प्रकार उसने कर लिया तो वह समझता है, उसने अपने कर्त्तव्यों को उनकी सर्वोच्च सिद्धि तक पहुँचा दिया।

इसीलिए वह सामान्यत: ऐसे उदाहरण चुनता है जो निकृष्ट हों—ऐसे उदाहरण जो उसकी पूर्वगृहीत मान्यताओं और बने-बनाये सामान्यीकरणों (या कहिये सिद्धान्तों) के अनुकूल हों, और उन्हें प्रामाणिक सिद्ध करते हों। ऐसे ही उदाहरणों को लेकर वह अपने विजय-मार्ग पर चल पड़ता है।

किन्तु इन उदाहरणों के अतिरिक्त, सम्बन्धित क्षेत्र के जो अन्य विशिष्ट उदाहरण हैं, जिससे उसके सामान्यीकरणों की पुष्टि नहीं होती, वे भिन्न क्यों हैं, उनकी भिन्नता का स्वरूप क्या है, क्या उनका ऐसा होना आकस्मिक है, अथवा क्या वे किसी अल्पज्ञात अथवा (समीक्षक की जल्दबाज़ी के सबब) अज्ञात अथवा अर्ध-ज्ञात जीवन-स्रोतों से उत्पन्न हैं, कि जो जीवन-स्रोत उसी साहित्य-प्रवृत्ति के निर्माण की कारक-शक्ति में से हैं—इन सारे प्रश्नों से उसे कोई मतलब नहीं। सामान्यकरणों से आरम्भ होकर सामान्यीकरणों में समाप्त होनेवाली समीक्षा इस तरह फिसलती हुई चली जाती है कि उसे फ़िज़ूल अड़चन पैदा करनेवाले इन सवालों से बातचीत करने की फ़ुरसत नहीं। ऐसी समीक्षा को सुस्निग्ध गति का यह जो लाभ प्राप्त है वह क्या कम है !

किन्तु ऐसी समीक्षा साहित्य-क्षेत्र में एक विशेष प्रतिकूल परिस्थिति पैदा कर देती है। ऐसी समीक्षा साहित्य-सृजन के लिए अनुकूलता पैदा करने के स्थान पर प्रतिकूलता ही उत्पन्न करती है और इस कारण, समीक्षा स्वयं क्षयग्रस्त हो उठती है। वह स्वयं पिटी-पिटायी जड़ीभूत लीक पर चलती है। (भले ही वह जड़ीभूत लीक किसी सचाई की लीक हो)। और यह दृश्य उपस्थित होते ही, बनते हुए साहित्य से एक लम्बा फ़ासला क़ायम करके, समीक्षा अपने साहित्यिक स्वप्नों में डूब जाती है, अर्थात् उसमें आत्मग्रस्त सैद्धान्तिकता, एक यान्त्रिक भाव-पद्धति, पैदा हो जाती है।

क्या साहित्य-सृजन के लिए प्रतिकूल परिस्थिति केवल समीक्षकों द्वारा ही

उत्पन्न की जाती है ? निःसन्देह नहीं, नहीं ही। लेखक अपनी अर्थहीन रचनाओं द्वारा, और प्रकाशक अपनी अर्थ-लोलुप प्रवृत्ति द्वारा, तथा पाठक अपने पिछड़ेपन के द्वारा भी, साहित्य-सृजन के लिए प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं।

किन्तु इस परिस्थिति के निर्माण में अन्धमति जीवनविमुख समीक्षकों का भी पर्याप्त योग होता है। समीक्षक का कर्त्तव्य अपनी कठोर आलोचक दृष्टि और कोमल संवेदनात्मकता भावुक दृष्टि, इन दोनों के योग द्वारा लेखक ही के मार्ग को सुगम और प्रशस्त करना होना चाहिए। समीक्षक में व्यापक मानव-आस्था और प्रगाढ़ जीवन-सम्पर्क के बिना, गहन और वैविध्यपूर्ण जीवनानुभव के बिना यह सब सम्भव नहीं है। केवल आस्थावादी शब्दों के उच्चार और पुनरुच्चार से मानव-आस्था का वातावरण उत्पन्न नहीं होगा, जब तक समीक्षक स्वयं अपनी कठोर और कोमल दृष्टि के द्वारा—अपने समीक्षात्मक आचरण और व्यवहार द्वारा—यह सिद्ध नहीं करता कि वह उग्र सिद्धान्तवादी अहंकार से पीड़ित नहीं, वरन् लक्ष्योन्मुख उदार मानव-प्रेरणाओं से उत्स्फूर्त है।

दूसरे शब्दों में, ईमानदार प्रखर वैज्ञानिकता सर्वोच्च मानव-धर्म है। उसमें एक साथ आत्म-निरपेक्षता और ग्रहण आत्म-सम्बन्ध, लक्ष्योन्मुखता और विस्तृत, अनेकपक्षीय तथ्य-संवेदना, तथ्य-ग्रहण-क्षमता उपस्थित है। अपने अज्ञान का स्वीकार और ज्ञान का अग्र-वेग भी उसमें है। मानव-विजय की यात्रा का वह द्योतक है। सम्पूर्ण मानव-सत्ता के अनेकपक्षीय सम्बन्धों और गतियों के प्रति उसका अनुराग है। वह एक ही साथ समर्पित दीन सेवक, बुज़ुर्ग साथी और नौजवानों में से एक तीव्र उत्साहपूर्ण चंचल नवयुवक है।

ज्ञान के कण जहाँ भी मिलें, जहाँ भी प्राप्त हों, उन्हें तुरन्त अपने आकुल संवेदनों द्वारा उठाकर कृतज्ञ होना, और मुग्ध भाव से उन्हें स्वीकार करना, क्या आवश्यक नहीं है ? कोई भी मनुष्य, चाहे वह कितना ही प्रभावशाली क्यों न हो, सारे ज्ञान का, समग्र ज्ञान के भाण्डार का, वह अधिकारी नहीं है, क्योंकि ज्ञान के प्रकाश-वृत्त के आस-पास हमेशा अन्धकार घिरा रहता है।

संक्षेप में, समीक्षक स्वयं अपने विश्लेषणों और व्याख्याओं द्वारा, वास्तविक कला-समीक्षा द्वारा, बुरे को अच्छे से अलग करते हुए, अच्छे को बीनते और चुनते हुए, साहित्य-क्षेत्र में मानव-आस्था का वातावरण निर्माण कर सकता है। मानव-आस्था अच्छे कार्यों से उत्पन्न होती है, और इस प्रकार के अनेक कार्य-केन्द्रों से वह सर्वत्र प्रसारित होती है। समीक्षक अपने कर्म द्वारा यदि इस प्रकार विश्वसनीय बनने का प्रयत्न करता है, तो यह उचित ही है। किन्तु वह विश्वसनीय और विश्वासपात्र तभी बनेगा, जब वह मानव-हृदय में सूक्ष्म-दृष्टि रखकर, भीगकर, साहित्यांकित जीवन और साहित्य-सृजन की मूलाधार जीवन-भूमि में, उसकी मानव-भूमि, अपने ज्ञान और ज्ञान की मार्मिकता के साथ, अपने पूरे अनुभव और अनुभवों की तीव्र संवेदनाओं के साथ, अपने सारे विवेक और विवेक की समस्त पीड़ाओं के साथ—उस जीवन-भूमि में, उस मानव-भूमि में प्रवेश करेगा। तभी

उस बात को जिसे वह बुरा असत् और ग़लत समझता है, उसकी सही-सही व्याख्या और सही-सही विश्लेषण द्वारा उसके साथ संघर्ष और निर्णायक संघर्ष हो सकेगा। नहीं तो नहीं।

लेखक में जो भी जहाँ भी अवांछनीय है, उसका निषेध और विरोध आवश्यक है। लेकिन समीक्षक उसे अवांछनीय क्यों समझता है? अवांछनीय क्या है, कहाँ है? उसका उद्गम-स्रोत क्या है? उसका स्वरूप क्या है? उसका परिणाम क्या है? और वह अवांछनीय यदि सचमुच अवांछनीय है तो उसे कुछ लोग वांछनीय क्यों समझते हैं? उनकी दृष्टि क्या है, उनकी दृष्टि के तत्त्व क्या हैं? वे कौन लोग हैं, उनके अपने मूलाधार उनके लिए क्यों प्रिय हैं? और क्या वे मूलाधार सही नहीं हैं? नहीं हैं तो क्यों नहीं हैं? और वे ग़लत हैं तो क्यों ग़लत हैं? क्या सहीपन में ग़लती का मेल है? और अगर यह हालत है तो सहीपन की मात्रा क्या है, ग़लती की मात्रा क्या है? सहीपन और ग़लती का मेल किस जगह है?

और यदि किसी लेखक में जो अवांछनीयता है, उसमें उसके साथ वांछनीय क्या है, उसका स्वरूप क्या है, वह क्योंकर है? और क्या उसमें वांछनीयता का सर्वथा अभाव है, और यदि ऐसा है तो क्योंकर है? और यदि उसमें वांछनीय तत्त्व और वांछनीय विशेषताएँ हैं, तो अवांछनीय के अनुपात में वह वांछनीय कितना है, वांछनीय का अवांछनीय से जो मिश्रण है वह क्यों हुआ? वह कहाँ-कहाँ कैसा-कैसा है? वांछनीय और अवांछनीय तत्त्वों से मिलकर जो कलाकृति प्रस्तुत हुई है, उसका मूल्य क्या है? और क्या उस लेखक या साहित्य-प्रवृत्ति की जीवन-भूमि पर इस तरह प्रकाश डाला जा सकता है, जिससे वांछनीय और अवांछनीय तत्त्वों पर नया प्रकाश पड़ सके, उनकी नयी व्याख्या हो सके? उस जीवन-भूमि का पारिवारिक, सामाजिक, वर्गीय और युगीन वातावरण से किस तरह का, क्या सम्बन्ध है?

क्या इन सारी बातों पर प्रकाश डाले बिना, उनकी पेचीदगियों और बारीकियों में फँसे बग़ैर, क्या वास्तविक साहित्य-समीक्षा, वास्तविक कला-समीक्षा हो सकती है? वास्तविक कलात्मक और समीक्षात्मक विवेक सम्भव है?

साहित्य-क्षेत्र में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं, वे सारत: जीवन के प्रश्न हैं, वे जीवन-स्थितियों और जीवन-प्रवृत्तियों से सम्बन्धित हैं। अतएव, उनके सम्बन्ध में, अधिक गम्भीरता और मर्मग्राही दृष्टि के अतिरिक्त आत्म-निरपेक्ष तथ्यानुसन्धान और उदार कोमलता आवश्यक है। ये सारे गुण सिद्धान्तनिष्ठता के विरोधी नहीं, वरन् उसके पूरक हैं। समीक्षक को भी चरित्र की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि लेखक को ईमानदारी की।

सारांश यह कि समीक्षा—कोई भी समीक्षा-पद्धति—जब-जब जीवन-यथार्थ के स्पन्दनों का अपमान करती है, उसके स्वरूप का तटस्थ, वैज्ञानिक और नम्र भाव-गम्भीर विश्लेषण नहीं करती है, जब-जब वह लदने और ख़ुद को थोपने का प्रयत्न

करती है, जब-जब वह एकपक्षीय विचारणा के फलस्वरूप उत्पन्न असफलताओं के कारणों को दृष्टि से ओझल कर देती है, अपने प्रतिपक्षियों द्वारा उपस्थित विचार-प्रणाली में इधर-उधर बिखरे हुए सत्य के अणु-परमाणुओं को बीनने से इनकार कर देती है, जब-जब वह आत्मालोचन करना अस्वीकार कर देती है, तब-तब वह सिद्धान्तों और तर्कों के आयवरी टॉवर में बैठकर अपनी अकाल मृत्यु के क्रमशः उपस्थित कारणों को स्वयं अपने हाथों संवर्धित और परिपुष्ट करती जाती है।

शीतयुद्ध के प्रचार और प्रभाव के परिणामस्वरूप हिन्दी में ऐसे समीक्षक-विचारक भी सामने आये, जिन्होंने न केवल प्रगतिवादी समीक्षकों की भूलों का फ़ायदा उठाया, वरन् वे साहित्य में ऐसी विचारधारा का विकास करने लगे, जिसका उद्देश्य लेखक को उस वास्तविक जीवन-संघर्ष में प्राप्त जीवन-मूल्यों से हटाकर सम्पूर्ण व्यक्तिकेन्द्री बना देना था।

निःसन्देह मेरे इस वक्तव्य से बहुतों को आपत्ति होगी। जीवन-संघर्ष के दौरान में वास्तविक जीवन-मूल्य कैसे मिलते हैं ?

किन्तु, यदि हम यह मान लें कि प्रत्येक के पास अपनी-अपनी संवेदनशील अन्तरात्मा है और मन है, तो यह सन्देह के परे है कि वास्तविक जीवन-संघर्ष—अस्तित्व-संघर्ष—के दौरान में उसके हृदय में एक मूल्य-भावना छटपटाती रहती है, और वह चाहने लगता है कि यह अमानवीय मानव-यथार्थ परिवर्तित हो, मानवोचित जीवन की स्थापना हर एक के लिए हो। पैसों की तंगी से परेशान घर की मालकिन जब सरकार और मुनाफ़ाखोर व्यापारी को गाली देने लगती है, या गुटबाज़ी और भाई-भतीजावाद के अभिशाप से त्रस्त बी. ए. पास ग़रीब क्लर्क जब आत्म-रक्षा का संघर्ष करने लगता है, या अपने काम पर से घर लौटते हुए फटेहाल बाप के परेशान चेहरे को देखकर जब जवान बेटे का दिल एक अजीब दर्द में घुलने लगता है, या घर की बीमारी को दूर करने के लिए अपना सब-कुछ झोंक देनेवाला मध्यमवर्गीय जब कर्ज़ देनेवाले को सूद और दवाइयों में गहरा मुनाफ़ा, चित्त करनेवालों की चालाकी और अपने मित्रों और पड़ोसियों द्वारा उदार सहायता को देखकर जीवन के द्वन्द्व का अनुभव करने लगता है—तब उसके हृदय में एक मूल्य-भावना अवतरित होती है, ऐसी मूल्य-भावना जो वेदना में, जीवन-वेदना में, घुली-मिली है।

मूल्य-भावना भयानक निराशा और अगतिकता में भी व्यक्त होती है। भयानक निराशा के क्षणों में मानव-जीवन को मनुष्य अत्यन्त दुःखपूर्ण अवश्य मानता है, किन्तु दुःख के कारणों की ओर भी उसका ध्यान जाता है। यहाँ तक कि उसे प्रतीत होता है कि मानव-सत्ता ने उसके प्रति न्याय नहीं किया है। कभी वह आत्मालोचन करता है, और अपने को विविध अक्षमताओं का केन्द्र मान बैठता है और कभी वह जगत् का तीव्र प्रखर और विक्षोभमय आलोचन करने लगता

है। अगतिकता की स्थिति में भी वह जीवन-मूल्यों से संवेदित होता है, इसीलिए वह मानव-जीवन की आलोचना करता है। यह आलोचन निःसन्देह वैज्ञानिक बुद्धि से प्रेरित नहीं है। किन्तु उसके पीछे एक मूल्य-भावना है।

वर्तमान युग, मूलतः, आलोचना का युग है। अपनी-अपनी चेतना के अनुसार, और चारित्रिक गुणों के अनुसार, यह आलोचना चलती है। मन-ही-मन जीवन-व्याख्यान के सूत्र चलते रहते हैं—विशेषकर, दुःख, कष्ट, सन्ताप, भयानक निराशा और अगतिकता की स्थिति में। और इस तथ्य को कौन नहीं जानता कि इस प्रकार की भयानक अवसादपूर्ण स्थितियाँ आज अनगिनत स्त्री-पुरुषों के अनुभव के अन्तर्गत वारम्वार आती रहती हैं।

हाँ, यह सही है कि ऐसे दुःखात्मक क्षणों के प्रदीर्घ क्रम में विशुद्ध पवित्र आत्मा की पुकार भी हो, यह एक आवश्यक नियम नहीं है। किन्तु साधारणतया, वास्तविक दुःखात्मक क्षणों में ही मनुष्य अधिक तीव्रता से देखता है, अधिक क्षेत्रों को देखता है। हाँ, यह भी सही है कि ऐसे क्षणों में, ऐसी कालावधि में, मन-ही-मन जीवन-व्याख्यान के जो सूत्र चलते रहते हैं, वे सुसंगत, युक्तियुक्त, समुचित और आत्म-निरपेक्ष आदर्श-भावना से अनुप्राणित हों, यह भी एक अनिवार्य नियम नहीं है। किन्तु जीवन की यह आलोचनात्मक व्याख्या मन-ही-मन चलती रहती है, वह मनोवैज्ञानिक स्तर पर मूल्य-भावना से संयुक्त होकर ही चल सकती है, अन्यथा नहीं। मूल्य-भावना के विना आलोचन-क्रम असम्भव है।

इसी बात को प्रगतिवादियों ने नहीं समझा। मनुष्य को केवल उसके सामाजिक-राजनैतिक पक्ष में समझने और उपस्थित करनेवाले इन लोगों ने, प्रयोगवादियों के प्रारम्भिक अभ्युदय के काल में, उन दुःखपूर्ण और निराशापूर्ण, ग्लानिपूर्ण, अगतिकता की भावना प्रकट करनेवाले, काव्य के वास्तविक अन्तः-सन्दर्भों को और बाह्य सन्दर्भों को—जीवन-जगत्-सम्वन्धी सन्दर्भों को—समझने से इनकार कर दिया। नये प्रयोगवादी काव्य के प्रति उनका यह शत्रुत्व भाव चिर-स्मरणीय रहेगा।

चिरस्मरणीय क्यों रहेगा? इसलिए कि उन्होंने मानव-दुःख की अवहेलना की, मानव-पीड़ा के यथार्थ पर अहंकारपूर्ण पदाघात किया। उसको कुचलने की भरसक कोशिश की। उन्होंने ऐसे कवियों और लेखकों को अपने पास से उठाकर फेंक दिया, जो आधुनिक जीवन के अन्तर्विरोधों से त्रस्त होकर काव्य-रचना करते थे।

किन्तु यह भी सच है कि अपने सैद्धान्तिक विश्वासों के कारण बहुत-से कवि उन्हीं के साथ रहने का प्रयत्न करते थे, यद्यपि वे वहाँ से वार-वार हटा दिये जाते थे।

यह सव लिखना यहाँ इसलिए प्रासंगिक हो उठा कि समीक्षक का सवसे पहला कर्त्तव्य आज की स्थिति में मानव-दुःख के प्रति, दुःखात्मक अवस्थाओं के प्रति, सहज मानवीय कला-समीक्षात्मक सहानुभूति प्रकट करना है। उसके अभाव

में, यह कहा जायेगा कि उसके हृदय में समुचित मानव-संवेदना का अभाव है।

हाँ, यह सही है कि दुःखात्मक मनोदशाओं में जीवन-व्याख्यान के जो सूत्र स्पन्दित होते हैं, भावनात्मक रंग में रँगे हुए होने के कारण, भावना से नियन्त्रित होने के कारण, जीवन-व्याख्यान के उन सूत्रों में सैद्धान्तिक दृष्टि सम्भवतः प्रकट नहीं हो सकती। किन्तु वह अनिवार्यतः कभी भी प्रकट नहीं होती, यह मानना भी असंगत है।

साथ ही, इस बात को ध्यान में रखना होगा कि लेखक जीवन को व्यक्त कर रहा है—कतिपय जीवन-पक्षों को व्यक्त कर रहा है, जो सम्भवतः अल्प-प्रकाशित और अल्प-ज्ञात और अल्प-चिन्तित होने के कारण एकदम नवीन मालूम होते हैं। वास्तविकता यह है कि उनके काव्यात्मक सन्दर्भ नये हैं, अर्थात् वे नवीन जीवन-सन्दर्भों से युक्त नवीन काव्य-विषय उपस्थित कर रहे हैं।

लेखक की कुछ रचनाओं को देखकर नहीं, उसकी सब रचनाओं को देखकर उसके तथाकथित जीवन-दर्शन की बात की जा सकती है। उसकी कुछेक कविताओं को देखकर हम क्योंकर यह मान चलें कि लेखक की जीवन-दृष्टि, उसका जीवन-दर्शन, निराशामूलक है?

कविता की कला अन्य साहित्यिक कलाओं की तुलना में अधिक अमूर्त और और अधिक सामान्यीकृत होती है—विशेषतः आत्मपरक काव्य में। ऐसी स्थिति में, अन्य साहित्यिक कलाओं की अपेक्षा आत्मपरक कविता में जो सन्दर्भ उपस्थित होते हैं, वे भावना के भीतर से दीपित और ज्योतित हो उठते हैं। उन सन्दर्भों को कल्पना-चित्रों द्वारा, प्रतीकों द्वारा भी, सूचित-व्यंजित किया जाता है। अतएव, ये सन्दर्भ उस ढंग से उपस्थित नहीं हो सकते, जैसे कि वे कथा-तत्त्व को धारण करनेवाले साहित्य-प्रकारों में, या निबन्धों आदि में, मूर्तिमान रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं। उनके सन्दर्भ उस भावना-विशेष में निहित होते हैं।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वर्तमान जीवन में पुनः-पुनः प्राप्त दुःखात्मक जीवन-स्थितियों में आलोचना के जो सूत्र चलते हैं, जीवन-व्याख्यान की जो पंक्तियाँ प्रवहमान होती हैं, उनमें भावना के रंग में भीगे हुए जीवन-मूल्य होते हैं, मूल्य-संवेदना होती है। कुछ लोगों को भय यह हुआ कि ये मूल्य-संवेदनाएँ किसी आध्यात्मिक आदर्श अथवा प्रगतिवादी आदर्श में विलीन न हों। दुःखात्मक मनःस्थितियों में प्राप्त मूल्य-भावनाएँ या जीवन-व्याख्यान में सन्निहित मूल्य-भावनाएँ, कहीं प्रगतिवाद के छोर से पूर्णतः अपना गठबन्धन न कर लें।

इसलिए, आपसी फुसफुसाहटों में यह तर्क आविष्कृत किया गया कि जो कवि अपनी आकुल मूल्यात्मक संवेदनाओं द्वारा प्रगतिवाद के वट-वृक्ष की छाया में पहुँचना चाहता है, वहाँ उस प्रगतिवादी सिद्धान्त-व्यवस्था द्वारा, अथवा प्रगतिवादी नेताओं के प्रभाव से, उसकी काव्यश्री फीकी पड़कर समाप्त हो जाती है।

यह सही है कि प्रारम्भिक उत्थानकालीन प्रयोगवादी कविता में, यदि हम

उसे समग्र रूप में देखें तो, हमें मार्क्सवाद की छाया मिल जायेगी, जीवन-आलोचन की दु:खात्मक किन्तु तीव्र ध्वनि सुनायी देगी। उस कविता में भाव-तत्त्वों का आन्तरिक गठन, उसकी आन्तरिक रचनाशैली, ऐसी थी कि जिससे यह ध्वन्यर्थ प्राप्त होता था कि वह इस ओर है या उस ओर।

यह मैं पहले ही से कह दूँ कि व्यक्तिशः मुझे इन महोदयों से हमेशा सदाशयता का भाव ही मिला। यह भी कह दूँ कि यह कोई व्यक्तिगत विरोध नहीं है। साथ ही मुझे व्यक्तिशः (कविरूप में नहीं) प्रगतिवादियों की सदाशयता प्राप्त होती रही। अतएव मुझे, व्यक्तिशः, न इस पक्ष से असन्तोष है, न उस पक्ष से।

प्रगतिवादियों की तुलना में निःसन्देह ये नये लोग अधिक कला-मर्मज्ञ थे। किन्तु साहित्यिक प्रवृत्तियों को वे एक भिन्न प्रकार की दिशा देना चाहते थे। वे साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में, एक विशेष प्रेरणा से, अपने प्रभाव का विस्तार करना चाहते थे। और वह प्रेरणा अपना एक राज-दर्शन, अपनी एक राजनीति, रखती थी।

विश्व में चलते हुए शीतयुद्ध से और शीतयुद्ध की भावनाओं से वे प्रेरित थे। प्रगतिवादी भाव-धारा का हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र से उन्मूलन करना उनका प्रधान उद्देश्य था। साथ ही, एक ऐसी भाव-धारा का प्रचलन करना उनका उद्देश्य था, जो प्रगतिवाद का स्थान ग्रहण करे।

अतएव, उन्होंने एक ही साथ, या एक के बाद एक, काव्य के विशेष पैटर्न, कला-व्याख्या, कलाकार का धर्म, सौन्दर्यानुभूति का सिद्धान्त, आधुनिक भावबोध तथा उससे जुड़ी हुई सभ्यता-समीक्षा, लघु-मानव-सिद्धान्त, तथा अन्य—जो सम्भवतः मुझे इस समय याद न हों—इन सबको उपस्थित किया। साम्यवादी-प्रगतिवादी प्रभाव का मूलोच्छेद—इस प्रधान लक्ष्य से ये सारे सिद्धान्त अनुप्राणित रहे। और यह साफ़-साफ़ दिखायी देने लगा कि लेखकों के मस्तिष्कों पर, उनके मन-प्राणों पर, अधिकार जमाने के लिए लड़ाई लड़ी जा रही है, अर्थात् भिन्न प्रकार की जीवन-व्याख्या उनके हृदय में मूलबद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

ठीक यही कारण है कि बहुत-से ऐसे लेखक जो उनकी मूल जीवन-व्याख्याओं से और जीवन-दृष्टि से सहमत नहीं थे, वे उनसे कटकर अलग हो गये। उन्होंने इन महोदयों से कटकर अपना स्वतन्त्र किन्तु निःसंग और त्रासदायक जीवन-पथ अंगीकार करना ही उचित समझा। यह बात भूलने की नहीं है कि ये नये महोदय सब तरह से साधनसम्पन्न थे, और आज भी खूब हैं।

सामान्य लेखक को भयानक-से-भयानक परिस्थितियों में भी मानव-ऊष्मा प्राप्त होती रहती है। मानव-ऊष्मा का यह सुखस्पर्श, जो मनुष्य को अगतिकता के भाव से बचाता है या कम करता है, अपने-आपमें एक बहुत बड़ा मानव-मूल्य है। किन्तु, इसका कलात्मक उपस्थापन तो तब हो सकता है जब कि वास्तविक

जीवनगत मूल्य-भावना आपके कला-सम्बन्धी विचारों द्वारा तिरस्कृत अथवा उपेक्षित न हो। किन्तु वास्तविक जीवनगत मूल्य-भावना तथा कलात्मक मूल्य-भावना अर्थात् सौन्दर्यानुभूति—इन दोनों की समानान्तरता पर वे जोर देते थे। कला-प्रक्रिया के भीतर कला-बाह्य तत्त्वों का अनुशासन नहीं होना चाहिए, कलात्मक क्षण की विशिष्ट अनुभूतियों का ही सार्वभौम एकच्छत्र नियन्त्रण होना चाहिए, यह उनकी भूमिका थी।

इसको समझने के लिए हमें इस छोटी-सी बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि कला-प्रक्रिया के भीतर रसमग्न क्षण बहुत थोड़े होते हैं। कहानी, उपन्यास, कथात्मक काव्य, नाटक, रेडियोरूपक तथा इतर प्रकारों की रचना में मनुष्य पर्याप्त सजग होता है। आत्मपरक काव्य में भी, सम्भवतः, नित्यशः इतनी आत्म-लीनता नहीं होती। अतएव कलाकार को कवि-कर्म करते समय अपने संवेद-नात्मक उद्देश्यों से अनुप्राणित और अनुशासित होकर कार्य करना होगा, यह सन्देह के परे है—चाहे वह कोई भी साहित्य-प्रकार क्यों न हो। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मनुष्य अपनी आत्मलीन दशा के बाहर जाकर (और उसे, सम्भवतः, जाना ही पड़ता है) जीवन-तत्त्व, जीवनानुभवों द्वारा प्रदत्त तत्त्व, न समेटे। हां, शर्त यह है कि वे तत्त्व संवेदनात्मक उद्देश्यों के केवल अनुसार ही न हों, वरन् उनसे प्रेरित हों।

कला-कर्म में अपने मन की धारा को न केवल तीव्र और गहन करना पड़ता है, वरन् यह भी कि उस धारा को अत्यन्त संयमित-नियन्त्रित और एक विशेष दिशा की ओर उन्मुख करना पड़ता है। जब कलाकार ऐसा करता ही है तो ऐसी स्थिति में—जब कि उसके हृदय के दो भाग (जो भीतर से निगूढ़ रूप से सम्बद्ध हैं, क्योंकि वे एक ही लक्ष्य की पूर्ति के लिए दो हुए हैं; मेरा मतलब भोक्ता और स्रष्टा मन से है) हो ही गये हैं तो—स्रष्टा मन, संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार ही नहीं, वरन् उससे अनुप्राणित होकर अधिकाधिक जीवन-तत्त्व अपने-आपमें क्यों न समेटे? संक्षेप में, वह किसी भी कलाकृति में अपना पूरा व्यक्तित्व—जीवना-नुभवसम्पन्न, ज्ञानानुभवसम्पन्न अपना पूरा आत्मैक्य—क्यों न क्रियाशील करे? और, वह पूरे क्षण के भीतर से सारा वैविध्यपूर्ण वास्तविक जीवन-दर्शन क्यों न करे?

असल में, ये नये महोदय केवल क्षण की आकृति चाहते हैं, अर्थात् अनुभूति का एक उद्रेक भर चाहते हैं।

कवियों ने एक-एक कविता पर घण्टों नहीं, महीनों काम किया है। एक ही कविता की रचना में वे बार-बार भीतर डूबे और बार-बार ऊपर आये, और जब तक वह पूरी न हुई, वे भिड़े रहे। यह स्थिति हमें क्या सूचित करती है? संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार और उससे प्रेरित जीवन-तत्त्वों को उन्होंने अपने में समेटा और उन्हें शब्दबद्ध किया। सच तो यह है कि कवि-दृष्टि केवल एक सूक्ष्म दृष्टि बन जाती है, जो अनुकूल संवेदन-तत्त्वों को, भाव-तत्त्वों को,

जीवन-तत्त्वों को, प्रभावोत्पादक रूप से एक बिम्ब-व्यवस्था में, एक भाव-व्यवस्था में, निबद्ध कर देती है। निःसन्देह, व्यवस्था में गड़बड़ नहीं होनी चाहिए, और यह व्यवस्था एक मूलगत संवेदनसूत्र द्वारा यहाँ से वहाँ तक बँधी होनी चाहिए।

किन्तु उनका सौन्दर्य-सिद्धान्त क्या कहता है ? यहाँ उनके सब सिद्धान्तों का पूर्ण विश्लेषण और मूल्यांकन करना अभीष्ट नहीं है। यह निबन्ध—या कहिये, प्रबन्ध—आवश्यकता से अधिक विस्तृत हुआ जा रहा है। दूसरे, ये विषय ऐसे हैं, जिनके सांगोपांग निरूपण करने के लिए लेखमालाएँ आवश्यक हैं। सच तो यह है कि ये विषय अथाह हैं। पश्चिमी साहित्य में सौन्दर्य-सम्बन्धी मतों और व्याख्याओं का एक दण्डकारण्य खड़ा हुआ है।

यहाँ मैं उनके सौन्दर्यवाद की रूपरेखा—जैसी कि वह मुझे समझ में आयी है—प्रस्तुत करके छुट्टी चाहता हूँ।

वास्तविक जीवनानुभूति सौन्दर्यानुभूति से भिन्न स्तर की और भिन्न श्रेणी की वस्तु है। सौन्दर्यानुभूति जीवन के एक निगूढ़ क्षण में कल्पनोद्भासपूर्ण मानसिक द्रवण है। जीवनानुभूति सौन्दर्यानुभूति से पृथक् तो है ही, वह समानान्तर भी है। इसका निष्कर्ष क्या निकला ? निष्कर्ष यह कि लेखक सौन्दर्यानुभूति के उस क्षण द्वारा उपस्थित अन्तर्तत्त्वों के क्षेत्र से बाहर न जाये, क्योंकि उससे कला के स्वायत्त तन्त्र के अन्तर्नियम भंग होंगे। संक्षेप में, इन महोदयों का सारा ज़ोर जीवनानुभूति तथा सौन्दर्यानुभूति की विलगता और परस्पर-समानान्तरता पर ही है। सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति इन दोनों के अन्तर्निहित परस्पर सघन सम्बन्धों पर, उनकी मूलगत एकता पर, ध्यान देने से उनका काम बिगड़ता था।

किन्तु वास्तविकता क्या है ? मानसिक अथवा बाह्य उत्प्रेरक तत्त्वों द्वारा एकाएक हृदय में हलचल पैदा होने से, उसमें संचित जीवनानुभव तीव्र गति से मनस्पटल पर मूर्तिमान होकर बहने लगते हैं—संवेदनात्मक उद्देश्यों की दिशा में—इस तरह से बहने लगते हैं कि मनुष्य तन्मय होकर उन्हीं में डूब जाता है, और उनका रस लेने लगता है। ऐसी स्थिति में, मनुष्य की आत्मबद्ध दशा का परिहार हो जाता है (तभी तो वह तन्मय होता है, और उन प्रगतिमान कल्पना-चित्रों द्वारा ही), उसे नवीन संवेदनाएँ प्राप्त होने लगती हैं, आनन्दात्मक अनुभव होने लगता है, रसात्मक अनुभव प्राप्त होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सौन्दर्यानुभूति के दो लक्षण हैं। एक, आत्मबद्ध दशा का परिहार। दो, आनन्दात्मक अनुभव।

सौन्दर्यानुभूति उच्चतर स्तर पर, अधिक उदात्त स्तर पर, जीवनानुभूति का ही एक रूप है, जीवनानुभवों का ही वह एक कल्पनोद्भासित पुनः-अनुभव है। उसमें जीवनानुभवों का पुनःसृजन होता है, संवेदनापूर्ण कल्पना द्वारा। इस तरह मनस्पटल पर पुनःसृजित जीवनानुभवों में, (जो नये संवेदनात्मक उद्देश्य समाहित हो गये हैं उनके कारण, उनके फलस्वरूप), जीवन-अर्थों की नयी व्याप्तियाँ आ जाती हैं।

किन्तु इस पूरे अनुभव में आत्मबद्ध दशा का परिहार होना अत्यन्त आवश्यक है।

मनःपटल पर रूपायित इन जीवनानुभवों में यही तो एक विशेषता है कि वे मनुष्य को अपनी बाह्य-बद्ध और आत्म-बद्ध व्यक्ति-सत्ता से ऊपर उठाकर अपने-आपमें बाँध लेते हैं, और उसे एक प्रकार का संवेदनात्मक रस प्रदान करने लगते हैं। किन्तु अपनी व्यक्ति-सत्ता से ऊपर उठने की प्रवृत्ति केवल सौन्दर्य-अनुभव क्षणों में, सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में, ही होती है ? नहीं, ऐसा नहीं है।

अपने से परे उठने, अपने से परे जाने की प्रवृत्ति मनुष्य केवल सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में ही प्रदर्शित नहीं करता। वह अपनी व्यक्ति-सत्ता से ऊपर उठने की प्रवृत्ति चिरकाल से रखता आया है। आत्म-बद्ध दशा का परिहार नीरस और शुष्क समझे जानेवाले कार्यों में भी होता है। किन्तु ऐसे कार्यों में उसे वह तल्लीन रसात्मक अनुभूति नहीं होती, जैसी कि उसे सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में होती है। यह प्रवृत्ति इतनी दुर्लभ भी नहीं है। दिन में कई बार मनुष्य अपनी आत्म-बद्ध दशा का परिहार, अर्थात् व्यक्ति-सत्ता की सीमाओं का विलोपन, कर देता है। किसी-न-किसी रूप में हृदय का स्पर्श करनेवाले दूसरों के अनुभव जो हम सुनते हैं, उनकी कल्पनात्मक समानुभूति की दशा में हम अपने-आपको भूल जाते हैं। बुद्धिप्रेरित कल्पनानुमानों की जो संगति-बद्ध उड़ान होती है, उसमें भी मनुष्य अपनी व्यक्ति-सत्ता का विलोप कर देता है। विज्ञान के क्षेत्र में तो यह हमेशा होता है। यह प्रवृत्ति दूसरों को समझने में भी सहायक होती है। सहानुभूतिपूर्ण उदारता रखने-वाले लोग अपने से परे जाकर ही दूसरों के बारे में सोचते हैं। व्यक्ति को मानव बनानेवाली एक प्रवृत्ति निःसन्देह यह है। यह प्रवृत्ति व्यक्ति को उसकी आत्म-बद्ध दशा से खींचकर उसे एक पूरा विश्व बना देती है। वह प्रवृत्ति केवल कलाकारों की ही निधि नहीं है, वरन् वह राह चलनेवाले मामूली आदमी के पास भी है, वह किसान के पास भी है, मजदूर के पास भी है।

वह केवल काव्य-रचना करते समय ही नहीं होती, वरन् उसके भी पहले न मालूम कितनी ही बार क्रियाशील होती है।

अपने से परे उठने और परे जाने की यह जो प्रवृत्ति है, उसी की एक विशेष शाखा है सौन्दर्यानुभूति। यह सौन्दर्यानुभूति केवल कलाकार की विशेषता नहीं है, वरन् वह उन सबकी विशेषता है जिन्हें हम मनुष्य कहते हैं। वह मनुष्यत्व का एक लक्षण है। लोककथाओं में विभोर होकर, बीच-बीच में नृत्य कर उठनेवाले आदि-वासी नर्तक में वह उत्पन्न होती है, किसी की जीवन-कथा को मनोनेत्रों के सामने उपस्थित कर उन कल्पनाचित्रों से प्रभावित और आप्लावित होनेवाले क्षण में मनुष्य के हृदय में भी उसका रसात्मक बोध होता है। वह राह चलते भी हो सकता है—वह कभी भी हो सकता है। (और यह भी आवश्यक नहीं होता कि सौन्दर्यानुभूति सीधे-सीधे कवि को उसकी अभिव्यक्ति तक पहुँचा दे)। ऐसे अनुभव मनुष्य के हृदय में संचित होते रहते हैं। घर में दिन-भर मेहनत करनेवाली माँ और पत्नी, गारा-

मारा फिरनेवाला नवयुवक, अपने माँ-वाप का बोझ हलका करने के लिए नौकरी ढूंढ़नेवाली वेटी—इन सवको मानव-जीवन का यह रस प्राप्त होता रहता है। इसीलिए वे जीते हैं, अपने लिए और दूसरों के लिए। सौन्दर्यानुभूति केवल कलाकार की निधि नहीं है। वह वास्तविक जीवन में, वास्तविक भावना और कल्पना का उच्चतर स्तर पर ऐसा एकाएक उत्स्फूर्त और विकसित विस्तार है, जिसमें मनुष्य की व्यक्ति-सत्ता का विलोपन हो जाता है। किन्तु आत्म-वद्ध दशा का यह परिहार वास्तविक जीवन में, वास्तविक जीवन ही का एक अंग है, जिसकी सहायता के विना वास्तविक जीवन अधिक सुकर तथा सुगम नहीं होगा, जिसके विना यथार्थ मानव-सम्वन्ध अधिक स्निग्ध और सार्थक नहीं होंगे, जिसके विना हम दूसरों में घुलमिल सकने के आनन्द को सघन नहीं करेंगे। संक्षेप में, सौन्दर्यानुभूति की अधिकतमता और वारम्वारता जिस व्यक्ति में अधिक होगी वह अधिक मनुष्य होगा। यह सौन्दर्यानुभूति मानव-सम्बन्धों पर प्रभाव डालती है, वास्तविक जीवन पर प्रभाव डालती है, उसे नयी सार्थकता प्रदान करती है। अतएव सौन्दर्यानुभूति वास्तविक जीवन की मनुष्यता है। अपने से परे उठने और परे जाने की मनुष्य-क्षमता से उसका पूरा और सीधा सम्वन्ध है।

वास्तविक कला-कर्म में, वास्तविक सृजन-प्रक्रिया में, हृदय का द्रवण और सौन्दर्यानुभूति अनिवार्यत: और निरन्तर रहती है, यह मान्यता निराधार है। इसका अर्थ यह नहीं कि सृजन-प्रक्रिया में सौन्दर्यानुभूति का अभाव होता है। किन्तु, उसका अर्थ यह अवश्य है कि उसकी निरन्तरता नहीं रहती, वह कम या अधिक हो सकती है, अथवा वीच-वीच में वह टूट सकती है, उनका क्षण-मात्र के लिए ही क्यों न सही, अभाव हो सकता है।

अभिव्यक्ति के प्रयत्न—कला-कर्म—वहुत-कुछ अभ्यास में निहित हैं। लेखक को, अभिव्यक्ति-साधना में—काव्याभ्यास में—न केवल विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति का अभ्यास हो जाता है, वरन् विशेष प्रकार की भाव-संवेदनाओं का भी अभ्यास हो जाता है। क्रमश:, दोनों तरह के अभ्यास—भाव-संवेदनाओं की अभ्यासात्मकता और तत्सम्वन्धी अभिव्यक्ति की अभ्यासात्मकता—ये दोनों मिलकर लेखक की जिस प्रकार क्षमता वन जाते हैं, उसी प्रकार वह उसकी कठोर सीमा भी वन जाते हैं। और यदि लेखक उनके विरुद्ध अनवरत संघर्ष नहीं करता, तो वह अन्य भाव-क्षेत्रों को प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसने उन भाव-क्षेत्रों को पूर्णत: और सारत: व्यक्त करनेवाले कलात्मक उपादानों का (कलात्मक भाषा का भी) विकास नहीं किया है।

इसका परिणाम यह होता है कि निविड़-से-निविड़, गहन-से-गहन, उसके जो अत्यन्त आत्मीय क्षण रहे हैं, उनको भी लेखक, (उपर्युक्त अर्थ में) सीमावद्ध काव्याभ्यासात्मक जड़ता के कारण कलात्मक वाणी नहीं दे पाता।

और यदि वह वैसा करता भी है, तो वह असफल हो जाता है, समुचित अभिव्यक्ति, स्वानुकूल अभिव्यक्ति प्राप्त न कर सकने के कारण। आत्मीय अनुभूति के

वे श्रम इस प्रकार के प्रयासों में पड़कर अपने-आपको नष्ट भी कर देते हैं।

किन्तु यदि लेखक चाहे तो इन सीमाओं की दीवारें तोड़ भी सकता है। उसके लिए अनवरत अभ्यास, श्रम, धैर्य और अपने सम्पूर्ण जीवनानुभवों के प्रति यथार्थोन्मुख ईमानदारी और सत्यपरायणता चाहिए। यह तो अत्यन्त आवश्यक है कि पाठकों को एक ही प्रकार की कविताएँ पढ़ने का अभ्यास होने के कारण, उस अभ्यास से उत्पन्न और विकसित उनकी अभिरुचियों ने उन्हें नये काव्य-प्रयत्नों के प्रति जो असहिष्णु बना दिया है, उस असहिष्णु निन्दा या शीत उपेक्षा को कलाकार नम्रता और उदारतापूर्वक झेल ले, उनसे अप्रभावित रहे, और कभी असहिष्णु न बने और, अपनी बात उन्हें समझाता रहे। साथ ही, यदि उनकी बातों से मूल्यवान उपलब्धि होती है, तो वह उसे आत्मसात् करने से न चूके। सच्चा लेखक हमेशा नौसिखिया होता है। केवल उस नौसिखियापन को सार्थक बनाना आवश्यक है।

संक्षेप में, विशिष्ट-विशिष्ट भाव-संवेदनाभ्यास तथा एतद्सम्बन्धित अभिव्यक्ति का अभ्यास—इन दोनों के दो, किन्तु एकीभूत, अभ्यासक्रमों से उत्पन्न जो वास्तविक सीमाएँ, जो वास्तविक जंजीरें, कवि अपने-आपके लिए पैदा कर लेता है, उन्हें तोड़कर, उन सीमाओं को लाँघकर, अपने वास्तविक जीवन के वास्तविक अनुभवों को, वास्तविक जीवन-विवेक को, ज़िन्दगी की पेचीदगियों और संघर्षानुभवों को, मूल्यानुभूतियों को, आदर्शानुभवों को, काव्य में कलात्मक रूप से प्रकट किया जा सकता है, उनमें वास्तविक सौन्दर्य लाया जा सकता है। उन्हें अत्यन्त हृदयवेधक और मर्मस्पर्शी रूप में उपस्थित किया जा सकता है—बशर्ते कि वैसी तैयारी हो, वैसा रियाज़ हो; वैसा स्वप्न हो।

सौन्दर्यानुभूति का क्षण-जीवन वास्तविक जीवन का एक अंग है, जो इसी वास्तविक जीवन को न केवल अधिक सम्पन्न बनाता है, वरन् उसे अधिक स्निग्ध सुगम और सार्थक बनाता है। कला-कर्म के भीतर सौन्दर्यानुभूति अखण्ड और निरन्तर भाव से बनी रहती है, यह भी निराधार है। वास्तविकता यह है कि कला-कर्म के भीतर कलाकार की दृष्टि चतुर्मुखी होती है। भाषा, अन्तर्तत्त्व में—संवेदनात्मक अनुभव तथा कल्पना इत्यादि में—व्यस्त होकर विशेष गठनात्मक रचना-कार्य, तथा इन सबको जमाने के सिलसिले में जोड़-तोड़, यानी संशोधन-संकलन-सम्पादन कार्य [करती है।] ऐसी स्थिति में, अन्तर्तत्त्वों की अनुभूति मनश्चक्षुओं के सामने कल्पना-रूप में, अथवा निवेदनात्मक भाव-प्रवाह के रूप में, उत्स्फुरित और विलुप्त होती रहती है। उसका उद्दीपन और विलोपन बराबर चलता रहता है।

कवि-कर्म इतना पेचीदा और सुन्दर कार्य है कि लेखक उसमें अपने-आपको झोंक देता है। किन्तु वह कई बार बहुत रूखा और श्रमसाध्य होता है—जिसका कारण है, अपने ही भीतर के भाव-सत्यों को पूर्णतः साक्षात्कृत न कर पाना। इन प्रकार साक्षात्कृत भाव-सत्य जब शब्द-रूप नहीं ले पाते, तो एक ओर यह लगता है कि वे बहुत मूल्यवान हैं, तो दूसरी ओर, यह भी लगता है कि वे हमारी

जड़ता के कारण स्वानुकूल समुचित कलात्मक रूप नहीं ले पा रहे हैं। उन्हें शब्द-बद्ध करने के प्रयत्न में बहुत बार लेखक की साँस टूट जाती है, दम टूट जाता है, और वे आत्म-कष्ट शुरू होते हैं जो लेखक की सृजन-क्रिया के भयानक किन्तु अनिवार्य संकटापन्न अंग हैं। अनिश्चय, आशंका, आकर्षण, मोह, सत्य-प्रेरणा, आत्मविश्वास की आकस्मिक हानि—ऐसे दुर्धर भाव-प्रसंगों में से गुज़रता हुआ लेखक पाता है कि वह अग्नि-पीड़ा की एक दीर्घ वीथी में झुलसता हुआ आगे बढ़ रहा है।

किन्तु इन नये महोदयों का यह सौन्दर्यवाद, कलाकार की क्षणजीवी सौन्दर्यानुभूति के छोटे-से मानसिक विन्दु में ही उसे समेटकर, बाँधकर रखना चाहता है, ताकि वह अपने समस्त व्यक्तित्व और समस्त अन्तर्जीवन की प्राणधाराओं को भूमिगत करके, केवल ऊपरी सतह पर उछाले गये बिन्दुओं में अपने-आपको तृप्त मान ले और शेष को भूल जाये, या उस शेष को महत्त्व न दे। संक्षेप में, वह एक प्रकार का क्षणवाद है। किन्तु उस क्षण को उत्पन्न और आविर्भूत करनेवाले, व्यक्त करनेवाले, गहन और व्यापक जीवन-प्रवाह से, उस अन्तःसलिला से, उन्हें कोई मतलब नहीं, जो अन्तःसलिला वास्तविक जीवन ही का एक आत्म-रूप है।

समग्र मानव-सत्ता के प्रति इन नये महोदयों का कोई अनुराग नहीं। केवल क्षण को ही—उसके विशिष्ट अनुभव को ही—वे महत्त्व प्रदान करते हैं।

सौन्दर्यानुभूतियाँ मानव-अन्तःकरण में वास्तविक जीवन के वास्तविक अनुभव-काल में ही संचित होती रहती हैं। सौन्दर्यानुभूति, मनुष्य की अपने से परे जाने की, व्यक्ति-सत्ता का परिहार कर लेने की, आत्म-बद्ध दशा से मुक्त होने की, मूल प्रवृत्ति से सम्बद्ध है। और इसी मूल प्रवृत्ति का वह एक अनुभव-संवेदनात्मक कल्पनात्मक रूप है, इस वस्तु-तथ्य को यदि वे पहचान लेते, तो वे सौन्दर्यानुभूति को वास्तविक जीवन का ही एक ज्ञान-रसात्मक रूप मानने के लिए बाध्य होते, और लेखक के व्यक्तित्व की अनुभवात्मक समृद्धि के प्रश्न को वे गम्भीरतापूर्वक हाथ में लेते। यदि वे यह मान लेते कि वास्तविक जीवन में प्राप्त चेतना की मुक्तावस्थाओं की रसात्मक परिणतियों का वह पर्याय है, तो फिर वे वास्तविक मानव-जीवन पर, वास्तविक मानव-सम्बन्धों पर, उन रसात्मक परिणतियों के प्रभाव का विश्लेषण करते।

और यदि वे ऐसा कर पाते, तो कलाकार को उसके रचना-कार्य ही से परिसीमित न कर, पूरे वास्तविक जीवन से उसके चित्त को व्याप्त-सम्बद्ध करके, उसके अन्तःकरण की समृद्धि के विकास की आवश्यकता और उसके महत्त्व को प्रस्थापित करते।

किन्तु, उन्होंने कलाकार-व्यक्तित्व को अनेक असम्पृक्त प्रकोष्ठों में विभाजित कर दिया, मानो उन प्रकोष्ठों के बीच कोई द्वार-मार्ग न हों, ऐसे द्वार-मार्ग जो प्रकोष्ठों में परस्पर-सम्पर्क स्थापित न करते हों, और इस तरह एक प्रकोष्ठ का दूसरे प्रकोष्ठ पर सघन और स्थायी परस्पर-प्रभाव उपस्थित न करते हों।

इस प्रकार उन्होंने कलाकार-व्यक्तित्व का विभाजन कर डाला। व्यक्ति एक ही साथ पिता, पति, पुत्र, नौकर, सार्वजनिक कार्यकर्त्ता हो सकता है। किन्तु यदि वह कलाकार है, तो जब तक कलाकार की हैसियत में वह है, तब तक वह न पुत्र है, न पिता, न पति, न नौकर, न सार्वजनिक कार्यकर्त्ता।

कलाकार का कर्म है सुन्दर-सुन्दर भाव-चित्र, सुन्दर-सुन्दर कलाकृतियां उपस्थित करना—यह उसका धर्म है।

जब तक कलाकार कला की सर्जनात्मक क्रिया में है, तब तक वह कलाकार है, विशुद्ध कलाकार, और कुछ नहीं।

अतएव उसकी कला के सम्बन्ध में, या कला-निर्माण के सम्बन्ध में, जो भी बाह्य अनुरोध हैं—सामाजिक अनुरोध, राजनैतिक अनुरोध, नैतिक अनुरोध—ये सब अनुरोध, कलाबाह्य आग्रह होने के कारण, उसकी वास्तविक सृजन-क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। अतएव इस प्रकार के आग्रह करना कलाकार को उसके धर्म से गिराना है, कलाकार की सृजन-प्रक्रिया पर विजातीय तत्त्वों को लादना है, कलाकार की सृजन-प्रक्रियात्मक मानसिक स्वतन्त्रता को नष्ट करना है, उसकी सृजन-प्रक्रिया के भीतर सन्निविष्ट जीवन-विवेक की, उसकी स्वतन्त्र निर्णय-शक्ति की, हत्या करना है, उसके आत्म-स्वातन्त्र्य को भ्रष्ट करना है।

इस प्रकार, इन महोदयों ने सबसे पहले लेखक-व्यक्तित्व को परस्पर-असम्पृक्त, परस्पर-अप्रभावशील, लौह प्रकोष्ठों में विभाजित किया। और फिर, उसके एक प्रकोष्ठ को स्वयंपूर्ण-सम्पूर्ण मान-मूल्य और महत्त्व प्रदान करते हुए, उसको उन अनुरोधों से दूर रखने का प्रयत्न किया, कि जो अनुरोध वास्तविक जीवन-जगत् में उत्पन्न होते हैं। इन महोदयों का उद्देश्य लेखक के कलाकार रूप को सामाजिक और सार्वजनिक दायित्वों से बचाना था।

वस्तुतः, वे यह बिलकुल नहीं चाहते थे कि काव्य-कला के अन्तर्गत ऐसी सामाजिक-राजनैतिक भावनाएँ परिलक्षित हों, जिनका सम्बन्ध मानव-साम्य तथा प्रगति के आदर्शों से है। उनकी मुख्य लड़ाई साम्यवाद-प्रगतिवाद से थी। साथ ही, वे लेखक को उसकी वास्तविक जीवन-भूमि में प्राप्त भाव-वैभवों से दूर रखना चाहते थे। इसी को दूसरे शब्दों में यों कहा जायेगा कि आन्तरिक भावनाओं में झलक-झलक उठनेवाली जो प्रसंगात्मकता होती है, अर्थात् अन्तर्बाह्य सम्बन्धयुक्त जो जीवन-स्थिति होती है, उसका एक ओर पूर्णतः विलोपन करके, यहां तक कि उस जीवन-स्थिति को सूचित करनेवाले संकेतों तक को लुप्त करके, केवल उन भावनाओं के मानसिक वातावरण को, और उस वातावरण के भीतर उपस्थित फुसफुसाहटों को, वे चित्रित करना चाहते थे, ताकि वास्तविक जीवन से लेखक अधिकाधिक दूर रहे, और उस वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक किन्तु वस्तु-सन्दर्भ-युक्त व्याख्या को वह अपनी कलाकृति में स्थान [न] दे सके।

किन्तु ऐसा अनिवार्य रूप से होना कहां सम्भव था! वास्तविक जीवन की

संवेदनात्मक व्याख्या को टाला नहीं जा सकता था। अतएव यह आवश्यक था कि संवेदनात्मक व्याख्या यदि उपस्थित हो ही, तो वह उस दृष्टि-बिन्दु से हो जिसमें सामाजिक क्रान्ति पर विश्वास का कोई स्थान नहीं है।

अतएव आधुनिक भावबोध को प्रस्तुत करनेवाली भाव-धारा लेखकों के सामने रखी गयी।

इन प्रश्नों पर विचार करने के पहले हम कलाकार के दायित्व के प्रश्न पर लौट जायें। हमारे नये विद्वान् मित्रों को इसकी बड़ी चिन्ता थी कि समाज में प्रचलित समाजवादी भावों और प्रगतिवादी झुकावों को लेखक कहीं मूलबद्ध रूप से स्वीकार न कर ले। अतएव उनका यह प्रधान आग्रह था कि लेखक, सौन्दर्यानुभूति का जो विशेष क्षण होता है, उस क्षण-सत्ता की परिधि के बाहर न जाये, अर्थात् सौन्दर्यानुभूति के क्षण ने जो अन्तर्तत्त्व उपस्थित किये हैं, उनके क्षेत्र से बाहर न निकले। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि अगर वह ऐसा करता है तो, एक ओर, कला के स्वायत्त तन्त्र के अन्तर्नियम भंग होंगे, तो, दूसरी ओर, लेखक की सर्जनात्मक ईमानदारी टूट जायेगी।

ऊपर-ऊपर से देखने पर यह सिद्धान्त सही मालूम होता है, क्योंकि वस्तुतः, इस निवेदन में सचाई है, किन्तु यह सचाई किन्हीं विशेष सीमाओं के भीतर ही है।

यह सही है कि सर्जनात्मक प्रक्रिया के ऊपर, बाहर से किसी भी तरह की ठूँसठाँस ग़लत है। लेकिन यह भी सही है कि सर्जनात्मक प्रक्रिया इतनी सौन्दर्यानुभूतिबद्ध नहीं होती, नहीं ही होती, कि उस सौन्दर्यानुभूति के दायरे को हमेशा ध्यान में रखा जा सके। दूसरे यह कि कलात्मक सृजनशील क्रिया में सौन्दर्यानुभूति स्वयं एक स्थिति न होकर वह एक गति भी है, और वह गति उस कलाकार के अन्तःकरण में अपनी विविध शाखा-प्रशाखाएँ फैलाती है, फैलाती जाती है। जो लेखक जितना ही अधिक उसमें डूबेगा, उसे उतनी ही शाखा-प्रशाखाओं में जाना पड़ेगा।

किन्तु, जैसा कि सर्वविदित है, लेखक को उस समय अभिव्यक्ति-पक्ष भी सँभालना पड़ता है। वह सौन्दर्यानुभूति के मूल संवेदनात्मक उद्देश्यों से प्रेरित होकर 'काव्य-निर्वाह' करता है, अर्थात् उन क्षणों में अनवरत रूप से उद्दीपित और निलोपित होनेवाले तत्त्वों का संकलन, संशोधन और सम्पादन करता है; और, उन सबकी एक विशेष लक्ष्य की ओर प्रेरित जो गति है, उसको सँभालते हुए. उन तत्त्वों का संवेदनात्मक सूत्रों के आधार पर संगठन करता है।

यदि इस पूरी प्रक्रिया को ध्यान में रखा जाये तो आप पायेंगे कि हमारे नये महोदय कलात्मक अभिव्यक्ति को सौन्दर्यानुभूति द्वारा प्रदत्त मूल-भाव-बीज तक ही परिसीमित रखना चाहते हैं। वे उस हृदय-द्रवण के क्षणों में उद्बुद्ध और जाग्रत समस्त जीवन-चेतना को उस चेतना के सारे अन्तर्तत्त्वों सहित प्रस्तुत करना नहीं चाहते। और इस प्रकार, एक ओर, वे काव्य को उसके अपने ही

अन्तर्तत्त्वों की (वैविध्यपूर्ण और ज्योतिमान) सम्पन्नता से वंचित कर देते हैं। दूसरी ओर, वे अपना सारा ध्यान आकार-संगति (आकृति की ज्यामिति) पर केन्द्रित करके उसे सुन्दर बनाने का यत्न करते हैं। हाँ, यह सही है कि इस तरह हर मामूली चीज़ क़रीने से रखकर उस पूरे को सजा दिया जाता है। लेकिन किस क़ीमत पर ? यही कारण है कि हमें काव्यकृति में मात्र भाव-बीज का मूल संवेदन-चित्र मिलता है, उसके सारे अन्त:सम्बन्धों यानी जीवन-सम्बन्धों से कटा हुआ। किन्तु यदि हम यह मान लें कि सौन्दर्यानुभूति एकदम उद्दीपित और तुरत विलोपित हो गयी, तो वैसी स्थिति में हमें स्वीकार करना होगा कि वह सौन्दर्यानुभूति बहुत ही छिछली है—इतनी कि हम उसे केवल एक संवेदनात्मक प्रतिक्रिया-पुंज ही कह सकते हैं।

किन्तु वास्तविक सौन्दर्यानुभूति व्यक्ति-सत्ता का परिहार करती हुई, गतिमान धारा बनकर, अपने विविध ज्योतिष्मान जीवन-तत्त्वों को अनवरत रूप से उद्घाटित करती जाती है। उस समय मनुष्य का सारा व्यक्तित्व विद्युन्मय होकर उस गतिमान धारा ही का अंग बन जाता है। ऐसी स्थिति में—और यह स्थिति केवल कलाकार ही को प्राप्त नहीं होती—वह कलाकार जो उस गतिमान धारा द्वारा उद्बुद्ध समस्त चैतन्यमय जीवन-तत्त्वों को कलात्मक रूप नहीं देता, वह, मेरे लेखे, असल में ईमानदार नहीं है।

अन्तस्तल में प्रवाहित इस गति-धारा की शाखाएँ अनेक वास्तविक जीवन-सम्बन्धों और जीवन-मूल्यों से युक्त होती हैं। उन मूर्तिमान जीवन-सम्बन्धों को, और आकुल जीवन-मूल्यों को, उनकी वेदनामय स्थिति की रक्षा करते हुए उपस्थित करना लेखक का कर्त्तव्य है, मुझे इसी में लेखक की ईमानदारी दिखायी देती है। उस सौन्दर्यानुभूति द्वारा प्रस्तुत मूल-भाव-बीज के दायरे तक ही अभिव्यक्ति को सीमित [न] रखना, यानी अन्तस्तल में प्रवाहित समस्त जीवन-चैतन्य को उसके वैविध्यमय पूर्ण आकार और वेग में कलात्मक रूप से उपस्थित करना, ही लेखक का धर्म है।

अन्तस्तल में प्रवाहित यह जो जीवन-चैतन्य है, उसके विविध यथार्थ सम्बन्ध, अर्थात् जीवन-जगत्-सम्बन्ध, हृदय में आलोकित रहते हैं। उन सबको काटकर फेंक देना, मेरी दृष्टि से, अपने स्वयं का अंग-भंग करना है, जान-बूझकर अपंग बनना है, और उस अपंगत्व को 'नयी कविता' का नाम देना है।

अमूर्त्तन ! काव्य, अन्य साहित्य-कलाओं की तुलना में, नि:सन्देह अमूर्त्त है। उसमें जीवन-सम्बन्धों और यथार्थ-सन्दर्भों की वैसी स्थापना नहीं हो सकती, जैसी कि वह निबन्धकला, उपन्यासकला, नाट्यकला, कहानीकला, रेडियो-रूपककला में सम्भव है।

यह एकदम सही है।

काव्य, तुलनात्मक दृष्टि से, अमूर्त्त कला है। यह अमूर्त्तन कितने ही प्रकार से होता है : बिम्ब-व्यवस्था द्वारा, रूपक द्वारा, मात्र एक प्रधान भाव द्वारा, और न

मालूम कितने ही तरीक़ों से। किन्तु यह अमूर्त्तन, मेरे लेखे, सामान्यीकरण का अंग है।

महत्त्व की बात यह है कि अमूर्त्तन के नाम पर अन्तस्तल में उद्बुद्ध चैतन्यमय तत्त्वों को काटकर नहीं फेंका जा सकता, उनकी बलि नहीं की जा सकती। उसके नाम पर आन्तरिक भाव-सम्पन्नता को दफ़न नहीं किया जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि उस भाव-सम्पन्नता के ज्योतिष्मान तत्त्वों को, उनके सारे प्रकाश और सारे अर्थ की रक्षा करते हुए, काव्य में प्रकट किया जाये, उनको अपने विविध और एकात्मक सम्पूर्ण सौन्दर्य में प्रस्तुत किया जाये।

लेखक की अपने साथ ईमानदारी यहाँ है। किन्तु जो लोग, इस नाम पर या उस नाम पर, लेखक के सामने एक ऐसी आभ्यन्तर कर्म-विधि, एक ऐसी आभ्यन्तर संशोधन-सम्पादन-प्रक्रिया—ऐसे सेंसर्स और पी. आर. ओ.—प्रस्थापित करते हैं, कि जिससे लेखक स्वयं अपने निगूढ़ अनुभवात्मक चैतन्यमय तत्त्वों की अभिव्यक्ति से वंचित रह जाता है, ऐसे लोग जिस ईमानदारी की बात करते हैं वह मुझे ज़्यादा समझ में नहीं आती।

यदि लेखक प्रवुद्ध चैतन्यमय अन्तर्तत्त्वों का उनकी वैविध्यपूर्ण किन्तु एकात्मक समग्रता में प्रतिविम्बन करता है, तो वह, वस्तुतः, आभ्यन्तर जीवन ही का प्रति-विम्बन कर रहा है—वह आभ्यन्तर जीवन, जो वाह्य जीवन ही का एक अन्तः-क्षेपित रूप है। यह जीवन उसके आभ्यन्तर में भले ही (किंचित् या अधिक) संशोधित हो जाये, किन्तु इस प्रकार उसके संशोधित होने से वह अपनी स्वतन्त्र अन्तर्वाह्य व्यापकता नहीं खोता। लेखक की उससे प्राणपोषक संलग्नता के फलस्वरूप उसका कलाकार-व्यक्तित्व और भी सघन और सम्पन्न हो जाता है।

यह एक सिद्ध वात है कि लेखक को अपनी कलाकृति पर पर्याप्त श्रम करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में, आत्मलीनता के वाहर जाकर भी, किन्तु संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार, और उनके अनुशासन में रहकर, उस अनुशासन को ज़रा भी शिथिल न करते हुए, उस अनुशासन के विरुद्ध कोई भी स्वतन्त्रता न वरतते हुए, भाव-संवेदनाओं द्वारा प्रदत्त सूक्ष्म दृष्टि की सहायता से, जितने जीवन-तत्त्व समेटे जा सकते हों, उन्हें अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए। केवल एक ही वात का ध्यान रखना आवश्यक है, और वह यह कि उन तत्त्वों की व्यवस्था, संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में, भाव-संवेदना के सूत्रों द्वारा ही उपस्थित होनी चाहिए।

संक्षेप में, मैं सौन्दर्यानुभूति की भावार्द्र दशा में प्राप्त सम्पूर्ण अनुभवात्मक अन्तर्जगत् की तेजस्क्रिय सम्पन्नता की कलात्मक अभिव्यक्ति के पक्ष में हूँ। तभी आत्मपरक ईमानदारी और वस्तुपरक सत्यपरायणता (शब्द पुराना है, नये लोग क्षमा करेंगे) प्राप्त हो सकेगी।

आत्मपरक ईमानदारी और वस्तुपरक सत्यपरायणता का संवेदनात्मक योग अन्तःकरण में ही होता है। और यदि वह अन्तःकरण में न हो, तो ऐसी स्थिति में आत्मपरक या वस्तुपरक सत्यपरायणता, दोनों एक दिखावा-भर हैं। असल में, इस

प्रकार का अन्तर करना असंगत है। ईमानदारी के भीतर ही दोनों का अर्थ व्याप्त होना चाहिये। किन्तु हिन्दी में अंग्रेजी के 'सिनसियरिटी' का अर्थ 'ईमानदारी' शब्द द्योतित करता आ रहा है। मैं 'सिनसियरिटी' की कल्पना में 'ऑनेस्टी' की कल्पना का भी अन्तर्भाव करता हूँ, क्योंकि सत्य-भाव के सन्दर्भ बाह्य और अन्तर, इन दोनों लोकों में एक साथ और अविभाज्य रूप से स्थित हैं।

कलात्मक अनुभूति के क्षणों में सृजन-प्रक्रिया में मग्न होकर, अपने चैतन्य को, जाग्रत संवेदन-जगत् को, समग्रतः उपस्थित करने से ही अपनी सारी अनुभव-सम्पन्नता और वेदनायित जीवन-विवेक की अभिव्यक्ति हो सकेगी। लेखक की सच्ची ईमानदारी इसी में है, न कि खास (फ़ैशनेबल या ग़ैरफ़ैशनेबल ढंग के) पैटर्न में अपने को फ़िट करने में।

हमारे भाइयों ने ईमानदारी के वस्तुपरक रूप को कोई महत्त्व नहीं दिया, उसकी नितान्त उपेक्षा की। इसका कारण ही यह था कि उन्हें काव्य के क्षेत्र में जीवन के वस्तु-सत्यों के कल्पनात्मक बिम्बों के प्रति कोई अनुराग न था, अथवा वस्तु-सत्यों के भाव-चित्रों के प्रति विशेष आकर्षण नहीं था। वे सब बातें ईमानदारी की उनकी विशेष परिभाषा के क्षेत्र के बाहर की बातें थीं।

इस पूरे वक्तव्य का अर्थ क्या? उसका निष्कर्ष क्या? इसका अर्थ यह कि कलाकार के कुछ आन्तरिक कार्य होते हैं। ये केवल आन्तरिक कार्य ही नहीं, वे आन्तरिक कर्त्तव्य हैं। आन्तरिक कार्य भावों को शब्दबद्ध करने से ही सम्बन्धित नहीं, वरन् ये आन्तरिक कार्य विश्व को संवेदन-रूप में स्थापित करने से, अर्थात् विश्व के ज्ञान-संवेदनात्मक और संवेदन-ज्ञानात्मक आभ्यन्तरीकरण से, सम्बन्धित हैं। ये आन्तरिक कार्य, वास्तविक जीवन में हमें जो मानव-लक्ष्य और मानव-मूल्य प्राप्त होते हैं, उन्हें न केवल हृदयंगम करने से सम्बन्धित हैं, वरन् उन्हें अपने संवेदनात्मक आत्म-जीवन में ऐसा गतिमान स्थान देने से सम्बन्ध रखते हैं, कि जिससे वे स्वयं जीवन की विभिन्न स्थिति-परिस्थितियों तथा गतियों का विश्लेषण और मूल्यांकन कर सकें। वे आन्तरिक कार्य कलाकार के वैविध्यपूर्ण अन्तर्वैभव को और-और सम्पन्न, और-और ज्योतिष्मान, बनाने से सम्बन्ध रखते हैं। संक्षेप में, कलाकार को एक साथ आत्म-चेतस् और विश्व-चेतस् बनने की क्रिया को अधिकाधिक सन्तुलित, अधिकाधिक बाह्यानुभवसम्पन्न, अधिकाधिक जीवनानुभव-सम्पन्न बनाना होगा।

मेरा अपना खयाल है, (बहुत-से लोग इसे नहीं मानेंगे), प्रत्येक आत्म-चेतस् व्यक्ति को अपनी मुक्ति की खोज होती है, और वह किसी व्यापकतर सत्ता में विलीन होने में ही अपनी सार्थकता समझता है। किन्तु आज की दुनिया में, यह व्यापकतर सत्ता विश्व-मानवता तथा तत्सम्बन्धी मूर्तिमान समस्याएँ और प्रश्न ही हो सकते हैं। अतएव प्रत्येक लेखक, एक विशेष अर्थ में, इसी उच्चतर सत्ता में केवल विलीन ही नहीं होता, वरन् वहाँ विलीन होकर क्रियाशील हो उठता है—तत्स्थानीय तत्क्षेत्रीय सारे भूगोल-इतिहास का आकलन करके। संक्षेप में, मुक्ति

व्यापक तथा व्यापकतर क्रियाशीलता का दूसरा नाम है। और कलाकार को ऐसी मुक्ति तब तक नहीं मिल सकती, जब तक वह कला-कर्म से भिन्न, ये जो अपने आन्तरिक कार्य हैं, उनको सम्पन्न करने का निरन्तर प्रयत्न नहीं करता। मेरा अपना विचार यह है कि कलाकार के इन आन्तरिक कार्यों को यदि हम अपने ध्यान में रखें, तो हमें यही समझ में आयेगा कि लेखक की ईमानदारी के प्रश्न को केवल उस लेखक की निजगत भावाभिव्यक्ति की निजगत सचाई ही में सीमित करके नहीं देखा जा सकता, वरन् अपने-आपको अधिकाधिक अन्त:समृद्धिसम्पन्न, अधिकाधिक प्रसारशील, बनाने के उसके अपने जो यत्न हैं, उससे सम्बद्ध करके देखा जाना चाहिए। अर्थात् वस्तुपरक सत्यपरायणता की संवेदनात्मक प्रवृत्तियों और उन्मुखताओं का समावेश भी ईमानदारी की कल्पना में आवश्यक है। आत्मपरक ईमानदारी तथा वस्तुपरक सत्यपरायणता, इन दोनों का अन्त:करण में जो संवेदनात्मक योग होता है, वह जीवन-विवेक का प्राण है। जीवन-विवेक के इन दोनों पक्षों में से किसी एक को भी नहीं छोड़ा जा सकता।

इन नये महोदयों ने यह विशेष रूप से प्रस्थापित किया कि कला का अपना स्वायत्त तन्त्र होता है, जिसमें उसी के अन्तर्नियम लागू होते हैं। मेरे खयाल से यह उनकी सबसे बड़ी देन है। किन्तु यहाँ भी उन्होंने उसकी स्वायत्त स्वतन्त्रता को निरपेक्ष और पूर्ण माना। वे यह भूल गये कि कला का अपना स्वायत्त तन्त्र जीवन-तत्त्वों द्वारा अनुशासित है—ऐसे जीवन-तत्त्व जिनका एक सूत्र यदि आभ्यन्तर है, तो दूसरा वास्तविक बाह्य जीवनगत है। वे इस बात पर ज़ोर नहीं देना चाहते थे कि कला की आभ्यन्तर जीवन-समृद्धि कलाकार के वास्तविक जीवन पर ही निर्भर है, और वह ऐसी स्थिति में ही सार्थक है। यह सही है कि सृजन-क्रिया की आन्तरिक स्वाधीनता तथा उसके अन्तर्नियम ही कला की स्वायत्त स्वतन्त्र सत्ता के प्रधान लक्षण हैं, और उसमें किसी भी प्रकार के बाह्यानुरोधों का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

किन्तु सृजनात्मक प्रक्रिया के बाह्यानुरोधों का आदेश मानकर जब कलाकृति ऐसी या वैसी बनायी जायेगी, तब यही कहा जायेगा कि लेखक अपने प्रति ईमानदार नहीं रहा है।

किन्तु बाह्यानुरोध जब लेखक द्वारा आभ्यन्तरीकृत विश्व और उसके मानसिक जीवन का अंग बन जाते हैं, तब उन्हें हम क्या कहेंगे? तब वे आन्तरिक अनुरोध बन जाते हैं।

क्या इन आन्तरिक अनुरोधों का सृजन-प्रक्रिया में कोई आकस्मिक हस्तक्षेप न हो? कोई हस्तक्षेप हो ही नहीं? ये आन्तरिक अनुरोध क्या हैं?

कलाकार ने जो कुछ आत्मवैभव—अनुभव, जीवन-विवेक, विचारधारा, दृष्टिकोण, शास्त्रीय ज्ञान तथा अन्यान्य बहुत-सी बातें—अपने वास्तविक जीवन में अर्जित किया है, उसने अपने ढंग की एक मूल्य-व्यवस्था भी क़ायम कर ली है, जाने-अनजाने। सृजन-प्रक्रिया के भीतर पड़कर जब कलाकार अपने आत्मजगत्

को जाग्रत और चैतन्यमय अनुभव करता है, उस समय आभ्यन्तर अनुरोधों का आग्रह भी अवश्य ही रहता है।

किन्तु, कभी-कभी विशेष विषय को लेकर उठ खड़ी हुई सृजन-प्रक्रिया के दौरान में, ये आभ्यन्तर अनुरोध संवेदनात्मक उद्देश्यों के गर्भ में से न निकलकर, अन्तर्नेत्रों के सामने एकाएक उद्घाटित जीवन-पक्ष में से सूचित होते हुए, और इस प्रकार आकस्मिक रूप से प्रवेश करते हुए, अभिव्यक्ति की उस प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने लगते हैं। असल में, आभ्यन्तर जगत् में से अकस्मात् उठ खड़ी हुई कुछ आँखें हैं वे, जिन्हें मैंने आन्तरिक अनुरोध कहा है।

सम्भव है कि उनके अचानक हस्तक्षेप के कारण सृजन-प्रक्रिया क्षण-भर के लिए बाधित भी हो जाये, और अन्तःकरण के इस नवोदित दृष्टिक्षेप को ही देखने लगे। कुल मिलाकर, ऐसा होना मूलतः प्रसंगबद्ध और सन्दर्भानुकूल होता है। इसीलिए आभ्यन्तर अनुरोधों को महत्त्व दिया जाना चाहिए।

सृजन-प्रक्रिया क्षण-भर के लिए बाधित भले ही हो जाय, और सम्भवतः लेखक की रचना बीच ही में भंग हो जाये, किन्तु यह सही है कि लेखक अपने अन्तःकरण में उस नवोदित दृष्टिक्षेप को महत्त्व देने लगता है, उसके अन्तर में समाये हुए जीवन-सत्य और मूल्य-भावना को हृदयंगम करता है।

दूसरे शब्दों में, रचना-कार्य द्वारा, और उसके दौरान में, लेखक अपने-आपका भी निर्माण करता है, भले ही उसकी रचनाएँ अधूरी रह जायें। वह जीवन को और-और जानने लगता है, उसका व्यक्तित्व और-और समृद्ध होने लगता है।

यह सब मैंने क्यों कहा ? इसलिए कि लेखक को वे बाहर के आग्रह, समाज के आग्रह, बुरे लगते हैं, क्योंकि वे बाहर के आग्रह प्रतीत होते हैं। किन्तु, वे ही आग्रह जब उसके व्यक्तित्व और वास्तविक जीवन का अंग बनकर, उसके आभ्यन्तर जगत् के अनुरोध बनकर, उठ खड़े होते हैं, तब यह सम्भव है कि रचना-प्रक्रिया के दौरान में उनके द्वारा—कभी-कभी, किन्तु हमेशा नहीं—हस्तक्षेप भी हो (वैसे तो उन्हें संवेदनात्मक उद्देश्यों में घुले-मिले रहना चाहिए)। ऐसा हस्तक्षेप प्रसंग-बद्ध और भाव-बद्ध ही होता है। लेखक बाधित रचना-प्रक्रिया द्वारा भी अपना निर्माण करता है।

ये आन्तरिक अनुरोध वस्तुतः मूल्य-भावना ही का विकसित रूप हैं। यही कारण है कि उनका हस्तक्षेप माननीय और वरणीय हो जाता है।

साहित्य-क्षेत्र के बाहर की या भीतर की हलचलें, आन्दोलन, विचार-प्रसार, आदि जब लेखक को बताती हैं कि वह या उसकी रचना इस प्रकार की होनी चाहिए या उस प्रकार की, तब असल में उनका उद्देश्य लेखक के हृदय में ये नये आन्तरिक अनुरोध स्थापित करना होता है।

किन्तु रचना-प्रक्रिया का विशेष अनुभव उन लोगों को न होने के कारण—और यह कहना कि हम तुम्हारे हृदय में इस प्रकार के आन्तरिक अनुरोध स्थापित करना चाहते हैं, यह कहना बहुत कठोर और अनुचित होने से—वैसा नहीं कहा

जाता, केवल विचार-प्रचार किया जाता है, चाहे वह सौन्दर्य-क्षेत्र से सम्बन्धित हो, या किसी अन्य साहित्यिक क्षेत्र से।

इसी बात को ध्यान में रखकर मैंने कहा कि लेखक अपने अन्तर्वैभव का विकास करते हुए, वास्तविक जीवन-विवेक की पीड़ाओं में से गुज़रते हुए, सामाजिक अनुरोधों और आग्रहों का ऐसा आभ्यन्तरीकरण कर सकता है, कि जिनसे वे एकदम निजी और अनुभवजन्य हो उठें।

संक्षेप में, लेखक-कलाकार के ये आन्तरिक कार्य उसकी नैतिकता हैं। केवल रचना-कार्य ही उसका आत्म-धर्म नहीं है, वरन् अन्तःसमृद्धि का अधिकाधिक विकास करना—स्वयं को अधिकाधिक चैतन्यमय, कोमल, उदार और सहानुभूतिशील बनाना, अधिकाधिक जीवनपरायण और सत्यपरायण होना—यह भी कलाकार का आत्म-धर्म है। कलाकार का यह आन्तरिक कार्य सतत चलना चाहिए। जैसा कि मैं कह चुका हुआ हूँ, ये आन्तरिक कार्य विश्व के संवेदनात्मक आभ्यन्तरीकरण से, उससे अनुप्राणित होने से, सम्बन्ध रखते हैं। इसीलिए, कला के स्वायत्त क्षेत्र का स्वातन्त्र्य तभी सार्थक है जब कलाकार में आन्तरिक सम्पन्नता हो—ऐसी आन्तरिक सम्पन्नता, जो वास्तविक जीवन-जगत् के संवेदनात्मक आभ्यन्तरीकरण से उत्पन्न हुई है। यदि यह आन्तरिक सघनता न हो, तो कलाकृति का क्या हाल होता है, वे कितनी खोखली और निरर्थक होती हैं, यह पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कविताओं से तथा देश-विदेश में प्रकाशित अनेक 'कलाकृतियों' से जाना जा सकता है।

कलाकार के लिए इस आन्तरिक सम्पन्नता की प्राप्ति के महत्त्व पर विचार करते हुए, मेरा आग्रह यह रहा है कि कलाकार एक विश्व-चेतस् और आत्म-चेतस्, अर्थात् पूर्णतः संवेदनशील जाग्रत, मनुष्य हो, और विश्व का प्रत्येक स्पन्दन उसके हृदय में झनकार उत्पन्न करे, और वह जीवन-जगत् के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया करे। कलाकार सर्वत्र कलाकार है, बुनियादी तौर पर भले ही किसी स्थान पर उसका कोई रूप, और किसी अन्य स्थान पर कोई दूसरा रूप, सामने आये। किन्तु उसकी मूल प्रकृति कलाकार ही की मूल मानव-प्रकृति रहेगी।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य कला के लिए, दर्शन के लिए, विज्ञान के लिए, अत्यधिक आवश्यक और मूलभूत है। कोई भी सृजनशील प्रक्रिया उसके बिना गतिमान नहीं हो सकती। यह एक बुनियादी तथ्य है। किन्तु जिस प्रकार कला अपने आभ्यन्तर नियमों के कठोर अनुशासन के बिना अपंग या विकृत होती है, अथवा अभाव बनकर रहती है, उसी प्रकार व्यक्ति-स्वातन्त्र्य अपनी अन्तरात्मा के कठोर नियमों के अनुशासन के बिना निरर्थक और विकृत हो जाता है, खोखला हो जाता है।

और जिस समाज में हर चीज़ खरीदी और बेची जाती है, जहाँ बुद्धि बिकती है, और बुद्धिजीवी-वर्ग बुद्धि बेचता है अपने शारीरिक अस्तित्व के लिए, जहाँ उदारवादी की जगह उदरवादी हुआ जाता है, जहाँ स्त्री बिकती है, श्रम बिकता है, वहाँ अन्तरात्मा भी बिकती है। वहाँ अन्तरात्मा का प्रश्न ही नहीं उठता, और

खूब उठता है, जहाँ सच्चा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य अगर किसी को है तो धनिक वर्ग को है, क्योंकि वह दूसरों की स्वतन्त्रता खरीदकर अपनी स्वतन्त्रता बढ़ाता है, और अर्थव्यवस्था, राजनैतिक-व्यवस्था, शिक्षा-व्यवस्था—सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था का पदाधीश बनकर, प्रत्यक्षतः और अप्रत्यक्षतः, स्वयं या विक्रीता आत्माओं द्वारा, अपने प्रभाव और जीवन को स्थायी बनाता है; जहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य सिमिटकर, केवल अपने घेरे में निमिटकर, अपनी स्वयं की मनोलीन विचारणा बन जाता है; जहाँ साहित्य के क्षेत्र में, धन-प्रभुत्व प्रकाशन के रूप में अवतरित होकर, उन प्रकाशकों से लाभान्वित और उनसे सम्बद्ध हुए लेखकों द्वारा, उन्हीं की जैसी विचारणा बनाते हैं, और उस विचारणा के अनुसार साहित्य-धाराओं को मोड़ने, उसे बनाने-बिगाड़ने का कार्य करते हैं—वहाँ हम लोगों के लिए वास्तविक व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-रक्षा का युद्ध, अपनी अन्तरात्मा की रक्षा का युद्ध, अपने भौतिक-जैविक अस्तित्व—अपने पारिवारिक अस्तित्व—की रक्षा के युद्ध में परिणत हो जाता है। मेरे लेखे, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, जैसा कि हमारे पूंजीवादी समाज में देखा जाता है, एक अच्छा-खासा मुहावरा है।

अतएव व्यक्ति-स्वातन्त्र्य मात्र एक आदर्श है। वह आदर्श महत्त्वपूर्ण है। वह मानव-गौरव की आधारभूत शिला है। मेरे लेखे, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अर्थ है, प्रत्येक को मानवोचित जीवन का, आत्म-विकास का, सामाजिक रूप से, समाज-रचनात्मक रूप से, स्थायी और शाश्वत प्रबन्ध, जिससे कि उसे अपने बाल-बच्चों के जीवन-यापन की चिन्ता न रहे, तथा वह अपने को अपने समय को किसी व्यक्ति-विशेष और धनिक-विशेष या सरकार को बेचे नहीं, वरन् अपने को तन-मन-धन से समाज-सेवा के कार्य में लगा दे, और समाज उसकी पूरी जीवन-व्यवस्था के आर्थिक पहलू के सवाल को अपने हाथ में लेकर उसका हल करे, समुचित प्रबन्ध करे, और व्यक्ति को अपने जीवन-यापन के खर्च के सवाल की चिन्ता में तरह-तरह के समझौते न करने पड़ें।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एक आदर्श है, और फिर भी वह मानव-गौरव की आधार-भूत शिला है। इसका अर्थ यह है कि अब तक विकसित हुई समाज-रचनात्मक अवस्थाओं में, मानव-इतिहासकाल में, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य वृद्धिगत हो गया है, पूर्वतर से अधिक होकर। और आज पूंजीवादी समाज में उसका वह रूप है जो हमें दिखायी देता है। किन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि इस स्वतन्त्रता के, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के, सिद्धान्त के लिए रक्ताप्लावित संघर्ष हुए। शासक वर्गों ने उसे जनता को पुरस्कार-रूप में भेंट नहीं किया, वरन् जनता ने अपने अनगिनत पुत्रों के बलि-दान के द्वारा उसे प्राप्त [किया,] और अपनी अगली आनेवाली सन्तानों को विरासत के रूप में उसे दे दिया। अमरीका, फ्रांस और ब्रिटेन की जनता ने भारतीय जन-मन को व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का यह भाव दिया। आज हमारे संविधान में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को जो अपने अन्तर्गत किया गया है, उस पर तथा जनता में फैले हुए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के भाव पर, विश्व की जनता के खून की मुहर लगी हुई है।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का प्रश्न जनता के जीवन से, उसकी मानवोचित आकांक्षाओं से, सीधे-सीधे सम्वन्धित है।

अजीव हालत है कि आज अगर पुरुषार्थ करने जाइये तो मानव-विकृति की कारक शक्तियों के हाथ में खेलिये, विक जाइये, और फिर किसी को अपना भगवान वनाकर वुराइयों से समझौते कीजिये। उस भगवान की गोद में वैठ जाइये। और फिर उसी के कन्धे पर चढ़कर दूसरे की गोद में वैठने की तैयारी में, प्रथमतः, उसका चरण-स्पर्श कीजिये। यह हालत है तथाकथित पराक्रम और पुरुषार्थ की, जिसका हमारे परिवारों में बड़ा महत्त्व है, क्योंकि जिसका धन-अर्जन जितना अधिक होता है, वह उतना वड़ा समझा जाता है।

लेकिन मानव को मानवोचित जीवन प्रदान करना ही होगा। मानव का अर्थ कैल्टेक्स के मैनेजमेण्ट के आदमी नहीं है। मानव का अर्थ किंग्ज़वे में रहनेवाले, ऊँचे क़िस्म की लेटेस्ट मॉडेल की कार के प्रश्न पर वहस करनेवाले लोग नहीं है, यूनिवर्सिटियों में डेढ़-डेढ़ हज़ार की रक़म मारनेवाले भारतीय संस्कृतिवादी अथवा पाश्चात्य संस्कृतिवादी पण्डित और पुरोहित नहीं है। मानव का अर्थ वह साधारण मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय जन है, जो अपने वालकों को उचित भोजन और उचित शिक्षा और उचित वस्त्र का भी ठीक ढंग से प्रवन्ध नहीं करता। आज भारतीय सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में इन वर्गों का कोई निर्णायक प्रभाव नहीं है। दिल्ली, वम्वई, कलकत्ता और मद्रास के अभिजात-वर्गीय और उच्च-वर्गीय जन सदाशय हो सकते हैं; किन्तु भारतीय जन-मन की वर्तमान स्थिति का संवेदनात्मक वोध उनके पास नहीं। वे वेचारे यह नहीं जानते कि आज साधारण जन-मन में, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का प्रश्न सवके लिए मानवोचित जीवन-रचना और समाज-रचना के प्रश्नों के साथ जुड़ा हुआ है। जन-मन के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-भाव के पास एक लक्ष्य है।

स्पष्ट है कि मुनाफ़ाख़ोरों और उत्पीड़कों के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लक्ष्य और जनता के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लक्ष्य में अन्तर है। जी नहीं, केवल अन्तर ही नहीं, विरोध-भाव है। केवल विरोध-भाव ही नहीं, विपरीत दिशाएँ भी हैं।

किन्तु, व्यावहारिक रूप से देखा जाये तो समाज में ऐसी आर्थिक स्थिति और सामाजिक परिस्थिति पैदा हो गयी है कि जिसके कारण व्यक्ति-स्वातंन्त्र्य केवल व्यक्ति-केन्द्रिता का दूसरा नाम वन गया है। यह विषय वहुत गहरा है, और उसके वहुत-से पहलू हैं। यहाँ उन सवमें जाया नहीं जा सकता।

केवल इतना ही कह दूं कि भारत में जनतन्त्र है, और आपेक्षिक रूप से तथा विशेष स्तर पर यहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य अवश्य ही है। और उसकी रक्षा करना तथा उसे दृढ़ करते जाना हमारे लिये ज़रूरी है। लेकिन उपेक्षा द्वारा वह स्वातन्त्र्य छिन भी सकता है।

यह अन्तिम वाक्य कहने का मुझे अधिकार है। मध्यप्रदेश शासन द्वारा मेरी एक पुस्तक **भारत : इतिहास तथा संस्कृति** ग़ैरकानूनी घोषित कर दी गयी,

19 सितम्बर 1962 के दिन। मज़ेदार बात यह है कि उसी शासन के शिक्षा विभाग ने तथा पाठ्यपुस्तक समिति ने इसके पूर्व, लिखित तथा सार्वजनिक रूप से, उसे हाईस्कूलों के लिए स्वीकृत कर लिया था।

रहा साम्यवादी जगत् में रेजिमेन्टेशन का प्रश्न। वह साम्यवादी जगत् का ही प्रश्न नहीं, हमारा भी प्रश्न है, एक विशेष अर्थ में। हम, निःसन्देह, इस प्रश्न पर चर्चा करते हुए राज-दर्शन और व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में पहुँच जायेंगे। हम इस प्रकार का रेजिमेन्टेशन कभी नहीं चाहेंगे। इसका विरोध अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि पूंजीवाद के हम समर्थक होंगे। किसी विशेष देश की विशेष ऐतिहासिक अवस्थाओं में जो ग़लतियाँ हुई, उनके दुहराये जाने के हम समर्थक नहीं। किन्तु यह भी सही है कि धन द्वारा किसी को खरीद लेने की आज़ादी का नाम व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त नहीं है। क्या यह सच नहीं है कि 'फ़्री वर्ल्ड' के अन्तर्गत न मालूम कितनी ही तानाशाहियाँ हैं ? 'फ़्रीडम' (स्वतन्त्रता) का अर्थ जो लोग 'पूंजीवादी की स्वतन्त्रता' लेते हैं, हम उसके विरुद्ध हैं।

आधुनिक जीवन के जो भयानक कष्टप्रद अन्तर्विरोध हैं, वे वास्तविक जीवन के क्षेत्र में मानव की स्वतन्त्र चेतना और आत्मगौरव का आहार करते-से दिखायी देते हैं। उत्पीड़न, अरक्षा की स्थिति, और कष्ट-सन्ताप तो बराबर बने ही हुए हैं। ऐसी स्थिति में, उच्च अथवा सुरक्षित पदों पर बैठा हुआ समीक्षकों का एक दल बराबर इस प्रयत्न में रहता है कि लेखकों को वास्तविक जीवन-संघर्ष के माध्यम से, वास्तविक प्रयत्न के माध्यम से, प्राप्त होनेवाले उच्च जीवन-मूल्यों से हटाया जाये।

यह एक अनुभवसिद्ध बात है कि मानवोचित जीवन-प्राप्ति के संघर्ष में समाज के सारे अन्तर्विरोधों की एक साथ अनुभूति होती है। समाज का यथार्थ—जो अनेकमुखी है—अपनी पाप-परम्पराओं और विकार-परम्पराओं के अनेक रूपों में प्रकट होता है। वरन् यह भी कि मनुष्य आत्मरक्षा के प्रयत्न में बुराइयों से समझौता करता हुआ और गिरता जाता है। और फिर, आज वैयक्तिक लाभ ही तो बुनियादी सिद्धान्त है, जो उसको और-और आकर्षित करता है। और इन सबके कारण समाज में एक वातावरण बन जाता है।

ऐसी स्थिति में, एक ओर, व्यक्ति की नैतिकता तो अरक्षित रहती ही है, वह, दूसरी ओर, अपनी इस शोचनीय स्थिति के परिणामस्वरूप अन्य के लिए दुःखों और पेचीदा हालतों का कारण बन जाती है। इस प्रकार एक व्यक्ति दूसरे को दुःख देता चलता है, अथवा जाने-अनजाने उसके कष्ट का कारण बन जाता है। समाज का वातावरण बिगड़ता जाता है। ऐसे समय कवियों के हृदय में ग्लानि, विरक्ति, विक्षोभ तथा अन्य प्रकार के भाव उत्पन्न होते रहते हैं। कहीं ऐसा न हो कि ये भाव प्रगतिवादी जीवन-दर्शन में बँधकर कवि-हृदय में एक भिन्न आलोक में चमक उठें। अतएव यह आवश्यक समझा गया कि नये कवि उसके चक्कर में न पड़ें।

आधुनिक भाव-बोध का सिद्धान्त इसीलिए बहुत ज़ोर-शोर के साथ प्रस्तुत किया गया। उसमें ग्लानि, विरक्ति, विक्षोभ, प्रेम, व्यंग्य-भावना, आदि के लिए स्थान हैं; किन्तु जनसाधारण के भयानक जीवन-संघर्ष, तज्जनित सन्ताप और विरोधक भावनाओं का स्थान नहीं है। यह भाव-धारा कुछ इस प्रकार है। वर्तमान सभ्यता औद्योगिक सभ्यता है—चाहे वह साम्यवादी व्यवस्था क्यों न हो। उस व्यवस्था के अन्तर्गत, व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं होता, व्यक्तित्व का नाश होता है। अतएव व्यक्ति-नाश प्राय: अवश्यम्भावी है। अतएव जो कवि सामाजिक परिवेश के बारे में, सामाजिक अवस्था के सम्बन्ध में, सोचते हैं, उन्हें यह जानना चाहिए कि वर्तमान समाज-रचना में, वर्तमान जगत् में, मानव-दु:ख अवश्यम्भावी है। यह औद्योगिक सभ्यता का दोष है। यह है उनकी भाव-धारा।

ऐसी सभ्यता में जो आधुनिक भाव-बोध है, वह है अनाशा और दु:ख-भावना का, ग्लानि और विरक्ति का, अगतिकता का। महान् लोगों ने समाज में, समाज के साथ, बड़े-बड़े प्रयोग किये, और असफल हो गये, इसलिए अगतिकता मनुष्य का मूलभूत भाग्य है—उसे बदला नहीं जा सकता। (इसलिए अपने विक्षोभ और असन्तोष को प्रगतिवादी नोंक मत दो, क्योंकि वह मूलत: असंगत है)। हाँ, सामाजिक दायित्व, सहानुभूति, नैतिक मान, इत्यादि द्वारा उसकी विभीषिका कम की जा सकती है।

यह है मनोभूमि आधुनिक भाव-बोध की। उसमें वास्तविक जीवन-संघर्ष का—ऐसा जीवन-संघर्ष, जो संगठित होकर संगठित विरोधियों से, शोषकों और उत्पीड़ितों से, टकराता है, उसका—कहीं भी स्थान नहीं है। अस्तित्व-संघर्ष में प्राप्त मानव-साम्य-स्वप्नों का भी उसमें कहीं स्थान नहीं है। दार्शनिक धरातल पर, और कलात्मक धरातल पर, उस भाव-धारा में अच्छाई के बुराई से संघर्ष की भी कोई भी भावना नहीं है। असल में, संघर्ष से और तत्सम्बन्धी शब्दावली ही से उसे घृणा है।

अब 'लघु-मानव' के सिद्धान्त पर आइये। हम सब जनसाधारण नहीं, लघु-मानव हैं। क्यों? इसलिए कि आदर्शों ने हमको दग़ा दिया है, छला है, प्रवंचना की है। (कैसा बढ़िया तर्क है, किन्तु कितना शाब्दिक! दग़ा दिया है उन तथा-कथित आदर्शवादियों ने, जिन्होंने आदर्श के द्वारा लोगों को छला है—लेकिन गौतम बुद्ध ने नहीं, ईसा ने नहीं, गाँधी ने नहीं)। आदर्श एक छलावा है! लघु-मानव हम, अपने लघु प्रयत्नों द्वारा अपनी उन्नति और विकास करते हैं, और भारी-भरकम शब्दावली में हम नहीं फँसते। हम अपने लघु-जीवन में, अपने दैनिक कार्यक्रमों में, अपनी-अपनी बुद्धि और विवेक के अनुसार लगे रहते हैं, और अपनी भावनाओं को काव्य में व्यक्त करते हैं।

जनता? वह एक भीड़ है, भीड़ को कोई आत्मा नहीं होती। (इसीलिए, जनता ढोर है, जिधर हाँको उधर हँकती है)। व्यक्ति, चेतन व्यक्ति—वह तो आत्मतन्त्रवादी है। इसलिए, उसका कर्त्तव्य है कि वह भीड़ का हिस्सा न बने।

भीड़ में व्यक्तित्व का नाश होता है। (अब कोई इन महोदयों-महाशयों से पूछे कि क्या भारत की स्वतन्त्रता केवल एक व्यक्ति, गांधी, ने दिलायी है? क्या उसमें अनगिनत लोगों ने अपनी प्रबुद्ध चेतना द्वारा योग नहीं दिया? क्या उसका सारा श्रेय नेता को ही है? और नेता कहाँ से पैदा होता है? आसमान से टपकता है? या राष्ट्र अथवा जनता के भीतर से पैदा होता है?)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवियों में असंगत और विचित्र सामाजिक-राजनैतिक भाव प्रचारित किये गये, यद्यपि एक ओर यह कहा गया कि कलाकार को सामाजिक-राजनैतिक प्रचार से बचना चाहिए।

मेरा अपना व्यक्तिगत विचार यह है कि इस सारी भाव-धारा का उद्देश्य, कि जो भाव-धारा सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रश्नों से लेकर जनता की परिकल्पना तक आ पहुँचती है, यह है कि लेखक को हर तरह से उन वात्याचक्रों से दूर रखा जाय, जो शहरों की गलियों और सड़कों में राजनैतिक और सामाजिक विक्षोभ बनकर प्रकट होते हैं। इसीलिए ज़रूरी समझा गया कि जनता के संगठित समूहों को 'भीड़' कहकर, और समूहों में आत्मा के अभाव की स्थिति घोषित कर, जनता को बदनाम करके, लेखक को जनता से अलग रखा जाये। क्योंकि जनता से लेखक के अलग असम्पृक्त और दूर रहने की स्थिति में ही उसे (लेखक को) पश्चिमी जगत् की मुंडेरों पर से बहती आनेवाली हवाओं में से अच्छा-अच्छा 'ऑक्सीजन' निकालकर दिया जा सकता है!

इसलिए आप एक बड़ी मज़ेदार चीज़ देखेंगे! लेख लिखनेवाले लोग (मेरा मतलब साहित्यिक पत्रकार से है) और सम्पादक अपने लेखों और स्तम्भों द्वारा अपनी सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि का प्रचार-प्रसार कर सकते हैं। किन्तु कलाकार (कहानीकार, कवि, इत्यादि) वैसा नहीं कर सकता, नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह शाश्वत सौन्दर्य का आराधक है। और, क्योंकि इस प्रकार के कलुष से उसकी कला दूषित और आत्मा मलिन हो सकती है, इसलिए वह नहीं चाहता कि दूसरे लेखक-कलाकार इस चक्कर में पड़ें।

कलाकार को अपने से ईमानदार होना चाहिए, कलाकार हमेशा अकेला होता है, कलाकार कभी पक्षधर नहीं होता, कलाकार केवल सौन्दर्य का आराधक है—ये सारे तर्क इस स्थिति के व्यावहारिक प्रतिपादन के लिए हैं कि लेखक वास्तविक जिये जानेवाले जीवन के समाज-दर्शनात्मक और राज्य-दर्शनात्मक अर्थ न निकाले, और सामाजिक-राजनैतिक वात्याचक्रों के प्रतिबिम्ब सामाजिक और राजनैतिक दृष्टिकोण से अपने साहित्य में उपस्थित न करे।

यह सच है कि आज जब कि अध्यात्म-दर्शन हमारे पास नहीं है, किसी-न-किसी रूप में हमारे पास [ऐसा] व्यापक जीवन-दर्शन आवश्यक है, जिसमें अगर कुछ भी न हो तब भी वे बुनियादी बातें तो हों, जिन्हें जनसाधारण अपने हृदय में अनुभव करते हैं, जैसे, अन्याय का प्रतिकार, मानव-साम्य की स्थापना के प्रयत्न, विकृत स्वार्थवाद और भ्रष्टाचार का विरोध, सामाजिक सम्बन्धों में प्रेम और

त्याग की भावना, अहंकार की उग्रता का विरोध, अपने घर में सोफ़ा-सेट रखने के लिए वुद्धि को वेच देने तथा धन द्वारा वुद्धि के खरीदे जाने का विरोध, समझौता-परस्ती के खिलाफ़ कड़ाई, और साधारण भारतीय जन-मत के प्रति भक्ति और अनुराग। क्या ये वातें किसी व्यापक जीवन-दर्शन में नहीं आ सकतीं ? क्या जीवन-दर्शन के लिए हमें पश्चिमी सूक्ष्मताओं की पच्चीकारियों तक जाना होगा ?

यह व्यापक जीवन-दर्शन हमारे जीवन का अनुशासन करते हुए हमारे काव्य में आखिर क्यों न प्रकट हो ? हमारे हृदय और मन पर अधिराज्य करते हुए वह अपने लिए क्यों न कलात्मक उपादान जुटाये ? और नवीन संवेदनशील कोमल काव्य-भाषा का विकास वह क्यों न करे ?

निःसन्देह, इसमें अड़चनें हैं। मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि यह काम आसान नहीं। किन्तु स्थायी सौन्दर्य के चक्कर में पड़ा हुआ लेखक इन भाव-संवेदनात्मक विषयों को नहीं उठाता, जव कि उसके वास्तविक जीवन में किसी-न-किसी अंश में ये भाव-संवेदन तड़पते-छटपटाते रहते हैं। वह उन्हें काव्य-स्तर पर इसलिए नहीं उठा पाता कि उन भाव-संवेदनाओं के अनुकूल तदनुसारी कलात्मक उपादान और संवेदनशील कलात्मक भाषा का उसने विकास नहीं किया है। भाव-संवेदनाओं के विशेष क्षेत्र की अभिव्यक्ति का उसने जो अभ्यास किया है, वह अभ्यास अव उसे दूसरे भाव-क्षेत्रों की ओर जाने से रोकता है। इसलिए रोकता है कि वह अभ्यास केवल शब्दाभिव्यक्ति का ही अभ्यास नहीं, वरन् उन (तत्सम्वन्धित) भाव-संवेदनाओं का भी अभ्यास है, और भाव-संवेदनाओं की अभिव्यक्ति को अनुशासित करनेवाली अभिरुचि का भी अभ्यास है। परिणामतः, वह अभ्यास अव एक जड़ीभूत पाषाण वन गया, जो कलाकार की छाती पर वैठ गया। इसलिए, वह वास्तविक जीवन-क्षेत्र में अनुभूत किये जानेवाले तड़पते-छटपटाते हुए भाव-संवेदनों को भी प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति प्रदान करने के कार्य में अड़ंगे डालता है, और कलाकार को अपंग वना देता है।

अभी तो वड़ी-वड़ी मंज़िलें तय होनी हैं। इसीलिए मैं नवीन पीढ़ियों के प्रति आशावादी हूँ, जो हम लोगों की ग़लतियों से सीखकर आगे वढ़ेंगी।

मैंने अव तक जो वातें कही हैं, वे व्यक्तिगत हैसियत से ही। मैं पण्डित नहीं हूँ, प्रचारक नहीं हूँ, विद्वान् नहीं हूँ, केवल एक मामूली लेखक हूँ। और मैंने शायद सवकी आलोचना कर डाली है। इसलिए मुझसे सव नाराज़ भी होंगे। लेकिन मेरा ख़याल है कि वे मुझे माफ़ भी कर देंगे, मेरी उपेक्षा करेंगे, क्योंकि मैं उनके रास्ते के वीच में कहीं भी नहीं आता।

[सम्भावित रचनाकाल 1963। **नयी कविता का आत्मसंघर्ष** में संकलित]

साहित्य और जिज्ञासा

बाल्यकाल, नवयौवन और तारुण्य के विभिन्न उपःकालों में जिज्ञासा, हृदय का छोर खींचती हुई, आकर्षण के सुदूर ध्रुव-बिन्दुओं से हमें जोड़ देती है।

बाल्यकाल की जिज्ञासा बड़ी ही खतरनाक होती है। उसकी साहसिक दुर्निवारता न केवल रंग-बिरंगी चीज़ों को तोड़कर उनमें क्या है यह देखने के लिए प्रवृत्त होती है, वरन् सायं के अँधेरे-भरे घट में भी उँगली डालने के लिए प्रवृत्त होती है। घर की छत पर चढ़कर चारों ओर देखना और मुँडेर पर से धड़ाम से गिरकर माँ के हाथों पीटे जाना तो मामूली बात है। टाइमपीस तोड़कर उसके अन्दर के कल-पुर्ज़ों का आकार-प्रकार और उसका हिलना-डुलना देखने के लिए लालायित होना तो बहुत बड़ी वैज्ञानिक जिज्ञासा है। बच्चे सचमुच इतने मूर्ख नहीं हैं जितने उनके माता-पिता, जो कभी यह देखने की कोशिश ही नहीं करते कि टाइमपीस चलती कैसे है। आखिर बच्चा यही तो देखना चाहता है।

'देखने' की इच्छा, 'जानने' की इच्छा, 'रहस्य' की उलझी हुई आँतों को सुलझाने की इच्छा, कितनी मनोहर कितनी दुर्निवार और अदम्य हो सकती है, यह उसी से जाना जा सकता है जो जिज्ञासा का शिकार है। जिज्ञासा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह वस्तु की तह में जाना चाहती है, अपने इच्छित विश्वासों को, अपनी इच्छित आशाओं को, उस पर लादना नहीं चाहती। वह किसी दुर्भावना से पीड़ित नहीं है, किसी आग्रह और दुराग्रह से ग्रस्त नहीं है, अनुमान और अन्दाज़ भटककर रास्ता पा जाने के लिए तैयार हैं, किन्तु वे खोज के आधार नहीं हैं।

ज्यों-ज्यों मनुष्य उम्र में बढ़ता है, जिज्ञासा पर न केवल आग्रहों और दुराग्रहों के पुंज लदते चलते हैं, वरन् स्वयं जिज्ञासा भी (शतधा) होती चलती है। तब हमें एक प्रयासहीन थोथी जिज्ञासा के दर्शन होते हैं, इच्छित विश्वासग्रस्त, दुर्भावनाग्रस्त जिज्ञासा एक वेश्या की भाँति मन के विभिन्न स्वार्थ-लक्ष्यों की वासना का आहार बन जाती है। उम्र में बढ़कर, जब हमें 'ओपीनियन' बनाने की आदत पड़ जाती है, जब हम बुद्धिमान और बुद्धिवादी बन जाते हैं, तब हमारे दिमाग़ की बाल-कमानी यानी जिज्ञासा पुरानी और घटिया हो जाती है। तब हमें किसी बालक की ज़रूरत पड़ती है, जो यह टाइमपीस तोड़कर देखे कि उसकी भीतरी बनावट क्या है।

लेकिन पुराने बालकों में से ऐसे लोग भी निकलते हैं जो जिज्ञासा के मामले में एक साथ बालक, युवक और वृद्ध होते हैं, जिनमें जिज्ञासा की तीव्र दृष्टि और आग्रहहीनता के साथ उस ओर यौवनसुलभ श्रम करने की प्रवृत्ति और खोज के आधार पर वृद्धसुलभ अनुभवपूर्ण मत बनाने की शक्ति रहती है। साहित्य इस जिज्ञासा का ऋणी है।

मनुष्य क्या है, मनुष्य के लक्ष्य क्या हैं, मानवोचित जीवन क्या है, वह किन

कोशिशों और किन रास्तों से प्राप्त किया जाय, इन कोशिशों और रास्तों पर चलने के लिए किन चारित्रिक शक्तियों और आध्यात्मिक गुणों की आवश्यकता है, और क्या इस सम्बन्ध में हमारे द्वारा प्राप्त निष्कर्ष, वस्तुत:, लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग में सहायक हैं या नहीं, कहीं वे जो कल के लिए उचित थे आज के लिए अपर्याप्त और अनुचित तो नहीं हैं, आदि प्रश्न साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण रहे हैं। जिस साहित्य में इसका जीवन-चित्रात्मक, चरित्र-चित्रणात्मक यथार्थवादी अंकन होता है, वह साहित्य महान् हो जाता है।

यूरोप के अन्यतम साहित्यकारों ने, जिनमें मुख्यत: निबन्धकार और उपन्यासकार तथा अन्य कथा-लेखक भी सम्मिलित हैं, इन प्रश्नों के विभिन्न पक्षों का चित्रण किया। प्रश्नों के जीवन-चित्रात्मक, मानव-चरित्रात्मक अंकन का महत्त्व उनके उत्तरों के (इस ढंग से) चित्रों से भी अधिक प्रधान रहा है। यथार्थवाद में—किसी भी यथार्थवाद में—जिज्ञासा वहुत रोल अदा करती है। जिज्ञासा निरीक्षण की ओर प्रवृत्त करती है, निरीक्षण के लिए हमें अपने आग्रहों और दुराग्रहों को छोड़ना पड़ता है। चरित्र-दर्शन तो हमें तव तक ठीक-ठीक नहीं हो सकता, जव तक हममें चरित्र-सम्वन्धी मूलभूत जिज्ञासा न हो। माना कि वहुत जगह अनुमान काम करता है (और हम अनुमान को ही सत्य का जामा पहना देते हैं), किन्तु अनुमान यदि जिज्ञासा का अंग वना रहता है, तो हम उसके विरोध में यदि कोई तथ्य प्राप्त कर लें तो तुरन्त ही उसे वदल देते हैं। किन्तु, अनुमान यदि जिज्ञासा का अंग नहीं है, तो वह हमारे इच्छित विश्वासों की पूर्ति का एक उपादान वनकर रह जाता है। साहित्य में ऐसे अनुमानों के आधार पर खड़े किये गये चरित्र प्रभावशाली नहीं हो पाते।

जिज्ञासा केवल एक स्थिति, एक परिस्थिति, एक व्यक्ति, एक चरित्र, की सीमारेखा में नहीं वँधी रहती। जव वह एक श्रेणी की अनेक स्थिति-परिस्थितियों, व्यक्तियों और चरित्रों का अध्ययन कर लेती है, तव वह उस श्रेणी के सम्वन्ध में न केवल अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लेती है, वरन् अनेक सत्य-सामान्यीकरणों को जन्म देती है।

इन सत्य-सामान्यीकरणों के आधार पर एक कॉम्पोज़िट टाइप का, एक प्रतिनिधि चरित्र का, जन्म होता है। निश्चय ही, इसके लिए मनोवैज्ञानिक जिज्ञासा के अन्तर्भूत तथ्य-निरीक्षण और तथ्य-विश्लेषण के साथ ही, तथ्यों के यथार्थ सामान्यीकरण की प्राप्ति, सहानुभूति, मर्मज्ञता और जीवन-अनुभव के मानवीय उपादानों के पैनेपन से ही हो सकती है। साहित्यिक प्रतिभा के अन्तर्गत ये सव तत्त्व आ जाते हैं। इनके विना प्रश्नों को मानव-चरित्रात्मक, जीवन-चित्रात्मक रूप से उपस्थित ही नहीं किया जा सकता।

कहा जाता है कि साहित्य हृदय की भावनाओं से उत्पन्न होता है। इस वाक्य में यह जोड़ा जाना चाहिए कि भावना जिज्ञासा की पैठ के, उसके द्वारा की जानेवाली तटस्थ तथा तीव्र खोज के, विना ऊँचा साहित्य उत्पन्न नहीं कर सकती।

ध्यान में रखने की बात है कि भावना, जिसके प्रति वह है उसके प्रति आकर्षण या विरोध के [बिना], काम नहीं कर सकती। अर्थात्, वह पक्ष में या विपक्ष में ही काम कर सकती है। किन्तु जिज्ञासा के द्वारा की गयी यथार्थवादी खोज से प्राप्त ज्ञान के आधार पर, और उसकी सहायता से, चलनेवाली भावना अलग होती है। वह एक चरित्र या स्थिति के विश्लेषण के टुकड़ों को फिर से जोड़कर समन्वय और सामान्यीकरण करती है। किन्तु वह इतना करके ही चुप नहीं रहती, चरित्र के विकास के मूल कारणों की खोज करती है, प्रश्नों के कारणों का अनुसन्धान और उसका चित्रण करती है। और इस दृष्टि से, वह चित्रण और स्थिति दोनों के प्रति अधिक न्याय करती है। आज जब साहित्य मनुष्य के आध्यात्मिक उत्थान और सामाजिक परिवर्तन के एक अस्त्र के रूप में स्वीकृत हो चुका है, तब इन कारणों का, इन प्रश्नों का, मानव-चरित्रात्मक, जीवन-चित्रात्मक निरूपण और अंकन महत्त्वपूर्ण नहीं है?

जिज्ञासा ही के आधार पर किये गये बौद्धिक सामान्यीकरणों और अनुभवात्मक समझ के आधार पर किये गये सामान्यीकरणों में वृहद् अन्तर है। एक तो हिन्दी साहित्य में वैसे ही जिज्ञासा का उद्भास कम है, किन्तु जो है थोथे तरीके से बौद्धिक है। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य साधारण जन का जीवन-ज्ञान ऊँचा नहीं कर पा रहा है।

[रचनाकाल अनिश्चित। नयी कविता का आत्मसंघर्ष में संकलित]

रचना-प्रक्रिया

सौन्दर्य-प्रतीति और सामाजिक दृष्टि

साहित्यकार सामाजिक दृष्टिकोण से जनता की सेवा के लिए साहित्य-सर्जन करे, या अपने भीतर सौन्दर्य-प्रतीति से अभिभूत होते हुए आत्म-प्रकटीकरण के रूप में साहित्य लिखे ? यह वह प्रश्न है, जिस पर हाल ही में एक लेखक-सम्मेलन में हिन्दी के साहित्यकारों द्वारा चर्चा की गयी। जैसा कि स्वाभाविक था, एक दल ने एक पक्ष लिया, दूसरे ने अन्य। एकमत होने या उसकी कोशिश करने का सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि, वस्तुतः, दोनों पक्ष केवल आत्म-प्रकटीकरण ही कर रहे थे, न कि एक-दूसरे को समझने का प्रयास।

यह प्रश्न जिस ढंग से उठाया गया है उससे वह बड़ा ही अद्‌भुत और चमत्कारपूर्ण मालूम होता है। अद्‌भुत और चमत्कारपूर्ण इसलिए कि जो बात प्राकृत व स्वाभाविक नहीं है, उसे प्राकृत और स्वाभाविक करके बता देना बड़ी भारी कीमिया है। यह प्रश्न इस दिमाग़ी कीमिया की उपज है।

जिस समाज में सौन्दर्य-प्रतीति और सामाजिक दृष्टि में परस्पर विरोध माना जाता है, अथवा, दूसरे शब्दों में, इन दो के भीतर किसी आन्तरिक गहरी एकता का अस्तित्त्व नहीं माना जाता, वह समाज भी खूब है ! और वे दार्शनिक या विचारक भी खूब हैं जो इन मान्यताओं को लेकर चलते हैं ! आजकल की कृत्रिम विभाजन-बुद्धि का ही यह सबूत है।

कवि, कहानी-लेखक, उपन्यासकार की सौन्दर्य-प्रतीति में वह सामाजिक दृष्टि सन्निहित है, जिसका उसने उन जीवन-प्रसंगों के मार्मिक आकलन के समय उपयोग किया था। इस सामाजिक दृष्टि के बिना वह सौन्दर्य-प्रतीति ही असम्भव थी। हो सकता है कि यह दृष्टि उसने परम्परा से, सामाजिक-राजनैतिक वायु-मण्डल से, प्राचीन तथा नवीन के संस्कारों-परिष्कारों से, प्राप्त की हो। किसी भी विषय के आत्मगत आकलन तथा संकलन करने के समय से, हमारे मन में उसकी विविध बातों का जो मूल्यांकन शुरू होता है, वह अन्त तक रहता है, जब तक कि वह सृजनशील प्रक्रिया समाप्त नहीं हो जाती। सृजनशील प्रेरणा या बुद्धि स्वयं एक आलोचनाशील मूल्यांकनकारी शक्ति है, जो इस मूल्यांकन के द्वारा ही अपने प्रसंग को उठाती है, और उसे कलात्मक रूप से प्रस्तुत करती है। बिना मूल्यांकन-शील शक्ति के कोई सृजन, कम-से-कम साहित्यिक सृजन, नहीं ही हो सकता, चाहे वह प्रातःकाल में गुलाब सूँघने का, प्रणयिनी के चुम्बन या कारखाने में हड़ताल का, प्रसंग हो। जब-जब ये चित्र सृजनशील प्रक्रिया का एक अंग बनेंगे, उनमें उचित काट-छाँट और संकलन होता रहेगा। इस पूरी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में हमारी मूल्यांकनकारी शक्ति बराबर उसी बात को लेगी जिसे हम मार्मिक समझते हैं। इस मूल्यांकनकारी शक्ति के बिना हम मार्मिक अंश का सम्पादन नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में, हमारी सृजन-प्रतिभा जीवन-प्रसंग की उद्‌भावना से

लेकर तो अन्तिम सम्पादन तक अपनी मूल्यांकनकारी शक्ति का उपयोग करती रहती है। अच्छे लेखक तब भी सन्तुष्ट नहीं होते, और सोचते हैं कि बहुत-कुछ कहना रह गया, और जो कुछ कहा गया वह या तो समुचित नहीं था या उससे भी अच्छे ढंग से कहा जा सकता था। मतलब यह कि जीवन-प्रसंग में तल्लीनता प्राप्त कर हम उसमें इतने डूब नहीं जाते कि समाधि लग जाती हो, वरन् मूल्यांकन-कारी शक्ति के सचेत प्रयोग से हम उसके मार्मिक अंश उठाते हैं। अपनी ज्ञान-संवेदनाओं और संवेदना-ज्ञान के प्रयोग से, हम उनके उचित अंशों को प्रस्तुत करने के लिए अनवरत मूल्यांकन और सतत सम्पादन करते जाते हैं, चाहे वह चित्रकला ही क्यों न हो।

इस मूल्यांकन के अन्तर्गत, जिन मूल्यों से प्रेरित होकर हम जिसे मर्म कहने-समझने लगते हैं, और उसके यथायोग्य हार्दिक संकलन, सम्पादन तथा प्रस्तुती-करण का योगाभ्यास करते हैं, वे मूल्य और वह मर्म बिना हमारी सामाजिक दृष्टि के असम्भव है (चाहे वह रवीन्द्रनाथ की उर्वशी क्यों न हों)।

जिस समाज में हम रहते हैं, उसके द्वारा प्रदत्त अथवा उत्सर्जित भाव-परम्परा तथा मूल्यों से विच्छिन्न होकर, सृजन-प्रक्रिया के अंगभूत मूल्यों का अस्तित्व ही नहीं है। सौन्दर्य-प्रतीति की डुग्गी पीटनेवाले लोग सामाजिक दृष्टि को भले ही ऊपर से थोपी हुई समझें, वह, वस्तुतः, यदि दृष्टि है तो, कभी भी थोपी हुई नहीं रहती, वरन् हमारे अन्तर का एक निज-चेतस् आलोक बनकर सामने आती है। और जिस सामाजिक दृष्टि में यह निज-चेतस् आलोक नहीं है, वह दृष्टि नहीं है, और कुछ भले ही हो। हम जिस समाज, संस्कृति, परम्परा, युग और ऐतिहासिक आवर्त में रह रहे हैं, उन सबका प्रभाव हमारे हृदय का संस्कार करता है। हमारी आत्मा में जो कुछ है वह समाज-प्रदत्त है—चाहे वह निष्कलुप अनिन्द्य सौन्दर्य का आदर्श ही क्यों न हो। हमारा सामाजिक व्यक्तित्व हमारी आत्मा है। आत्मा का सारा सार-तत्त्व प्राकृत रूप से सामाजिक है। व्यक्ति और समाज का विरोध बौद्धिक विक्षेप है, इस विरोध का कोई अस्तित्व नहीं। जहाँ व्यक्ति समाज का विरोध करता-सा दिखायी देता है, वहाँ, वस्तुतः, समाज के भीतर की ही एक सामाजिक प्रवृत्ति दूसरी सामाजिक प्रवृत्ति से टकराती है। वह समाज का अन्तर्विरोध है न कि व्यक्ति के विरुद्ध समाज का, या समाज के विरुद्ध व्यक्ति का। 'व्यक्ति-विरुद्ध समाज की' इस विचार-शैली ने ही हमारे सामने कृत्रिम प्रश्न खड़े किये हैं—जिसमें से एक है, सौन्दर्य-प्रतीति के विरुद्ध सामाजिक दृष्टि।

हाँ, यह सही है कि सृजन-प्रक्रिया के भीतर जो मूल्यांकनकारी दृष्टि है, वह समाज के भीतर की एक प्रवृत्ति-परम्परा का ही एक रूप होने के कारण, उसके लिए यह स्वाभाविक है कि वह उसी समाज की दूसरी प्रवृत्तियों से तथा परम्परा से टकराये, और ऐसी स्थिति में हम लोग उस साहित्य को व्यक्तिवादी या छाया-वादी या प्रयोगवादी या प्रगतिवादी कहकर उसकी निन्दा करें। प्रश्न यह है कि अन्तर्विरोध-ग्रस्त समाज की किन प्रवृत्तियों से आप तदाकार हैं? यह आपकी

मानवीय सहानुभूति तथा मानव-कल्याण भावना से कहीं अधिक आपकी ऐतिहासिक संवेदनात्मक अनुभूति पर निर्भर है।

समाज के भीतर के अन्तर्विरोधों के विकास की जो अवस्था-विशेष होगी, उसी के अनुसार सांस्कृतिक श्रेणी के सामने विषयों के विकल्प प्रस्तुत होंगे। **उत्तररामचरित** के लेखक भवभूति के सामने वे विकल्प प्रस्तुत नहीं थे जो आज हमारे सामने हैं। शृंगार के ज़माने में उन्होंने नारी के भाग्य पर आँसू बहाकर करुणरस-प्रधान साहित्य सिरजा। वह उसके आगे बढ़ ही नहीं सकते थे, क्योंकि समाज ने उसके आगे के और विकल्प प्रस्तुत ही नहीं किये थे। अपने-अपने अनुभवों तथा सामाजिक परिवेश के अनुसार(जिससे आपका सारा व्यक्तित्व निर्मित हुआ है, जिससे आपका पूरा जीवन रँगा हुआ है), इन विकल्पों में से आपको अपने लिए एक अनुकूल चुनना पड़ेगा। विकल्प केवल विषय तक सीमित नहीं है, वरन् दृष्टिकोणों, विचारधाराओं, रुख़ों और रवैयों तथा आदर्शों के भी विकल्प हैं।

इसीलिए, आलोचना न केवल रूप की, की जाती है वरन् तत्त्व की भी। और इसलिए तत्त्व की आलोचना महत्त्वपूर्ण भी है।

और असल में, उस सम्मेलन में सौन्दर्य-प्रतीति के नाम पर जिस दृष्टि की वकालत की गयी, वह, वस्तुतः, तत्त्व का भी समर्थन था। उस प्रतीति के नाम पर एक विशेप प्रकार तथा शैली के साहित्य में ही, यहाँ तक कि विशेष प्रकार के चित्रण-निवेदन में ही, सौन्दर्य देखा जाता है, अन्य में नहीं। उसी तरह, अन्य पक्ष के द्वारा यद्यपि 'सामाजिक दृष्टि'—इस व्यापक अर्थवाले शब्द का उपयोग किया गया, किन्तु उस दृष्टि का अर्थ उनके तईं समाज द्वारा पेश किये गये दूसरे विकल्प के पक्ष में था।

उनका आशय यह था कि सामाजिक प्रगति की दृष्टि से मानव-मुक्ति की प्रेरणा देनेवाले साहित्य का सृजन हो। निश्चय ही इसके विरुद्ध अन्य पक्ष को, इस ढंग के प्रस्तुत साहित्य में, व्यक्ति की अवहेलना और सौन्दर्य की उपेक्षा तथा कलाकार के व्यक्तित्व की हानि दिखायी दी। यद्यपि बहस केवल सामान्य स्तर की थी, किन्तु यह टकराहट दो विकल्पों के बीच दो विरोधी प्रवृत्तियों की थी।

हम साहित्यकार, जो पीड़ित मध्यवर्गीय श्रेणी से आये हैं, अपना विकल्प सामाजिक प्रगति और मानव-मुक्ति ही चुनते हैं, और इस पक्ष में हमें कलाकार के मानव-व्यक्तित्व का हनन, सौन्दर्य की उपेक्षा, तथा व्यक्ति की अवहेलना नहीं दिखायी देती, क्योंकि उसी राह पर हमें सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है। हाँ, यह सही है कि यदि हम अपने साहित्य के द्वारा अपना पूरा प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सके, तो इसका अर्थ केवल यही है कि हमारी राह तो बिलकुल सही है, किन्तु उस पर जो चलनेवाले हम लोग हैं, उनमें कुछ खामी है। मेरे खयाल से, यह खामी 'व्यक्ति-विरुद्ध समाज' की खामखयाली से सम्बन्धित है। यदि हम काल्पनिक विरोध करना छोड़ दें और, अपने-आपकी सम्पूर्ण ज्ञान-संवेदनाओं और संवेदन-ज्ञान को

ईमानदारी से बरतते हुए, अपने जीवन-पक्षों को प्रबुद्ध रूप से प्रकट करने लगें, तो हम वास्तविक जीवन को ही प्रकट करने लगेंगे। निर्द्वन्द्व और मुक्त भाव से यदि हम अपने-आपको प्रकट करेंगे, तो हम ग़रीब मध्यवर्ग के साहित्यकार उन्हीं मन:स्थितियों, भाव-स्थितियों, आदर्शों और मूल्यों को प्रकट करेंगे, जिनसे हम जिस हद तक और जिस प्रकार तदाकार हैं। आवश्यकता है, वस्तुत:, प्राकृत होने की, क्योंकि हमारे संघर्ष भी प्राकृत हैं, करुणा और क्षोभ भी, और हमारे लक्ष्य भी—वे लक्ष्य और वे क्षोभ, जो हमें समस्त पीड़ित मानवता से एकाकार होने की तरफ़ प्रवृत्त करते हैं और उसके उद्धार का रास्ता ढूँढ़ते हैं। लेकिन जहाँ हम प्राकृत नहीं हो पाते, तो वहाँ हमारे अपने लक्ष्य भी, उनके सही होने के बावजूद, ऊपर से थोपे हुए मालूम होते हैं, और हमारा साहित्य रिक्त या कृत्रिम मालूम होता है।

इसका मुख्य कारण ही यह है, कि जो हम हैं और जैसा, वस्तुत:, हमारा जीवन है, उससे प्रबुद्ध साक्षात्कार करना खेल नहीं। आज के ज़माने में प्राकृत होना ही सबसे ज़्यादा मुश्किल है। किन्तु, जो इस वास्तविक सत्य और यथार्थ के अधिकाधिक समीप पहुँचेगा, जो इसका जितना मार्मिक आकलन और उद्घाटन करेगा, वही साहित्यकार समाज की और जनता की अधिकाधिक सेवा करेगा, और उसके लिए अनन्य सौन्दर्य की सृष्टि करेगा।

[सम्भावित रचनाकाल 1952-53। **नयी कविता का आत्मसंघर्ष** में संकलित]

काव्य : एक सांस्कृतिक प्रक्रिया

यदि मैं अपने निवेदन में नयी कविता ही को प्रमुखता दूँ तो आप मुझे क्षमा करें। यह नये कवियों का अपराध नहीं है कि छायावादी कवि आज क्रमश: उच्च से उच्चतर स्तर प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। यह नयी कविता का अपराध नहीं है कि पुराने प्रगतिवादी कवि बहुत दिनों से चुप हैं।

आज की नयी कविता के भीतर जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया लक्षित होती है, वह नि:सन्देह छायावादी या प्रगतिवादी अथवा उसके पूर्व की काव्य-प्रक्रिया से बिलकुल भिन्न है। रोमैण्टिक कवियों की भाँति आवेशयुक्त होकर, आज का कवि भावों के अनायास, स्वच्छन्द अप्रतिहत प्रवाह में नहीं बहता। इसके विपरीत, वह किन्हीं अनुभूत मानसिक प्रतिक्रियाओं को ही व्यक्त करता है। कभी वह इन

प्रतिक्रियाओं की मानसिक रूपरेखा प्रस्तुत करता है, कभी वह उस रूपरेखा में रंग भर देता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह व्याकुलता या आवेश का अनुभव नहीं करता। होता यह है कि वह अपने आवेश या व्याकुलता को बाँधकर, नियन्त्रित कर, ऊपर उठाकर, उसे ज्ञानात्मक संवेदन के रूप में या संवेदनात्मक ज्ञान के रूप में प्रस्तुत कर देता है। यह सबके अनुभव का विषय है कि मानसिक प्रतिक्रिया हमारे अभ्यन्तर में गद्यभाषा को लेकर उतरती है, कृत्रिम ललित काव्य-भाषा में नहीं। फलतः, नयी कविता का पूरा विन्यास गद्यभाषा के अधिक निकट है।

आज की नयी कविता में तनाव का वातावरण है। ऐसा बहुत थोड़ा काव्य है जिसमें ऐसा वातावरण न हो। प्रकृति के कोमल दृश्य, हल्की प्रेममयी व्यंजना, तथा कहीं-कहीं वासना के चित्र भी देखने को मिलते हैं। किन्तु यदा-कदाचित्, वहाँ भी हमें तनाव ही दृष्टिगोचर होता है। हाँ, यह अवश्य है कि यह तनाव विविध रूपों में, अथवा गहरे या हल्के ढंग से, प्रकट होता है। आज हमारा जो व्यक्ति-जीवन है—साधारण मध्यवर्गीय लोगों का व्यक्ति-जीवन—उसके अच्छे या बुरे, ऊँचे और नीचे, गहरे और उथले क्षणों की झाँकी हमें उसमें प्राप्त होती है। मुख्य बात यह है कि आज का कवि अपनी बाह्य स्थिति-परिस्थितियों और अपनी मनःस्थितियों से न केवल परिचित है, वरन् अपने भीतर वह उस तनाव का अनुभव करता है जो बाह्य-पक्ष और आत्म-पक्ष के द्वन्द्व की उपज है। हाँ, सही है कि यह तनाव विभिन्न क्षेत्रों को—यथा, प्रणय जीवन को, अपूर्तिग्रस्त व्यक्ति-मानस को, तो कभी-कभी सामाजिक पक्ष को—लेकर उत्पन्न होता है। कवि के आस-पास जो जीवन लहरायित और तरंगायित है, उसे अनुभव कर और उसके भीतर अपनी स्थिति को लेकर वह विशेष सुख अनुभव नहीं कर पाता। यह तनाव कभी-कभी आत्मालोचन के स्वर में फूट पड़ता है, तो कभी प्रकृति के रमणीय दृश्य में उदास भावों का आरोप करता-सा प्रतीत होता है, कभी वह आत्मविश्वास से प्लुत होकर गरज उठता है, तो कभी वह मात्र नपुंसक अहंकार का विस्फोट बनकर प्रकट होता है, कभी वह आस्था और प्रेम की बात करने लगता है। यह भी होता है कि कवि अपने मन के भीतर के उस तनाव को सामाजिक प्रश्नों के साथ जोड़ देता है, यहाँ तक कि वह सभ्यता के प्रश्न भी शान से उपस्थित करता है।

संक्षेप में, नयी कविता, वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्म-चेतन व्यक्ति की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है। चूँकि आज का वैविध्यमय जीवन विषम है, आज की सभ्यता ह्रासग्रस्त है, इसलिए आज की कविता में तनाव होना स्वाभाविक ही है। किसी भी युग का काव्य अपने परिवेश से या तो द्वन्द्व रूप में स्थित होता है, या सामंजस्य के रूप में। नयी कविता अधिकतर द्वन्द्व रूप में स्थित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि नयी कविता में हृदय का सहज रस या रमणीयता नहीं है। नयी कविता के निकृष्ट उदाहरणों को चुनकर उस पर दोषारोपण करना व्यर्थ है।

उसके श्रेष्ठ उदाहरणों को लेकर ही उसके विषय में कुछ कहा जा सकता है। नयी कविता ने नये विषय, नयी उपमाएँ, नयी प्रतीक-योजना, नयी भाव-पद्धति प्रदान की है। लेकिन ये सब बातें मैं सिर्फ़ इसलिए कह रहा हूँ कि हम लोग उसकी उपलब्धियों को सबसे पहले पहचान लें। नयी कविता का स्वर एक नहीं है, विविध है। एक ओर, यदि उसमें सुकोमल तीव्र गीतात्मक स्वर है, तो दूसरी ओर, तीव्र आलोचना का स्वर भी। यह स्वर कभी आत्मालोचन का रूप धारण कर लेता है, तो कभी समाजोन्मुख आलोचना भी करता है। प्रकृति के कोमल रमणीय दृश्यों से लेकर तो हृदय की रसात्मक अनुभूतियों तक के मार्मिक चित्र नयी कविता में कम नहीं हैं। सच तो यह है कि नयी कविता के भीतर कई स्वर हैं, कई शैलियाँ हैं, कई शिल्प हैं, और कई भाव-पद्धतियाँ। नयी कविता एक काव्य-प्रकार का नाम है। उस काव्य-प्रकार के भीतर अनेकानेक व्यक्तिगत शैलियाँ, शिल्प, रचना-विधान और जीवन-दृष्टियाँ हैं। नयी कविता की प्रतिभा किस लेखक में कहाँ है और कहाँ तक है, यह विवाद का विषय है। आज काव्य-क्षेत्र में बहुत-से नये कवि हैं। इनमें से बहुतेरे अच्छी कविता करते हैं। इन सारी उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए, मैं अब अपनी कुछ विशेष बातों को आपसे सामने रखना चाहता हूँ।

पहली बात तो यह है कि युग-परिवर्तन के साथ, भिन्न स्वभाववाले कवि सामने आते हैं। उन कवियों के विषय भिन्न होते हैं और काव्य-शिल्प भी भिन्न। छायावादी कवि और रीतिकालीन कवि के अपने-अपने स्वभावों में बहुत भेद है। नयी कविता का स्वभाव भी पहले के कवि-स्वभावों से भिन्न है। सबसे पहली बात तो यह है कि नया कवि बाह्य के प्रति संवेदनशील है। इस संवेदना को वह आत्मपरक रूप में प्रकट करता है। किन्तु छायावादियों और प्रगतिवादियों की भाँति कोई दार्शनिक विचारधारा उसके पास नहीं है। यह बात मैं नयी कविता के बारे में कह रहा हूँ। हाँ, यह अवश्य है कि कुछ विशिष्ट कवियों के पास अपने विशिष्ट दृष्टिकोण, सर्वांगीण विचारधाराएँ हो सकती हैं; किन्तु सबके साथ यह बात सच नहीं है। हाँ, कुछ में कुछ विशेष वैचारिक प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं, बाक़ी में बिलकुल नहीं। अधिक-से-अधिक, वे लोग मानवता में, मानवतावाद में, अपनी आस्था प्रकट करते हैं; किन्तु, यदि उनके बौद्धिक विचारों की जाँच की जाये तो आप पायेंगे कि मानवता की उनकी कल्पना अमूर्त्त और वायवीय है। फिर भी, इनमें से बहुतेरे लोग व्यक्तिगत भावना के धरातल पर समाज के शोषकों और उत्पीड़कों के विरुद्ध हैं, विषम समाज के भीतर ग़रीब मध्यवर्गीय जनता की स्थिति से उनका लगाव है। मैं नयी कविता के अधिकांश कवियों की बात कर रहा हूँ। शेष ऐसे भी राजनैतिक रूप से सचेत कवि हैं, जो लेखकों को समाज के उत्पीड़कों के विरुद्ध (अपने काव्य द्वारा) आवाज़ उठाने नहीं देते अथवा उन्हें ऐसे कार्य में हतोत्साह करते रहते हैं। किन्तु, दिवसानुदिवस, समाज और सभ्यता के प्रश्न विकट हो रहे हैं। नयी कविता उन प्रश्नों से बच नहीं सकती, न वह बची ही है। नयी कविता के क्षेत्र में, असन्दिग्ध रूप से, प्रगतिशील परम्परा

की एक लीक चली आयी है। प्रश्न इस परम्परा को आगे बढ़ाने का है। कविता वाह्य के प्रति सामंजस्य के रूप में उपस्थित होती है या द्वन्द्व के रूप में। क्या यह आवश्यक नहीं है कि कवि अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को उत्पन्न और उत्सर्जित करनेवाले मूलभूत द्वन्द्वों का ठीक-ठीक आकलन करे, उन्हें समझे, और उनके कारणों का अध्ययन करे, उनका वैज्ञानिक विश्लेषण करे। यह तो कवि की जीवन-दृष्टि और जीवन-ज्ञान पर निर्भर है कि वह किस भाँति (1) वाह्य-पक्ष, (2) आत्म-पक्ष और (3) उन दोनों के द्वन्द्व से उत्पन्न तनाव को जाने-समझे, और उनकी व्याख्या करे। यदि कवि का ज्ञान-पक्ष दुर्वल है, यदि उसका ज्ञान आत्म-पक्ष और वाह्य-पक्ष और तनाव के सम्वन्ध में अधूरा अथवा धुंधला है, अथवा यदि वह तरह-तरह के कुसंस्कारों और पूर्वग्रहों तथा व्यक्तिवद्ध अनुरोधों से दूषित है, तो ऐसे ज्ञान की मूलभूत पीठिका पर विचरण करनेवाली भावना या संवेदना निःसन्देह विकारग्रस्त होगी। यही कारण है कि नयी कविता के क्षेत्र में हमें वहुतेरी ऐसी रचनाएँ मिलती हैं, जिन्हें हम स्पष्टतः लोकविरोधी कह सकते हैं। इसके साथ ही यह भी भूलने की वात नहीं है कि नयी कविता के क्षेत्र में ऐसी भी वहुतेरी रचनाएँ हैं, जिन्हें हम पूर्णतः लोकोन्मुख कह सकते हैं। मेरे खयाल से, आज की कविता का मूल प्रश्न जीवन-जगत् के ज्ञान के अधूरेपन या पूरेपन, विकारग्रस्तता या शुद्धता, के प्रश्न के साथ अटूट रूप से जुड़ा हुआ है। आज के कवि को, अर्थात् हमें, ज्ञान-पक्ष के विकास की जितनी अधिक आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नहीं रही।

इसका कारण यह है कि आज का कवि एक असाधारण असामान्य युग में रह रहा है। वह एक ऐसे युग में है, जहाँ मानव-सभ्यता-सम्वन्धी प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो उठे हैं। समाज भयानक रूप से विषमताग्रस्त हो गया है। चारों ओर नैतिक ह्रास के दृश्य दिखायी दे रहे हैं। शोषण और उत्पीड़न पहले से वहुत अधिक वढ़ गया है। नोच-खसोट, अवसरवाद, भ्रष्टचार का वाज़ार गर्म है। कल के मसीहा आज उत्पीड़क हो उठे हैं। अध्यात्मवादी विचारक, जनता से दूर जा वैठे हैं। अधिकांश समीक्षकों का जीवन से कोई सम्वन्ध नहीं रहा। वे जीवन के कलात्मक-साहित्यिक विम्वों की तो व्याख्या करेंगे, किन्तु जीवन से दूर रहेंगे। सर्वत्र क्षोभ, कष्ट, अन्याय और उत्पीड़न के दृश्य दिखायी दे रहे हैं। समाज के भीतर के विभिन्न वर्गों की खाइयाँ और भी चौड़ी हो गयी हैं। यहाँ तक कि मध्यवर्ग में भी दो श्रेणियाँ पैदा होकर अपनी परस्पर दूरी खतरनाक तरीक़े से गहरी और चौड़ी कर रही हैं। जनपद स्कूल के शिक्षक और यूनिवर्सिटी-प्रोफ़ेसर के वीच, ग़रीव जनता और खादीधारी नेता के वीच, क्लर्क और अफ़सर के वीच, दूरियाँ और खाइयाँ मुँह फाड़े खड़ी हैं—किसान-मज़दूर और पूँजीपति-ज़मींदार के वीच की दूरियों का तो क्या कहना! मानव-सम्वन्ध टूट-फूट गये हैं, उलझ गये हैं। समाज में शोषकों, उत्पीड़कों और उनके साथियों का ज़ोर वढ़ गया है। नयी कविता के क्षेत्र में भी दो दल तैयार हो रहे हैं। एक दल वह है जो उच्च-मध्यवर्ग का अंग

है; दूसरे वे हैं जो निचले ग़रीब मध्यवर्ग से सम्वन्धित हैं। उनकी वर्गीयप्रवृत्तियाँ न केवल उनके काव्य में, वरन् साहित्य-सम्वन्धी उनके सिद्धान्तों में, परिलक्षित होती हैं।

ध्यान में रखने की वात है कि नयी कविता के अभ्युदय और प्रभाव के विस्तार के साथ ही काव्य-सौन्दर्य के सम्वन्ध में प्रश्न उठाये गये। ऐसा हमेशा होता आया है कि नयी काव्य-प्रवृत्ति के उदय के साथ ही, काव्यात्मक प्रभाव के सिद्धान्तों, साहित्य-सिद्धान्तों, की पुनर्व्याख्या हो। किन्तु नयी कवितावालों ने काव्य-सौन्दर्य-सम्वन्धी जो व्याख्या की, वह भले ही चाहे जितनी लचीली वना ली जाये, उन सिद्धान्तों का प्रयोग करते समय ऐसी विशेष भावनाओं और उनकी अभिव्यक्ति को असुन्दर समझा गया जिनका सम्वन्ध ह्रासग्रस्त सभ्यता के विरोध से है। संक्षेप में, एक विशेष प्रकार की काव्याभिरुचि की औचित्य-स्थापना के लिए सिद्धान्त लाये गये अथवा सिद्धान्तों की पुनर्व्याख्या की गयी। दूसरे शब्दों में, अपनी काट की कविता—अपने फ्रेम में फ़िट होनेवाली कविता—को तो कविता माना गया, चाहे वह महत्त्वहीन गद्य ही क्यों न हो; पर इसके विपरीत, राजनैतिक भावावेश से सम्पन्न काव्य विद्रूप क़रार दिया गया अथवा उसकी जान-बूझकर उपेक्षा की गयी। जहाँ भी ऐसा प्रतीत हुआ कि अन्य की जीवन-दृष्टि उत्पीड़ित जनता का पक्ष ले रही है, वहीं नाक-भौं सिकोड़े जाने के चिह्न दिखायी दिये। ये सौन्दर्यवादी लोग यह भूल गये कि वंजर काले-स्याह पहाड़ में भी एक अजीव वीरान भव्यता होती है, गली के अँधेरे में उगे छोटे-से जंगली पौधे में भी एक विचित्र संकेत होता है। विशाल व्यापक मानव-जीवन में पाये जानेवाले भयानक संघर्ष के रौद्र रूप तो उनकी सौन्दर्याभिरुचि के फ्रेम के वाहर थे। आप मुझे क्षमा करेंगे यदि मैं यह कहूँ कि नयी कविता में आवेश के पंख काट दिये गये, कल्पना को अपने पिंजरे में पालकर रखा गया। उसे मानव-जीवन को मूर्त और साक्षात् करनेवाली रचनात्मक शक्ति के रूप में उपस्थित नहीं किया गया, क्योंकि वह एक विशेष प्रकार की भद्रजनोचित सौन्दर्याभिरुचि के फ्रेम के खिलाफ़ जाती थी। व्यक्ति-मन की वात करके आत्मा की महान्, दुर्दम, विप्लवकारिणी ज्ञानमूलक शक्ति को भुला दिया गया। 'लघु मानव' के सिद्धान्त का प्रचार किया गया। संक्षेप में, विषम ह्रासग्रस्त सभ्यता को उलटनेवाली महान् भावनाओं को परित्यक्त करके, तथाकथित आधुनिक भाव-वोध को उद्घोषित किया गया।

लेकिन, वस्तुतः, आधुनिक भाव-वोध क्या है? मैं अपनी खुद की ज़िन्दगी और दोस्तों की ज़िन्दगी के तजुर्वे से वता सकता हूँ कि अन्याय के खिलाफ़ आवाज़ वुलन्द करना आधुनिक भाव-वोध के अन्तर्गत है। आधुनिक भाव-वोध के अन्तर्गत यह भी है कि मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष में हम और भी अधिक दत्तचित्त हों, तथा हम वर्तमान परिस्थिति को सुधारें, नैतिक ह्रास को थामें, उत्पीड़ित मनुष्य के साथ एकात्म होकर उसकी मुक्ति की उपाय-योजना करें। क्या यह आधुनिक भाव-वोध के अन्तर्गत नहीं है कि मैं अपनी लेखनी द्वारा किसी विशेष

लोकादर्श के लिए कविताएँ लिखूँ ? क्या जब बंगाल में अकाल पड़ा तब महादेवी से लेकर बच्चन तक ने, मैथिलीशरण गुप्त से लेकर मेरे जैसे तुच्छ कवि ने, कविताएँ नहीं लिखी थीं ? क्या यह बात किसी से छिपी है कि कैसी श्रेष्ठ कविताओं का संकलन निकला और उसके पैसे अकाल-फ़ण्ड में गये ? क्या वह रेजिमेन्टेशन था ? क्या वह आधुनिक भाव-बोध के अन्तर्गत नहीं आयेगा ?

इसी प्रकार हम आत्माभिव्यक्तिवाद को लें। हमारी आत्मा को जो अनुभूत होता है, उसे हम लिखते हैं। ऊपर-ऊपर से यह सिद्धान्त सही मालूम होता है। किन्तु हमारी आत्मा में बहुतेरा अनुभव संचित है। वह सब साहित्य में क्यों नहीं आता ? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि गहन अनुभूति के क्षण थोड़े होते हैं, वे सौन्दर्यानुभव के क्षण होते हैं। जब हममें एस्थेटिक इमोशन जाग उठता है, तब हम कविता लिखते हैं। आत्मा की सब अनुभूतियाँ एस्थेटिक नहीं होतीं, इसलिए वे काव्य-रूप में व्यक्त नहीं होतीं। लेखको, तुम केवल अपने एस्थेटिक इमोशन को ही प्रकट करो, दूसरों के चक्कर में मत पड़ो। यदि तुम दूसरों के चक्कर में पड़े, तो गये !

सन् '36 से तो मैं भी कविताएँ लिख रहा हूँ। कविता में कहाँ कितना फ़्राड होता है, यह मैं जानता हूँ। फ़्राड को आप कौशल भी कह सकते हैं। नयी कविता का कवि बहुत सचेत है, वह काफ़ी फ़्राड करता है। दूसरे शब्दों में, यह आवश्यक नहीं है, अर्थात् यह अनिवार्य नहीं है, कि काव्य की वास्तविक रचना का क्षण, युगपत्-रूप से, हृदय के द्रवण का, चित्त की रसात्मकता का, भी क्षण हो। हृदय में संचित प्रतिक्रियाएं, अनुभव, आवेशमय अनुरोध, अतृप्त स्वप्न-राशियाँ—जो हृदय में संचित हैं—उत्थित, तरंगित और प्रवाहित होकर संवेदनात्मक उद्देश्यों की दिशा में जब उमड़ने लगती हैं, और साथ ही जीवन-दृष्टि से ज्योतित होकर अन्तर्नेत्रों के सम्मुख दृश्यमान होने लगती हैं, तब, वस्तुतः, हमें एस्थेटिक इमोशन प्राप्त होता है। ऐसे एस्थेटिक इमोशन्स हमें लिखते वक़्त ही नहीं, सड़क पर चलते हुए भी प्राप्त होते हैं। माँ से, मित्रों से, बातचीत करते समय, जुलूस में जाते समय, किसी फूल या पत्ते को देखकर, किसी सुन्दर मुख का दर्शन कर, किसी भव्य श्रद्धेय व्यक्ति का सम्पर्क पाकर, वे भाव हमें प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे एस्थेटिक इमोशन केवल लेखक में ही नहीं होते, साधारण जन-हृदय में भी आते जाते हैं और खूब आते हैं। जनता स्वयं एस्थेटिक इमोशन का भण्डार है। यह कोई राजनैतिक बात नहीं, नितान्त सत्य है। फिर हमीं क्यों कवि हो जाते हैं, वे क्यों नहीं होते ? यह इसलिए नहीं हो पाता कि यद्यपि वे भावों की व्यक्तिबद्ध दशा से हटकर, ऊपर उठकर, सामान्य और उच्चतर रस-दशा में चले जाते हैं, फिर भी कभी-कभी वे उनका ऐब्स्ट्रैक्शन—विलगीकरण—नहीं कर पाते। किन्तु बहुत बार वे लोग बातचीत के दौरान में वैसा कर जाते हैं। तब उनकी बात का प्रभाव रसात्मक होता है, और वाणी द्वारा प्रस्फुटित उनकी अभिव्यक्ति की अपनी शैली होती है, जिसमें प्रभावोत्पादक शब्द-योजना रहती है। काव्य या साहित्य पर्याप्त अमूर्त्त (ऐब्स्ट्रैक्ट)

कला है। उसकी मूर्तिमानता उसकी बुनियादी विलगीकरण-क्रिया पर आधारित है। विलगीकरण-क्रिया ही ऐब्स्ट्रैक्शन है। सामान्य जन में बहुधा उचित शब्द-सम्पदा नहीं होती कि जिससे वह अपने सूक्ष्म भावों और आवेशों को ठीक-ठीक प्रस्तुत कर सके।

संक्षेप में, नये कवियों को यह बताया गया है कि वे तथाकथित एस्थेटिक इमोशन तक ही सीमित रहें। हृदय में संचित वास्तविक जीवनानुभवों को—यदि वे एस्थेटिक इमोशन के क्षण में बहकर नहीं आते—व्यक्त करना ग़लत होगा। यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसके पीछे न केवल विशेष सौन्दर्याभिरुचि है, वरन् विशेष प्रकार के विषय-संकलन का आग्रह भी है। किन्तु इस सिद्धान्त का मुख्य हेतु यह है कि व्यक्ति को व्यक्तिबद्ध बनाया जाये। यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुचित और व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी है। नयी कविता के आचार्यों की कविता में कितना एस्थेटिक इमोशन है, यह हम जानते हैं।

माना कि नये कवि के पास कोई सर्वांगीण दार्शनिक विचारधारा नहीं है, किन्तु वह अपने जीवन की वास्तविकता के सम्पर्क में तो है। मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि उसका मन आज की विषम परिस्थितियों के बीच पाये जानेवाले करुण, बीभत्स और कठोर, सुन्दर और सुषमामय, दृश्यों से संवेदित तथा व्याकुल नहीं होता। ये कवि-गण निःसन्देह इन स्थितियों का संवेदनात्मक अनुभव करते हैं। संवेदनशील मनुष्य होने के कारण, मानव के कष्टपूर्ण जीवन का उन पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। आज की विषम सभ्यता के भयानक दृश्यों से उनका भी चित्त क्षुब्ध हो जाता है। फिर भी वे इन सब बातों के चित्रण की ओर ध्यान नहीं देते—भोक्ता और स्रष्टा मन के बीच का यह पार्टीशन बहुत ख़तरनाक है, अस्वास्थ्य-मूलक है। किन्तु वे ऐसा क्यों नहीं कर पाते?

मेरे ख़याल से इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि विषय-संकलन-सम्बन्धी उनकी मूल्य-भावना, अर्थात् विवेक, क्षीण है। किन्तु वह क्षीण क्यों है? इसलिए कि वे उच्च-मध्यवर्गीय, सम्पन्न, विलायती संस्कारों से युक्त सौन्दर्याभिरुचि के चक्कर में हैं। वे एक विशेष प्रकार की सौन्दर्याभिरुचि की तानाशाही के शिकार हैं। इस विशेष प्रकार की सौन्दर्याभिरुचि ने विशेष प्रकार के भावों और शैलियों को ही उभारकर नयी कविता को, अदृश्य रूप से, एक ढर्रे में ढाल दिया है। नयी कविता की भी अपनी एक लीक बन गयी है, उसमें भी एक फॉसिलाइज़ेशन—जड़ीभवन—परिलक्षित होता है, जो रेजिमेन्टेशन ही का दूसरा रूप है।

सौन्दर्याभिरुचि के अपने सेंसर्स होते हैं। इन भीतरी थानेदारों के हाथ में पड़कर, हृदय में संचित महत्त्वपूर्ण वास्तविक अनुभव-संवेदनाएँ स्वतन्त्र नहीं रहतीं, दबा दी जाती हैं। कभी-कभी वे अनुभव-संवेदनाएँ जाग उठती हैं, लेखक उन्हें व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। किन्तु सक्षम सुन्दर अभिव्यक्ति तो अविरत साधना और श्रम के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। उन भावों से सम्बन्धित अभि-व्यक्ति की साधना तो उसने कभी की नहीं; इसलिए उसकी वह अभिव्यक्ति

अधूरी और पंगु दोनों हो जाती है। दूसरे, अन्य प्रकार के व्यक्तिवद्ध भावों को प्रकट करते रहने के कारण, उसकी शब्द-सम्पदा और भाषा-शक्ति उन्हीं भावों से वद्ध तथा उन्हीं तक सीमित रहती है—वह उसके आगे नहीं बढ़ पाती। फलतः, अपने ही वे विशेष स्व-दृष्टि और स्वानुभूत भाव-संवेदन पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं होते, उन भाव-समुदायों से सम्वन्धित अभिव्यक्ति की पंगुता से चिढ़कर वह उस रास्ते को ही छोड़ देता है, और फिर अपनी पुरानी लीक पकड़ लेता है। साथ ही, उसमें इतना प्रवल आग्रह और अनुभव अथवा भावनात्मक आस्था नहीं है कि वह (लेखक) आगे वढ़े। उन भावों की अभिव्यक्ति से सम्वन्धित उसके पास जो भी आत्मविश्वास है वह गड़वड़ा जाता है।

संक्षेप में, यदि लेखक आज ईमानदार है, तो उसे अपने प्रति और अपने युग के प्रति अधिक उत्तरदायी होना होगा। उसे अपनी सौन्दर्याभिरुचि के सेंसर्स ज़रा ढीले करने होंगे, विषय-संकलन को स्वानुभूत विवेक के विश्व-चेतस् हाथों में सौंपना होगा, अभिव्यक्ति-क्षमता वढ़ाने के लिए अथक प्रयास करना होगा। अधिक साहस और ज़्यादा हिम्मत से काम लेना ज़रूरी है। अपनी सौन्दर्याभिरुचि के सेंसर्स के वशीभूत होना ठीक नहीं है। अनुभव-वृद्धि के साथ-साथ, सौन्दर्याभिरुचि का विस्तार और पुनः-पुनः संस्कार होना आवश्यक है।

मैं यह नहीं कहता कि अपने अन्तर्जीवन के विविध पक्षों के चित्रण में सौन्दर्य नहीं है, या आत्मपरकता ग़लत है। मैं यह कह रहा हूँ कि अपने अन्तःकरण में स्थित जीवनानुभवों को उनके सम्पूर्ण वाह्य सन्दर्भों के साथ उपस्थित करना आवश्यक है। हम अपने-आपको यदि काट देंगे, जैसे कि सौन्दर्याभिरुचि के नाम पर हम अपने-आपको काट रहे हैं, तो फिर कुछ नहीं वचेगा। इसलिए आवश्यक है कि हम अपने-आपको सम्पूर्ण रूप में देखें। प्रगतिवाद ने मनुष्य-जीवन का केवल राजनैतिक पक्ष उठाया, उसने सम्पूर्ण मनुष्य को अपना काव्य-विषय नहीं वनाया। यदि इसी प्रकार नयी कविता (भिन्न प्रकार से) एकांगी हो जाती है, तो उसके लिए यह कल्याणकर सिद्ध नहीं होगा। संक्षेप में, चेतना के निरन्तर प्रसार और अभिव्यक्ति के विस्तार की अत्यन्त आवश्यकता है। नयी कविता को मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष से जोड़ना जरूरी है। मैं नयी कविता की उपलव्धियों को कम करके नहीं देखना चाहता। मैं उसके क्षेत्र का एक अंग हूँ।

फिर से कह दूँ कि काव्य-रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। और फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है। उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन हैं। यह ध्यान में रखने की वात है कि नयी कविता वर्तमान ह्रास-ग्रस्त, अधःपतनशील सभ्यता की असलियत को जव तक पहचानती नहीं है, सभ्यता के मूलभूत प्रश्नों से अपने को जव तक जोड़ नहीं लेती है, मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष से जव तक वह स्वयं को संयोजित नहीं कर पाती, जव तक उसमें उत्पीड़ित और शोषित मुखों के विम्व दिखायी नहीं देते, उनके हृदयों का आलोक

नहीं दिखायी देता, तब तक सचमुच हमारा कार्य अधूरा रहेगा। यह ठीक है कि शायद हम यह काम एक दिन में नहीं कर सकते। किन्तु विवेक-संवेदना, अनुभव-पीड़ा और अथक श्रम की सहायता से हम उस ओर बढ़ तो सकते ही हैं।

यहाँ मुझे एक इटैलियन कवि दोमेनिको कादोरेसी के एक वक्तव्य का स्मरण हो आता है। उसने एक जगह कहा है :

"हम व्यक्तिवाद के गहन दण्डकारण्य में से बाहर निकल पड़ें, जिन-जिन स्थानों पर मनुष्य अपनी अस्तित्व-रक्षा में लीन है, वहाँ-वहाँ हमारे हित लगे हुए हैं। हमारे काव्य का चरित-नायक आज स्वयं मूर्तिमान यथार्थ ही हो···

"कला को अपने औज़ार उठा लेना चाहिए, शायद बारूद भी ज़रूरी है, जिससे कि चट्टानें तोड़ी जा सकें और युग के उन स्पन्दनशील सप्राण भाव-निर्झरों को मुक्त किया जा सके, कि जो उन चट्टानों के नीचे दबे हुए हैं। मनुष्य की मनुष्य के साथ बातचीत शुरू करनी होगी, मनुष्य का समाज के साथ वार्तालाप आरम्भ करना होगा। अब समय आ गया है कि हम अतीत के रहस्यात्मक जादुई धुँधले सूत्र-मन्त्रों को त्याग दें। यदि विशुद्ध काव्य हमें जीवन ही से पूर्णतः पृथक् करता है, तो उस काव्य को विशुद्ध रखने की आवश्यकता ही क्या है ? हम गोल चहार-दीवारी को तोड़कर निकल जायें और कूदकर खाइयाँ लाँघ लें। हम स्वगत-भाषण और एकालाप से हटकर वार्तालाप की ओर जायें। निःसंगता से हटकर संघर्ष में योग दें। अलग-अलग टुकड़ों-टुकड़ों में काम न कर अखण्ड पूर्ण रचना करें। लोगों की आँखों के सामने हम उन्हीं की ग़रीबी और दारिद्र्य की स्थिति स्पष्ट करें, और यदि हो सके तो हम उनकी मुक्ति के और सान्त्वना के शब्द खोज निकालें।"

संक्षेप में, आज का कवि तब तक अपनी चेतना का संस्कार नहीं कर सकता, तब तक वह वस्तुतः आत्म-चेतस् हो ही नहीं सकता, जब तक वह विश्व-चेतस् न हो। इसी बात को हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहेंगे कि कवि-हृदय आज के जगत् के मूल द्वन्द्वों का अध्ययन करे, अर्थात् अपनी सम्पूर्ण चेतना द्वारा आज की वास्तविकता की तह में घुसे और ऐसी विश्व-दृष्टि का विकास करे, जिससे व्यापक जीवन-जगत् की व्याख्या हो सके, और अन्तर्जगत् के महत्त्वपूर्ण आन्दोलनों का बोध हो। तभी उसका विषय-संकलन-सम्बन्धी विवेक भी अधिक पुष्ट होगा। तभी हम आस-पास फैली हुई मानव-वास्तविकता के मार्मिक पक्षों का उद्घाटन और चित्रण कर सकेंगे। यह उद्घाटन-चित्रण मात्र विवेचनात्मक-बौद्धिक दृष्टि में ही सीमित रहकर नहीं होगा। उस बौद्धिक प्रतिभा के फलस्वरूप संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन अधिक पुष्ट होंगे, और अनुभूति को ज्ञान-प्रेरणा प्राप्त होती जायेगी। साथ ही, उसे अपनी अभिव्यक्ति-शैली ज़्यादा लचीली [बनानी] और शब्द-सम्पदा अधिकाधिक बढ़ानी होगी, जिससे कि वह, एक ओर, हृदय की अत्यन्त सूक्ष्म संवेदनाओं को मूर्तिमान कर सके, तो दूसरी ओर, वास्तव जीवन-जगत् की लहर-लहर हृदयंगम कर उसे समुचित वाणी दे सके।

आज के विकासमान कवि को तीन क्षेत्रों में एक साथ संघर्ष करना है—

(1) तत्त्व के लिए संघर्ष; (2) अभिव्यक्ति सक्षम बनाने के लिए संघर्ष; और, (3) दृष्टि-विकास के लिए संघर्ष। तत्त्व के लिए संघर्ष का अर्थ अपने वास्तविक जीवनानुभव को सन्दर्भ-सहित व्यक्त करने के लिए उचित विषय-संकलन के विवेक से सम्बन्धित है। हमें अपने ही युग के ऐसे सारभूत बिम्बों और मूल प्रवृत्तियों को उठाना और चित्रित करना होगा, जिससे कि हम अपना युग वस्तुतः जी सकें, और हम सच्चे अर्थों में समसामयिक हो पायें। विषय-संकलन का विवेक हमारी अपनी अनुभूतिजन्य मार्मिक ज्ञान-दृष्टि से उत्पन्न होगा। इसीलिए यह आवश्यक है कि हमारा ध्यान दृष्टि-विकास की ओर जाये, और हम आज के तनाव-भरे जगत् की मूल गति और दिशा को समझ सकें।

किन्तु, विश्व-दृष्टि का विकास तब तक नहीं होगा, जब तक हम मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष में आस्था न रखें, और आध्यात्मिक रूप से उससे सम्बद्ध न हो जायें। संक्षेप में, आज एक दूसरे ही प्रकार का कवि-चरित्र चाहिए। वह नहीं कि जो निरा कार्यकर्ता है, अथवा केवल चारण है; वह भी नहीं जो आराम-कुर्सी-पसन्द बुद्धिजीवी हो; वह भी नहीं जो किसी सम्पन्न उच्च-मध्यवर्गीय परि-वार में उत्पन्न चित्रकार है, जो चित्रकला के लिए दुनिया-भर में अपनी प्रदर्शनियाँ आयोजित करता रहता है। आज ऐसे कवि-चरित्र की आवश्यकता है, जो, मान-वीय वास्तविकता का बौद्धिक और हार्दिक आकलन करते हुए, सामान्य जनों के गुणों और उनके संघर्षों से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करे, उनके संचित जीवन-विवेक को स्वयं ग्रहण करे, तथा उसे और अधिक निखारकर कलात्मक रूप में उन्हीं की चीज़ को उन्हें लौटा दे। सामान्य-जनों की अपार आध्यात्मिक और बौद्धिक क्षमता में यदि हमारा विश्वास है, हमारी आस्था है, तो हम अपने ही पिता के सच्चे पुत्र होंगे। अपने युग की विवेक-चेतना को मूर्तिमान करने का यह कार्य जितना गम्भीर और कठिन है, उतना ही प्रेरणाप्रद है, क्योंकि उससे तो हम अपने ही जीवन के मूल उत्सों के अमृत-रस का पान करेंगे, और अपनी सृजनशील अनुभूति और कल्पना द्वारा उस जीवन की साहित्यिक-कलात्मक पुनर्रचना करेंगे, कि जो जीवन अपने सारे आलोक में हमें इतना प्रिय है। कवि-चरित्र के विकास का हमारा यह संघर्ष, युग की विवेक-चेतना बनने का हमारा यह मौन प्रयास, अपने-आपमें आध्यात्मिक महत्त्व रखता है, इससे कौन इनकार करेगा?

[कृति, मई 1960 में प्रकाशित। नयी कविता का आत्मसंघर्ष में संकलित]

आधुनिक कविता की दार्शनिक पार्श्वभूमि

साहित्य में दार्शनिक तत्त्व दो प्रकार से पाये जाते हैं। एक वे, जो लेखक की विश्व-दृष्टि का अंग बनकर भाव-दृष्टि का रूप धारण करते हुए, लेखक के आभ्यन्तर मनस्तत्त्वों का अपने अनुसार संघटन-विघटन करते हुए, उन्हें (उन अन्तर्तत्त्वों को) नयी व्यवस्था प्रदान करते हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य में प्रकट भाव-दृष्टि उस ज्ञान-धारा या विचार-धारा से अनुप्राणित और अनुशासित होती है, कि जिस धारा को हम उस लेखक की विश्व-दृष्टि कह सकते हैं। हाँ, ऐसे भी लेखक होते हैं जो केवल वातावरण से प्रभाव या संस्कार ग्रहण करते हैं। फलत: उनकी भाव-दृष्टि, उस विश्व-दृष्टि या ज्ञान-धारा से किंचित् स्वाधीन होते हुए भी, अन्तत: उसी विश्व-दृष्टि का अंग बन जाती है। संक्षेप में, लेखक की विश्व-दृष्टि (भले ही वह संगठित विचारात्मक व्यवस्था के रूप में स्पष्ट, मूर्त्त और सुलक्षित न हो) और उसकी भाव-दृष्टि, दोनों मूलबद्ध एकता में जहाँ पायी जायें, वहाँ हम यह कह सकते हैं [कि] लेखक के पास अपनी एक दार्शनिक धारा है।

साहित्य में दार्शनिक तत्त्व प्रकट होने का एक अन्य रूप भी है। वह यह कि एक ओर, भाव-दृष्टि और विश्व-दृष्टि, इन दोनों के बीच या तो खूब फ़ासला होता है, या विश्व-दृष्टि का एकदम अभाव होता है। चूँकि लेखक एक जीवन्त, चेतना-सम्पन्न प्राणी है, संवेदनशील आत्मा है, इसलिए जीवन-जगत् के प्रति की गयी उसकी संवेदनात्मक और ज्ञानात्मक प्रतिक्रियाओं में, बहुधा, किसी-न-किसी प्रकार के जीवन-मूल्य या तो परम्परा-प्राप्त होने से, अथवा नवीन परिस्थितिगत उपलब्धि के रूप में, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में, स्पष्टार्थों अथवा गर्भितार्थों में, प्रकट होते हैं। साथ ही, कभी-कभी वह अपने काव्य में जीवन-आलोचना भी करता है। इस प्रकार के साहित्य में प्राप्त भावनाओं में प्रकट होनेवाले जीवन-मूल्यों और दृष्टियों का खींच-खाँचकर अर्थ ग्रहण करने से, उन सबको मिलाकर, सम्भवत:, कोई दार्शनिक रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है।

हिन्दी साहित्य में सुनिश्चित दार्शनिक आधार पर खड़े हुए भाव-गम्भीर साहित्य की कभी कमी नहीं रही। भक्तिकाल में वह आधार-भूमि सुस्पष्ट थी। आधुनिक युग के छायावादी काल में वह काफ़ी पीछे ढकेल दी गयी। छायावादी भावना में आस्था की जगह व्यक्ति मन ही प्रधान रहा। अत्याधुनिक नयी कविता में सर्वमान्य दार्शनिक भूमि लगभग विलुप्त है। इसके पूर्व एक सुस्पष्ट और सांगोपांग विचारणा थी, प्रगतिवादियों के पास।

प्रगतिवादियों ने साहित्य की आध्यात्मिक व्याख्या का विरोध किया। बड़ा ही कठोर युद्ध रहा। उस काल के अनन्तर, आध्यात्मिक व्याख्या का प्रभाव दुर्बल होता गया। आज वह विचार-सरणि केवल विश्वविद्यालयों में पढ़ायी जाती है। नयी कविता के द्वितीय उत्थान काल में, नयी कविता के कुछ क्षेत्रों से प्रगतिवादी

विचार-धारा पर ज़ोरदार हमला किया गया। निःसन्देह, प्रगतिवादी विचारणा के भारतीय व्याख्याता पर्याप्त अपरिपक्व थे, और उनमें खूब मतभेद भी था। अन्त-र्वाह्य कारणों से प्रगतिवाद का प्रभाव, वैसे ही, क्षीण हो रहा था। नयी कविता के कुछ क्षेत्रों द्वारा किये गये हमले के बाद, उसका प्रभाव अत्यन्त अल्प हो गया। लेकिन इस पूरे इतिहास का परिणाम क्या हुआ ?

नयी कविता को उत्तराधिकार के रूप में न अध्यात्मवादी विचारधारा प्राप्त हुई, न भौतिकवादी। विश्व-दृष्टि को—चाहे वह जो भी हो—विकसित करने का प्रयत्न भी नहीं हुआ। कुछ कलाकारों ने आपस में बैठकर भले ही अपने विश्वास एकत्रित कर लिये हों, किन्तु वे विश्वास उनके साहित्य की पार्श्वभूमि नहीं बन पाते। दूसरे शब्दों में, उनके पास ऐसी कोई केन्द्रीय दृष्टि नहीं है जो उनकी भाव-दृष्टि का अनुशासन कर सके।

क्या यह वांछनीय है ? इस प्रश्न का उत्तर अलग ढंग से दिया जायेगा। मेरे अपने मतानुसार, यह अच्छा नहीं हुआ। यह अच्छा नहीं है, हानिप्रद है, देश के लिए भी, साहित्य के लिए भी, स्वयं कवियों के अपने अन्तर्जीवन के लिए भी।

आज बहुत-से कवियों के अन्तःकरण में जो बेचैनी, जो ग्लानि, जो अवसाद, जो विरक्ति है, उसका एक कारण (अन्य कई कारण हैं) उनमें एक ऐसी विश्व-दृष्टि का अभाव है, कि जो विश्व-दृष्टि उन्हें आभ्यन्तर आत्मिक शक्ति प्रदान कर सके, उन्हें मनोबल दे सके, और उनकी पीड़ाग्रस्त अगतिकता को दूर कर सके। ऐसी विश्व-दृष्टि अपेक्षित है, जो भाव-दृष्टि का, भावना का, भावात्मक जीवन का, अनुशासन कर सके।

मेरे उक्त निवेदन के उत्तर में यह कहा जायेगा कि विश्व-दृष्टि का विकास बुद्धि का कार्य है। तो इसलिए क्या आप कवियों से यह अपेक्षा करते हैं कि वे अपना एक स्वतन्त्र दर्शन तैयार करें ? यह तो दार्शनिकों का काम है, हमारा नहीं। इस प्रकार का उत्तर दिया जायेगा। किन्तु यह एक मानी हुई बात है कि प्रत्येक युग में जीवन के कुछ ऐसे बुनियादी तथ्य होते हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यही नहीं, वे मूलभूत जीवन-तथ्य न केवल हमारी निजी ज़िन्दगी पर गहरा असर डालते हैं, वरन् देश के वर्तमान और भविष्य का भी निर्माण करते हैं। [पर]उन बुनियादी जीवन-तथ्यों के जो तर्कसंगत निष्कर्ष और परिणाम निकलते हैं, हम उनकी तरफ़ भी नहीं जाते। यह नहीं कहा जा सकता कि वे हमारे जीवन-अनुभव के बाहर हैं, अथवा उनके संवेदनात्मक आघात हम पर नहीं हुए हैं, नहीं हो रहे हैं या नहीं होंगे। सच तो यह है कि वे मूलभूत जीवन-तथ्य इतने विस्तृत होते हैं कि उनके चंगुल से, प्रभाव से, उनके संवेदनात्मक अनुभव से, बचा नहीं जा सकता। फिर भी हमारे पास शिक्षा तथा संस्कृति द्वारा प्राप्त जो संचित ज्ञान है, उसके प्रकाश में भी हम उन जीवन-तथ्यों का विश्लेषण नहीं करते। आज की बहुत-सी कविताओं में दुःख, वैकल्य व पीड़ा तथा विरक्ति का स्वर है। उसके मूल में उसको घटित करनेवाले जो कारक तथ्य हैं, उनका विश्लेषण करके उनके

तर्कसंगत निष्कर्षों तथा परिणामों के आधार पर, हम अपनी ज्ञान-व्यवस्था, तथा उस ज्ञान-व्यवस्था के आधार पर अपनी भाव-व्यवस्था, विकसित नहीं करते। संक्षेप में, हम व्यक्तित्व के विकास की बात तो करते हैं, किन्तु व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाते।

व्यक्ति-स्वतन्त्रता की बात तो करते हैं, लेकिन वह स्वातन्त्र्य जिस मानवीय लक्ष्य-आदर्श के लिए होता है, या होना चाहिए, वह अपनी शून्य रिक्तता के धुएँ में खो जाता है। आज के जीवन के जो बुनियादी तथ्य हैं, उनके वास्तविक तर्कसंगत निष्कर्षों और परिणामों की ओर जाने में हमें डर मालूम होता है। कहीं हमें कोई राजनैतिक न कह दे, कहीं कोई हमारी कविता को गद्यात्मक न कह दे। संक्षेप में, कवियों में कहीं सौन्दर्यवाद के नाम पर, तो कहीं अन्य किसी नाम पर, यह भय समाया रहता है कि अगर हम जीवन के बुनियादी तथ्य को ही गद्यात्मक संवेदना में प्रस्तुत करें, तो लोग हमारी कृति को कलाहीन कह देंगे, अथवा लोग हमें कम्यूनिस्ट कह देंगे, अथवा वामपक्षी कह देंगे, आध्यात्मिक कह देंगे। तरह-तरह के इन आत्म-निषेधों के फलस्वरूप अनुभवात्मक ज्ञान-व्यवस्था को हम विकसित नहीं कर पाते—ऐसी ज्ञान-व्यवस्था को, जो स्वानुभूत जीवन-तथ्यों की मूल पीठिका पर खड़ी हुई हो।

इस साहसहीनता का मूल कारण है वह चरित्रहीनता, जिसे हम अवसरवाद कहते हैं। यह अवसरवाद अत्यन्त सूक्ष्म और तीव्र रूप धारण कर अन्तःकरण में पैदा हुआ है। वह हमें सच-सच और साफ़-साफ़ नहीं कहने देता। 'साफ़-साफ़' का अर्थ कलाहीन होना या गद्यात्मक होना नहीं है।

इससे एक दूसरा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष भी निकलता है। वह यह कि बाह्य कारकों से जो संवेदनात्मक प्रतिक्रिया, अनुभव रूप में, हमारे मन में होती भी है, वह हमारे व्यक्तित्व के उस गहरे स्तर का अंग नहीं हो पाती, कि जिस गहरे स्तर में संस्कार, शिक्षा-दीक्षा, आदि से संशोधित हमारी आत्म-सम्पदा हमारी अनुभव-सम्पदा है। जीवनानुभवों को हम आत्मसात् करते नहीं जान पड़ते। इसलिए हम विकास नहीं कर पाते। ज़िन्दगी की मंज़िलें पार करते हुए, सामान्य अनुभवों को आत्मसात् करते हुए, हम अपने-आपको परिणत, संशोधित और विकसित कर नहीं पाते। हमारा अन्तर्मन उन जीवनानुभवों का समन्वय करके, उनके आधार पर अनुभवात्मक ज्ञान-व्यवस्था स्थापित नहीं कर पाता। ऐसी ज्ञान-व्यवस्था, जो जीवनानुभवों और तर्कसंगत निष्कर्षों और परिणामों के आधार पर होती है, निःसन्देह संवेदनात्मक हो जाया करती है। वह सिर्फ़ किताबी नहीं होती। यह संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था ही समन्वयकारिणी शक्ति हुआ करती है। किन्तु उसके अभाव में जो भी संवेदनात्मक अनुभव हमें होते हैं, वे उस शिशु के अनुभवों के समान हैं, कि जो शिशु उन अनुभवों को अभी अपनी संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था के रूप में ग्रथित और गुम्फित नहीं कर पाता। वह बाहरी कारक शक्तियों की प्रेरणा से तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रिया तो करता है, किन्तु उनके अनुभव उसके

भीतर के निज से पूर्णतः समन्वित नहीं हो पाते।

यही कारण है कि कविता में संवेदनात्मक प्रतिक्रिया तो दिखायी देती है, किन्तु वह प्रतिक्रिया किसी अन्तर्निहित अनुभवप्रसूत ज्ञान-व्यवस्था का अंग प्रतीत नहीं होती। वह प्रतिक्रिया, जो कविता में चित्रित हुई है, किसी अन्तर्निहित सागर की लहर नहीं है, वरन् बाह्य से प्राप्त संवेदनात्मक आघात की ऐसी लघु बिम्ब-माला है, जिसने अन्तर्मन के केवल छिछले तल को छुआ है, जिसने अपने आघात से भीतर के सारे व्यक्तित्व को नहीं जगाया है, जिसने अन्तःसन्निहित भाव-सम्पदा में भूचाल पैदा नहीं किया है।

इस प्रकार के कवि का आत्म-प्रकटीकरण केवल आंशिक और विकृत होता है। केवल क्षण के द्रवीभवन में सारे व्यक्तित्व का योग न होने से, उस क्षण का चित्र उस व्यक्तित्व का वास्तविक चित्र नहीं हो सकता। व्यक्तित्व अथवा आत्म-सत्ता जिस संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था का नाम है, उसकी आत्मसात्कारिणी समन्वयकारिणी शक्ति के प्रति गहरे उपेक्षा-भाव के कारण, कवि क्षण की संवेदना को चित्रित भले ही कर ले, वह संवेदना उसके अन्तर्जीवन की अनुभवात्मक ज्ञान-व्यवस्था का अंग नहीं बन पाती। फलतः, (1) एक ओर, वास्तविक अन्तर्जीवन और निज का व्यक्तित्व तथा, दूसरी ओर, बाह्य से पुनः-पुनः प्राप्त संवेदनाएँ—इन दो के बीच फ़ासला बढ़ता जाता है; एक डबल पर्सनेलिटी-जैसा कुछ तैयार होता जाता है। (2) कवि-व्यक्तित्व और वास्तविक व्यक्तित्व के बीच इस फ़ासले के सबब से, वह साहित्यिक चिन्तन-धारा पैदा होती है, जिसे हम 'सौन्दर्यानुभूति और वास्तविक जीवनानुभव की समानान्तर गति' का सिद्धान्त कह सकते हैं। और, (3) ऐसा काव्य-साहित्य निर्मित होता है कि जिसमें केवल कुछ मनःस्थितियों का फेन, मात्र कुछ मनोदशाओं का धूम, सिर्फ़ कुछ ख़यालों का गुब्बार, प्रकट किया जाता है; किन्तु उन मनःस्थितियों, मनोदशाओं और ख़यालों को जगानेवाली मूल कारक शक्तियों की, मूल जीवन-तथ्यों की, उपेक्षा की जाती है। उन मूल जीवन-तथ्यों के स्वरूप में कोई महत्त्वपूर्ण आकर्षण नहीं देखा जाता, कि जिस आकर्षण के कारण वे काव्य-विषय बन सकें। उन मूल जीवन-तथ्यों का भूगोल और इतिहास, अलजेब्रा और ज्यॉमेट्री, हमारी संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था के अंग बन जायें तो क्या बात है! लेकिन, सच बात तो [यह] है कि उनके उस भूगोल और इतिहास, अलजेब्रा और ज्यॉमेट्री को आत्मसात् करने का काम संवेदनशील कवि का नहीं है, यह माना जाता है। उन मूल जीवन-तथ्यों द्वारा पैदा होनेवाली मनःस्थितियों और मनो-दशाओं के भीतर जो फेन और धूम या धुन्ध उत्पन्न होती है, उनमें डूबकर, उनके पर्दे में से, हम उन मनःस्थितियों और मनोदशाओं को देखेंगे तथा उनके संकेतों की खिड़की में से, सम्भव हुआ तो, हम मूल कारक शक्तिवाले उन जीवन-तथ्यों की सूचना प्राप्त करेंगे। किन्तु स्वतन्त्र रूप से हम उन मूल जीवन-तथ्यों का भूगोल और इतिहास, अलजेब्रा और ज्यॉमेट्री, नहीं पायेंगे, उन्हें अपनी निहित संवेदना-त्मक ज्ञान-व्यवस्था का अंग नहीं बनायेंगे। आधुनिक विज्ञान-युग में कवियों द्वारा

जीवन-ज्ञान का वॉयकॉट सचमुच दर्शनीय और शोचनीय है। वह उनके आत्मिक ह्रास और ह्रास की विद्रूपता का सूचक है।

यही कारण है कि कविता में आज जो निज-समस्या अंकित होती है, वह वास्तविक सन्दर्भों से हीन होने से मानव-समस्या का रूप धारण नहीं कर पाती। यह आध्यात्मिक ह्रास के फलस्वरूप उत्पन्न उस अन्धदृष्टि के कारण है, कि जो दृष्टि जीवन-जगत् के वदलते हुए कैनवास पर, उसकी पार्श्वभूमि में, निज-समस्या को नहीं रख पाती, उस निज-समस्या को व्यापक महत्त्व और व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान नहीं कर पाती कि जिससे वह, वस्तुत:, एक जीवन्त मानव-समस्या के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत हो, कि पाठकों की दृष्टि, उस निज-समस्या को मानव-समस्या के रूप में देखे, और उस मानव-समस्या की खिड़की में से जीवन-जगत् का पर्यवलोकन करे। पाठकों की दृष्टि केवल शैली में, बिम्बमाला में, या ऐसी ही किन्हीं वातों में अटककर रह जाती है। अभी इस आत्मिक ह्रास का एक नमूना यह भी है कि सरल गद्यात्मक शैली में लिखी हुई ऐसी नयी कविताएँ वहुत थोड़ी हैं कि जिनमें चित्रित अनुभव, वस्तुत:, पाठकों में संवेदनाघात करते हों। वहुत-से कवियों ने अपनी-अपनी कविताओं के ऐसे पैटर्न और ऐसी शव्दावली विकसित की है कि जो पाठकों को तो क्या, अन्य सहचर कवियों की भी समझ में नहीं आती। संक्षेप में, निज-समस्या को विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देखकर रखने के वजाय, उसे ऐसे ढंग से घनीभूत किया जाता है कि मानो वह आज के युग के सामान्य मानव-अनुभव के परे की कोई चीज़ हो। निज-समस्या को व्यापक मानव-समस्या के रूप में न रख पाने की इस महान् असफलता के आधार पर, काव्य के क्षेत्र में जो भी नित्य-नवीन प्रयोग किये जायेंगे, वे मूलभूत जीवन-तथ्यों के संवेदनात्मक ज्ञान की पूर्वपीठिका की अनवरत उपेक्षा के फलस्वरूप, महत्त्वहीन ही रहेंगे।

आज के युग के मूलभूत जीवन-तथ्यों के तर्कसंगत तथा अनुभवसिद्ध निष्कर्षों और परिणामों की ओर न जा सकने के कारण, आज का कवि वर्तमान मानव-समस्याओं के प्रति भी उदासीन है। सम्भव है कि इस वात में अतिरंजना हो। यह मैं जानता हूँ कि वहुत-से कवि, निर्मित कठघरों और घेरों को तोड़ना भी चाहते हैं। किन्तु, एक ओर, उनकी अभिव्यक्ति के ढाँचे ऐसे हैं जो नवीन अनुभवज्ञानात्मक तत्त्वों को पूर्णत: और पूरे सौन्दर्य के साथ प्रकट नहीं होने देते, तो दूसरी ओर, उन कठघरों और घेरों को तोड़ने की प्रेरणा भी इतनी दुर्वल और अस्थायी है कि वे कठघरे उस प्रेरणा के हलके स्पर्शों से टूट भी नहीं सकते। सच वात तो यह है कि निज-समस्या को वही व्यक्ति मानव-समस्या का रूप दे सकेगा, कि जिस व्यक्ति को वर्तमान युग में प्राप्त मानव-समस्याओं से दु:ख होता है, करुणा उत्पन्न होती है, क्षोभ उत्पन्न होता है, क्रोध उत्पन्न होता है। किन्तु इतनी और ऐसी जीवनशक्ति शायद आज के कवियों के पास नहीं है। क्यों नहीं है? कारण यह है [कि] आज शिक्षित मध्यवर्ग में जो भयानक अवसरवाद छाया हुआ है, आत्म-स्वातन्त्र्य के नाम पर जो स्व-हित, स्वार्थ, स्व-कल्याण की जो भाग-दौड़ मची हुई है, 'मारो-

खाओ, हाथ मत आओ' का जो सिद्धान्त सक्रिय हो उठा है, उसके कारण कवियों का ध्यान केवल निज मन पर ही केन्द्रित हो जाता है। आज की कविता, वस्तुतः, पर्सनल सिच्युएशन की, स्व-स्थिति की, स्व-दशा की, कविता है। किन्तु अब ज़िन्दगी का यह तक़ाज़ा है कि वह अपनी इस निज-समस्या को वर्तमान युग की मानव-समस्याओं के रूप में देखे और उन्हें वैसा चित्रित करे।

किन्तु यह तभी तक सम्भव है जब तक कवि आधुनिक युग के मूल जीवन-तथ्यों के तर्कसंगत निष्कर्षों और अनुभवसिद्ध परिणामों को आत्मसात् करते हुए, अपने अन्तर्मन के भीतर समायी संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था में उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान दे, और उनके आधार पर, बदलते हुए युग-जीवन के सन्दर्भ से, वास्तविक जीवन-मूल्यों का विकास करे, और जीवन-मूल्यों और आदर्शों की अग्नि में स्वयं को गलाते हुए वह, वस्तुतः, आचरण करे, आचरण के मार्ग पर चले, चलता रहे। वास्तविक जीवन-साधना के बिना कलात्मक साधना असम्भव है। यद्यपि कलात्मक साधना की, आपेक्षिक रूप से, अपनी स्वतन्त्र क्रिया और गति हुआ करती है, किन्तु उसकी मूल प्रेरणा, उसके तत्त्व, उस आत्म-सम्पदा का अंग होते हैं, कि जो सम्पदा अपने वास्तविक जीवन में संवेदनात्मक रूप से अर्जित की जाती है, और एक जीवन-संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था के रूप में परिणत की जाती है। आज के कवि को, सम्भवतः, व्यापक जीवन से डर लगता है, वह उसमें फँसना नहीं चाहता, वह मूल जीवन-तथ्यों के भूगोल-इतिहास, अलजेब्रा-ज्यॉमेट्री को आत्मसात् नहीं करना चाहता। वह उस व्यापक जीवन की मार्मिक प्रक्रियाओं और क्रियाओं में हिस्सा नहीं लेना चाहता। वह उन सबसे अलग रहना चाहता है। उसे इस फैली हुई, बदलती हुई, चलती और मुड़ती हुई, ज़िन्दगी से डर लगता है। लेकिन ज़िन्दगी भी उससे बदला लेती है, उसने ज़िन्दगी की उपेक्षा की, इसलिए ज़िन्दगी उसकी उपेक्षा करेगी। आज के कवि का वैफल्य इस कारण ही है। ज़िन्दगी का शासक बनना होगा, न कि एक घिसटता हुआ कुत्ता जो गाड़ी से बँधा लेटा हुआ घिसट रहा हो। ज़िन्दगी ने उसकी जो उपेक्षा की है, उसके कारण ही उसकी यह दुर्दशा है। किन्तु ज़िन्दगी ने उससे यह बदला इसलिए लिया कि उसने स्वयं ज़िन्दगी की उपेक्षा की थी। अतएव वास्तविक जीवन में अपनी कायरता, साहस-हीनता, अकर्मण्यता त्यागकर समाज में फैले अवसरवाद से मोर्चा लेते हुए, मानवीय समस्याओं से दुःखाभिभूत और करुणापन्न होकर, उसे वास्तविक मानवीय जीवन के मूल्यों और आदर्शों के मार्ग पर चलना ही होगा। हो सकता है कि इस स्थिति में वह मर जाये और उसके नाम से रोनेवाला भी कोई न हो। लेकिन कुछ लोगों को इस तरह ज़मीन में गड़ना होगा ही। इस तैयारी के साथ, इस दम के साथ, [कि] यदि हमारा नया कवि मूल्य-व्यवस्था विकसित करते हुए मानव-समस्या चित्रित करता है, तो निःसन्देह वह युग-परिवर्तन करने का श्रेय-भागी होगा, भले ही उसे श्रेय मिले या न मिले।

स्वाधीनता-प्राप्ति के उपरान्त, भारत में अवसरवाद की बाढ़ आयी। शिक्षित

मध्यवर्ग में भी उसकी ज़ोरदार लहरें पैदा हुईं। साहित्यिक लोग भी उसके प्रवाह में बहे और ख़ूब ही बहे। इस भ्रष्टाचार, अवसरवाद, स्वार्थपरता की पार्श्वभूमि में, नयी कविता के क्षेत्र में पुराने प्रगतिवाद पर ज़ोरदार हमले किये गये, और कुछ सिद्धान्तों की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। ये सिद्धान्त और उनके हमले, वस्तुतः, उस शीत-युद्ध के अंग थे जिसकी प्रेरणा लन्दन और वाशिंगटन से ली गयी थी। पश्चिम की परिपक्व मानववादी परम्परा से साहित्यिक प्रेरणा ग्रहण न करके, उन नये व्याख्याताओं ने उसकी अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साहित्यिक विचार-धारा को अपनाया और फैलाया। नयी कविता के आस-पास लिपटे हुए बहुत-से साहित्यिक सिद्धान्तों में शीत-युद्ध की छाप है।

ध्यान में रखने की बात है कि एक कला-सिद्धान्त के पीछे एक विशेष जीवन-दृष्टि हुआ करती है, उस जीवन-दृष्टि के पीछे एक जीवन-दर्शन होता है और उस जीवन-दर्शन के पीछे, आजकल के ज़माने में, एक राजनैतिक दृष्टि भी रहती है। नयी कविता को तथाकथित सौन्दर्यवाद की भूमिका देते हुए, 'सौन्दर्यानुभूति और वास्तविक जीवनानुभवों की समानान्तर गति' वाला एक कला-सिद्धान्त लाया गया। कला की ऑटोनॉमी को, कला की स्वायत्त प्रकृति को, इतना निर्विकल्पक (ऐब्सोल्यूट) किया गया कि साक्षात् जीवन से उसके सम्बन्ध-सूत्र टूटने लगे—विशेषकर उस जीवन से और उसके ज्ञान से, कि जिसमें उपस्थित समस्याएँ मानव-समस्याएँ बनकर वह हालत पैदा कर देती हैं कि मनुष्य उस जीवन को बदल डालने की, उस समाज को कि जिसमें वह जीवन पाया जाता है बदल डालने की, ओर प्रवृत्त होता हो। इस प्रकार की प्रवृत्ति से उन नये व्याख्याताओं को डर लगता था। उन्हें डर लगता था कि वे परिवर्तनकारिणी प्रवृत्तियाँ कहीं नयी कविता में उभरने न लगें। इसलिए ऐसी प्रवृत्तियों की साहित्यिक अभिव्यक्तियों के और भी अधिक प्रभावशाली और सुन्दर ढंग से बनने की अगली सम्भावनाओं के विरोध में, उन्होंने वह सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसमें कला की स्वायत्तता की निर्विकल्पकता की स्थापना की गयी, और इस प्रकार नयी कविता को जीवन के मूल तथ्यों से अलग करने का प्रयत्न किया गया। बढ़ते हुए अवसरवाद और भ्रष्टाचार, छीन-झपट, भाग-दौड़; ठेलमठेलवाले शिक्षित मध्यवर्ग के तरुणों ने उक्त साहित्यिक सिद्धान्त से प्रभाव भी ग्रहण किया। आधुनिक भाव-बोध वाले सिद्धान्त में, जनसाधारण के उत्पीड़न-अनुभवों, उग्र विक्षोभों और मूल उद्वेगों का बॉयकॉट किया गया। 'लघु मानव' वाला सिद्धान्त लाकर जनसाधारण की मार्मिक आध्यात्मिक शक्तियों और भव्यताओं से आँखें फेर ली गयीं। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का झगड़ा ऊँचा कर स्वातन्त्र्य के उपयोग और दिशा की समस्या से पल्ला झाड़ लिया गया। पूँजीवादी समाज के नाश की कल्पना को साम्यवादी बहक कहकर मोटे सेठों से नाता जोड़ा गया। सरकार के अच्छे कामों की आलोचना करते हुए, पश्चिमी पूँजी से जुड़े भारतीय करोड़पतियों के दरबारों में पहुँचने की दृश्यावली प्रस्तुत की गयी। इस निबन्ध में यह सम्भव नहीं है कि उनके सिद्धान्तों का पूरा और समग्र खण्डन किया जाये।

उसके लिए पृथक् उद्योग करना होगा। मुद्दे की बात यह है कि नयी कविता के डिफ़ेंस के रूप में खड़े किये गये इन सिद्धान्तों से नयी कविता पर प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव सर्वथा और पूर्णतः अनुकूल हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता। जो भी हो, यह आवश्यक है कि सौन्दर्यानुभूति तथा जीवनानुभव के सम्बन्ध में कुछ मन्तव्य प्रस्तुत करूँ, क्योंकि उसका सम्बन्ध कलाधर्मिता और कवि-कर्म दोनों से है।

मुख्य वात यह है कि 'सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति और जीवनानुभव दोनों की दो विभिन्न कक्षाओं पर पृथक् समानान्तर गति' नहीं होती है। सौन्दर्यानुभूति (ऐस्थेटिक एक्सपीरिएंस) जीवनानुभवों के गुणात्मक रीति से परिवर्तित रूप का नाम है। सौन्दर्यानुभव, और वास्तविक जीवन-जगत् में प्राप्त वास्तविक अनुभव, इन दो में मूलभूत एकात्मकता है। सौन्दर्यानुभव और वास्तविक जीवनानुभव, इन दो का सार-स्वरूप एक ही है। फिर भी, दोनों में महान् भेद है। इन दोनों के भेद और दोनों की एकात्मकता ध्यान में रखने की वस्तु है।

सौन्दर्यानुभव के तत्त्व जीवन द्वारा, जीवनानुभव द्वारा, प्रदत्त होते हैं। किन्तु वे विधायक कल्पना के हाथों निराला रूप धारण कर उद्दीप्त हो उठते हैं। संवेदनात्मक उद्देश्य विधायक कल्पना की क्रिया को चालित करते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार, जीवनानुभवों के तत्त्व कल्पना के संघटन-विधानकारी हाथों से निराले और तरह-तरह के रूपों में प्रकट होते हैं। इस प्रकार, जीवनानुभवों के निराले तरह-तरह के पैटर्न कल्पना तैयार करती है, किन्तु उसकी क्रिया संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुशासन में रहती है।

इस पूरी प्रक्रिया में सौन्दर्यानुभव तव घटित होता है, जव मनस्पटल पर विम्वित कल्पना-रूपों में डूवकर मन साधारण जीवन की अपनी निज-वद्धता का परित्याग करता है। वह उस निज-वद्धता से ऊपर उठकर, उसके परे जाकर, उससे सम्पूर्णतः मुक्त होकर, मनस्पटल पर उद्दीप्त उन विम्वों में खो जाता है, उनमें तन्मय हो जाता है, कि जो विम्व संवेदनात्मक उद्देश्यों से परिचालित कल्पना, तथा उन्हीं उद्देश्यों द्वारा परिचालित और संकलित जीवन-अनुभव-तत्त्व के पूर्ण संयोग से वने हुए हैं। संक्षेप में, तन्मयता और तटस्थता, निज-वद्धता से मुक्ति और मनस्पटल पर अंकित विम्वों में अपने स्वयं की व्यस्तता-संलग्नता—इन दो द्वन्द्वों की एक मनोदशात्मक परिणति ही सौन्दर्यानुभव है। परिणति की इस क्रिया के दौरान में सौन्दर्यानुभव आरम्भ हो जाता है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों से परिचालित विधायक कल्पना के मूर्तिमान (जीवनानुभवगर्भ) विधानों में डूवते हुए भी, हमारा मन एक तटस्थ द्रष्टा और, दूसरी ओर, निज-वद्धताहीन भोक्ता, के एकीभूत, परस्पर-सन्निविष्ट रूप में रहता है। इस एकीभूत द्वन्द्व के कारण ही आवेग में वहते हुए भी सचेत कवि-कर्म सम्भव होता है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा परिचालित विधायक कल्पना और उन्हीं के द्वारा परिचालित, तथा उनके अपने अनुसार संकलित, जीवनानुभव-तत्त्व—इन दोनों के

योग से मनस्पटल पर उद्दीप्त बिम्बों में यदि मन तन्मय होकर, अपनी निज-बद्ध स्थिति खो चले, तो वैसी दशा में बिम्ब-रूपों में उपस्थित वे जीवनानुभव, प्रातिनिधिक हो उठते हैं। अर्थात्, निज-बद्धता के परिहार के अनन्तर, बिम्ब-रूप में उपस्थित वे जीवनानुभव, व्यक्तिगत जीवन-विशिष्ट अनुभव-घटना के रूप का त्याग कर, तत्समान सारी अनुभव-घटनाओं का सामान्यीकृत रूप बनकर, उपस्थित होते हैं। फलतः, रूप, रंग और दीप्ति की अपनी सुविशिष्टता रखते हुए भी, वे बिम्ब सामान्यीकृत रूप में, अर्थात् प्रातिनिधिक रूप में, उपस्थित होकर अत्यन्त व्यापक अर्थ रखने लगते हैं। संक्षेप में, विशिष्ट और सामान्य के द्वन्द्वों की इस एकीभूत स्थिति के बिना सौन्दर्यानुभव असम्भव है। इसलिए, कवि मनस्पटल पर उपस्थित विशिष्ट का विशिष्ट चित्रण करते हुए, व्यापक सामान्य अर्थ उपस्थित करता है, और वह उस सामान्य में अपने जीवन का विशिष्ट देखता है। इसीलिए सौन्दर्यानुभव जीवन के सार-स्वरूप का प्रगाढ़ मार्मिक अनुभव है। किन्तु वह तभी प्राप्त होता है, जब मनुष्य के पास अपने से परे जाने, अपने से ऊपर उठने, तटस्थ होने, निज-बद्धता से मुक्त होने, के साथ-साथ (और एक साथ) तन्मय होने का, विलीन हो जाने का, मानवीय गुण और उस गुण का सामर्थ्य प्राप्त हो। तभी वह विशिष्ट की सामान्य में परिणति की मुक्त आत्मीयता का आनन्द ले सकेगा। सौन्दर्यानुभव का यह स्वरूप है। वह आह्लादकारी दशा है। इन्हीं सब बातों के कारण सौन्दर्यानुभव की अपनी स्वायत्तता है।

किन्तु सौन्दर्यानुभव के अन्तर्गत, संवेदनात्मक उद्देश्य तथा अनुभव-तत्त्व वास्तविक जीवन द्वारा प्रदत्त होते हैं,—उस जीवन द्वारा, जो स्व और पर के, अन्तर और बाह्य के, क्रिया-प्रतिक्रियात्मक गुम्फन, परस्पर विलयन और योग का ही दूसरा नाम है। यह आवश्यक नियम नहीं है कि ये सौन्दर्यानुभव साहित्यिक कर्म के काल के घेरे में सीमित हों। काग़ज़-क़लम हाथ में लेने से सौन्दर्यानुभव आप-ही-आप नहीं होते। मानसिक द्रवण का क्षण काग़ज़-क़लम हाथ में लेने ही से उपस्थित नहीं होता। ये सौन्दर्यानुभव रास्ते चलते भी हो सकते हैं, जीवन की विभिन्न स्थिति-परिस्थितियों में होते रहते हैं। प्रश्न यह है [कि] मनुष्य में एक साथ तटस्थ और तदात्म होने, निज-मुक्त और ऊर्ध्व-बद्ध होने, का माद्दा कितना है, जीवन-तत्त्वों के पैटर्न गुम्फित करनेवाली कल्पना के मूल उत्स अर्थात् संवेदनात्मक उद्देश्य में उनका अपना कितना सामर्थ्य है, अपना निज का कितना ज़ोर है, आभ्यन्तर मन कितना वैविध्यपूर्ण अनुभवों से सम्पन्न है। कलात्मक चेतना का विकास वास्तविक जीवन में होता है। सार-स्वरूप में जीवन का प्रगाढ़ अनुभव करने की, कलात्मक चेतना में शक्ति होती है। कलात्मक चेतना की पुष्टि और तुष्टि उस भाव-संवेदना के आवेगों से होती है, कि जो भाव-संवेदनाएँ उसे अपने से परे, अपने से ऊपर, ले जाती हैं, और इस तरह उसे व्यापक जीवन में डुबोकर उदात्त बना देती हैं। यह कलात्मक चेतना मानवीय सामर्थ्य का एक उदाहरण है। सौन्दर्यानुभव पशुओं में नहीं होता। यह कलात्मक चेतना प्रत्येक व्यक्ति में

होती है, सौन्दर्यानुभव हर एक को होते हैं, अपने-अपने अनुसार। समर्थ कलाकार के हृदय में विविध तथा व्यापक सौन्दर्यानुभवों की संचित राशियाँ पहले से ही तैयार होती हैं। कवि-कर्म करते समय वे सौन्दर्यानुभव, फिर से नयी-नयी रूपाकृतियाँ प्राप्त करते हुए, अपने को भावानुवादित करने का प्रयत्न करते हैं। जिस कलाकार की कलात्मक चेतना ने जीवन-जगत् की मूल मानव-समस्याएँ अनुभूत कर गहन अनुभव-समस्याएँ अर्जित की हैं, तथा मानवता के उद्धार-लक्ष्यों से अपने को एकाकार किया है, उस कलाकार का सामर्थ्य भी उतना ही अधिक है। विभिन्न लेखकों में कलात्मक चेतना का स्तर, परिमाण तथा गुण भिन्न-भिन्न होते हैं। संक्षेप में, कलात्मक चेतना केवल ब्रश या क़लम लेकर चित्रित करते समय, लिखते समय, ही नहीं, वरन् ज़िन्दगी में काम करते वक़्त, मेहनत करते समय, भी प्राप्त होती रहती है। सम्भव है कि आदमी फ़ौज में सिपाही हो, और उसी वातावरण में रहकर कलात्मक चेतना का विकास करे। हो सकता है कि आदमी अखवारनवीस हो, और अखवारनवीसी के माहौल में रहकर ही कलात्मक चेतना का विकास करे। यह आवश्यक नहीं है कि कलाकारों, चित्रकारों, साहित्यिकों के साथ वैठ-उठकर ही कलात्मक चेतना का विकास हो।

मैंने अपने अन्य निवन्धों में कला के तीन मूल क्षणों का विशदीकरण किया है। यहाँ केवल इतनी ही वात उल्लेखनीय है कि पुष्ट और सुदृढ़ कलात्मक चेतना के विकास की इस पार्श्वभूमि के विना, सुविकसित कलात्मक चेतना की पार्श्वभूमि के विना, कलाकृति की रचना सम्भव नहीं है। कलाकृति की रचना के काल के पूर्व वह चेतना विकसित और पुष्ट रहती है। रचना-कार्य के समय कलात्मक चेतना की जो कुछ अर्जित सम्पत्ति है, वह ज़ोर मारती है। रचना-कार्य अभिव्यक्ति का कार्य है। किन्तु अभिव्यक्ति के लिए छटपटानेवाले तत्त्व पहले ही से कलात्मक चेतना के अंग और अंश रहते हैं, भले ही उनकी अभिव्यक्ति हो या न हो। सच वात तो यह है कि कलात्मक चेतना वास्तविक अनुभवात्मक जीवन-यापन का ही एक भाग है।

कलात्मक चेतना के भीतर समाये संवेदनात्मक उद्देश्य, भोक्तृ-मन के उस स्व-चेतन आवेग से उत्पन्न होते हैं कि जो स्व-चेतन आवेग वांछित और वांछनीय को प्राप्त करने के लिए तड़पता हुआ, अपनी निज-वद्ध स्थिति से ऊपर उठकर, अन्तर तथा वाह्य वास्तव में मानवानुकूल परिवर्तन करना चाहता है। ये संवेदनात्मक उद्देश्य अन्त:संस्कृति के अंग होते हैं, उस संस्कृति के जो वाह्य के आभ्यन्तरीकृत रूप में अवस्थित है। संवेदनात्मक उद्देश्य मनोमय होते हुए भी जगन्मय हैं, इसीलिए विद्युन्मय हैं।

किन्तु होता यह है कि वहुत-से कलाकार वास्तविक अनुभवात्मक जीवन-यापन की अंगभूत कलात्मक चेतना को, वस्तुत:, पुष्ट नहीं कर पाते। वे कला की रचना को रचना-काल की स्वप्निलता से उलझाकर, उसी स्वप्निलता को कलात्मक चेतना कहते हैं। यह ग़लत है। यह विलकुल सही है कि पुष्ट अभिव्यक्ति

ही में कलाकृति की सिद्धता है। किन्तु यह भी बिलकुल सही है कि कलात्मक चेतना, रचना-काल के दौरान की सीमा में बँधी नहीं है, वह उसके पार और बाहर भी है। इसीलिए जो कलाकार वास्तविक जीवन में अपने मनोभावों का, व्यक्तित्व का, संस्कार करता जायेगा, अनुभवात्मक ज्ञान अर्जित करता जायेगा, निज-बद्ध स्थिति से ऊपर उठने की क्षमता प्राप्त कर व्यापक मानव-उद्देश्यों और लक्ष्यों से तन्मय होता जायेगा, वह, एक ओर, अधिकाधिक जीवन-तत्त्व संचित करता रहेगा, तो दूसरी ओर, अपने गूढ़ संवेदनात्मक उद्देश्यों को तीव्रतर, उदात्ततर, अनिवारणीय बनाता जायेगा। कलाकृति की रचना का कार्य अभ्यास तथा प्रतिभा के द्वारा होता है। वह कला का तीसरा क्षण है। किन्तु रचना की आधारभूत जो कलात्मक चेतना है, उसका विस्तार और विकास, घनत्व और गहराई वास्तविक जीवन में प्राप्त होती है। कलाकार हर जगह कलाकार है, चाहे वह खुरपी हाथ में लेकर खेत में काम ही क्यों न कर रहा हो।

संक्षेप में, कलाकार के लिए तीन प्रकार के संघर्ष करना आवश्यक है: एक, सुन्दर कलाकृति की रचना के लिए अभिव्यक्ति का संघर्ष; दो, कलात्मक चेतना के अंगरूप संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार, जीवन-जगत् में भोगने, रमने, अपने को निज-बद्धता से अधिकाधिक दूर करने और अधिकाधिक मानवीय बनाने के लिए आत्म-संघर्ष; तीसरे, वास्तविक जीवन के बुनियादी तथ्यों के कारण बननेवाली हलचलों का, ज़िन्दगी के अलग-अलग ढंग के तानों-बानों का, तजुर्बा हासिल करने के लिए मानव-समस्याओं को (गहराई से, ज्ञानात्मक और संवेदनात्मक रूप से) अनुभूत करके, मानवता के उद्धार-लक्ष्यों से एकाकार होकर, वास्तविक जीवन-अनुभवों की समृद्धि प्राप्त करने के हेतु, वह संघर्ष जिसे हम तत्त्व के लिए तत्त्व-प्राप्ति के लिए संघर्ष कह सकते हैं। सच्चे मनीषी कलाकार के जीवन में ये तीनों संघर्ष एक साथ स्वाभाविक रूप से चलते रहते हैं। और इसलिए कलाकार का जीवन पीड़ा से ग्रस्त जीवन होता है, केवल सृजन-पीड़ा से नहीं, अन्य पीड़ाओं से भी।

उक्त निवेदनों का उद्देश्य नयी कविता की उपलब्धिओं को अस्वीकार करना क़तई नहीं है। मैं स्वयं नयी कविता के आन्दोलनों का एक अंग हूँ। उक्त निवेदनों का उद्देश्य केवल यह है कि मेरे कवि-बन्धु अपने बने-बनाये उन पैटर्नों से हटें, अपनी अभिरुचि की उस तानाशाही से हटें, जो मेरे कवि-बन्धुओं को वास्तविक व्यक्तित्व-उदात्तताओं और वास्तविक अनुभूत जीवन-क्षणों का चित्रण करने नहीं देते। निज-बद्धता की स्थिति से ऊपर उठने की क्षमता का विकास होना आवश्यक है। उनकी कलाकृतियाँ स्वयं उनके व्यक्तित्व की उदारता और उदात्तता की तुलना में बहुत नीचे ठहरती हैं। इसका मूल कारण वह पैटर्न और वह अभिरुचि है, जिसने अभ्यासवश शब्दों के ऐसे कठघरे, बिम्बों और उपमाओं की ऐसी प्राचीरें खड़ी कर दी हैं, कि जिससे उन्हीं कवियों द्वारा अनुभूत उदार क्षणों का चित्रण नहीं हो पाता, मानव-समस्याओं की सांगोपांग स्थापना नहीं हो पाती, मानव-

संघर्ष के मूल लक्ष्य स्थापित नहीं हो पाते। मैं उन कवियों की उपलब्धियों की अवहेलना नहीं कर रहा हूँ, वरन् अधिक मानवीय साहित्य के दर्शन का आग्रही हूँ। यह मैं जानता हूँ कि यह कार्य सरल नहीं है, किन्तु उस दिशा में प्रयत्न आवश्यक है।

[सम्भावित रचनाकाल 1959 के बाद। **नयी कविता का आत्मसंघर्ष** में संकलित]

काव्य की रचना-प्रक्रिया : एक

काव्य की रचना-प्रक्रिया के अन्तर्गत तत्त्व—बुद्धि, भावना, कल्पना, इत्यादि—एक होते हुए भी, प्रभाव-संगठक आन्तरिक उद्देश्यों की भिन्नता के साथ ही रचना-प्रक्रिया भी वस्तुतः बदल जाती है। गेय काव्य (लिरिकल पोएट्री) की रचना-प्रक्रिया उस कविता की रचना-प्रक्रिया से बिलकुल भिन्न है, जो मन की किसी प्रतिक्रिया-मात्र का रेखांकन करती है।

भावानुरूप, संवेदनानुसारी शब्द-क्रम शैली की रचना कवि के लिए आसान काम नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यथोचित अभिव्यक्ति के विकास के दौरान में, अर्थात् ध्वनि-बिम्बवती शब्द-क्रम शैली के विकास के दौरान में, कवि अपने भाव-स्वभाव से घनिष्ठ रूप से परिचित होता जाता है। वह शब्दों में वास करनेवाले अर्थ-बिम्बों और अर्थ-ध्वनियों की तुलना अपने भाव-दृश्यों से करने लगता है। और इस नेत्रमयी तुलना के दौरान में, वह इस बात से अधिकाधिक सचेत होता जाता है कि वह किस प्रकार के चित्रों तथा ध्वनियों द्वारा कौन-सा संवेदनात्मक प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है। संवेदनानुसारी शब्द-चेतना का विकास कवि के लिए महत्त्वपूर्ण है। शब्द-चयन की भावानुसारिता को घटित करनेवाली आत्म-चेतना, अर्थात् स्वयं के भाव-स्वभाव, से घनिष्ठ परिचय के अभाव में व्यक्तिगत अभिव्यक्ति-शैली का विकास नहीं हो सकता।

सामान्यतः, यह देखा गया है कि कवि-व्यक्तित्व, अपनी कुछ विशिष्ट और प्रबल आवश्यकताओं के अनुसार, कुछ विशेष भाव-श्रेणियों को ही प्रकट करता रहता है, मानो वे उसके जीवन के स्थायी भाव हों। उन्हें प्रभावोत्पादक रूप से प्रकट करने के उसके अथक निरन्तर परिश्रम के तथा अभ्यास के फलस्वरूप, धीरे-धीरे एक अर्से बाद, उसकी वे भाव-श्रेणियाँ और उनकी अभिव्यक्ति, एक संगठित इकाई बनकर, साहित्यिक 'कण्डीशंड रिफ़्लेक्स' का रूप धारण कर लेती है।

यहाँ हम रचना-प्रक्रिया के आन्तरिक क्षेत्र में पहुँच रहे हैं। होता यह है कि नये कवि को अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति पाने के लिए, यानी अपने आभ्यन्तरिक वास्तव से साक्षात्कार के लिए, अनेकानेक काव्य-प्रयोग करते हुए एक लम्बा समय गुज़ार देना पड़ता है। इन विविध-रूप, बहुमार्गानुसारी प्रयोगों के अनवरत क्रम की अन्तिम परिणति होती है, अपनी मूलभूत आभ्यन्तर वास्तविकता के संवेदनात्मक साक्षात्कार में। दूसरे शब्दों में, कवि-जीवन की प्रथमस्तरीय उपलब्धि, उस अन्तःप्रकृति से साक्षात्कार है, जो अपना कुछ विशेष कहना चाहती है, जिसके पास कुछ विशेष कहने के लिए है। इस आत्म-चेतना के प्रत्यक्ष संवेदनात्मक ज्ञान के बिना, कोई कवि मौलिक नहीं हो सकता।

प्रथमस्तरीय उपलब्धि के बाद, अर्थात् अपने आभ्यन्तर वास्तव के संवेदनात्मक ज्ञान के अनन्तर, अथवा उसके साथ-ही-साथ, कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण बातें होने लगती हैं। उनसे में एक है आलोचन-धर्म का विकास। इस आलोचन-धर्म द्वारा परिचालित होकर, आभ्यन्तर वास्तव अपने विशेष भावों की अभिव्यक्ति के लिए, अनेकों रूपों अर्थात् कल्पना-चित्रों तथा शब्द-ध्वनि को अस्वीकार करते हुए, अन्य ध्वनियों तथा कल्पना-चित्रों को स्वीकार करता चलता है। विचित्र संस्कारों के वशीभूत होकर, आलोचन-धर्म कई प्रकार के 'सेंसर्स' अर्थात् निषेधों का प्रयोग करता है। यदि ये निषेध युक्तियुक्त और उचित न हुए तो कविता बहुत ही दुर्बोध हो उठती है। आलोचन-धर्म के साथ-ही-साथ, तथा उसके अतिरिक्त, एक बात और भी होती जाती है, जो महत्त्वपूर्ण है। वह है, भावों का आभ्यन्तर सम्पादन। रचना-प्रक्रिया से अभिभूत कवि जब भावों की प्रवहमान संगति संस्थापित करता चलता है, तब उस संगति की संस्थापना में उसे भावों का सम्पादन यानी एडीटिंग करना पड़ता है। यदि वह इस प्रकार भावों की काट-छाँट न करे, तो मूल प्रकृति उसे सम्पूर्ण रूप से अपनी बाढ़ में बहा देगी, और उसकी कृति विकृति में परिणत हो जायेगी। अनुभवी कवि आभ्यन्तर भाव-सम्पादन का महत्त्व जानता है।

भावों की प्रवहमान संगति की संस्थापना के हेतु, जब आभ्यन्तर भाव-सम्पादन होने लगता है तब एक और विलक्षण बात होती है। वह है सृजन। मूल प्रकृति के तल से आभ्यन्तर वास्तव के कुछ विशेष उद्वेगों या प्रतिक्रियाओं द्वारा परिचालित होकर, जब भाव-सम्पादन पूर्ण हो जाता है, तब उसमें एक नया तत्त्व आ जाता है—एक ऐसा तत्त्व, जो कदाचित् प्रारम्भ में कथ्य नहीं था, किन्तु जो, भावों की प्रवहमान संगति की संस्थापना पूर्ण होते ही, उसके भीतर उद्घाटित हो गया। असल में यह कहना कठिन है कि आभ्यन्तर भाव-सम्पादन की शैली-विशेष के कारण वह द्योतित हो उठा है, अथवा उस पूरी प्रक्रिया में से गुज़रने के कारण, लगे हाथों, कुछ उद्घाटन हो गये हैं, जिनमें से एक वह भी है। शायद ये दोनों ही बातें होती होंगी। किन्तु यह निश्चित है कि वह भाव-सम्पादन की लगभग अनिवार्य उपलब्धि है। इसीलिए, कविता पूरी होने पर कवि को यह प्रतीत होता है कि वह कविता में कुछ ऐसा विशेष कह गया है अथवा उद्घाटित कर गया है, जो

प्रारम्भ में उसका कथ्य था ही नहीं।

द्वितीय स्तर पर पहुँचकर कवि अपने कुछ मूल स्थायी भावों अथवा कुछ भाव-श्रेणियों की समुचित अभिव्यक्ति कर चुकता है। उसका काव्य-रचनामूलक आलोचन-धर्म तथा भाव-सम्पादन इतना परिपक्व हो चुकता है कि उसे अपनी अभिव्यक्ति के लिए अब विशेष कष्ट नहीं हो पाता। तब तक वह अभिव्यक्ति के मानसिक रूपों—अर्थात्, बिम्बों, चित्रों, निवेदनात्मक भंगिमाओं तथा विभिन्न लयों—पर न केवल अधिकार प्राप्त कर चुकता है, वरन् उन चित्रों, बिम्बों तथा निवेदन-भंगिमाओं को वह अपने विशिष्ट भावों और भाव-छायाओं से, अभिन्नतः संयुक्त कर देता है। दूसरे शब्दों में, वह अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए एक रूप-रचना तैयार कर लेता है, कि जो रूप-रचना उसके लिए उन भावों से अविच्छिन्न रूप से संयुक्त रहती है, और उनसे कदापि पृथक् अथवा विच्छिन्न नहीं की जा सकती।

वस्तुतः, भावों की प्रवहमान संगति की संस्थापना के दौरान में, आभ्यन्तर भाव-सम्पादन, सक्रिय आलोचन-धर्म की सहायता द्वारा, विभिन्न भावों का विभिन्न अभिव्यंजक रूपों से घनिष्ठ संयोजन स्थापित कर देता है। काव्य-रचना के अनवरत श्रम और अभ्यास के फलस्वरूप, यह संयोजन अभेद्य हो जाता है। यही स्थिति-स्थापना अर्थात् 'कण्डीशनिंग' है। यही स्थिति-स्थापना अत्यन्त दृढ़ और आगे चलकर विघ्नकारी हो जाती है।

यहाँ से कवि-जीवन के अगले स्तर का आरम्भ हो जाता है, बशर्ते कि कवि अभी भी विकास-पथ पर हो। कवि को अब यह प्रतीत होने लगता है कि अब तक वह जिसे अपनी अन्तःप्रकृति से साक्षात्कार कहता आया है, वह वस्तुतः उसके विगत भाव-जीवन की कुछ विशेष मूलबद्ध भाव-श्रेणियों का बोध-मात्र था। उसको अब इस स्तर पर आकर यह प्रतीत होने लगता है कि उसका वास्तविक भाव-जीवन कुछ ही, अर्थात् सीमित, भाव-श्रेणियों में बद्ध करके नहीं आँका जा सकता। यही नहीं, वरन् वे उसके पुराने स्थायी भाव और वे भाव-श्रेणियाँ, अपना पुराना तनाव बिलकुल खो चुकी हैं। लेकिन मुश्किल यह है कि पुरानी भावाभिव्यक्ति के पुराने उपादन, और पुराने उपादानों से समन्वित पुराने भाव—अर्थात् सोचने, प्रकट करने, विचार करने, अनुभव करने, की पुरानी आदतें—प्रबल रूप से विराजमान हैं। दूसरे शब्दों में, कवि ने पहले से ही अपनी जो स्थिति-स्थापना करके रखी है, वह अब पग-पग पर उसके आड़े आ रही है। अगर वह आत्मानुभूत नये भावों को प्रकट करने की कोशिश भी करता है तो भी पुराने भावों से गर्भित उपमाएँ और पुराने भावों से संयुक्त प्रतीक नवीन अर्थ-सत्ता को समाप्त कर देने पर तुले रहते हैं।

किन्तु, बहुतेरे कवि इन कठिनाइयों के बोध तक, जीवन के इस घुमाव तक, आ ही नहीं पाते। वे आगे के विकास के बजाय अपने ही आस-पास घूमते रहते हैं। फलतः उनके पूर्व की स्थिति-स्थापना, यान्त्रिक रूप से, पुरानी गूँजें प्रकट कराती

रहती है। उनके खुद के तैयार किये पुराने शिकंजे—यानी पुराने भाव और उनकी अभिव्यक्ति—उन्हें आगे बढ़ने नहीं देते। कण्डीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्सेज़ यन्त्रवत् कविताएँ तैयार करवाते हैं। मनोवेग यान्त्रिक हो जाते हैं, अभिव्यंजक रूप जड़ीभूत हो जाते हैं। कवि अपने बनाये कटघरे में फँस जाता है। और एक समय आता है जब कवि क़तई मर जाता है, किन्तु उसका शरीर शतायु रहता है।

भाव तथा उसकी अभिव्यक्ति की यह जड़ीभूत वृत्ति यदि हिला-डुलाकर ज़बर्दस्ती लचीली न बनायी जाये तो अजीब दृश्य सामने आते हैं। उदाहरणत:, तत्त्व तो होता है अत्यन्त आधुनिक, किन्तु उसकी रूप-योजना होती है बहुत पुरानी। कहा तो यह जाता है कि तत्त्व अपना स्वयं का रूप विकसित करता है, किन्तु उसे अपना रूप विकसित करने की स्वतन्त्रता दी जाये तब न। वास्तविकता यह है कि स्वयं के द्वारा विकसित किये गये व्यवधान, जो कण्डीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्सेज़ का ही एक अंश होते हैं, उस आधुनिक तत्त्व की आधुनिक अर्थ-सत्ता को समाप्त कर देने की राह देखते रहते हैं।

कण्डीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्सेज़ बनने का नियम प्राकृतिक है। किन्तु उसके साथ यह भी स्वाभाविक है कि कवि-मनुष्य के अन्तर्व्यक्तित्व में परिवर्तन होता जाये। इस परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली नयी भाव-श्रेणियाँ, पुराने रिफ़्लेक्सों से टकरायेंगी ही। यदि साहसपूर्वक कवि इस आत्मसंघर्ष को तीव्र करता गया, और आत्म-निरीक्षण द्वारा उसे और सार्थक बनाता गया, तो यह आशा की जानी चाहिए कि वह नयी भूमि की खोज करके रहेगा।

किन्तु इस आत्मसंघर्ष में बहुतेरे विघ्न उपस्थित होते रहते हैं। सबसे बड़ा विघ्न तो यह उत्पन्न होता है कि पुराने कण्डीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्सेज़ द्वारा तैयार की गयी मूल्य-भावना नयी मूल्य-भावना के पैर जमने ही नहीं देती। उदाहरणत:, कवि ने कुछ साहसपूर्वक नया लिखा भी कि वही कवि, स्वयं, काव्य-श्रेष्ठता की अपनी पुरानी संवेदनाओं के अनुसार, नयी रचना को तौलने लगता है। जब उसे यह मालूम होता है कि काव्य-श्रेष्ठता की उसकी मूलबद्ध (पुरानी) संवेदना के अनुसार, वह नया कुछ मूल्य नहीं रखता, तो वह कवि नयी दिशा में विशेष साहस नहीं कर पाता। दूसरे शब्दों में, कण्डीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्सेज़ उसे खूब ही छकाते हैं।

आत्मसंघर्ष के दौरान में एक बड़ी बाधा यह उत्पन्न होती है कि कवि अपने को हमेशा शुरू की सीढ़ी पर, एक अल्प-बुद्धि 'बिगिनर', एक नौसिखिया उम्मीदवार, के रूप में ही पाता है। साथ ही, वह एक विचित्र प्रकार का अकेलापन महसूस करता है, क्योंकि जिस काम में वह व्यस्त है उसमें शायद ही कोई संलग्न हो। एक ओर, प्रकट होने के लिए बेचैन यथार्थ उसकी क्षमता को चुनौती देता है। यहाँ तक कि कभी-कभी उस चुनौती को ग्रहण करने के दौरान में, कण्डीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्सेज़ बीच में आकर उसके हृदय में आत्मविश्वास की हानि की

घटना घटित कर देते हैं। मेरी अनगिनत कविताएँ इस घटना से खण्डित होकर इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं।

आत्मसंघर्ष का अर्थ, कवि के हृदय में, केवल नये और पुराने के बीच झगड़ा ही नहीं है। कण्डीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्स, कवि को उसके नये अनुरोधों और उद्वेगों से हटाकर, उसके अलग रूपों और चित्रों की तरफ़ उसे ले जाते हैं। किन्तु जिस कवि में आत्म-निरीक्षण जितना तीव्र होगा, वह कण्डीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्सेज़ से उतना ही जूझ सकेगा। निःसन्देह इस आत्म-निरीक्षण के अन्तर्गत अपने मूल कथ्य के महत्त्व की पहचान भी है। इस नयी भावना के प्रति जो कवि जितना ईमानदार और आग्रहशील रहेगा, वह धीरे-धीरे नयी अभिव्यक्ति का रास्ता खोज लेगा।

रचना-प्रक्रिया, वस्तुतः, एक खोज और एक ग्रहण का नाम है। अभिव्यक्ति के कार्य के दौरान में कवि नयी खोज भी कर लेता है। इस तथ्य को मैं एक उपमा-चित्र द्वारा स्पष्ट करना चाहूँगा।

वीरान मैदान, अँधेरी रात, खोया हुआ रास्ता, हाथ में एक पीली मद्धिम लालटेन। यह लालटेन समूचे पथ को पहले से उद्घाटित करने में असमर्थ है। केवल थोड़ी-सी जगह पर ही उसका प्रकाश है। ज्यों-ज्यों वह पग बढ़ाता जायेगा, थोड़ा-थोड़ा उद्घाटन होता जायेगा। चलनेवाला पहले से नहीं जानता कि क्या उद्घाटित होगा। उसे अपनी पीली मद्धिम लालटेन ही का सहारा है। इस पथ पर चलने का अर्थ ही पथ का उद्घाटन होना है, और वह भी धीरे-धीरे, क्रमशः। वह यह भी नहीं बता सकता कि रास्ता किस ओर घूमेगा या उसे किन घटनाओं या वास्तविकताओं का सामना करना पड़ेगा। कवि के लिए, इस पथ पर आगे बढ़ते जाने का काम महत्त्वपूर्ण है। वह उसका साहस है। वह उसकी खोज है। बहुतेरे लोग, जिनमें कवि भी शामिल हैं, इस तथ्य को भूल जाते हैं, क्योंकि वे उस पर चलना नहीं चाहते, अथवा बीच में से ही भाग जाना चाहते हैं।

इस रास्ते पर बढ़ने के लिए, निःसन्देह, आत्मसंघर्ष करना पड़ता है। केवल एक लालटेन है, जिसके सहारे उसे चलना है।

इस उपमा को देखकर बहुतेरे लोग यह आरोप लगायेंगे कि यहाँ किसी अव-चेतनवादी सिद्धान्त का निरूपण हो रहा है। किन्तु कोई भी रचनाकार यह जानता है कि रचना के बढ़ते जाने के मार्ग का नक़्शा, रचना के पूर्व नहीं बनाया जा सकता, और यदि बनाया गया तो वह यथातथ्य नहीं हो सकता। रचना-प्रक्रिया, वस्तुतः, एक स्वायत्त प्रक्रिया है। और वह किन्हीं मूल उद्वेगों और अनुरोधों के सहारे चली चलती है। ये उद्वेग और अनुरोध ही वह लालटेन है, जिसको हाथ में लेकर उसे आगे चलना होता है।

और यह पथ क्या है? वस्तुतः बाह्य संसार का आभ्यन्तरीकृत रूप है। बाल्यकाल से ही मनुष्य, बाह्य संसार का अनवरत आभ्यन्तरीकरण करता रहा है। और इस प्रकार वह उस आभ्यन्तरीकृत बाह्य को उन विशेषताओं से समन्वित

और सम्पादित करता रहा है, जो उसके 'स्व' की विशेषताएँ हैं।

यह आभ्यन्तरीकृत वाह्य, या कहिये कवि की अपनी सम्पत्ति अथवा, दूसरे शब्दों में, कवि का मनोजगत्, किन्हीं उद्वेगों या अनुरोधों से विचलित होकर कल्पना-नेत्रों के सामने चंचल हो उठता है। उसे प्रतीत होता है कि उसकी चेतना अँधेरे मैदान में वहनेवाली सरिता है, जिसकी लहरें कुछ क्षणों के लिए चमक-चमक उठती हैं।

उसके चेतन-वोध, यानी ध्यान के ओट के कारण ही वह इस आभ्यन्तर वास्तव को रहस्यमय ही समझेगा। यह उसके लिए स्वाभाविक ही है। किन्तु जब वह रचना कर चुकता है, तो उसकी रचना, वस्तुतः, पुनर्रचित जीवन ही होती है—वह जीवन, जो आत्म-पक्ष और वस्तु-जगत् की क्रिया-प्रक्रिया के उलझे रूप से बना हुआ है।

चूँकि कवि का आभ्यन्तर वास्तव वाह्य का आभ्यन्तरीकृत रूप ही है, इसी-लिए कवि को अपने वास्तविक जीवन में, रचना-वाह्य काव्यानुभव जीना पड़ता है। कवि केवल रचना-प्रक्रिया में पड़कर ही कवि नहीं होता, वरन् उसे वास्तविक जीवन में अपनी आत्म-समृद्धि को प्राप्त करना पड़ता है और मनुष्यता के प्रधान लक्ष्यों से एकाकार होने की क्षमता को विकसित करते रहना पड़ता है। यही कारण है कि काव्य केवल एक सीमित शिक्षा और संस्कार नहीं है, वरन् एक व्यापक भावनात्मक और वौद्धिक परिष्करण (कल्चर) है—वह कल्चर, वह परिष्कृति, जो वास्तविक जीवन में प्राप्त करनी पड़ती है।

वाह्य का आभ्यन्तरीकरण एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यदि यह आभ्यन्तरी-करण, वचकाने ढंग से, दूषित दृष्टि से, अवैज्ञानिक रूप से, और मनो-विकृतियों से, ग्रस्त होकर किया गया हो, तो तुरन्त ही उसका साहित्य पर भी परिणाम होता है। इसीलिए कवि के लिए सतत आत्म-संस्कार आवश्यक है, जिससे वाह्य का आभ्यन्तरीकरण सही-सही हो।

ध्यान रहे कि मनोवेगों में स्वयं-स्फूर्ति के अतिरिक्त यान्त्रिकता भी होती है। यही यान्त्रिकता विवेक की शत्रु है। अपने से ऊपर उठकर सोचने-समझने की शक्ति तथा भावना, मन की संवेदना—ये दो छोर हैं स्रष्टा मन के।

जगत्-जीवन के संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना में समायी हुई मार्मिक आलोचन-दृष्टि के विना कवि-कर्म अधूरा है।

विश्व-संघर्ष की पार्श्वभूमि में व्यक्ति-संघर्ष और विश्व-स्थिति की पार्श्वभूमि में व्यक्ति-स्थिति रखकर, अन्तर्वाह्य वास्तविकताओं से प्रेरित जो लक्ष्य-चित्र आविर्भूत होते हैं, वे भव्य प्रेरणाओं को उत्सर्जित करते हैं। मेरा अनुभव मुझे यह वताता है कि नयी कविता में नियो-क्लासिसिज़्म के वीज पक चुके हैं। और अभी से विभिन्न कवियों में उसकी आशाएँ प्रकट हो रही हैं।

हिन्दी में इन दिनों दो प्रकार के वर्ग काम कर रहे हैं। एक, उच्च-मध्यवर्गीय जन, दूसरे, निम्न-मध्यवर्गीय जन। इन दोनों के वीच की खाई लगातार चौड़ी

होती जा रही है। विश्व का जो आभ्यन्तरीकरण ये दो वर्ग करते जा रहे हैं, उसमें वड़ा भेद दृष्टिगत हो रहा है। इन दोनों श्रेणियों की प्रधान भावनाएँ एक-दूसरे से जुदा हो चुकी हैं। दोनों के सामने दुनिया दो अलग संवेदनात्मक रूपों में प्रस्तुत हो रही है। प्रगतिशील जीवन-मूल्य निम्न-मध्यवर्गीय श्रेणी के भावना-चित्रों में अधिक पाये जाते हैं। इस श्रेणी में, जीवन-संघर्ष की अधिकता के फलस्वरूप, अन्तर्मुखता और भाव-सघनता तो होती ही है, किन्तु उसके साथ, शिक्षा, स्वाध्याय और समय के अभाव के कारण, काव्य-सौन्दर्य के विकास के प्रति विमुखता भी दृष्टिगोचर होती है। किन्तु सबसे अधिक चिन्तनीय यह है कि वे तथाकथित अभिजात उच्च-मध्यवर्गीय काव्य-संस्कृति में आच्छन्न होकर अपनी विशिष्टता को प्रखर रूप से प्रकट नहीं कर पाते।

यह धारणा ग़लत है कि आत्मपरक काव्य व्यक्तिवादी काव्य है। भारतीय संस्कृति द्वारा विकसित की गयी परम्पराओं में से एक परम्परा आत्मपरक काव्य की है। आत्मपरक काव्य में प्रगतिशील जीवन-मूल्य भी प्रकट होते हैं, होते रहते हैं।

अपने लक्ष्यों के प्रति हार्दिक स्नेह के विना, जिज्ञासा, आत्म-संस्कार, आत्म-निरीक्षण तथा आत्म-संघर्ष, सब व्यर्थ है। लक्ष्यों के प्रति दुर्दान्त स्नेह की आस्तिकता के बिना वास्तविक अस्मिता का विकास नहीं हो सकता, और उन्हीं के सन्दर्भ से हमेशा यह जाना जायेगा कि कवि किस सतह से बोल रहा है। ध्यान रखना चाहिए कि कवि किस सतह से बोल रहा है, यह हमेशा महत्त्वपूर्ण होता है और यही उसके निवेदनों या चित्रणों को द्योतित करता है।

[सम्भावित रचनाकाल 1959 के बाद। **नयी कविता का आत्मसंघर्ष** में संकलित]

काव्य की रचना-प्रक्रिया : दो

रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में मतों की भिन्नता स्वाभाविक है। इसका एक कारण तो यह है कि रचना-प्रक्रियाएँ स्वयं भिन्न-भिन्न होती हैं। वे कवि-स्वभाव, कवि-दृष्टि और विषय-वस्तु के अनुसार बनती-बदलती रहती हैं। रचना-प्रक्रिया का कोई निर्विशिष्ट सामान्य रूप नहीं है, यद्यपि यह सही है कि उस प्रक्रिया के मूल तत्त्व सर्व-सामान्य हैं।

इस बात को हम यों समझें। संवेदनात्मक उद्देश्य, कल्पना, भावना, बुद्धि-तत्त्व

सर्व-सामान्य हैं। उनके कार्य के विना रचना-प्रक्रिया सम्भव नहीं है। किन्तु, इन तत्त्वों की विभिन्न मात्राओं, विभिन्न अनुपातों और विभिन्न प्रकार के योगों से विभिन्न विशिष्ट रूप प्राप्त होते हैं। ये योग विभिन्न संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार घटित होते हैं। ये संवेदनात्नक उद्देश्य रचनाशील मन की अपनी निधि हैं, और उस पूरे अन्तर्जगत् का अंग हैं, कि जो अन्तर्जगत् कवि ने पाया और विकसित किया है। यह अन्तर्जगत् वाह्य-जगत् का आत्मकृत संशोधित-सम्पादित अन्तःसंस्कृत रूप है, और उस क्रिया-प्रतिक्रिया की गतिमान परम्परा की उपज है, कि जो क्रिया-प्रतिक्रिया लेखक वाल्यकाल से वाह्य के प्रति करता आया है। संक्षेप में, रचना-प्रक्रिया के भीतर न केवल भावना, कल्पना, बुद्धि और संवेदनात्मक उद्देश्य होते हैं, वरन् वह जीवनानुभव होता है जो लेखक के अन्तर्जगत् का अंग है, वह व्यक्तित्व होता है जो लेखक का अन्तर्व्यक्तित्व है, वह इतिहास होता है जो लेखक का अपना संवेदनात्मक इतिहास है। और केवल यही नहीं होता।

वाह्य से प्राप्त ज्ञान-निधि और भाव-परम्परा लेखक के अन्तर्जगत् में स्थान पाकर, उसके (लेखक के) व्यक्तित्व की आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दिशा में, अपने विभिन्न रूप (उसके हृदय में) गठित करती हुई उसकी अपनी ज्ञान-निधि और भाव-परम्परा वन जाती है। वाह्य से प्राप्त ज्ञान और भाव लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व में ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि वे उसके निजी हो जाते हैं। इसीलिए कोई भी लेखक अपने युग से केवल प्रभावित नहीं होता, वह अपने युग का अंग होता है।

काव्य-कला-सम्वन्धी जितनी भी समस्याएँ हैं वे इस पूरी-की-पूरी प्रक्रिया के किसी स्तर-विशेष से सम्वन्धित होती हैं। उदाहरण के लिए, ऐसी समस्याएँ लीजिये जिनको पुराने प्रगतिवाद ने उठाया। कहा गया कि लेखक को अपने युग का सही-सही प्रतिनिधित्व करना चाहिए, इस प्रकार से कि वह युग की ह्रासशील दशा के विरुद्ध प्रगतिशील प्रवृत्तियों को उभारे, समाज में जो शक्तियाँ, विपमता, अनाचार और उत्पीड़न को क़ायम रखना चाहती हैं, उनके विरुद्ध वह साम्य-मूलक समाज के आदर्श की स्थापना करे और पाठक को वैसी प्रेरणा प्रदान करे।

इस प्रकार के आग्रह के विरोध में जो कहा गया वह सवको विदित है—यह, कि लेखक स्वतन्त्र है, और नेताओं तथा शासकों के आदेश को मानने के लिए वह वाध्य नहीं है, कि इस प्रकार के आग्रहों से साहित्य में रेजिमेन्टेशन होता है।

ये सव विवाद हिन्दी-साहित्य के इतिहास की वस्तु हो गये हैं। किन्तु इस विवाद के मूल कारण-स्रोत भले ही आँखों से ओझल हो जायें, वे लुप्त और नष्ट नहीं हुए हैं। आज भी लेखक के दायित्व की वात की जाती है। यही क्यों? एक के देखा-देखी दूसरा भी एक ही प्रकार के भाव और शैली का प्रयोग करता है, एक ही प्रकार की परम्परा और प्रणाली को अपनाता है, और इस प्रकार एक विशेष प्रकार के काव्य की एक विशिष्ट धारा और रूढ़ि वन जाती है—भाव-रूढ़ि, रूप-रूढ़ि, शैली-रूढ़ि। हाँ, यह सही है कि कवि-स्वभाव के अनुसार किंचित् भेद यत्र-तत्र दिखायी देता है। फिर भी वह काव्य-प्रवृत्ति प्रणाली और रूढ़ि का रूप

तो धारण कर ही लेती है, भले ही विशिष्ट कवियों में हमें विशिष्ट भिन्नताएँ भी दिखायी दें, जैसे प्रसाद और महादेवी के काव्य में, या शमशेर तथा उसी शैली के किसी दूसरे कवि में। तो क्या युग स्वयं रेजिमेन्टेशन नहीं करता? रीतिकाल में विशिष्ट शैली और विशिष्ट भाव-प्रणाली की कविता ही क्यों हुई? क्या वह रेजिमेन्टेशन नहीं था? और हम अपने युग की शृंखलाओं को भी क्यों स्वीकार करें? यह सही है कि कोई भी लेखक अपने व्यक्तित्व से, अपने इतिहास से, अर्थात् अपने देश-काल से, स्वतन्त्र नहीं है। किन्तु, जब वह सचमुच स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करता है तो इसका अर्थ यह है कि युग बदलने के लक्षण सामने आ रहे हैं, तो दूसरी ओर, यह भी, कि लेखक आदर्श-अनुगमन करने के लिए भीतर से वाध्य हो उठा है, क्योंकि (उपर्युक्त अर्थ में) स्वतन्त्रता, वस्तुतः, एक आदर्श है, वह वास्तविकता नहीं है। अपनी युग की सीमाओं के परे देखकर, परे जाकर, आगे के मार्ग को देखना महत्त्वपूर्ण घटना है। इस वात को हम कैसे भूल सकते हैं।

आज भी हमें (नये कवियों को) भारतीय संस्कृतिवादी पुरोहित पाठ पढ़ाते रहते हैं कि कवियों को यह करना चाहिए, वैसा होना चाहिए। और इस प्रकार के आग्रह और प्रश्न आगे भी उठते रहेंगे।

इन सारे प्रश्नों का सम्वन्ध कवि के अन्तर्जगत् से है। कवि से जब हम यह कहते हैं कि उसे ऐसा करना चाहिए और वैसा नहीं लिखना चाहिए, तो, वस्तुतः, हम उसके अन्तर्जगत् (और उसके अन्तर में स्थित जीवन-मूल्य-पद्धति) पर आक्षेप कर रहे हैं। इस प्रकार के आग्रह उसके अन्तर्जगत् में संशोधन करने के आग्रह हैं।

ये आग्रह ग़लत हैं या सही हैं, यह मैं नहीं कह रहा हूँ। इस प्रकार के वाह्य से उद्गत आग्रह स्वयं लेखक मान सकता है। ठीक यहीं लेखक की सिनसियॉरिटी का प्रश्न उठता है। वाह्य से उद्गत आग्रहों को माननेवाले ऐसे वहुतेरे लेखक हो सकते हैं जो 'अवसरवादी प्रेरणाओं से' वैसा मानने के लिए तैयार हों, और वाह्य से उद्गत आग्रहों को स्वीकार कर लें। किन्तु कुछ लेखक निःसन्देह ऐसे भी हो सकते हैं जो स्वेच्छापूर्वक और आत्म-प्रेरणापूर्वक इन वाह्योद्गत आग्रहों को मानें और उन आग्रहों में प्रकट जीवन-दृष्टियों को आत्मसात् करके उन दृष्टियों को ही अपने अन्तर्जगत् का अंग वना लें। लेखक की सिनसियॉरिटी का प्रश्न, वस्तुतः, उसके अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति से सम्वन्धित है। यदि वह अभिव्यक्ति कृत्रिम है तो निःसन्देह वहाँ सिनसियॉरिटी नहीं है। किन्तु कृत्रिमता केवल इनसिनसियॉरिटी की ही उपज नहीं होती, वह अकवित्व की [भी] उपज होती है, अर्थात् अन्तर्जगत् की निर्जीवता और जड़ता का प्रमाण हो सकती है।

इसी प्रकार का प्रश्न कवि की निःसंगता का प्रश्न है। जब वाह्य से आग्रह वलवान होते हैं और कवि उनके दवाव को सह नहीं पाता, तो वह अपनी मूलभूत निःसंगता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहता है कि सृजन अकेले में होता है, साहित्य व्यक्ति की उपज है, जो व्यक्ति के लिए है। (वाह्य आग्रहों के दवाव

और प्रभाव के निरोध के लिए, प्रतिरोध के लिए, उपर्युक्त तर्क प्रस्तुत किया जाता है।)

यह सही है कि सृजन अकेले में होता है। ऐसी बहुत-सी बातें होती हैं, जो बिलकुल अकेले में होती हैं। कहा जा सकता है कि वहाँ भी संग होता है। किन्तु, फिर भी, वह ऐकान्तिक संग समाज-स्वीकृत या समाज-निन्दित होता है। संक्षेप में, मनुष्य की ऐकान्तिक दशा भी समाज के लिए विचारणीय होती है, बशर्ते कि उसका कोई सामाजिक परिणाम हो या सामाजिक प्रभाव हो। ठीक इसी प्रकार, सृजन की ऐकान्तिकता में भी सहचरत्व होता है, संग होता है। इस संग या सहचरत्व के बिना सृजन सम्भव नहीं है। इस सृजन का परिणाम अर्थात् कलाकृति पाठकों के हाथ में जाने पर समाज में प्रवेश करती है, और समाज में अपना प्रभाव उत्पन्न करती है। इसीलिए समाज उस पर सोचता-विचारता है, और जिस कलाकृति का श्रेष्ठतम प्रभाव उत्पन्न होता है, उसका रचयिता समाज द्वारा पूज्य होता है।

संक्षेप में, इस प्रकार के जितने भी प्रश्न हैं वे कलाकार द्वारा आभ्यन्तरीकृत जगत् से सम्बन्ध रखते हैं, अथवा आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया से सम्बन्ध रखते हैं, या कलाकार की उस स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं कि जब कलाकार स्वत:-संस्कृत आभ्यन्तरीकृत जगत् की अभिव्यक्ति करता है, अर्थात् सृजन करता है। इसीलिए कलाकृति में व्यक्त व्यक्तित्व की भी आलोचना की जाती है। इसीलिए कहा जाता है कि अमुक कवि की अति-भावुकता अवांछनीय है। अथवा उसकी भाव-दृष्टि में दोष है, अथवा लेखक साम्प्रदायिक (धार्मिक अर्थ में नहीं) दृष्टि से जीवन-जगत् की व्याख्या करता है अपनी कलाकृति में, इत्यादि-इत्यादि। दूसरे शब्दों में, कलाकृति में प्रकट अन्तर्जगत् और कवि के व्यक्तित्व की समीक्षा और उसका मूल्यांकन किया जाता है, कहा जाता है कि यह भाव कृत्रिम है, या इसमें लेखक की ईमानदारी है, या उसने जीवन को खूब देखा-परखा है।

आलोचना की दृष्टि से जो बात सबसे पहले सामने आती है, कवि-कर्म और रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से वह सबसे अन्तिम है। रचना-प्रक्रिया के प्रवाह में रह-कर लेखक अपने भावों की शब्दों से तुलना करता है। जो शब्द सर्वाधिक प्राति-निधिक हैं, उनकी योजना करता है। वह शब्द-साधना करता है। साथ ही संगति और निर्वाह को साधता चलता है, वह अपने ही भावों के उत्स को संयमित कर उनका सम्पादन-संशोधन करता है—संगति और निर्वाह के हेतु। जब उसकी शब्दाभिव्यक्ति उसी के लिए रमणीय हो जाती है, तब वह सन्तुष्ट हो जाता है, भले ही आगे चलकर वह उसमें, नवीन-प्राप्त सूक्ष्म-दृष्टि के अनुसार, फिर से संशोधन करे।

किन्तु, पाठक और आलोचक किसी कलात्मक अभिव्यक्ति के सिंह-द्वार से सीधे अन्तर्जगत् में प्रवेश करते हैं—वह अन्तर्जगत् जो किसी कलाकृति में उद्घाटित हुआ है, वह अन्तर्जगत् जिसमें कलाकार का व्यक्तित्व, उसके जीवनानुभव, उसकी भाव-दृष्टि समायी हुई है। पाठक-आलोचक का मन उस अन्तर्जगत् में रमता है,

उसका रस लेता है, उसमें विचरण करता है, औरयदि उस अन्तर्जगत् में उसे कहीं (अपने लिए) बाधा दिखायी दी तो वह वहाँ ठहर जाता है और सोचने लगता है। उसे कलाकार का अन्तर्जगत्, उसमें समाया हुआ व्यक्तित्व और भाव-दृष्टि आकर्षित करती है। और वह यह ढूंढ़ने लगता है और पा जाता है कि वह भाव-दृष्टि उसके लिए (और सभी के लिए) क्यों महत्त्वपूर्ण है, या नहीं है।

संक्षेप में, रचना-प्रक्रिया का जो सर्वाधिक मूल-स्थित, सर्वाधिक प्रच्छन्न, किन्तु क्रमशः प्रकट होनेवाला अंश है, वह पाठक और आलोचक के लिए सर्वप्रथम है। कलाकार रचना के समय, शब्दाभिव्यक्ति के संघर्ष में, संगति और निर्वाह के संघर्ष में, भावों के उत्स को प्रातिनिधिक रूप देने के यत्न में लीन होता है। यह उसका तात्कालिक संघर्ष है। पाठक-आलोचक का यह तात्कालिक-यत्न नहीं है। कलात्मक अभिव्यक्ति उसके लिए कलाकृति का केवल सिंह-द्वार है, जिसमें से गुज़रकर वह अन्तर्जगत् के क्षेत्र में विचरण करता है। इसीलिए मैंने कहा कि पाठक-आलोचक के ध्यान का जो प्राथमिक केन्द्र है वह है अन्तर्जगत्, और रचयिता के ध्यान का जो प्राथमिक केन्द्र है वह है अन्तर्जगत् की प्रातिनिधिक शब्दाभिव्यक्ति और कलात्मक संगति और निर्वाह।

कलात्मक अभिव्यक्ति के सिंह-द्वार में से गुज़रकर, अन्तर्जगत् में विचरण कर चुकने, रस ले चुकने, व्यक्तित्व और भाव-दृष्टि का प्रभाव ग्रहण कर चुकने के उपरान्त, पाठक-आलोचक अन्तर्जगत् के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही सहसा सोचने लगता है कि प्रभाव उत्पन्न करने के वे उपादान कौन-कौन-से हैं, जिन्होंने सफल अभिव्यक्ति की तैयारी की, अथवा सफलता के मार्ग पर चलते-चलते लेखक ने कौन-सी बाधाएँ उत्पन्न कर दीं। अब वह रूप और शिल्प के सम्बन्ध में सोचने लगता है। संक्षेप में, किसी कलाकृति को लेकर पाठक-आलोचक की यात्रा भिन्न दिशा की ओर होती है, सृजन करते समय कलाकार की यात्रा उसके विपरीत दिशा की ओर होती है। इस तथ्य को हृदयंगम करना आवश्यक है।

तब समझ में आयेगा कि जीवन-जगत् के आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया कलाकार के लिए क्यों महत्त्वपूर्ण है। यह प्रक्रिया कलाकार के वास्तविक जीवन में चलती रहती है। किन्तु क्या वह समुचित रूप से और प्रबुद्ध दृष्टि से युक्त होकर चलती रहती है? यदि कलाकार का जीवन, उसका बाह्य और मानसिक जीवन, तुच्छ है, अर्थात् नव-नवीन संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाओं से हीन है, यदि उसमें उदार सहानुभूतियों का विस्तार नहीं है, यदि उसमें नितान्त आत्म-बद्धता है, तो फिर ऐसा अन्तर्जगत् कलाभिव्यक्ति के लिए महत्त्वहीन है। संक्षेप में, उस अन्तर्जगत् में महत्त्व की सूचनाएँ चाहिए। (यहाँ महत्त्व का अर्थ है, जो महत्त्वपूर्ण है वह।)

यही कारण है कि आदिकाल से कवि को महान् माना गया है, उसके अन्तर्जगत् में महत्त्व की स्थापना को देखकर। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि कवि को अध्यात्मवादी, आदर्शवादी, अमुक-तमुक-वादी होना चाहिए। मैं सिर्फ़ यह कहना

चाहता हूँ कि कवि के अन्तर्जगत् की ओर आदिकाल से ध्यान गया है, और उसके महत्त्व की स्थापना की गयी है।

किन्तु आधुनिक युग में, जबकि व्यक्ति पर तरह-तरह के दवाव हैं, उनमें से एक दवाव समाज का भी होता है। उसी प्रकार कलाकार पर भी समाज का दवाव होता है। समाज के दवाव के माध्यम भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। परम्परा का वहन समाज का दवाव नहीं तो क्या है? उसी प्रकार प्रचलित काव्य-प्रणाली से अपनी संगति एक अन्य प्रकार का सामाजिक दवाव ही है। हाँ, यह सही है कि ये दवाव प्रत्यक्ष नहीं, वरन् अप्रत्यक्ष होते हैं। जिस प्रकार इनडायरेक्ट टैक्सेशन (अप्रत्यक्ष कर-व्यवस्था) उपभोक्ता को नहीं खलता, उसी प्रकार समाज के अप्रत्यक्ष दवाव भी सामने नहीं आते, किन्तु वे वरावर सक्रिय रहते हैं।

उसी प्रकार वैचारिक आन्दोलन के रूप में भी कई सामाजिक दवाव होते हैं। ये विशेष आग्रहों-अनुरोधों का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार के विशेष आग्रह-अनुरोध कभी केवल कलात्मक शब्दावली का रूप भी धारण करते हैं। कला के एक विशेष पैटर्न के आग्रह, कला-सम्वन्धी एक विशेष भाव-दृष्टि के आग्रह, कोई वैचारिक दृष्टि अपनाने के आग्रह, लोकोपयोगी कला-सृजन करने के आग्रह—सव वस्तुतः सामाजिक दवाव ही हैं, किसी में किसी भाव-दृष्टि का आग्रह है तो किसी में किसी पैटर्न का आग्रह।

ये सव दवाव या आग्रह उचित होते हैं, यह कहना ग़लत है। उसी प्रकार ये सव अनुचित होते हैं, यह कहना भी उतना ही ग़लत है। उनमें से वहुत-से आग्रह न केवल सही, वरन् पूर्णतः उचित हो सकते हैं।

किन्तु आग्रह-कर्त्ता जव एक वातावरण निर्मित करके कलाकार पर दवाव लाना चाहते हैं, तो वे यह नहीं देखते कि दवाव का, वस्तुतः, क्या प्रभाव होगा। हाँ, यह सही है कि ऐसे वहुतेरे निकल आते हैं जो अपनी अपरिपक्वावस्था के कारण, अथवा विशुद्ध अवसरवादी दृष्टि से प्रेरित होकर, दवाव ग्रहण करके उस दवाव के अनुसार कलाकृति प्रस्तुत करते हैं, चाहे घटिया ही क्यों न सही। शेष, जो दवाव स्वीकार करना नहीं चाहते, और चाहते हुए भी नहीं ही कर सकते, वे चुप वैठ जाते हैं, अलग हट जाते हैं और तिरोहित होने में ही अपना कल्याण समझते हैं। मेरे ख़याल से ये दोनों परस्पर-विपरीत प्रतिक्रियाएँ या परस्पर-वैपरीत्य सही भी हो सकता है, ग़लत भी। यह विशेष परिस्थिति पर निर्भर है कि कौन-सा ग़लत है, कौन-सा सही।

किन्तु इन आग्रहों की आधार-भूमि, इन आग्रहों के मूल-स्रोत, यदि व्यापक मानवीय सहानुभूति और करुणा से समन्वित हैं, यदि किसी व्यापक मानवीय आदर्श से प्रेरित हैं, तो यह अनुमान करना ग़लत नहीं है कि उन्हीं व्यापक सहानुभूतियों और व्यापक मानवीय आदर्शों का कुछ-न-कुछ तत्त्व या कुछ-न-कुछ अंश लेखक भी अपने में आत्मसात् किये हुए है। अतएव किसी सामान्य भूमि पर आग्रह-कर्त्ता और लेखक दोनों एकत्र हो सकते हैं, वशर्ते कि (और यह वड़ी शर्त है)

आग्रह-कर्त्ता महोदय रचना-प्रक्रिया में भी सूक्ष्म-दृष्टि रखते हों, और उस रचना-प्रक्रिया का एक सिरे, अर्थात् लेखक के हृदय में तड़पते हुए जीवनानुभव, जीवनानुभवों के सामान्यीकरण (ज्ञान) और भाव-दृष्टि, को खूब समझते हों। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल छायावादी रचना-प्रक्रिया को नहीं समझते थे, इसीलिए उसका विरोध करते रहे। अधिक-से-अधिक, छायावाद को उन्होंने 'अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली' ही माना। डॉ. रामविलास शर्मा को प्रयोगवादी या नयी कविता में, 'असुन्दर' और 'विद्रूप' से अधिक कुछ नहीं दीखता। शिवदानसिंह चौहान को इस बात का खेद है कि आज की कहानी में 'कथानक' तत्त्व का लोप हो रहा है। अतएव ऐसे आलोचकों के आग्रह, रचना-प्रक्रिया में सूक्ष्म दृष्टि के अभाव में, लादे जा रहे-से और खोखले मालूम होते हैं। कारण यह है कि नयी प्रकृतियों और प्रवृत्तियों की रचना-प्रक्रिया में सूक्ष्म-दृष्टि रखने के लिए आलोचक को संवेदनात्मक जीवन-ज्ञान आवश्यक है—ऐसे जीवन का ज्ञान जो नवीन प्रवृत्ति-रूप में सामने आया हो। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके आग्रह, उनके अपने मान्यता-रूप में, स्वभावत: गलत हैं; नहीं, वे सही भी हो सकते हैं। किन्तु जब तक वे लादे जायेंगे, रचना-प्रक्रिया में सूक्ष्म दृष्टि के अभाव में, वे खोखले और निरुपयोगी ही साबित होंगे, और, अपने-आपमें उनके सहीपन के बावजूद, उनका विरोध होता ही रहेगा।

दूसरी ओर, भले ही कोई लेखक वैचारिक दृष्टि से कोई बाह्य आग्रह स्वीकार कर ले, जब तक उस आग्रह के तत्त्वों का आभ्यन्तरीकरण नहीं होता, जब तक अन्तर्जगत् के तत्त्वों में उसका रंग नहीं चढ़ जाता, जब तक वह हृदय में तड़पते हुए जीवनानुभवों का एक भाग नहीं बन जाता, तब तक उस आग्रह के अनुरूप रचित साहित्य निष्प्राण और कृत्रिम ही रहेगा। लेखक के लिए मुख्य बात आभ्यन्तरीकरण की है। आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया केवल विचार तक सीमित नहीं है, वह उससे ज़्यादा गहरी, व्यापक और मानसिक है। जब तक लेखक अपने स्वयं के जीवनानुभवों से प्राप्त दृष्टि के रूप में उन्हें नहीं पाता, तब तक आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया पूरी नहीं हुई, यह समझना चाहिए। सच्चा आभ्यन्तरीकरण तो तब होता है, जबकि लेखक जिन्दगी में गहरा हिस्सा लेते हुए संवेदनात्मक जीवन-ज्ञान प्राप्त करके, उसी भाव-दृष्टि तक स्वयं अपने-आप पहुँचता है, कि जो भाव-दृष्टि आग्रह-रूप में बाहर से उपस्थित की गयी है।

आग्रह कई प्रकार से उपस्थित होते हैं। कुछ कला के नाम पर, कला की शब्दावली में प्रस्तुत होकर, साहित्य-जगत् का शासन भी करने लगते हैं। कुछ समय तक उनका शासन चलता भी है, लेकिन समाज और राष्ट्र की भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न पीढ़ी कला की शब्दावली में छिपे आग्रहों की निन्दा करती है। उदाहरणत:, सन् 1960 के **सैटर्डे रिव्यू** में टी. एस. ईलियट के विरुद्ध ज़बर्दस्त आक्रमण के रूप में लिखा हुआ कार्ल शैपिरो का लेख। महत्त्व की बात यह है कि जीवन-परिस्थिति में परिवर्तन के साथ-साथ भाव-दृष्टि बदलने लगती है, और यथार्थ के नये-नये पहलू सामने आते हैं, जिन्हें कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए

उपयुक्त शब्द-सम्पदा और परम्परा नहीं होती। लेखक को नये सिरे से प्रयत्न करना पड़ता है। भले ही पुरानी पीढ़ी को नयी पीढ़ी के काव्य में कोई सौन्दर्य न दिखायी दे, किन्तु नयी पीढ़ी को उसमें ही अपना आत्म-प्रकाश, अतः सौन्दर्य, दिखायी देता है। पुराने लेखक आग्रह-रूपी अस्त्रों से नयों का वध करने का प्रयत्न करते ही रहते हैं। मजा यह है कि ये आग्रह कला और सौन्दर्य के नाम पर होते हैं, फिर भी नवीन प्रवृत्तिवालों को वे स्वीकरणीय नहीं हो पाते।

संक्षेप में, यथार्थ परिवर्तनशील होता है। अतएव आग्रह भी दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो कला या दृष्टि के नाम पर परिवर्तन-क्रम की पिछली अर्थात् विगत कड़ी या सीढ़ी की ओर खींचते हैं, और वे जो परिवर्तन-क्रम की अगली कड़ी या सीढ़ी की ओर खींचते हैं। यह अगला या पिछलापन यथार्थ के परिवर्तन-क्रम को देखकर पहचाना जाना चाहिये, न कि वैचारिक दृष्टि से उच्चतरता या निम्नतरता की दृष्टि से। ऐसा मैं क्यों कह रहा हूँ?

यह कहना इसलिए आवश्यक है कि जीवन-परिस्थिति में परिवर्तन से, और यथार्थ के नये-नये पहलुओं के खुलने से, उनके आभ्यन्तरीकरण के द्वारा लेखक का जो संवेदनात्मक वैयक्तिक इतिहास बनता है, वह इतिहास पूर्ववर्ती प्रवृत्ति के कवियों से सर्वथा भिन्न होता है। अतएव इस नवीन प्रवृत्तिवाले की रचना-प्रक्रिया भी बदल जाया करती है, और तदनुसार अभिव्यक्ति-शैली भी। अमरीका में आज नवीन काव्य-शैली का जो प्रचलन है, उसके विरुद्ध पुराने कवियों का आक्रोश सर्वथा स्वाभाविक है। उसी प्रकार नवीन काव्य-शैली वालों को अपने अस्तित्व के लिए पुरानों का प्रतिरोध करना पड़ता है। यह विरोध वैचारिक दृष्टि से उच्चतरता या निम्नतरता का परिणाम नहीं है, वरन् एक काव्य-प्रवृत्ति के विशेष पैटर्न को और उसके साथ उसके अन्तर्गत समय (विगत) जीवन-तत्त्वों को समेटे रखने और स्थायी बनाने का प्रयत्न है। इसके विरुद्ध नये का विद्रोह होना स्वाभाविक ही है। दूसरे शब्दों में, पुरानी पीढ़ी के लोग, नयी पीढ़ी के लोगों द्वारा आभ्यन्तरीकृत जगत् और आभ्यन्तरीकरण-प्रक्रिया में विकसित भाव-दृष्टि और उन दोनों से उत्पन्न अभिव्यक्ति-प्रक्रिया—इन सबको असुन्दर, निषिद्ध और बेकार ठहराने का प्रयत्न करते रहते हैं, कभी कला और सौन्दर्य के नाम पर, कभी आध्यात्मिक आदर्श के नाम पर, कभी सामाजिक प्रगति के नाम पर।

इसका अर्थ यह नहीं है कि लेखक, वैचारिक अथवा भावना की दृष्टि से, जन-विरोधी, लोक-विरोधी, प्रगति-विरोधी हो नहीं सकता। वह बराबर हो सकता है, और उसका वैसा होना दिखायी भी देता है। किन्तु किसी लेखक की विचार-धारा पर आक्रमण करना एक बात है, आभ्यन्तरीकृत यथार्थ की कवि-कृत व्याख्या पर आघात करना एक बात है, किन्तु उस पूरी काव्य-प्रणाली पर चोट करना एक अलग बात है, उस पूरी रचना-प्रक्रिया और अभिव्यक्ति-शैली पर आघात करना बात ही दूसरी है। जिस प्रकार आदर्श के शब्द-व्यापार में नितान्त अवसरवाद और बेईमानी दिखायी देती है, उसी प्रकार यथार्थ के उद्घाटन के नाम पर भी अयथार्थ

और कृत्रिमता भी सामने आती है। यह तो विशिष्ट-विशिष्ट लेखक की विशिष्ट-विशिष्ट रचनाओं को सामने रखकर ही तय किया जा सकता है।

संक्षेप में, लेखक की रचना-प्रक्रिया के प्राथमिक और निगूढ़ स्तर—अर्थात् लेखक का अन्तर्जगत्, लेखक के अन्तर्जगत् का संवेदनात्मक पुंज, लेखक का समग्र व्यक्तित्व—पाठक और आलोचक के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है, और उसके आकलन के माध्यम से रस-ग्रहण होता है। अतएव सबसे अधिक वाद-विवाद, सबसे ज़्यादा बहस, इसी को लेकर होती है।

क्यों होती है? इसलिए कि संवेदनात्मक अन्तर्जगत् अर्थात् जीवनानुभव, रचना-प्रक्रिया के दौरान में, अपने विशेष संवेदनात्मक उद्देश्यों को लेकर अवतीर्ण होते हैं। ये संवेदनात्मक उद्देश्य, एक ओर, लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व का एक भाग हैं, उसके अनुभवात्मक इतिहास से सम्बन्ध रखते हैं, उसने जो कुछ आत्मसात् किया है, जो कुछ पाया और खोया है उससे नाता रखते हैं, उसकी विद्यमान जीवन-स्थिति और मनोदशाओं से सम्बन्धित रहते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों से प्रेरित होकर ही कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। रचनाओं में प्रकट इन संवेदनात्मक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर ही कवि के अन्तर्व्यक्तित्व का, उसके अनुभवात्मक जीवन का, उसकी भाव-दृष्टि का, हमें अनुमान होता है। इस प्रकार वे एक ओर अन्तर्व्यक्तित्व को, तो, दूसरी ओर, रचना को एक-दूसरे से जोड़ देते हैं।

जीवन में जो कुछ अर्जित है, जो कुछ संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के रूप में प्राप्त है, अर्थात् जो कुछ विशिष्ट अनुभव हैं, और जीवन-जगत् सम्बन्धी जो कुछ आत्म-कृत सामान्यीकरण हैं, जो भी जीवन-मूल्य आत्मसात् किये हैं, और जिनके लिए संघर्ष किया है, जो संस्कार जो आदर्श जो यथार्थ हृदय का अनन्य अंग बन गया है—वह सबका सब स्थिर रूप में व्यक्तित्व का अंग होता है। दैनिक जीवन के दैनिक कार्यों में व्यस्त रहने से हम उस सौन्दर्य-क्षण से दूर रहते हैं, जब मन द्रवित हो जाता है, कल्पना सक्रिय होकर चित्र उपस्थित करते हुए हमें जीवन के रस में डुबोने-सी लगती है, जब हम गहन होकर विस्तृत होने लगते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसे क्षण हमें अपने अकेले में किसी कमरे में किसी टेबिल के पास मिलें और लेखनी लेकर बैठने के लिए मजबूर करें। बिलकुल नहीं। डूबकर फैलने के ये निजी क्षण रास्ते चलते, बात करते, या कभी-कभी बिलकुल भीड़ में या एकान्त में भी, मिल सकते हैं। यह भी आवश्यक नहीं है कि ये क्षण हमें अभिव्यक्ति के लिए मजबूर करें। फिर भी ये अद्वितीय क्षण हैं, प्रतीति के क्षण हैं, क्योंकि ये सौन्दर्य के क्षण हैं, रसात्मक क्षण हैं। ये क्षण केवल कलाकार को ही प्राप्त नहीं होते, वे सामान्य जन को भी प्राप्त होते रहते हैं। इन्हीं क्षणों से समृद्ध पाठक, आत्माभिव्यक्ति से दूर रहकर भी, अन्य द्वारा रचित कलाकृति में अपनी अभिव्यक्ति देखता है। ये क्षण मानवता के लक्षण हैं—उस मानवता के, जो व्यक्ति और देश से ऊपर रहते हुए भी प्रत्येक हृदय में समायी हुई है।

'स्व' से ऊपर उठना, खुद की घेरेबन्दी तोड़कर कल्पना-सज्जित सहानुभूति

के द्वारा अन्य के मर्म में प्रवेश करना, मनुष्यता का सबसे बड़ा लक्षण है। इस प्रकार की व्यापक और उदार सहानुभूति—कल्पनाशील सहानुभूति—मानवता के पिछले इतिहास ने, साहित्य और धर्म ने, कला और संस्कृति ने, संस्कार-रूप में हमें प्रदान की है। यही नहीं, बुद्धि स्वयं अनुभूत विशिष्टों का सामान्यीकरण करती हुई हमें जो ज्ञान प्रस्तुत करती है, उस ज्ञान में निबद्ध 'स्व' से ऊपर उठने, अपने से तटस्थ रहने, जो है उसे अनुमान के आधार पर और भी विस्तृत करने, की प्रवृत्ति होती है। भाषा स्वयं सामान्यीकरणों से उत्पन्न है। इस प्रकार, एक ओर तटस्थ रहकर, तो दूसरी ओर अपने से ऊपर उठकर, अपने से परे जाकर, विस्तार करने की प्रवृत्ति हममें पहले ही से विराजमान रहती है। भावना हमें डुबो देती है और परिचालित करती है, संचलित करती है। संवेदनात्मक ज्ञान के आधार पर और ज्ञानात्मक संवेदनाओं के आधार पर, हम एक साथ तटस्थ और तन्मय, अपने से परे और अपने में निमग्न, अपने से बाहर और अपने अन्दर, एक साथ रहते हैं। सहानुभूतिशील कल्पना और कल्पनाशील सहानुभूति हमें आत्म-विस्तार के लिए उद्यत कर देती है। संक्षेप में, बाह्य और अन्तर का भेद उस समय लुप्त-सा हो जाता है।

ऐसे क्षणों पर केवल कलाकार का अधिकार नहीं होता, वे सामान्य जनों को भी निरन्तर प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि साहित्य रचा और समझा जाता है। जिस प्रकार बुद्धि विशिष्टों का सामान्यीकरण करती है, उसी प्रकार कल्पना भी विशिष्ट का इस प्रकार मनश्चित्र बनाती है, कि वह मनश्चित्र सारे तत्समान विशिष्टों का प्रतिनिधि हो जाता है। ऐसे मनश्चित्र की प्रातिनिधिकता एक प्रकार का सामान्यीकरण नहीं तो क्या है?

किन्तु ये सारी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हमारे सामान्य जीवन में ही चलती रहती हैं। उन्हीं से हमारी भाव-सम्पदा बनती है। हृदय में जीवन-मूल्यों की संवेदनात्मक स्थिति उन्हीं के कारण है। संक्षेप में, निमग्नता और तटस्थता के योग से उत्पन्न आत्म-विस्तार, हमारे न देखे-जाने-पहचाने सामान्य जीवन का ही अंग है।

यह सही है कि व्यक्तियों के आत्म-वैभव की कोटियाँ होती हैं। कोई आदमी बहुत पढ़ा-लिखा होकर भी जड़ हो सकता है, और कोई डिग्रीधारी न होकर अत्यन्त परिष्कृत हो सकता है। कोई विख्यात पण्डित काव्य और कला के प्रति नि:संज्ञ और जड़ हो सकता है, लेकिन कोई बहुत मामूली पढ़ा-लिखा उसके प्रति सहज संवेदनशील हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि 'महान्' आलोचक संवेदनशील हों। यूनिवर्सिटियों के डाक्टरों की जड़ता दर्शनीय और प्रदर्शनीय है। ज्ञान के अहंकार में अज्ञान के अन्धकार का कुछ ऐसा शुभ्र रूप हमें उनमें मिलता है कि लगता है कला और साहित्य की छाती पर बैठे हुए ये टीले हैं।

ऐसे सौन्दर्य-क्षणों, ऐसे मनोवैज्ञानिक क्षणों, से वंचित अथवा अल्प-समृद्ध, दरिद्र जो आलोचक है, वह अपने को चाहे जितना बड़ा समझे—साहित्य-क्षेत्र का

अनुशासक समझे—वह, वस्तुतः, साहित्य-विश्लेषण के अयोग्य है, कला-प्रक्रिया के कार्य में अक्षम है, भले ही वह साहित्य का 'शिखर' बनने का स्वाँग रचे, मसीहा बने।

आलोचक के लिए सर्व-प्रथम आवश्यक है अनुभवात्मक जीवन-ज्ञान, जो निरन्तर आत्म-विस्तार से अर्जित होता है। खुद की घेरेबन्दी में रहनेवाले कुर्सी-तोड़ मसीहाओं के बूते की वह बात नहीं। मतलब यह कि कला की बहुत-सी समस्याएँ केवल अज्ञान के कारण पैदा की जाती हैं, जबकि असल में वे होती नहीं, हो नहीं सकतीं।

ऐसे लोगों के जो भी विश्लेषण और निर्णय होते हैं, वे कलाकार की रचना-प्रक्रिया को बिना देखे-समझे होते हैं। वह आलोचना, जो रचना-प्रक्रिया को देखे बिना की जाती है, आलोचक के अहंकार से निष्पन्न होती है, भले ही वह अहंकार आध्यात्मिक शब्दावली में प्रकट हो, चाहे कलावादी शब्दावली में, चाहे प्रगतिवादी शब्दावली में।

उपर्युक्त जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया बतायी गयी, वह सामान्य जीवन में ही होती है। वह हमारे अन्तर्जीवन को समृद्ध करती है, और उसी समृद्धि का एक भाग बन जाती है। कलाकार के अन्तर्जीवन का भी वह एक भाग होती है।

संवेदनात्मक उद्देश्य इसी भाव-समृद्धि के अंग हैं और उसी से उद्‌गत होते हैं। लेखक के पूरे व्यक्तित्व से समुद्‌गत ये संवेदनात्मक उद्देश्य, उसके अनुभवों का विशेष रूप से संकलन करते हुए उन्हें अपनी पूर्ति की दिशा में प्रवाहित कर देते हैं। यह पूर्ति (लेखक-कलाकार के लिए) अभिव्यक्ति में होती है। साधारण जन की आत्म-पूर्ति की दिशा भिन्न होती है। उसके लिए वह सूक्ष्म दृष्टि या मर्म-दृष्टि के रूप में अवतरित होती है, और वह उसके संवेदनात्मक जीवन-ज्ञान या जीवनानुभूति का अंग बन जाती है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा परिचालित, और आत्म-पूर्ति की विशेष दिशा में प्रवाहित, यह अनुभव-पुंज कल्पना द्वारा विस्तृत और मूर्तिमान हो उठता है, किन्तु साथ ही प्रवाहशील भी। अनुभव-प्रवाह चित्र-प्रवाह में परिणत हो जाता है। संवेदनात्मक उद्देश्यों की प्रक्रिया, संवेदना और ज्ञान के योग से, कल्पना-चित्रों को विभिन्न विधान करती हुई एक ओर बहा देती है। अथवा यों कहिये कि कल्पना का अपना लॉजिक तैयार हो जाता है। मन कल्पना की इस स्वाभाविक गति में घुलता हुआ और उसमें तन्मय होता हुआ उसके संवेदनात्मक रस का पान करने लगता है। निःसन्देह यह सौन्दर्य-क्षण है, रस-क्षण है, जिसे कलाकार और सामान्य-जन दोनों प्राप्त करते हैं। जीवनानुभवों के ये सौन्दर्य-क्षण हैं जिनमें कल्पना-चित्र स्वयं प्रातिनिधिक हो उठते हैं। इसे हम कलात्मक सूक्ष्म-दृष्टि का क्षण भी कह सकते हैं, अथवा जीवन के सारभूत यथार्थ का क्षण भी कह सकते हैं।

संवेदनात्मक उद्देश्यों का उत्पत्ति-स्थल, उनका उद्‌गम स्रोत, आत्मचरित्रात्मक है। उनके सम्बन्ध-सूत्र कलाकार की मनोरचना से लेकर उसके व्यक्तिगत

इतिहास तक में समाये रहते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक साहित्य, मूलतः और सारतः, आत्मचरित्रात्मक है, भले ही बाहर-बाहर से वह चाहे जितना वस्तुवादी क्यों न दिखायी दे। उसकी यह आत्मचरित्रात्मकता मुख्यतः, अभिव्यक्ति के लिए लाये जानेवाले अनुभवों के संवेदनात्मक महत्त्व-बोध में है। यदि लेखक के पास संवेदनात्मक महत्त्व-बोध नहीं है, या क्षीण है, तो उन विशिष्ट अनुभवों की अभिव्यक्ति क्षीण होगी।

संवेदनात्मक उद्देश्यों को देख-परखकर ही यह पहचाना जा सकता है कि लेखक किस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है। एक ओर, यदि हम उन्हें देख लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अनुमान कर सकते हैं, तो दूसरी ओर, कलात्मक प्रभाव का विश्लेषण भी संवेदनात्मक उद्देश्यों के सन्दर्भ के बिना नहीं हो सकता।

लेखक, जो कि अपनी संवेदनात्मक क्षमता से साहित्य-सृजन करता है, वह संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार परिचालित होता है। वह अपनी अभिव्यक्ति का पैटर्न भी संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार बनाता है। दूसरे शब्दों में, संवेदनात्मक उद्देश्य, एक ओर, आत्मचरित्रात्मक होते हैं, तो दूसरी ओर, वे एक विशेष प्रकार का कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अभिव्यक्ति का विशेष पैटर्न गूँथते हैं, तो तीसरी ओर, ये संवेदनात्मक उद्देश्य अपने धक्के से हृदय में स्थित जीवन-अनुभवों अर्थात् ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान को जाग्रत और संकलित करके उन्हें अपनी दिशा में प्रवाहित करते हैं। जाग्रत अन्तश्चेतना में, अर्थात् इस प्रक्रिया में, कल्पना उत्तेजित होकर संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार अनुभवों के साकार चित्र प्रस्तुत करती जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संवेदनात्मक उद्देश्यों का कार्य, प्रारम्भ से लेकर अन्त तक, अन्तर्व्यक्तित्व की विशेषताओं और उसकी हलचलों से लेकर अभिव्यक्ति के अन्तिम पैटर्न तक, होता है। यह संवेदनात्मक उद्देश्य, अन्तर्व्यक्तित्व और आभ्यन्तरीकृत जगत् का प्रतिनिधित्व करते हुए, जाग्रत और संकलित अनुभवों को मनस्पटल पर एक के बाद एक मूर्तिमान करते हुए आगे बढ़ चलता है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों को देखकर लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व की रचना के अन्तर्गत जीवन-तत्त्वों को और उनकी अभिव्यक्ति को देखा जा सकता है। प्रयोगवादी कविता के संवेदनात्मक उद्देश्यों को न समझने के कारण ही उसके सम्बन्ध में बहुत-सी भ्रान्तियाँ फैलायी गयीं। उसे या तो राजनैतिक रूप से प्रतिक्रियावाद कहा गया, या भारतीय संस्कृति के सन्देश [और] उसकी आत्मा के प्रतिकूल। होना तो यह चाहिए था कि संवेदनात्मक उद्देश्यों को समझकर, उन संवेदनात्मक उद्देश्यों को जाग्रत करनेवाली जीवन-भूमि का विश्लेषण करते हुए, उन संवेदनात्मक उद्देश्यों की सहज मानवीयता—उन रचनाओं की सहज मानवीयता—को हृदयंगम किया जाता। लेकिन इस प्रकार की कविताओं को एकदम असुन्दर, प्रतिक्रियावादी विद्रूप, या निषेधात्मक कहकर टरका दिया गया। आलोचकों का उद्देश्य

इस काव्य-प्रवृत्ति को समझना नहीं था, वरन् उससे संघर्ष करके उसे नष्ट कर देना था।

लगभग ऐसे ही उद्देश्य से परिचालित होकर पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद का विरोध किया। उन्होंने जब छायावाद से समझौता भी किया तो उसे 'अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली' कहकर छुट्टी पायी। लेकिन यह नहीं देखा कि आखिर लेखक इस प्रकार की प्रणाली को क्यों अपनाना चाहता है, या यों कहिये कि इस प्रकार की अभिव्यक्ति-प्रणाली आखिर कवियों के लिए क्यों स्वाभाविक हो उठी।

कहने का तात्पर्य यह कि अभिव्यक्ति की प्रणाली बदलते ही आलोचकों की नाड़ी छूटने लगती है। मुझे इस बात का गहरा सन्देह है कि इसका कारण यान्त्रिक बुद्धि है। अपनी-अपनी थियँरीज़ और सिद्धान्तों के कटघरे में किसी नयी प्रवृत्ति को न फँसते देखकर उस नयी प्रवृत्ति को ही निन्दित किया गया, न कि उन सिद्धान्तों को बदला [गया,] अथवा उन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अब तक उनकी अपनी जो समझ थी उसमें परिवर्तन किया [गया]। उन्हें अपने-अपने बौद्धिक मानसिक ढाँचों की ज़्यादा फ़िक्र थी, किसी नयी प्रवृत्ति के जीवन्त तथ्यों की नहीं।

संवेदनात्मक उद्देश्य विद्युत की वह धारा है जो अन्तर्व्यक्तित्व से प्रसूत होकर जीवन-विधान करती है, कला-विधान करती है, अभिव्यक्ति-विधान करती है। आत्मचरित्रात्मक और सृजनशील ये संवेदनात्मक उद्देश्य, हृदय में स्थित जीवन्त अनुभवों को संकलित कर उन्हें, कल्पना के सहयोग से उद्दीप्त और मूर्तिमान करते हुए, एक ओर प्रवाहित कर देते हैं। यह कला का प्रथम क्षण है, या, कहिये, सौन्दर्य-प्रतीति का क्षण है। यह क्षण सामान्य-जन को भी प्राप्त होता रहता है।

किन्तु कला का द्वितीय क्षण तब उपस्थित होता है जब लेखक में शब्द-संवेदनाएँ जाग्रत होकर, वह विषय-तत्त्वों को व्यक्त करने लगता है। यह क्षण दो कारणों से महत्त्वपूर्ण है। एक तो इसलिए कि अब शब्द-संवेदनाएँ और भाव-संवेदनाएँ दोनों एक-दूसरे से सन्तुलित होने लगती हैं, दूसरे, इसलिए भी कि लेखक का मन दर्शक और भोक्ता, इन दो के बीच में केवल विभाजित ही नहीं होता। अब दर्शक केवल निष्क्रिय नहीं रहता, बल्कि सक्रिय हो जाता है, और साथ ही वह विषय-तत्त्व के मनोरूपों को व्यक्त करने का प्रयास करने लगता है। संक्षेप में, अब यह दर्शक एक क्रियावान शक्ति बन जाता है। किन्तु उसकी क्रिया मनोरूपों के सम्बन्ध में होने से एक विशेष परिस्थिति निर्मित हो जाती है। वह परिस्थिति इस प्रकार है।

न केवल अन्तर का द्विधा विभाजन होता है, वरन् यह कि इस दर्शक-मन को शब्दाभिव्यक्ति में देर लगती है। फलतः उसे संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार प्रवाहित होनेवाले मनोरूपों की गति को थाम लेना या मन्द करना पड़ता है, उसे संयमित करना पड़ता है। इस बीच शब्द-संवेदनाएँ जाग्रत होकर अपना कार्य

मनोनुकूल पूरा कर चुकती हैं। इस बीच कभी-कभी, सम्भवतः, संवेदनात्मक उद्देश्यों से परिचालित मनोरूपों की गति ही लुप्त हो जाती है, और रचित शब्दावली का भावार्थ भी पूरा नहीं हो पाता।

मेरा मतलब तटस्थता और तन्मयता से है। यदि दर्शक मनोरूपों की गतियों से इतना निर्लिप्त है कि वह शब्द-संवेदनाओं में खो जाता है और मनोरूपों की गति जड़ हो जाती है, तो ऐसी निर्लिप्तता भी उसके काम की नहीं होती। और यदि वह उन मनोरूपों की गतियों में पूर्णतः विलीन हो जाता है, तो शब्द-संवेदनाओं के लिए अवकाश की हीनता के फलस्वरूप अभिव्यक्ति निर्बल अथवा दुरूह हो जाती है। अतएव उसे मनोरूपों की गतियों को प्रवाहित करनेवाले संवेदनात्मक उद्देश्यों से एकाकार होकर, साथ ही उन मनोरूपों का मज़ा लेते हुए, उनकी गतियों को आत्मसात् करते हुए, चलना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, उसे अनवरत रूप से एकीभूत स्थिति और द्विधा-रूप स्थिति क़ायम रखनी पड़ती है।

किन्तु केवल इतना ही नहीं होता। शब्द-संवेदनाओं और भाव-संवेदनाओं की परस्पर तुलना से अंगीकृत अभिव्यक्ति के फलस्वरूप, रचना का जो अंश तैयार हो जाता है, वह स्वयं एक फ़ोर्स, एक शक्ति, बन जाता है, और यदि अनुभवात्मक संवेदनाएँ (विषयभूत मनोधाराएँ) क्षणमात्र लुप्त भी हुईं, तब भी वह शब्दात्मक रचना-खण्ड स्वयं उसे अगला मार्ग सुझा देता है।

शब्द-संवेदनाओं को प्राप्त करते हुए लेखक जाने-अनजाने अपनी मूल भाव-सम्पत्ति और मनोधारा में भी परिवर्तन करता रहता है। शब्द-संवेदनाएँ नवीन एसोसिएशन्स को जाग्रत कर देती हैं। फलतः, वह मूल मनोधारा यदि इस प्रकार से इन एसोसिएशन्स को प्राप्त करके समृद्ध हो जाती है, तो दूसरी ओर उसका—उस मनोधारा का स्वयं का—मूल रूप-स्वरूप बहुत-कुछ बदलता जाता है। यह महत्त्व की बात है। प्रारम्भिक स्फूर्ति ने जो तत्त्व-विधान और रूप-विन्यास किया था, वह परिवर्तित होता रहता है।

बुद्धि का कार्य यहीं उपस्थित होता है। उसे काव्य-निर्वाह करना पड़ता है। मूल मनोधारा ने अपने आवेग में रूपमय तत्त्वों को लाकर खड़ा कर दिया, कल्पना को उद्दीप्त कर दिया, और संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में उसे प्रवाहित कर दिया। किन्तु शब्द-साधना के समय नवीन भावात्मक अनुषंग, नवीन अनुभव, उपस्थित होते हैं। वे मूल्यवान होने पर उन्हें जाने-अनजाने आत्मसात् कर लिया जाता है। शब्द-संवेदनाएं लगातार कार्य करती रहती हैं। उनकी चोट होती रहती है। मूल मनोधारा में बहुत-कुछ परिवर्तन अर्थात् संशोधन होता जाता है। यह संशोधन किस प्रकार का होता है?

असल में, शब्दाभिव्यक्ति के समय लेखक मनोधारा के अन्तर में और भी अधिक प्रवेश करता है। उसके लिए वह अधिकाधिक तत्त्व-साक्षात्कार का और आत्म-साक्षात्कार का काल है। एक प्रकार से वह उसके आत्म-निर्माण का भी काल है। शब्दाभिव्यक्ति तो केवल उसका एक माध्यम है। संवेदनात्मक उद्देश्यों

की तीव्रता पर यह निर्भर करता है कि कहाँ तक वह आगे बढ़ेगा। संवेदनात्मक उद्देश्यों की तीव्रता के अभाव में—अर्थात् प्रेरणा के अभाव में—उसकी रचना बहुत आगे बढ़ नहीं पाती। वह खण्डित हो जाती है, अथवा उसे जैसे-तैसे करके वह निबटा देता है। उसका तत्त्व-साक्षात्कार, आत्म-साक्षात्कार, छिछला और पतला, विरल और तुच्छ होता है।

किन्तु लेखक के पास यदि उतनी प्राण-शक्ति है, तो निःसन्देह [वह] अब तक निर्मित शब्दात्मक रचना की सहायता से अपना अगला क़दम भी देख लेता है। जीवन-अनुभवों में डूबी हुई उसकी बुद्धि, रचना के संवेदनात्मक उद्देश्य से एकाकार होकर, आगे का पथ प्रशस्त करती है। फलतः काव्य-निर्वाह होता चलता है। यह बुद्धि, संवेदनात्मक उद्देश्य के अनुसार, शब्द-योजना और अभिव्यक्ति-निर्माण में एक सम्पादक का, संशोधक का, कार्य करती है। दूसरी ओर, वह संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाओं को लक्ष्य में रखकर, उनसे अनुप्राणित होकर, आगे बढ़ती है। यह बुद्धि जीवन-तत्त्व में, जीवन-यथार्थ में, प्रवेश करनेवाली बुद्धि है। वह एक साथ कई कार्य करती है। भाव-यात्रा में वह ठीक दिशा को सूचित करती रहती है, संवेदनात्मक उद्देश्य से प्रेरित होने के कारण। जीवन-अनुभवों में सूक्ष्म दृष्टिफल को वह सामान्यीकरणों का रूप देती चलती है। तीसरी ओर, अभिव्यक्ति-निर्माण में वह सम्पादक-संशोधक का काम भी करती है, अतएव वह रूप-रचना में भी सहायक होती रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विधा-विभाजित मन की प्रक्रिया में तटस्थता नामक जो एक आत्म-स्थिति पैदा हो जाती है, वह तटस्थता नामक आत्म-स्थिति एक क्रियावान शक्ति है, और क्रिया में गतिमान होने के लिए ही उपस्थित रहती है।

[सम्भवतः अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1959 के बाद। **नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित**]

कलात्मक अनुभव

बाल्यकाल से ही हमारा मनोमय जीवन आरम्भ हो जाता है। कल्पना कीजिये ऐसे बालक की, जो आस-पास के जगत् की संवेदनाएँ ग्रहण कर, फिर उस जगत् के बिम्बों को अपने मन में घुमाता-फिराता हो। अपनी माँ से मिलने आनेवालियों

के वह चेहरे देखता रहता है। उनके वस्त्र, उनके मुख की आभा-रेखाएँ, उनके व्यवहार की विशेषताएँ देख-देखकर, वह वालक उनके सम्बन्ध में, उनके जीवन के सम्बन्ध में, तरह-तरह की कल्पनाएँ करके आत्मलीन होता रहता है। वे कल्पना-चित्र कभी उसे रुला दें, या उदास कर दें, या कभी हँसा दें, अथवा एक अपरिसीम कुतूहल उद्दीप्त कर दें। मुख्य वात यह है कि संवेदनाएँ, भावनाएँ, वोध-शक्ति, परस्पर सहकार करके उसे निराले जगत् में ले जाती हैं। वह निराला जगत् कल्पना का लोक है, फिर भी वह वास्तविक जगत् की प्रतिमाओं ही से वना हुआ है। उस जगत् में वास्तविक के स्वप्न के रंग हैं। वालक का मन उसमें डूव जाता है।

कभी पड़ोसी के यहाँ कोई दुर्घटना हो जाती है। वालक उस दुर्घटना के मनोमय चित्र वनाता रहता है। उसे पता चलता है कि वहाँ एक नन्हा मर गया। मरने के पहले (माँ ने वताया था) ज़ोर की साँस लगी थी। भयानक साँस! वालक उस साँस की कल्पना करता है! उस नन्हे को कौन-सी वेदनाएँ होती होंगी? कौन-सी तकलीफ़ होती होगी? उसकी माँ का जी किस तरह रोता होगा? उसके जी पर क्या वीती होगी? वालक का हृदय इन काल्पनिक चित्रों में भीगता रहता है।

और न जाने किस नियम से वालक का हृदय और कहीं वह जाता है। अच्छा तो वो अपने को वहुत वड़ा समझते हैं! माँ को और पिता को यह अच्छा नहीं लगता, फिर भी वे उनकी आव-भगत करते हैं। वड़ी मेहमानदारी होती है। हमें भले ही चाय का एक कप भी न मिले, लेकिन उनकी सेवा ज़रूर होगी! उनके वड़े-पन से माँ, वावूजी, दवे-दवे रहते हैं। आखिर, इसकी ज़रूरत क्या है! सिर्फ़ इसलिए कि वो कहीं तहसीलदार हैं!

माँ कहती है वव्वू से मत खेलो! क्यों न खेलें? वह कहती है वव्वू चपरासी का लड़का है। ऐसे लड़के वुरे होते हैं। ग़रीवों के लड़कों को तमीज़ नहीं होती। उन्हें वुरी-वुरी आदतें होती हैं, वे गुण्डे होते हैं। वे खोमचेवाले से दो पैसे के भजिये खाते हैं। लेकिन मैले-कुचैले ग़रीवों के ये जो लड़के हैं, उनके चेहरे कहाँ वुरे हैं! क्या हँसी, क्या किलकारी, कैसी वढ़िया शरारत कैसी घनी उदासी और प्यारी नज़र! ग़रीवों के लड़के भी तो अच्छे हो सकते हैं। पता नहीं क्यों, माँ घर के अर्दलियों से तो दिल की वात करती है, लेकिन मुझे वव्वू से खेलने नहीं देती। यह वुरी वात है। आज़ादी कितनी अच्छी होती है। कव मैं वड़ा हूँगा, पूरा आज़ाद हो जाऊँगा! कव, कव, वो दिन कव आयेगा! आखिर क्या हुआ, अगर मैले-कुचैले रहें तो! वव्वू से तो खेल सकेंगे, नाथू के घर जाकर वात तो कर सकेंगे! नाथू की माँ वड़ी अच्छी है, मुझे गुलगुले देती है। लेकिन, घर से निकलने को मिले तव न!

पिताजी कहते हैं कि कृष्णराव नौकरी से निकाल दिये गये। इसीलिए तो लच्छू का चेहरा कितना उतरा हुआ था। अव उनके घर में कैसी सूनी-सूनी, पीली-पीली,

गहरी-गहरी उदासी होगी! सबकी चालें ढीली हो गयी होंगी, सबके कन्धे झुक गये होंगे, सबके बाल बिखरे-बिखरे होंगे। लोग कैसे थके-थके-से चलते होंगे, उनके गले में रुआँसी का काँटा कसकता होगा! लच्छू मारा-मारा फिरता होगा!

वे लोग बड़े अच्छे हैं। हमारे घर से आज उनके घर दो सेर आटा गया, दाल और शकर भी, चाय का एक पुड़ा भी। आख़िर ऐसा क्यों हुआ? कृष्णराव का चेहरा कितना अच्छा है! बाल बढ़े हुए हैं, जिनमें से दुनिया का सारा भलापन हँस रहा है। वह भलापन है कि खिलते अंगारों की मीठी गरमीवाली सिगड़ी है! लम्बा गोरा-लाल चेहरा, लम्बी नाक और आँखें कैसी अच्छी हैं, कैसी कोमल मुलायम रोशनी फेंकती हैं! हाय रे! दुनिया इतनी बुरी क्यों है! इतने अच्छे आदमी को अच्छा रहने क्यों नहीं देती! हमारी बूढ़ी फूफी कृष्णा काका को बेवक़ूफ़ समझती है। पिताजी, सभी, उन्हें मूर्ख समझते हैं। लेकिन मेरी माँ वैसा नहीं समझती। सीधे चौके में चले आते हैं, और माँ से बात करते हैं। माँ उनके लिए चाय बनाती है। मुझे चाय नहीं देती। यही तो बुरी बात है!

कृष्णा काका बहुत अच्छे हैं, मुझे प्यार करते हैं। पास बिठा लेते हैं, चाय का एक घूंट मुझे भी दे देते हैं। मैं उनके यहाँ जाऊँगा, उन्हीं के यहाँ रहूँगा। लच्छू उदास है, आज उसी के साथ खेलूंगा। कृष्णा काका का चेहरा देखता रहूँगा, उनके पैर दाबूंगा। हमारी काकी इतनी अच्छी नहीं है। वह मुझे 'बड़े आदमी का लड़का' कहती है, मुझे दूर-दूर रखती है, उनके घर की मिट्टी से कहीं मेरी चड्डी गन्दी न हो जाये! उनका लच्छू भी मुझे दूर-दूर रखता है। लच्छू के यहाँ फटा-फटा टाट है, हमारे यहाँ आरामकुर्सियाँ हैं। लच्छू के यहाँ कैसी भन्नाती हुई गहरी उदासी है, हमारे यहाँ चहल-पहल! लेकिन जब अपने घर कृष्णा काका मुझे गोद में ले लेते हैं, तो लच्छू खड़ा-खड़ा ताकता रहता है। उसकी माँ मुझे दूर-दूर भले ही रखे, जी होने पर वह मुझे शकर फाँकने को भी देती है। लेकिन लच्छू! न जाने उसके दिल में क्या है! मेरा क्या गुनाह कि मैं बड़े आदमी का लड़का हूँ! मैंने कौन-सा पाप किया! कहो तो यह निकर, यह साफ़-शर्ट उतारकर फेंक दूं! लेकिन क्या करूं, माँ बहुत डाँटती है। तो क्या हुआ! लच्छू भले ही अकड़े, मैं जान-बूझकर उसे हँसाऊँगा, उससे खेलूंगा, उसकी उदासी तोड़ दूंगा। लच्छू आखिर कृष्णा काका का लड़का है। आज लच्छू उदास है, बहुत उदास! आज मैं उससे ज़रूर खेलूंगा। उसके आगे नाचूंगा! अगर वह जी-भर भी मुसकरा उठे, मज़ा आ जायेगा! कृष्णा काका खूब खुश होंगे। लेकिन, ऐसा क्यों होता है! कृष्णा काका की नौकरी क्यों छूट जाती है! वे तो बड़े शान्त स्वभाव के हैं!

वे प्राइवेट नौकरी क्यों करते हैं? नाना कह रहे थे, सरकार उन्हें नौकर नहीं रखती। कहते हैं बरसों पहले, जब मेरा जन्म भी नहीं हुआ था, उनके घर से बम मिले थे, बन्दूकें भी, तमंचे भी। तबसे उनका भाग्य फिरा। सज़ा काटकर आये। क्या होती है सज़ा? बड़ी-बड़ी दीवारें, काल-कोठरी। हाथ-पांव में जंजीरें! चक्की पीसनी पड़ती है, चक्की।···घर उजड़ गया। सब मुनीमी करते हैं। कोई

उन्हें पूछता नहीं। घरवाले, हमारे नाना, पिताजी, सब—सब उन्हें बेवक़ूफ़ कहते हैं। कहते हैं उन्होंने बीच में एक अखबार भी निकाला, और चौपट हो गये। अब तो सरकारी नौकरी मिल ही नहीं सकती। लोग भी उन्हें बेवक़ूफ़ कहते हैं।

लेकिन कृष्णाराव कैसे हैं! वे बेवक़ूफ़ी करते रहते हैं। आखिर उन्होंने यह क्यों नहीं सोचा कि सबसे पहले बेवक़ूफ़ी की छानबीन की जाय और अपना नतीजा काग़ज़ में लिखकर, उस काग़ज़ को सबके चेहरे पर दे मारें! कृष्णाराव कृष्ण नहीं, शंकर महाराज हैं। महेश हैं, जिनके हाथ में किसी ज़माने में बम था। वह बम मुझे अभी भी दीख रहा है। कोई भी रखने को तैयार नहीं, इसलिए कि वे बेवक़ूफ़ हैं। मुझे भी लोग बेवक़ूफ़ कहते हैं। मैं अटकता हूँ, सवाल का जवाब देते नहीं बनता। इसीलिए मेरी पिटाई होती है। कई बार तो चाँदनी की मुँडेर पर बैठा कि नीचे कूदकर कूच कर जाऊँ। लेकिन तभी ख़याल आता है कि मैं सड़क पर मरा पड़ा हूँ, मेरे सिर के पास धाड़ मारकर माँ रो रही है, पिताजी पैर उठा रहे हैं। नहीं-नहीं, मैं अपने माँ-बाप को दुःख नहीं दूँगा! मरूँगा नहीं, ज़िन्दा रहूँगा। बेवक़ूफ़ी नहीं करूँगा, नहीं ही।

लेकिन मैं भी कितना टुच्चा हूँ! उनसे एक दिन रास्ते में इकन्नी माँग बैठा! उन्होंने बराबर एक इकन्नी निकालकर दे दी। पिताजी बड़े नाराज़ हुए। उससे इकन्नी क्यों ली! कृष्णाराव के लिए उसके मन में दया-भाव है। मुझे वह पसन्द नहीं। कृष्णा काका एक इकन्नी तो क्या, मुझे सब कुछ दे सकते हैं, सिवाय मार के।

लेकिन टुच्चा तो मैं हूँ ही। नाना ने कल रामायण सुनायी। उनकी नीली चादर मुझे पसन्द है, और उसके भीतर दुबका बैठा उनका गोरा अँग। कहानी कहते-कहते मुझसे ज्यादा हँसते हैं। उन्होंने कहा कि जीव-हत्या पाप है। लेकिन, रोज़ ख़ुद खटमल मारते हैं, मारते बैठते हैं। जो हो, जीव-हत्या पाप ज़रूर है। मरते वक़्त कितनी तकलीफ़ होती होगी जीव को! कल बारिश हुई। गली पानी से भर गयी। पानी में लगातार छेद पड़ते जा रहे थे। बड़ा मजा आ रहा था। एक जीव फँस गया। शायद झींगुर था। मैंने पानी में से उसे अलग करना चाहा। लेकिन मेरी कोशिशें बेकार हुईं। वह दूर था। मैं डण्डे से उसे पास खींच रहा था। वह तड़प रहा था। भयानक थी उसकी छटपटाहट। पता नहीं, मुझ पर क्या भूत सवार हुआ। उसकी तड़पन से मेरे दिल में कुछ ऐसी तड़पन हुई कि मैंने निशाना लगाकर उसे डण्डा दे मारा। वह खत्म हो गया। मेरे हाथ से पाप हुआ। वह छूट गया, मुझे छोड़ गया, सिर्फ़ तड़पने के लिए, अपने दुःख में, पराये दुःख में। बार-बार सपना आया है उस तड़पते झींगुर का, जो पानी में औंधा पड़ा था और हाथ-पैर मार रहा था।

मैं भी झींगुर हूँ, जो इस पानी में औंधा पड़ा हूँ—एक अजीब गन्दे पानी में। रास्ते चलते दुःख दे जाता हूँ और फिर बुरा लगता है, मन ख़ुद को काटने दौड़ता है। अपने पर क़ाबू नहीं कर पाता। यही कारण है, गणित में मन लगाने की कोशिश करता हूँ, लेकिन जमकर काम नहीं होता। मन भागता है, भागता रहता

है। इसीलिए तो मुझे माँ, फूफी, पिताजी बेवक़ूफ़ कहते हैं। सिर्फ़ नाना वैसा नहीं कहते! बेवक़ूफ़ तो हूँ भी। लेकिन इसके लिए लाचार हूँ।

कल्पना कीजिये कि इसी तरह की वात सोचते-सोचते वालक की आँख लग जाती है। मन थक जाने से वह सो जाता है।

यह उसका मनोमय जीवन है। किन्तु इस मनोमय जीवन में वाह्य की सामग्री है, वाह्य के तत्त्व हैं! तो क्या अन्तर के तत्त्व हैं ही नहीं? अवश्य हैं। लेकिन, वस्तुतः, वे उसकी आभ्यन्तर शक्तियाँ हैं···संवेदना, वोध-शक्ति, कल्पना, और इच्छाएँ। ये उसकी अन्तर की चेतना के अंगभूत हैं। इन सभी शक्तियों या प्रवृत्तियों का वाहर से जव सम्मिलन होता है, तव वह प्रक्रिया शुरू होती है जिसे मैं वाह्य का आभ्यन्तरीकरण कहता हूँ। वह [वालक] शुरू ही से जीवन-जगत् का आभ्यन्तरीकरण करता आया है। इस आभ्यन्तरीकरण के दौरान में ही वह वाह्य से शिक्षा तथा संस्कार भी प्राप्त करता है, साथ ही वह अपनी प्रवृत्ति के अनुसार, जीवन-जगत् से प्राप्त मानवीय मूल्यों द्वारा, उसी जीवन-जगत् की आलोचना भी करता है। आत्मालोचन भी करता है। यदि उसके संस्कार बुरे हैं, तो निश्चय ही उसकी मूल्य-दृष्टि भी विकृत होगी।

वालक स्वभावतः संवेदनशील होता है, उसमें कल्पनाशीलता भी तीव्र होती है, उसका जीवन-निरीक्षण भी, उसकी अपनी सीमा में, तीव्र होता है।

मुख्य वात यह है कि वह अपनी संवेदनाओं के आग्रहों से, अपने अनुभवों के आधार पर, कल्पना द्वारा, जीवन की पुनर्रचना करता है, अपने अनुसार। कल्पना के रंगों में डूवी इस जीवन-पुनर्रचना के रंग निस्सन्देह भावुक हैं। इन कल्पनायित चित्रों के रंग में डूवकर, वह उन्हीं चित्रों से प्राप्त संवेदनाओं में भावुक होकर रम जाता है। अपने मनोमय जीवन के इन क्षणों में, जव वह उन चित्रों में, तन्मय होकर, उनमें प्रस्तुत हुए जीवन की संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ ग्रहण करने लगता है, उस समय वास्तविक वाह्य से क्रिया-प्रतिक्रिया करने में व्यस्त और ग्रस्त रहनेवाले मन को—जो वैयक्तिक सुख-दुःख से मण्डित रहता है—वहुत पीछे छोड़ देता है, उसके ऊपर उठ जाता है, उसके परे हो जाता है। संक्षेप में, एक ओर उसकी मुक्ति हो जाती है तो, दूसरी ओर, उसी के साथ एकवद्धता आ जाती है। तटस्थता और तन्मयता, दूरी और सामीप्य का द्वन्द्व, उच्चतर स्तर पर, एकीभूत हो जाता है। संवेदना के आग्रह—अर्थात् संवेदनात्मक उद्देश्य, जिसमें इच्छित विश्वास के तत्त्व भी मिले रहते हैं, इच्छा के तत्त्व भी मिले रहते हैं—उनके वल से, उनके ज़ोर से, वास्तविक अनुभवों के आधार पर, उसकी विधायक कल्पना उन्हीं अनुभव-तत्त्वों को मिलाकर जीवन की एक पुनर्रचना कर वैठती है। संवेदनात्मक उद्देश्य अपनी पूर्ति के लिए एक विशेष दिशा में उन कल्पना-चित्रों को वेगायित कर देते हैं। ऐसे कल्पना-चित्रों में डूवकर उसी जीवन का प्रगाढ़ अनुभव होता है, कि जो जीवन अपना सार-सार प्रतीत होता है।

वाह्य जीवन-जगत् के रूप-स्वरूप और गति-प्रगति के जो अपने नियम हैं, वे

इस पुनर्रचित जीवन के नहीं। पुनर्रचित जीवन किसी संवेदना की पूर्ति के लिए ही होता है। उसकी चित्र-माला उन्हीं संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में दौड़ती है। दूसरे शब्दों में, पुनर्रचित जीवन-लोक की अपनी ऑटोनॉमी है, उसका अपना एक स्वायत्त-तन्त्र है। किन्तु उसकी यह ऑटोनॉमी, यह स्वायत्त-तन्त्र, सापेक्ष है, क्योंकि वह वास्तविक जीवनानुभवों के ठोस आधार पर खड़ा हुआ है, और उनके बिना वह असम्भव है। इस मूलाधार के कोष में से ही, संवेदनात्मक उद्देश्यों को और कल्पना को वे तत्त्व मिलते हैं, कि जिन तत्त्वों के विभिन्न पैटर्न्स इस प्रकार गढ़ना या बनाना, कि जिनसे उन संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति हो, विधायक कल्पना का मूल कार्य है।

विधायक कल्पना द्वारा पुनर्रचित जीवन, किसी एक विशिष्ट अनुभव, यानी एक ख़ास तजुर्बे, की तसवीर नहीं, वरन् तत्समान सारे अनुभवों का वह वस्तुतः एक सामान्यीकरण है। इसलिए उन मानस-प्रत्यक्षों में विशेष प्रातिनिधिकता आ जाती है। व्यवस्थित रूप से शब्द-बद्ध होने पर वे ही चित्र, अपनी इस प्रातिनिधिकता के फलस्वरूप, पाठक या श्रोता के अन्तःकरण में तत्समान संवेदनाओं द्वारा तत्समान चित्रों को जाग्रत कर देते हैं। अनुभूति-क्षण की विशिष्टता के रूप में वे विशिष्ट हैं, और अपनी प्रातिनिधिकता के कारण वे सामान्य भी। इस प्रकार विशिष्ट और सामान्य के द्वन्द्व की उच्चतर एकीभूत स्थिति के रूप में ही कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना होती है। इस पुनर्रचना में से ही जीवन का प्रगाढ़ अनुभव होता है। ध्यान में रखने की बात केवल इतनी है कि इस पुनर्रचना का अपना एक स्वायत्त-तन्त्र होने के बावजूद, उसके मूल तत्त्व वास्तविक जीवन के अनुभूत तथ्यों में से ही, अर्थात् हृदय में संचित जीवन-अनुभवों में से, इस प्रकार उद्गत होते हैं मानो वे अपने जिये जानेवाले जीवन की सारभूत विशेषताएं हैं। वास्तविक अनुभूत बाह्य जीवन की सारभूत विशेषताएँ जीवन की पुनर्रचना में, तथ्यात्मक प्रतीत होने के कारण ही, उन पुनर्रचित जीवन-चित्रों में हमें जीवन ही का, जगत् ही का, तथा अपना खुद का, प्रगाढ़तम अनुभव होता है।

इस प्रकार का मनोमय जीवन और उसका अनुभव, वस्तुतः, कलात्मक है। उसी से हमें उस आह्लाद की प्राप्ति होती है, जिसमें एक ओर ज्ञान का प्रकाश है तो दूसरी ओर जीवन का आनन्द।

इस प्रकार के अनुभव बालकों से लेकर वृद्धों तक को होते हैं, कवियों से लेकर अकवियों तक को होते हैं, मज़दूर से लेकर सम्पन्न तक को होते हैं, लेखकों से लेकर श्रोताओं तक को होते हैं। इन्हीं अनुभवों को हम कलात्मक अनुभव या सौन्दर्यानुभव कहते हैं। केवल मनुष्य ही सौन्दर्यानुभव प्राप्त कर सकते हैं, पशु नहीं।

सारा मनोमय जीवन कलात्मक नहीं होता। जिन क्षणों में मन निज-बद्ध स्थिति में रहता है वह कल्पना द्वारा पुनर्रचित जीवन में तन्मय और तदाकार होकर अपनी निज-बद्धता नहीं खो सकता, अर्थात् जब वह मुक्ति और बद्धता, तटस्थता और तन्मयता, सामीप्य और दूरी, विशिष्टता और सामान्यता, के मूल

द्वन्द्वों की, उच्चतर स्तर पर, एकीभूत स्थिति में नहीं पहुँच सकता, तब वैसी हालत में उसका मनोमय जीवन कलात्मक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के अकलात्मक मनोमय जीवन में मन को उसके व्यक्तिगत सुख-दुःख और राग-द्वेष ही घेरे रहते हैं। फलतः, मन को अपने से मुक्ति नहीं, छुटकारा नहीं। दूसरे शब्दों में, मनोमय जीवन के कलात्मक क्षणों में अपने-आपसे छुटकारा होकर जीवन का प्रगाढ़ और व्यापक अनुभव होता है।

उसी मनोमय जीवन के कुछ क्षण ऐसे भी होते हैं जब मन एक ओर अपने से तो परे हो जाता है, अपने से तो ऊपर उठकर सोचता है, किन्तु, दूसरी ओर, संवेदनात्मक उद्देश्यों की प्रबलता इतनी नहीं होती कि कल्पना उद्दीप्त होकर जीवन का पुनर्विधान करे। मनुष्य यदि एक ओर अपने विशिष्ट सुख-दुःख का भोक्ता है, तो, दूसरी ओर, वह उनका द्रष्टा भी है। अपने से परे जाने, दूसरों से अपने को मिलाने, ज्ञान तथा बोध द्वारा विशिष्टों का सामान्यीकरण करने, और सार-सार पहचानने और ग्रहण करने की उसमें अद्भुत शक्ति है। कलात्मक अनुभव की घटना के पूर्व, और निज-बद्धता की स्थिति से उबरने के क्षण के पश्चात्, जो एक बीच की हालत पैदा होती है, उस हालत में संवेदनात्मक उद्देश्यों की सापेक्षिक मन्दता के कारण, विधायक कल्पना के विचलन और प्रस्फुरण के अभाव में, अर्थात् मात्र तटस्थता मात्र द्रष्टा-स्थिति के रूप में रहने पर, हमारे मन में जो धाराएँ बहती रहती हैं, उन्हें हम एक प्रकार का मनन ही कह सकते हैं। मनोमय जीवन में ऐसा जीवन-मनन चलता रहता है।

इसी स्तर के जीवन-मनन या जीवन-चिन्तन में ही हमारी बोधक-शक्ति और ज्ञान-शक्ति प्रबल होती है। भीतर-ही-भीतर सोच-विचार जारी रहता है। हृदय के भीतर समाये अनुभव बोध और ज्ञान की सक्रियता के फलस्वरूप, अधिकाधिक प्रांजल और अधिकाधिक उज्ज्वल होते जाते हैं। वे उज्ज्वलतर और प्रांजलतर अनुभव हृदय में संचित होते रहते हैं। दूसरी ओर, बाह्य का अनवरत आभ्यन्तरी-करण होते रहने से, नव-प्राप्त तत्त्वों का, नये अनुभवों का, मार्जन और उनका संचयन भी आवश्यक ही है। वह भी अपने-आप ही होता जाता है। मनोमय जीवन के इस रूप को, इस स्तर को, हम कलात्मक चेतना का सिंह-द्वार कहेंगे। ऐसा क्यों, यह आगे चलकर स्पष्ट होगा। ध्यान में रखने की बात है कि इस रूप या इस स्तर पर प्रांजलीकृत अनुभवों का दारिद्र्य जिस कलाकार में होगा, जो कलाकार इस स्तर के महत्त्व को ही न समझता होगा, अथवा जिसके अनुभव बोध और ज्ञान द्वारा प्रांजल न बनेंगे, वह एक ओर अनुभवों की अपरिमार्जित विकृत स्थिति प्राप्त करेगा, तो, दूसरी ओर, अनुभवों के दारिद्र्य का भी वह अधिकारी होगा।

यह तो सही है कि बोध और ज्ञान-शक्ति द्वारा ही ये अनुभव परिमार्जित होते हैं, यानी पूर्व-प्राप्त ज्ञान द्वारा मूल्यांकित और विश्लेषित होकर, प्रांजल होकर, अन्तःकरण में व्याख्यात होकर, व्यवस्था-बद्ध होते जाते हैं। किन्तु स्वयं

अनुभवों में भी संवेदन की चिनगारी हुआ करती है। अतएव बोध और ज्ञान का कार्य भी संवेदन से विरहित नहीं है, किन्तु उसके योग से है, भले ही उस समय संवेदन अधिक तीव्र दशा में न हों।

मनोमय जगत् में यही वह स्तर है, जिसे हम अपनी मूल व्यक्ति-ग्रस्त प्रवृत्तियों के परिमार्जन की आरम्भिक स्थिति भी कह सकते हैं। अपने से परे जाने, अपने से ऊपर उठने, दूसरों से अपने को मिलाने, विशिष्ट से सामान्य पर पहुँचने, की यह जो ज्ञानात्मक संवेदनों की दशा है, ज्ञानात्मक अनुभवों की दशा है, वह सबमें होती है। वह मनुष्य की मूल उदात्तता का लक्षण है। किन्तु किसी में वह थोड़ी और बहुत थोड़ी होती है, किसी में बहुत और बहुत अधिक।

यही वह स्तर है जहाँ हम किन्हीं आदर्शों, ध्येयों, वांछनीय गुणों, अभिलषणीय लक्ष्यों, से एकात्म होने का, उन्हें अपने में मिलाने का, उनकी सहायता से अपना परिमार्जन करने का, अपने को एक दिशा देने का, प्रयत्न करते हैं। और इस प्रकार व्यापकतर और उदात्ततर जीवन-प्रणाली या जीवन विकसित करने का प्रयत्न करते हैं। संक्षेप में, यह वह स्थान है जहाँ [हम] ज्ञानार्जन करने, व्यापकतर अनुभव अर्जन करने, अपने-आपको अनुभव-दारिद्र्य में न रहने देने, की इच्छा से संचलित होते हैं। यहाँ अपने वहिरन्तर जीवन की व्याप्ति और क्षेत्र को और भी विस्तृत करने की इच्छा हो जाती है। यही वह स्तर है जहाँ हमारी शिक्षा-दीक्षा, संस्कार आदि, दृष्टिकोण, तथा मूल्य-भावना का कार्य होता है। केवल सुविधा के लिए मैं इसे मनोमय जीवन का दूसरा स्तर कहूँगा। पहला स्तर निज-बद्धता का स्तर है। इस दूसरे स्तर पर विकासशील मनुष्य की वास्तविक आत्म-चेतना सक्रिय रहती है। यह सक्रिय आत्म-चेतना हमारे अनुभवों को अधिकाधिक व्याख्यात और व्यवस्था-बद्ध करके, उज्ज्वल और प्रांजल करती हुई, अपने-आपको परिपूर्त करती रहती है। प्रांजल और उज्ज्वल हुए ये अनुभव हमारे हृदय में संचित होते जाते हैं। उनके स्तर-पर-स्तर बनते और बढ़ते जाते हैं। ज्ञानात्मक वृत्तियों के कारण वे अनुभव विशृंखल राशि-रूप में नहीं, वरन् व्यवस्था-रूप में हृदय में स्थित होते हैं।

ध्यान में रखने की बात है कि वास्तविक सौन्दर्यानुभवों के, अर्थात् कलात्मक अनुभवों के, क्षण में, अर्थात् मनोमय जीवन के तीसरे स्तर पर, जब संवेदनात्मक उद्देश्यों से प्रेरित कल्पना जीवन-विधान करती है, तब उस जीवन-विधान के अनुभव-तत्त्व, (इसी दूसरे स्तर में गड़ी हुई) इसी संचित अनुभव-व्यवस्था से प्रस्फुटित होते हुए उस तीसरे अर्थात् कलात्मक क्षण को उपलब्ध होते हैं। संक्षेप में, विधायक कल्पना संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा विचलित किये गये जिन अनुभवों के पैटर्न्स बनाती है, वे अनुभव इसी दूसरे स्तर में समाहित रहते हैं। मनोमय जीवन के इस दूसरे स्तर पर पाये जानेवाले अनुभव यदि अल्प हैं, अथवा उनमें वैभिन्न्य नहीं है, या लेखक द्वारा उनका उचित मूल्यांकन नहीं हो पा रहा है, सिर्फ़ उन्हें अटाले में डाल दिया गया है, तो वैसी स्थिति में इस दूसरे स्तर के सापेक्षिक

दारिद्र्य के कारण लेखक की कला भी छिछली, सतही, निरी व्यक्तिबद्ध होगी। साथ ही, उसका दृष्टिकोण भी सीमित, सतही और अस्वच्छ होता है। इसी स्तर के विकास की पुष्टता पर उसकी कला की पुष्टता निर्भर है।

इसी बात को ध्यान में रखते मुझे यह प्रतीत होता है कि अपने से परे जाने, अपने से ऊपर उठने, अपने को दूसरों से मिलाने, और उनमें डूब जाने का यह कार्य अधिक सावधानी से, ज़्यादा गहराई से, और अधिक बार होना चाहिए। कलाकार की जागरूकता का अर्थ ही यह है। अपने से परे जाना, अपने से ऊपर उठना, वृथा भावुकता नहीं है, वरन्, इसके विपरीत, वस्तु-दर्शन या तत्त्व-दर्शन का वह अनिवार्य अंग है। ज्ञान का जो मनोवैज्ञानिक गुण है, वही इसका गुण भी है। जीवन के बिना, कि जिस जीवन में वह अपने से परे जाकर अपने से ऊपर उठकर हृदय का विस्तार करता रहता है, वे सर्वोच्च कलात्मक क्षण, सौन्दर्यानुभूतियों के वे क्षण, जहाँ विधायक कल्पना द्वारा जीवन पुनर्रचित हो जाता है, वस्तुतः सम्भव ही नहीं है। यदि हम कलात्मक क्षण को तीसरा स्तर मानें, तो अपने से परे जाकर हृदय का विस्तार करनेवाले इस साधारण स्तर को हम दूसरा स्तर ही कहेंगे।

यह कहना ग़लत है कि दूसरे स्तर के, या उस तीसरे स्तर के, मनोमय जीवन का अनुभव कलाकार के अतिरिक्त किसी अन्य को होता नहीं। अपने से परे जाना, अपने से ऊपर उठकर जीवन-जगत् में भीगना, उसमें रमना, और इस प्रकार उदात्त प्रेरणाएँ ग्रहण करना, वस्तुतः एक गहन मानवीय प्रक्रिया है। यदि यह प्रक्रिया अपूर्ण है, अधूरी है, अत्यन्त सीमित है, तो वैसी स्थिति में उस लेखक की कला भी छिछली और सतही रहेगी। किन्तु जो लेखक मनीषी है, मानव-जीवन में जिसकी दिलचस्पी गहरी है, वह कुछेक भावनाओं की या मनःस्थितियों की 'सुन्दर आकृतियाँ' उपस्थित करके सन्तोष नहीं पायेगा। वह अपने सम्पूर्ण अनुभूत जीवन को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करेगा, भले ही उसकी वह अभिव्यक्ति कलावादियों की दृष्टि से असुन्दर ही क्यों न हो। निःसन्देह, कबीर की बहुत-सी बानियों में ऊबड़खाबड़पन है, फिर भी वे सुन्दर होती हैं। क्यों हैं? इसलिए कि सौन्दर्यात्मक प्रभाव, रचना के भाव-संवेदन और कल्पना-रेखाओं से शुरू होकर बाहरी अभिव्यक्ति-रूपों की संगति तक चला चलता है। यही कारण है कि हम लोग नज़ीर की शायरी का आनन्द उठा लेते हैं, भले ही उसमें स्थान-स्थान पर बाह्य रूपात्मक तोड़-मरोड़ हो। सुन्दर आकृति का बहाना करनेवाले लोग, वस्तुतः, कलात्मक अभिव्यक्ति को किन्हीं विषयों तक ही सीमित रखना चाहते हैं। यही नहीं, वरन् उन्हें किन्हीं अभिव्यक्ति-पैटर्नों में ही सौन्दर्य दिखायी देता है।

यह आवश्यक नहीं है कि सौन्दर्यानुभूति का क्षण, कलात्मक अनुभव का क्षण, उस अनुभूति या अनुभव की कलात्मक अभिव्यक्ति का भी क्षण हो। उसी तरह यह भी ज़रूरी नहीं है कि कलात्मक अभिव्यक्ति के कार्य के दौरान में सौन्दर्यानुभूति का एकछत्र साम्राज्य हो। कवि-कर्म न केवल प्रतिभा का प्रकटीकरण है, वह

अभ्यास की भी अभिव्यक्ति है। प्रतिभा और अभ्यास के योग से कवि-कर्म निष्पन्न होता है। किन्तु आप इस प्रतिभा की क्या परिभाषा करेंगे ? व्यक्तित्व के विशेष विकास से प्राप्त जो आभ्यन्तर गुण हैं, और गुण-धर्म हैं, वही प्रतिभा है। कवि-कर्म श्रम-साध्य है। उसके लिए रियाज़ की ज़रूरत होती है। अभिव्यक्ति-सम्पदा बढ़ाने की ज़रूरत होती है। यह अनिवार्य नियम नहीं है कि कवि-कर्म या कला-कृति की रचना का क्षण कलात्मक अनुभूति या सौन्दर्यानुभूति का उच्चतम क्षण हो। अभिव्यक्ति-प्रयत्न एक-दूसरे प्रकार का, एक अन्य स्तर का, अंग है, कि जिस स्तर में शब्द, मुहावरे, बिम्ब, स्वर आदि के स्वरूप की तुलना हृदय में उठते हुए भावों के स्वरूप से करते हुए, प्रतिकूल शब्दों, बिम्बों आदि को निकालकर अनुकूल को रखा जाता है। एक ओर, लेखक अपने भावों के प्रति उद्‌बुद्ध तो, दूसरी ओर, वह शब्दों के प्रति जागरूक रहता है। वह क्षण, कवि-कर्म की विशेष दृष्टि से, आलोचन का क्षण भी होता है, क्योंकि कवि हृदय में उमड़ते भावों में संगति उपस्थित करना चाहता है। अनेकानेक ऐसे भाव भी उत्पन्न होते हैं जो, मूल भाव से सम्बद्ध होते हुए भी, अत्यन्त सौन्दर्य-सम्पन्न होते हुए भी, की गयी रचना के भीतर जो संगति स्थापित हो चुकी है, उसमें जम नहीं पाते और अवान्तर प्रतीत होते हैं। किन्तु यदि उन्हें महत्त्वपूर्ण जानकर ठूंस-ठाँस की जाये, तो दूसरे प्रकार की संगति के लिए प्रयत्न करना होगा, क्योंकि ठूँस-ठाँस से पहले प्रकार की संगति तो टूट-फूट चुकी है। संक्षेप में, संवेदनात्मक, उद्देश्यों द्वारा, उनकी अपनी दिशा में, परिचालित होनेवाली विधायक कल्पना द्वारा, जीवन की जो पुनर्रचना हुई है, उसमें डूबकर आह्लाद ग्रहण करनेवाली, ज्ञान प्राप्त करनेवाली जो अनुभूति है—वह जो कलात्मक अनुभूति या सौन्दर्यानुभूति है—उसके कुछ अंशों के अति-रिक्त, कवि-कर्म का आनन्द भी उन्हीं क्षणों होता रहता है।

मनुष्य-मन उदास होकर ज़िन्दगी में गहरी दिलचस्पी लेने लगता है। मानव-जीवन उसका मूल विषय हो जाता है, और उस जीवन की प्रेरणाएँ उसे बेचैन करती हैं। वह कार्य की ओर भी प्रवृत्त होता है। इसलिए हेमिंग्वे और कॉडवेल स्पेन के युद्ध में गये थे। अपनी इन भीतरी कलात्मक प्रेरणाओं के कारण ही वे उस ओर उन्मुख हुए। अनेकानेक रूसी लेखकों ने अक्टूबर क्रान्ति में और दूसरे विश्व-युद्ध में अपने देश की ओर से भाग लिया। यही कारण है कि सार्त्र आज भी अपने देश की राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं में और देशवासी जनता के जीवन में दिलचस्पी रखता है।

यह कहना बिल्कुल गलत है कि कलाकार के लिए राजनैतिक प्रेरणा कलात्मक प्रेरणा नहीं है, अथवा विशुद्ध दार्शनिक अनुभूति कलात्मक अनुभूति नहीं है—बशर्ते कि वह सच्ची वास्तविक अनुभूति हो, छद्‌मजाल न हो। यह बिल्कुल सही है कि कलाकार की प्रकृति राजनीतिज्ञ या दार्शनिक प्रकृति नहीं है। वह राजनीतिक क्षेत्र में भी जिन आदर्शों को लेकर जाता है, वे आदर्श हृदय के अपरिसीम विस्तार के आवेग से सम्बद्ध होने के कारण उस कलाकार के लिए तो कलात्मक ही हैं। वह

राजनीतिक कौशल प्राप्त करने के लिए राजनीति में नहीं जाता, पद-प्राप्ति के लिए या कीर्ति के लिए भी वह वहाँ नहीं जाता; वरन् मानव-जीवन के एक क्षेत्र में भीगने, रस लेने, ज्ञान-दीप्ति प्राप्त करने, और उसे उत्तमतर बनाने और उचित दिशा में परिवर्तित करने, के लिए वहाँ जाता है। इस विशेष अर्थ में, उसके लिए राजनीतिक आदर्श कलात्मक ही है। यदि वह दर्शन के क्षेत्र में भी जाता है, तो इसलिए नहीं कि वह पूर्व-प्राप्त दर्शनों की काट-छाँट कर एक नयी पद्धति चलाये, वरन् इसलिए कि उसे अपनी और दूसरों की ज़िन्दगी का एक बड़ा डिफ़ेन्स मिल सके। हाँ, यह सम्भव है कि इस बीच लगे-हाथ वह अपना एक नया वाद भी चला दे, लेकिन वह तो अनायास ही होता है। सच तो यह है कि उसकी दार्शनिक वृत्ति जीवन की अधिकाधिक उच्चतर परिणति के लिए होती है। हाँ, यह बात अलग है कि वह जिसे उच्चतर कहता हो, वह वस्तुतः उच्चतर न हो। संक्षेप में, कलाकार के दार्शनिक प्रयत्न, वस्तुतः, कलात्मक प्रयत्न ही हैं।

हमारे यहाँ कुछ ऐसे महामनीषी भी हैं, जो लेखक को हृदय के द्रवण से संलग्न कल्पना की दीप्ति के क्षण से बाँध रखना चाहते हैं। वे उसे केवल उस क्षण में ही कलाकार समझते हैं। वे यह नहीं समझते कि कलाकार का व्यक्तित्व धीरे-धीरे बढ़ता है, कि कलाकार के व्यक्तित्व-निर्माण की भी समस्याएँ होती हैं, और वे समस्याएँ और कलात्मक चेतना इसी जीवन में विकसित होती हैं। वे यह नहीं समझना चाहते कि वास्तविक कलाकार की हालत यह है कि उसके कलाकार की हैसियत उससे कहीं भी नहीं छूटती—कार्यालय में भी नहीं, चूल्हा फूंकते वक़्त भी नहीं, लकड़ी चीरते वक़्त भी नहीं, अस्पताल से दवाई लाते वक़्त भी नहीं, पिताजी के पैर दाबते समय भी नहीं, क़र्ज़ देनेवाले पठान के सामने भी नहीं, बालक के जन्म के समय भी नहीं, श्मशान-यात्रा में भी नहीं, प्रेताग्नि में लकड़ी डालते वक़्त भी नहीं। कलाकार की वह छाया, वह व्यक्तित्व, वह हैसियत, उसके साथ-साथ लगी हुई है, वह हर जगह हर मौक़े पर है। हाँ, यह हो सकता है कि कहीं वह अधिक तीव्र और उद्दीप्त होगी, कहीं अल्प और मन्द! पाँच बजकर एक मिनट पर कम तेज़ और पाँच बजकर दस मिनट पर ज़्यादा तेज़। संक्षेप में, कलाकार का एक सच्चा वास्तविक मनोमय जीवन होता है, जो उसके साथ-साथ चलता रहता है, चाहे वह जहाँ जाये जहाँ रहे। मुश्किल यह है कि बहुत-से लेखक ऐसे होते हैं जिनका यह मनोमय जीवन बहुत छिछला, सतही, क्षणभंगुर और संक्षिप्त होता है। हाँ, यह सम्भव है कि छन्द, भाव और भाषा पर उनका अधिकार होने के कारण ऐसे कलाकार, जिनके पास जीवन की सामग्री वस्तुतः अल्प है, सुन्दर-सुन्दर चित्राकृतियाँ प्रस्तुत करके और उनकी पब्लिसिटी करके अमरता के अधिकारी हो जायें। इस प्रकार की घटना साहित्यिकों तथा प्रकाशकों के समाज की वस्तुस्थिति पर निर्भर रहती है, युग की विशेषताओं पर निर्भर रहती है। चूंकि वह हमारा मूल विषय नहीं है, इसलिए उसके सम्बन्ध में हम चुप रहेंगे। हम तो सिर्फ़ यह कहना चाहते हैं कि मनोमय जीवन का यह जो दूसरा स्तर है

वह कलाकार के लिए न केवल महत्त्वपूर्ण है, वरन् सच्चे कलाकारों के लिए वह अत्यन्त स्वाभाविक ही होता है। इसी दूसरे स्तर के मनोमय जीवन के अन्तर्गत न मालूम कितने ही प्रकार की समस्याएँ उसके हृदय को स्पर्श करती रहती हैं, न जाने कितने ही उच्च जीवन-चित्र उसे भीतर से प्रेरित करते हैं। साथ ही, नये-नये जीवन-क्षेत्रों के अनुभव प्राप्त करने की, प्राप्त करते रहने की, उसे इच्छा होती है।

साधारणत:, यह देखा गया है कि हमारा लेखक प्रारम्भिक प्रयत्नों के अनन्तर, प्राप्त हुई आपेक्षिक ख्याति के उपरान्त, आर्थिक सुसज्जता ऊपरी पॉलिश और अच्छी ज़िन्दगी बसर करने की ओर प्रवृत्त होकर, ऊँचे प्रकाशकों, ऊपरी अधिकारियों, श्रेष्ठ सम्पर्कों और शक्तिशाली तत्त्वों से गाढ़ संसर्गों को प्राप्त करने के लिए छटपटाता रहता है। यही वह आधार-भूमि है जहाँ वह वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का प्रयोग करता है। इस प्रकार के जीवन में उसे अनेक प्रकार की सफलताएँ और असफलताएँ होती हैं। यही नहीं, जो संसर्ग और जो सम्पर्क प्राप्त होते हैं, वे इतने प्रगाढ़ और आत्मीय नहीं हो पाते कि मन की तृप्ति हो। मन को न केवल प्रेम चाहिये, उसे एक ऐसी दिशा भी चाहिये कि जिस ओर वह ज़िन्दगी मोड़ सके। बस, यही नहीं हो पाता, वह दिशा नहीं मिल पाती। फलत:, उन संसर्गों और सम्पर्कों को बनाये रखने के लिए, श्रेष्ठों और उत्तमों की बैठक में आने-जाने के लिए, उनमें से एक बनने के लिए, वह चाहे जो करता है। हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र में, एक लम्बे अर्से से दो विशेष वर्ग काम करते आ रहे हैं। एक को हम कहेंगे सुसम्पन्न उच्च-मध्यवर्ग, और दूसरे को हम कहेंगे ग़रीब निम्न-मध्यवर्ग। इस सुसम्पन्न मध्यवर्ग ने हिन्दी साहित्य में बहुत-कुछ काम किया है। पन्त, प्रसाद आदि इसी सुसम्पन्न मध्यवर्ग की प्रगाढ़ छाया-माया के एक अंग थे। किन्तु प्रेमचन्द नहीं। प्रेमचन्द और नन्ददुलारे वाजपेयी के बीच जो विवाद चल पड़ा था, वस्तुत: वह दो विपरीत प्रवृत्तियों, दो विपरीत रुखों, दो विपरीत रवैयों, दो प्रतिकूल दृष्टिकोणों, की आपसी लड़ाई थी। नन्ददुलारे वाजपेयी और प्रमचन्द की मुठभेड़ विचारधारागत थी। प्रेमचन्द की जनतान्त्रिक मनोधारा भारतीय संस्कृति के सौन्दर्यलोक में पलनेवाले आध्यात्मिक माया-स्वप्नों से अनुस्यूत कलावाद से टकरा जाती थी। वाजपेयी और प्रेमचन्द का झगड़ा आकस्मिक नहीं था। वह प्राकृतिक और अनिवार्य था।

किन्तु आज के हमारे निम्न-मध्यवर्गीय लेखक लोग, अपने ही दरिद्र बन्धु-बान्धवों को तलाक़ देकर, उनके अपने वर्ग का त्याग करने के लिए उत्सुक रहते हैं। वे शीघ्रातिशीघ्र एरिस्टोक्रेटिक पश्चिमीकृत संस्करण बनाना चाहते हैं। यह हाल, खास तौर से, बड़े शहरों के निम्न-मध्यवर्गीयों का है। वे अपनी आधार-भूमि को छोड़कर पराई आधार-भूमि पर स्थित होना चाहते हैं। उच्च-मध्यवर्गीयों की जीवन-प्रणाली के प्रति उनके अन्त:करण में लोभ-लालसा जगती रहती है। आश्चर्य की बात है कि बहुतेरे ख्यातिप्राप्त प्रगतिशील, लेकिन एक जमाने के

निम्न-मध्यवर्गीय, लेखकों ने भी वही एरिस्टोक्रेटिक ज़िन्दगी अपना ली है। उन्होंने अपने वर्ग का त्याग कर दिया है। इस अभिशाप से कोई बचा नहीं है। ऐसी हालत में, उनकी प्रगतिशील भाव-धारा, केवल देव-पूजा की भाँति, आध्यात्मिक और कृत्रिम हो जाती है—भले ही वे अपनी शब्द-क्रीड़ाओं में प्रगतिशील भावना का दीपक जगायें। उन्होंने अपने ही वर्ग की जनता का त्याग कर दिया है। यही कारण है कि उनकी प्रगतिशील भाव-धारा यान्त्रिक है, कृत्रिम है, देव-पूजा के मन्त्रों के समान हैं। उनके अपने साहित्य में निम्न-मध्यवर्ग का चित्रण होते हुए भी उसमें जान नहीं है।

ऐसी स्थिति में यदि निम्न-मध्यवर्ग के अन्य लेखक, ऊँचे एरिस्टोक्रेटिक जीवन के माया-जाल में फँसकर, लोभ-लालसा, ईर्ष्या और द्वेष के आवेग में जलकर, उसी उच्च-मध्यवर्गीय साहित्याभिरुचि मनोवृत्ति भाव-धारा आदि को अपनाकर, अन्तःकरण के नाम पर, हृदय के नाम पर कला के नाम पर अन्तःकरण हृदय और कला ही को काँट-छाँटकर फेंक दें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है!

[सम्भावित रचनाकाल 1959-64। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित]

साहित्य में जीवन की पुनर्रचना

साहित्यिक कलाकार, अपनी विधायक कल्पना द्वारा, जीवन की पुनर्रचना करता है। जीवन की यह पुनर्रचना कलाकृति बनती है। कला में जीवन की जो पुनर्रचना होती है, वह सारतः उस जीवन का प्रतिनिधित्व करती है, कि जो जीवन इस जगत् में वस्तुतः जिया या भोगा जाता है—लेखक द्वारा तथा अन्यों द्वारा। जिया या भोगा जानेवाला यह जो व्यापक जीवन है, वह जितना आन्तरिक है, उतना ही बाह्य। बाह्य और आन्तरिक के बीच स्पष्ट रेखा खींचना मुश्किल है, यद्यपि हमें बौद्धिक आकलन की सुविधा की दृष्टि से भेद तो करना ही पड़ता है। किन्तु आन्तरिक और बाह्य का यह भेद प्रकार-भेद नहीं। उससे तो केवल यह सूचित होता है कि प्रकाश-क्षेपक यन्त्र किस स्थान पर और किस कोण में रखा हुआ है। एक कोण से देखने पर जो आन्तरिक है, वह दूसरे कोण से देखने पर बाह्य प्रतीत होगा।

यह जीवन जब कल्पना द्वारा पुनर्रचित होता है, तब उस पुनर्रचित जीवन में, तथा जगत्-क्षेत्र में जिये और भोगे जानेवाले जीवन में, गुणात्मक अन्तर उत्पन्न हो जाता है। पुनर्रचित जीवन जिये और भोगे जानेवाले जीवन से सारतः

एक होते हुए भी स्वरूपतः भिन्न होता है। यदि पुनर्रचित जीवन वास्तविक जीवन से निःसारतः एक हो, तो वह पुनर्रचित जीवन निष्फल है। पुनर्रचित जीवन और वास्तविक जीवन के बीच जो अलगाव होता है, जो पृथक् स्थिति होती है, उस अलगाव और पृथक् स्थिति के कारण ही कला में एक अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण उत्पन्न होता है। यह कैसे ? मैं अपने ख़याल को और साफ़ करना चाहता हूँ।

यह अमूर्तीकरण इसलिए उत्पन्न होता है कि जीवन की पुनर्रचना जिये और भोगे जानेवाले जीवन से सारतः एक होते हुए भी उससे कुछ अधिक होती है। यह बात महत्त्व की है कि जीवन की यह पुनर्रचना जिस वास्तविक जीवन से सारतः एक है, और जिसका वह प्रतिनिधित्व करती है, वह पुनर्रचना सचमुच जिये और भोगे जानेवाले या जिये या भोगे गये जीवन की वास्तविकताओं के साथ ही, तत्समान सारी वास्तविकताओं, तत्सदृश सब सम्भावनाओं, का भी प्रतिनिधित्व करती है। जिया और भोगा जानेवाला जीवन विशिष्ट वस्तु है। इस विशिष्ट से (जीवन की पुनर्रचना में) सामान्य की ओर जाया जाता है। इसका फल यह होता है कि कला का प्रभाव सार्वकालिक सार्वजनिक हो जाता है, कि न केवल एक देश की कलाकृति दूसरे देश में लोकप्रिय हो जाती है, वरन् यह भी कि दूसरे देश के अतीत काल की कलाकृति एक देश के वर्तमान काल में भी लोकप्रिय हो जाती है। इस प्रकार, देशकालातीत स्थिति प्राप्त कर कलाकृति शाश्वत साहित्य का अंग बन जाती है।

आइये, जीवन की पुनर्रचना की प्रक्रिया को फिर से दुहरायें : (1) वास्तविक जिये और भोगे जानेवाले जीवन से जीवन की पुनर्रचना का सारतः एक होकर भी उससे अलग होना और अलग होकर भी सारतः एक होना; (2) कलाकृति जिस जीवन का बिम्बात्मक या भावात्मक प्रतिनिधित्व कर रही है, उस जीवन के समान सारी वास्तविकताओं और तत्सदृश सब सम्भावनाओं का भी प्रतिनिधित्व करना, दूसरे शब्दों में, सामान्यीकरण होना।

विलगीकृत होकर सार-रूप रहने की स्थिति ऐब्स्ट्रैक्शन है। विशिष्ट से सामान्य रूप धारण करने की स्थिति जेनेरेलाइज़ेशन है। इस ऐब्स्ट्रैक्शन और जेनेरेलाइज़ेशन की स्थिति के फलस्वरूप कला की अपनी स्वतन्त्र सत्ता, स्वतन्त्र इयत्ता, स्वतन्त्र गति-नियम स्थापित हो जाते हैं। स्वभाव तथा स्वगति के नियमों में बँधे यथार्थ-बिम्ब यथार्थवादी शिल्प के अनुसार होते हैं। यथार्थवादी शिल्पवाली जीवन की पुनर्रचना फ़ैण्टेसी द्वारा की गयी जीवन-पुनर्रचना से भिन्न होती है। स्टीफ़ान त्स्वाइग के उपन्यास, एक विशेष-देश-काल-परिस्थिति में प्राप्त वास्तविक जीवन का, पुनर्रचित रूप हैं, किन्तु वह पुनर्रचित रूप प्रातिनिधिक हो उठा है तत्समान सारी वास्तविकताओं और तत्सदृश सारी सम्भावनाओं का। इसलिए, यह कहा जायेगा कि स्टीफ़ान त्स्वाइग के उपन्यास तत्समान सारी वास्तविकताओं और तत्सदृश सारी सम्भावनाओं का सामान्यीकरण हैं—यानी कि स्टीफ़ान त्स्वाइग

की कल्पना द्वारा पुनर्रचित जीवन, अपने मूल वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व तो करता ही है, साथ ही वह तत्समान सारी सम्भावनाओं और तत्सदृश सारी वास्तविकताओं का भी प्रतिनिधित्व करता है—भले ही वास्तविकताओं और सम्भावनाओं की हमें अपने मन में कल्पना ही क्यों न करना पड़े।

जिया और भोगा जानेवाला जीवन एक विशिष्ट वस्तु है। जीवन की पुनर्रचना की प्रक्रिया के दौरान में इस विशिष्ट को सामान्य में रूपान्तरित किया जाता है। किन्तु, यह सामान्य उपस्थित कैसे होता है ? जिये और भोगे जानेवाले जीवन से पुनर्रचित जीवन की जो सारभूत एकात्मकता है, उस सारभूत एकात्मकता के आधार पर ही, और उसके कारण ही और उसके द्वारा ही, विशिष्ट में सामान्य का तेज प्रोद्भासित होता है, अन्यथा नहीं। पुनर्रचित जीवन से वास्तविक जीवन का जो अलगाव है, उस अलगाव द्वारा सामान्य स्थापित नहीं होता, नहीं ही हो सकता। इसके विपरीत, वास्तविक जीवन से पुनर्रचित जीवन का जो सारभूत अभेद है, जो सारभूत एकात्मकता है, उससे सामान्य प्रस्तुत होता है।

विलगीकरण की क्रिया, वस्तुत:, कला के आत्म-रूप स्थापन की क्रिया है। सारभूत एकात्मकता, स्थापित होने स्थापित होते रहने के बीच आप-ही-आप पैदा होती रहती है। सारभूत एकात्मकता विलगीकरण की क्रिया के बिना असम्भव है। किन्तु सारभूत एकात्मकता स्थापित की जाती है, जीवन-पुनर्रचना की विधायक-शक्ति कल्पना-वृत्ति के सूत्र-संचालन करनेवाले संवेदनात्मक उद्देश्य द्वारा, कि जो उद्देश्य कलाकृति के प्रसार में शुरू से आखीर तक समाया रहता है। विलगीकरण तो कला के आत्म-रूप स्थापन से उत्पन्न होता है।

वास्तविक जीवन-जगत् में, जिसकी कि कलाकृति बिम्ब-रूप है, डूबते रहने से ही उस अनुभवात्मक ज्ञान-दृष्टि का विकास होता रहता है, कि जो अनुभवात्मक ज्ञान-दृष्टि, संवेदनात्मक उद्देश्य की अंगभूत होकर उन संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा होनेवाले कल्पना-परिचालन के कार्य में सहायता करती है। ज्ञान दृष्टि तथा अनुभवात्मक जीवन-ज्ञान के वास्तविक चबूतरे पर खड़े होकर ही, संवेदनात्मक उद्देश्य अपनी-अपनी विविध प्रतिक्रियाएँ अथवा प्रक्रियाएँ प्रस्तुत करते हैं। ज्ञान की भूमि का जो प्रसार है, उस प्रसार का क्षेत्र ही संवेदनात्मक उद्देश्यों का कार्य-क्षेत्र है। उस ज्ञान-क्षेत्र के प्रसार के परे और उससे अतीत संवेदनात्मक उद्देश्य हैं ही नहीं। संवेदनात्मक उद्देश्य अन्त:स्थित इच्छा-शक्ति की तृप्ति के और वाह्य से सामंजस्य-स्थापना की प्रवृत्ति के विविध कार्यों के एकीभूत और उदात्तीकृत रूप से युक्त रहते हैं। ये संवेदनात्मक उद्देश्य या तो वाह्य में काट-छाँट उपस्थित करके अपनी तृप्ति करते हैं, अथवा उससे अपनी अनुकूलता स्थापित करते हैं। ये संवेदनात्मक उद्देश्य मानव-व्यवहार में, वाक्-सरणि में तथा कलाकृतियों में, तरह-तरह से, स्पष्टत: अथवा प्रतीकात्मक रूप से, प्रकट होते रहते हैं।

दूसरे शब्दों में, संवेदनात्मक उद्देश्य अभ्यन्तर तथा वाह्य की क्रिया-

प्रतिक्रिया के प्रवाह में, बाह्य से सामंजस्य-स्थापन की प्रक्रिया में, या तो बाह्य की काट-छाँट करते हैं, या आभ्यन्तर की, अथवा दोनों की साथ-साथ। इच्छा-तृप्ति तथा बाह्य से सामंजस्य-विधान की परस्पर-विरोधी द्विविध क्रियाओं की उदात्तीकृत एकात्मकता को धारण करनेवाले ये संवेदनात्मक उद्देश्य, अपनी पूर्ति की दिशा में सक्रिय रहते हुए, मनुष्य के बाल्यकाल से ही उस जीवन-ज्ञान का विकास करते हैं, कि जिस जीवन-ज्ञान के बिना उन संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति ही नहीं हो सकती। ये संवेदनात्मक उद्देश्य, इच्छा-तृप्ति के विकास के, तथा बाह्य से सामंजस्य-स्थापन के, कार्य की परस्पर-भिन्न तथा बहुधा परस्पर-विरोधी प्रक्रिया को एकात्मक उदात्तीकृत बनाते हुए, इच्छा-पूर्ति और सामंजस्य-विधान के द्विविध कार्यों का जो कौशल प्राप्त करते हैं, उस कौशल का दूसरा नाम बुद्धि है। यह बुद्धि की प्रारम्भिक अवस्था है।

जिस प्रकार समाज में कार्य-विभाजन होता है, उसी तरह बुद्धि का अपना कार्य अलग होते हुए भी [वह] जीवन-रक्षा के उस सर्व-सामान्य उद्देश्य में अपना योग देती है, कि जिस सामान्य उद्देश्य की पूर्ति में कल्पना तथा भावना का भी योग होता है। अतएव, उस जीवन-रक्षा के सर्व-सामान्य उद्देश्य की भूमि पर ये सभी वृत्तियाँ, परस्पर-सन्निविष्ट परस्पर-सहायक तथा परस्पर-शिक्षक और परस्परक-संस्कारक होते हुए, उस जीवन-ज्ञान का विकास करती है, कि जिस ज्ञान-राशि की सहायता से मनुष्य, अपने संवेदनात्मक उद्देश्यों से परिचालित होते हुए, अपने व्यक्तित्व-चरित्र को, बाह्य परिस्थिति को, तथा जीवन-रक्षा के उपादान जिस वर्ग में उसे प्राप्त होते हैं उस वर्ग के हितों की ओर अग्रसर करनेवाले मूल्यों को, विशेष रूपाकार प्रदान करता है, या प्रदान करना चाहता है, प्रदान करने का प्रयत्न करता रहता है।

संक्षेप में, संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा (अत्यन्त व्यापक अर्थ में, जीवन-रक्षा के लिए, जीवन-विकास के लिए) बुद्धि का जन्म होता है। संवेदनात्मक उद्देश्य वास्तविक जगत् [में], जो कि व्यक्ति के लिए मुख्यतः अपना वर्ग-जगत् होता है, अपनी पूर्ति के पथ का निर्माण करने के लिए जीवन-कौशल का विकास करते हैं।

इस जीवन-कौशल का दूसरा नाम है बुद्धि। संक्षेप में, बुद्धि का पितृत्व यदि संवेदनात्मक उद्देश्यों के पास है, तो उसका मातृत्व कार्यानुभवों के पास है। विलगीकरण (ऐब्स्ट्रैक्शन), सामान्यीकरण और संश्लेषण, अर्थात् सामान्यीकरणों के सामान्यीकरण, द्वारा बुद्धि अपना कार्य करती है। और बुद्धि के इस कार्य में, बुद्धि द्वारा सहायता-प्राप्त कल्पना और भावना, उसी बुद्धि से सहयोग करती है। इस प्रकार बुद्धि की पृथक् सत्ता और पृथक् पथ का विकास होते हुए भी, उसके पथ के विकास में सम्पूर्ण अन्तःवृत्तियाँ (भावना, कल्पना) योग देती हैं। ध्यान में रखने की बात है कि बुद्धि के कुछ विशुद्ध क्षेत्रों—जैसे, गणितशास्त्र, भौतिकशास्त्र, ज्योतिर्विद्या आदि—में भी बुद्धि की छलाँग कल्पना के सहयोग से होती है। किन्तु यह कल्पना बुद्धि द्वारा सुसंस्कृत और सुशिक्षित होकर ही वैसा कर

सकती है। हाँ, शास्त्रीय क्षेत्रों में भावना की वृत्ति प्रच्छन्न होती है। संक्षेप में, जीवन-ज्ञान की उपलब्धि में तीनों वृत्तियों का सहयोग होता है, और ये तीनों वृत्तियाँ एक-दूसरे से प्रभावित, परिष्कृत और शिक्षित होती हैं। संवेदनात्मक उद्देश्यों तथा कार्यानुभवों द्वारा उत्पन्न यह जो बुद्धि है, वह क्षेत्र-भेदानुसार अलग-अलग रूप ले लेती है।

हम इस बात को और स्पष्ट करना चाहते हैं। अपराध-व्यवसाय से जीनेवाला व्यक्ति, अपने संवेदनात्मक उद्देश्यों तथा कार्यानुभवों द्वारा, बुद्धि का एक विशेष ढंग से विकास करता है। ऐसे व्यक्ति भी मानव-मनोविज्ञान का अध्ययन करते हैं, मानव-व्यवहार का अध्ययन करते हैं। मानव की विश्वास-वृत्ति का लाभ उठाते हुए, तथा उसकी दूसरी कमज़ोरियों से फ़ायदा उठाते हुए, वे अपने कार्य में अग्रसर होते हैं। उनके अपने संवेदनात्मक उद्देश्यों तथा कार्यानुभवों के अनुसार, उनके पास भी जीवन-ज्ञान की एक विकसित और उन्नत व्यवस्था क़ायम हो जाती है। इस जीवन-ज्ञान का वे समुचित उपयोग करते हैं—यहाँ तक कि वे दण्ड से भी बच जाते हैं। संक्षेप में, उनके अपने संवेदनात्मक उद्देश्यों और कार्यानुभवों द्वारा, उनके पास भी जीवन-ज्ञान की एक उन्नत व्यवस्था है। यदि यह व्यवस्था अधूरी या कमज़ोर हुई, अथवा उसका अनुशासन ठीक-ठीक न हुआ, तो उन्हें धोखा खाना पड़ता है। दो अपराध-व्यवसाय-कर्ताओं के जीवन-ज्ञान की अपनी-अपनी व्यवस्थाओं में, अपने-अपने कार्यानुभवों तथा संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार, भेद हो जाता है, यद्यपि उन दो जीवन-ज्ञान व्यवस्थाओं में बहुत-कुछ समानता भी रहती है।

संक्षेप में, जीवन ज्ञान की प्राप्ति में तीनों वृत्तियों का सजग सहयोग होता है। संवेदनात्मक उद्देश्यों तथा कार्य-अनुभवों द्वारा ही बुद्धि का विकास होकर, यह बुद्धि कल्पना तथा भावना को शिक्षित करके, सुसंस्कृत तथा परिष्कृत करके, आगे बढ़ाती है। इसी प्रकार सुशिक्षित कल्पना तथा सुशिक्षित भावना, विकसित तथा परिपुष्ट जीवन-ज्ञान के आधार पर, कार्य करती जाती है। तीनों अन्तर्वृत्तियों की क्रियाशीलता के फलस्वरूप जो जीवन-ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वयं एक क्रियाशील शक्ति बन जाता है। यह जीवन-ज्ञान, एक विकसित तथा परिपुष्ट व्यवस्था में परिणत होकर, सारे व्यक्तित्व के कार्य की आधार-शिला बन जाता है। तीनों अन्तःवृत्तियों की सक्रियता से उत्पन्न जीवन-ज्ञान-व्यवस्था के आधार पर खड़े होकर, बुद्धि भावना और कल्पना, एक-दूसरे से सहयोग करती हुई अपना-अपना कार्य करती हैं।

कल्पना का कार्य है मूर्त-विधान करना। अन्तर्निहित संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा परिचालित होकर ही कल्पना अपना कार्य करती है। ये संवेदनात्मक उद्देश्य जिस जीवन-ज्ञान-व्यवस्था के मूर्त्त स्तर पर खड़े होकर कार्य कर रहे हैं, उस व्यवस्था के तत्त्वों का यथायोग्य उपयोग करते हुए कल्पना अपना मूर्त्त-विधान उपस्थित करती है। न केवल यह, संवेदनात्मक उद्देश्य स्वयं अपनी पूर्ति के लिए बुद्धि का सहारा लेते हैं, जीवन-ज्ञान-व्यवस्था का भरपूर उपयोग करते हैं,

तथा बुद्धि कल्पना और भावना, तीनों का सहयोग लेते हुए कार्य करते हैं। अत-एव, इस पूरी प्रक्रिया में कल्पना-शक्ति स्वयं जीवन-ज्ञान-व्यवस्था के प्रतिकूल न जाकर, वरन् उसकी सहायता प्राप्त करती हुई, उससे सुसंस्कृत और परिष्कृत [होती] हुई, साथ ही बुद्धि की सहायता लेती हुई, उससे शिक्षित और प्रशिक्षित होती हुई, इसके अतिरिक्त, भावना के रंग में डूबकर आगे बढ़ती हुई, वह अपना मूर्त्त-विधान करती है।

संक्षेप में, कल्पना के मूर्त्त-विधान के या बिम्ब-माला के दो प्रमुख कार्य होते हैं: (1) व्याख्यात्मक, (2) प्रातिनिधिक। मूर्त्त-विधान, एक ओर, जीवन की सारभूत विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है, तो, दूसरी ओर, वह उस जीवन की व्याख्या के रूप में प्रस्तुत होता है। व्याख्यात्मकता और प्रातिनिधिकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों के पीछे संवेदनात्मक उद्देश्य समाया रहता है। उससे विरहित होकर दोनों के अस्तित्व की सम्भावना मुश्किल है।

जीवन की पुनर्रचना कल्पना द्वारा होती है। कल्पना वह माध्यम है जिसके द्वारा संवेदनात्मक उद्देश्य जीवन की पुनर्रचना करते हैं। इसलिए, वास्तविक जीवन से पुनर्रचित जीवन की पृथक्ता तथा स्वरूप-भेद तो हो ही जाता है। संक्षेप में, कल्पना पुनर्रचित जीवन का स्वरूप-स्थापन करती है, और उसे वास्तविक जीवन की कोटि से हटा देती है। किन्तु साथ ही, यह पुनर्रचित जीवन वास्तविक जिये और भोगे गये जीवन से सारभूत एकता रखता है। जिये और भोगे गये वास्तविक जीवन से सारभूत एकता रखते हुए भी, पुनर्रचित जीवन तत्समान सारी वास्त-विकताओं और तत्सदृश सारी सम्भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार, उसमें सामान्य का आविर्भाव होता है। किन्तु यह सामान्यीकरण है काहे का? जिये और भोगे गये वास्तविक जीवन के अतिरिक्त, और उसको शामिल करके, तत्समान सारी वास्तविकताओं और सारी सम्भावनाओं का—चाहे वे किसी भी देश-काल की क्यों न हों, अथवा पीछे गये या आनेवाले मनुष्यों के हृदय में ही वे क्यों न कल्पित हुई हों। किन्तु, सामान्य का यह धरातल तब प्राप्त होता है, जब पुनर्रचित जीवन जिये और भोगे गये जीवन से सारभूत एकता रखे। अर्थात्, कलाकार का कर्त्तव्य है कि वह अपने संवेदनात्मक उद्देश्य के अनुसार, स्वयं के विशिष्ट में डूबे जिये और भोगे गये जीवन के वास्तविक विशिष्ट से एकात्म हो, कि जिस विशिष्ट को वह अपने संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार प्रस्तुत करना चाहता है। कलाकार जीवन की पुनर्रचना द्वारा विशिष्ट ही उपस्थित करना चाहता है। किन्तु, कला के अन्तर्नियमों में बँधकर उस विशिष्ट में, विशिष्ट का स्वरूप विकसित होकर, परिणत होकर, सामान्य के रूप में प्रोद्भासित होता है। किन्तु यह सामान्य विशिष्ट का ही सीमा-विरहित रूप है। अतएव कलाकार का धर्म है कि वह अपने विशिष्ट की गहराइयों को पहचाने और उसे प्रस्तुत करे।

जीवन की पुनर्रचना में, वास्तविक जिये और भोगे गये जीवन से जो सारभूत एकता स्थापित होती है, उस सारभूत एकता को हम और स्पष्ट करना चाहते हैं।

हम यह बता चुके हैं कि बुद्धि, ज्ञान, भावना के परस्पर सहयोग से जीवन-ज्ञान विकसित होता है। संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा परिचालित होकर ही कल्पना मूर्त्त-विधान करती है। और ये संवेदनात्मक उद्देश्य जीवन-ज्ञान-व्यवस्था की सुदृढ़ पीठिका पर उपस्थित होकर ही कार्य करते हैं। साथ ही, वे जीवन-ज्ञान-व्यवस्था की इस पीठिका द्वारा नियन्त्रित भी होते हैं।

बुद्धि-कल्पना-भावना के परस्पर सहयोग से, तथा सहयोग के कारण, और अपने परस्पर-प्रभाव के फलस्वरूप, उनमें से प्रत्येक में जो परिणति हुई है उससे, और इन तीनों वृत्तियों के कार्यों द्वारा, जीवन-ज्ञान-व्यवस्था बनती है। किन्तु इन तीनों वृत्तियों के कार्य-व्यवहार के तथा जीवन-ज्ञान-विकास के मूल उत्स, संवेदनात्मक उद्देश्यों और वास्तविक जगत् में उनकी पूर्ति के प्रयत्नों, और उस प्रयत्न के दौरान में प्राप्त होनेवाले अनुभव और ज्ञान में, समाहित है। दूसरे शब्दों में, इच्छा-तृप्ति और बाह्य से सामंजस्य-विधान के द्विविध (कभी-कभी परस्पर-विरोधी) कार्यों की एकता के निर्वाह से जीवन-ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु उस जीवन-ज्ञान की प्राप्ति संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार होती है।

संक्षेप में, जिये और भोगे गये वास्तविक जीवन के सारभूत सूत्र, उसकी सारभूत विशेषताएँ और सारभूत बिम्ब, इच्छा-तृप्ति और बाह्य से सामंजस्य-विधान के द्विविध (तथा कभी-कभी परस्पर-विरोधी) कार्यों की एकता के निर्वाह के प्रयत्नों के दौरान में संकलित, सम्पादित और संशोधित होते हैं।

हमारे आस-पास बहुत जीवन बिखरा हुआ है, फैला हुआ है। सर्वत्र उसके दृश्य प्रसारित हैं। किन्तु उनमें से हमारे लिए वही महत्त्वपूर्ण हैं, कि जो हमारी इच्छा-तृप्ति के कार्य तथा बाह्य से सामंजस्य-विधान के कार्य पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव डालते हों, अथवा हमारे उद्देश्यों को अग्रसर या पश्चसर करते हों। दूसरे शब्दों में, हम उनका संकलन करते हैं, हमसे वह संकलन हो जाता है। इस संकलन से ही हमारा जीवन-क्षेत्र बनता है। किन्तु, इस जीवन-क्षेत्र में अनेकों मानव-सम्बन्ध, मानव-मूल्य, अनेकों कार्य-व्यवहार, अनेकों घटनाएँ, जिनके सूत्र केवल हमारे जीवन-क्षेत्र में ही नहीं उसके बाहर तक फैले रहते हैं—उनकी क्रिया पर एक हद तक ही हमारा प्रभाव होता है। यह जीवन-क्षेत्र वास्तविक जीवन-जगत् का अंग है। उस वर्ग-जगत् का अंग है कि जो विशेष काल-परिस्थिति में विशेष रूप धारण करता है। अतएव हमें अपने जीवन-क्षेत्र के अनुभवों से, तथा व्यापक जीवन-जगत् के ज्ञान से, उस ज्ञान-दृष्टि का विकास करना पड़ता है, कि जिससे हमें इच्छा-तृप्ति के और बाह्य से सामंजस्य-विधान के कार्य में सहायता प्राप्त हो। फलतः, हमें अपने जीवन-क्षेत्र से बाहर निकलकर जीवन-जगत् में फैलना पड़ता है। और व्यापक जीवन-जगत् का ज्ञान प्राप्त करके अपने जीवन-क्षेत्र में लौट आना पड़ता है। और फिर पुनः, जीवन-ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ, अपने जीवन-क्षेत्र को अपने सामर्थ्य के अनुसार व्यापक से व्यापकतर करना पड़ता है।

यही नहीं, बाह्य से सामंजस्य-विधान की प्रवृत्ति तथा इच्छा-तृप्ति के प्रयत्न,

इन दोनों ने मनुष्य को अपने से ऊपर उठने, अपने से परे जाने की वृत्ति को इतना बलवान बना दिया है, कि हम अपने तात्कालिक हितों की बलि देकर दूरतर लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, और व्यक्तिगत स्वार्थ से परे उठकर सामान्य मानवीय आदर्शों की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। किन्तु, ये सामान्य आदर्श उस जीवन-जगत् से उठे होते हैं, कि जो हमारा जीवन-जगत् है, जो हमारा परिवेश है, जो हमारा वर्ग है। किन्तु, सामान्य मानवीय आदर्शों को उन विशेष मानव-सम्बन्धों के हितों की पूर्ति करनी पड़ती है, कि जिन मानव-सम्बन्धों के क्षेत्र में हम पैदा हुए हैं, और जिनमें और जिनके बीच में रहकर हमने अपने जीवन-ज्ञान और दृष्टि का विकास किया है। दूसरे शब्दों में, मानव-सम्बन्धों के हित प्रधान हैं और आदर्श गौण। अतएव, आदर्शों को इस प्रकार ढाला और रचा जाता है कि जिससे कि मानव-सम्बन्ध, वस्तुतः, एक समाज के भीतर के विभिन्न वर्गों के आपसी सम्बन्ध, तथा वर्ग के भीतर के परस्पर मानव-सम्बन्ध, बने रहें और उन्नत हों। जो भी भावात्मक विश्व-चित्र उपस्थित किया जाता है, और उसकी जो फ़िलॉसफ़ी बनायी जाती है—अर्थात् यह समष्टि-चित्र और उसके भीतर समायी हुई दृष्टि की व्यापकता—वस्तुतः अपने तथा वर्ग के एकीभूत दृष्टिकोण से देखे जाने की स्थिति से उत्पन्न है। यह बात भूलने की नहीं है।

यह पहले ही बता चुके हैं कि कला जीवन की पुनर्रचना है, किन्तु, कवि के संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार वह पुनर्रचना की जाती है। ये संवेदनात्मक उद्देश्य उस दृष्टि से सम्पन्न हैं, कि जो दृष्टि कवि ने अपने अनुभवात्मक ज्ञान द्वारा तथा परम्परा द्वारा प्राप्त की है। उसके संवेदनात्मक उद्देश्यों के पास जो जीवन-ज्ञान है—चाहे वह अनुभवात्मक हो अथवा परम्परायित हो—उस जीवन-ज्ञान के तत्त्वों का उपयोग करते हुए कल्पना अपने चित्र प्रस्तुत करती है। संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा संचालित होकर कल्पना जीवन की पुनर्रचना करती है, अतएव, इस पुनर्रचना के कार्य के दौरान में वास्तविक जीवन की व्याख्या तो आप-ही-आप हो जाती है। जीवन-दृष्टि-सम्पन्न संवेदनात्मक उद्देश्यों के पास यदि दृष्टि-दोष है, तो वह दोष भी कल्पना-विधान में प्रस्तुत होगा। संक्षेप में, जीवन-दृष्टि और संवेदनात्मक उद्देश्यों की सारी क्षमताएँ और निर्बलताएँ जीवन-ज्ञान के अधूरे-सबूरेपन, अच्छे-बुरेपन और सही-ग़लतपन के सारे रंग, संवेदनात्मक उद्देश्यों में से बहते हुए, कल्पना-विधान में फैल जायेंगे। उसी प्रकार, यह भी ध्यान में रखने की बात है कि कल्पना के महल की ईंटें वास्तविक जीवन में जिये गये तत्त्व ही हैं। अनुभव, जीवन-दृष्टि, ज्ञान-व्यवस्था, आदि-आदि बातों में से कल्पना अपने तत्त्व ग्रहण करती है, और उनकी जोड़-तोड़ करके अपने आकार बनाती है। संक्षेप में, जीवन की पुनर्रचना कवि के संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार, उसकी जीवन-दृष्टि और जीवन-ज्ञान के अनुसार, बनती है।

[अपूर्ण। रचनाकाल अनिश्चित। सम्भवतः 1959 के बाद]

प्रश्न यह है कि आख़िर रचना क्यों ?

प्रश्न यह है कि आख़िर रचना-प्रक्रिया में इतनी दिलचस्पी क्यों ? मेरे ख़याल से इसका एक उत्तर तो यह है कि उसके अन्तर्तत्वों के विश्लेषण से सौन्दर्य-सम्बन्धी किसी सामान्य सिद्धान्त पर आया जा सकता है। दूसरे भी उत्तर हो सकते हैं। उदाहरणतः, जीवन के विस्तृत क्षेत्र को साहित्य में लाने के लिए, अर्थात् उसके प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत करने के लिए, हम प्रभावोत्पादकता के रहस्य को समझें। इसके अतिरिक्त और भी उत्तर हो सकते हैं। जैसे, अपनी विशेष काव्य-प्रवृत्ति का औचित्य सिद्ध करने के लिए रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण किया जाये।

कोई भी देश व्यक्ति या प्रवृत्ति अपने-अपने इतिहास से जुदा नहीं हो सकती। हिन्दी में रचना-प्रक्रिया का जो विश्लेषण शुरू हुआ, वह मुख्यतः, नयी कविता को (या कहिये नयी काव्य-प्रवृत्ति को) ध्यान में रखकर ही। कभी आधुनिकता के नाम पर, तो कभी सौन्दर्य के नाम पर यह काम हाथ में लिया गया। किन्तु रचना-प्रक्रिया का कोई तत्परक (ऑब्जेक्टिव) विश्लेषण सामने नहीं आया। विश्लेषक का संवेदनात्मक उद्देश्य रचना-प्रक्रिया का कोई तत्परक अन्वय-समन्वय करना, विश्लेषण करना, नहीं था, वरन् एक विशेष प्रवृत्ति की स्थापना करना रहा आया। परिणाम यह हुआ कि ऐसे प्रयत्नों से, सम्भवतः, काव्य-क्षेत्र को, कला-क्षेत्र को विशेष लाभ नहीं हुआ। दूसरे शब्दों में, जीवन के सुविस्तृत वैविध्य और मूलभूत एकता के कोई विशिष्ट और संवेदनात्मक चित्रण का मार्ग ऐसे विश्लेषण ने प्रस्तुत नहीं किया। रचनात्मक प्रक्रिया के विश्लेषण से यदि सृजन-शील साहित्य का मार्ग अधिकाधिक प्रशस्त हो तो कहना ही क्या है !

रचना-प्रक्रिया का तत्परक विश्लेषण, मेरे ख़याल से, अत्यन्त कठिन है, दुष्कर है। इसके कई कारण हैं। एक तो यह है कि रचना-प्रक्रिया एक नहीं, अनेक है, विविध है, और उसकी विभिन्नता अत्यधिक है। रचना-प्रक्रिया सृजन की मनो-वैज्ञानिक प्रक्रिया है। कवि-स्वभाव, कवि-दृष्टि, और विषय-वस्तु (या कहिये कथ्य) के अनुसार, वह बनती-बदलती है।

प्रगतिशील काव्य की दृष्टि के विरोध में, अथवा उसकी प्रतिकूल स्थिति में, नयी काव्य-प्रवृत्ति में प्रकट 'स्व' के महत्त्व को स्थापित करने के लिए, रचना-प्रक्रिया की स्वात्मकता को उठावदार-उभारदार बनाने के लिए, जिससे कि अन्य जनों का ध्यान उसकी स्वात्मकता पर खिंचे, रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण की ओर प्रवृत्ति हुई। किन्तु आगे चलकर ज्यों ही प्रगतिशील पैटर्न और प्रवृत्ति क्षीण होकर तिरोहित होने लगी, रचना-प्रक्रिया के वास्तविक विश्लेषण से विमुखता होने लगी। यह विमुखता लाभकर नहीं, हानिकर है।

इसका कारण है। रचना-प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ते ही हमारे सामने कई समस्याएँ और कर्तव्य खड़े हो जाते हैं। कोई भी कवि अच्छा या बुरा नहीं होता,

वह कवि या अकवि ही हो सकता है, अर्थात् उसमें चेतना या जड़ता हो सकती है। एक विशेष रूप-स्वरूप और प्रवृत्ति से पूर्ण जो चेतना है वह कवि की चेतना है।

इस बात को हम यों कहेंगे। कवि की मनोवैज्ञानिक स्थिति और स्तर, जो उसके काव्य में प्रकट होता है, कैसा है? किस प्रकार का है? प्रभावशील काव्य के सतहीपन पर, या यों कहिये कि सतही प्रगतिशील काव्य पर, विचार करते समय उसके मनोवैज्ञानिक स्तर और स्थिति को देखा गया। आज भी रचना-प्रक्रिया पर विचार करते समय हमें नयी कविता के सतहीपन पर, या यों कहिये कि सतही नयी कविता पर, प्रकाश डालकर इस बात पर सोचना होगा कि क्या किया जाय कि जिससे नयी कविता, जीवन के सुविस्तृत क्षेत्र के विविध रंगों से दीपित होकर, एक ओर वैविध्यपूर्ण जीवन-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व कर सके, तो दूसरी ओर स्वात्मकता के खरे और भरे रंग उसमें खिल सकें।

दूसरे शब्दों में, प्रश्न यह है कि 'जो है' उसको अन्तिम मानकर, उसको 'आधुनिक' कहकर, 'जो चाहिए' उसकी भावना को तिरस्कृत करें, उसे सन्दर्भहीन मान टाल दें या क्या?

इस बात को हम दूसरे शब्दों में कहेंगे। क्या हम कहें कि नयी कविता केवल मानसिक किन्तु तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है, क्षण-विक्षण प्रतिक्रिया—और उसे वैसा होना ही चाहिए, नहीं तो वह नयी कविता नहीं है? अथवा वह ऐसी काव्य-प्रवृत्ति है जिसमें टोटल पर्सनैलिटी इनवॉल्व्ड है (सम्पूर्ण व्यक्तित्व सन्निहित है)? और फिर वह सम्पूर्ण व्यक्तित्व किस प्रकार से सन्निहित है, अथवा किस प्रकार से उसे सन्निहित होना चाहिए?

यही बात इस तरह भी कही जा सकती है कि क्या लेखक इस तरह लिखे कि अपनी कृति का हलका-सा प्रभाव छोड़कर छुट्टी पा ले? अथवा वह इस तरह लिखे कि कथ्य, अपने पूरे तत्त्वों को मूर्त्तिमान करते हुए, पाठक के हृदय में अपने प्रभाव के प्रभाव को घनीभूत कर दे, अर्थात् उसके हृदय में भावना उत्पन्न कर दे? निःसन्देह, कृति की आलोचना अथवा कृति का प्रभाव-ग्रहण कवि के व्यक्तित्व का भी प्रभाव-ग्रहण है।

इसी बात को हम दूसरे शब्दों में कहेंगे। क्या हम यह कहें कि नयी कविता केवल गद्य-भाषान्वित, मानसिक, किन्तु तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है, या उसमें 'सम्पूर्ण व्यक्तित्व' (टोटल पर्सनैलिटी) लिपटी हुई (इनवॉल्व्ड) होनी चाहिए? यह सही है कि 'टोटल पर्सनैलिटी' जैसे शब्दों की व्याख्या के लिए फिर प्रश्न पूछे जायेंगे, लेकिन मतलब साफ़ है।

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1959-64। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित]

अन्तरात्मा और पक्षधरता

पक्षधरता का प्रश्न हमारी आत्मा का, हमारी अन्तरात्मा का प्रश्न है। मैं उस आत्मा का, उस अन्तरात्मा का पक्षधर हूँ और, चूँकि मेरी अन्तरात्मा की हलचल और बेचैनी आपकी अन्तरात्मा की हलचल और बेचैनी से मिलती-जुलती है, इसलिए जहाँ तक अन्तरात्मा का प्रश्न है, मैं आपका भी पक्षधर हूँ, और आप मेरे भी पक्षधर हैं। और, चूँकि हम-आप-जैसे अन्तरात्मावाले बहुत-से लोग इस संसार में हैं, इसलिए हम सब उन सबके और वे सब हम सबके पक्षधर हैं, चाहे वे हिन्दी-क्षेत्र के हों, या अन्य भाषा-क्षेत्र के, भारत-भूमि के हों, या उसके बाहर के। संक्षेप में, हम सब एक प्रवृत्ति हैं, एक धारा हैं—भाव-धारा, विचार-धारा, जीवन-धारा—और हम सब उसी धारा के अंग हैं। और हम इस धारा के पक्षधर हैं। और हम बिना इस पक्षधरता के अपने-आपको अपूर्ण, मूल्यहीन और निरर्थक पाते हैं।

क्या हमारी यह पक्षधरता ग़लत है? पक्षधर होने की हमारी यह खुली प्रवृत्ति ग़लत है? अपनी अन्तरात्मा का, और अपनी-जैसी अनगिनत अन्तरात्माओं का, पक्षधर होना ग़लत है? जवाब साफ़ है। नहीं, बिलकुल नहीं। हम अपनी अन्तरात्मा की और अपनी-जैसी अन्य अन्तरात्माओं की पक्षधरता और मज़बूत बनायेंगे। इस धारा को दृढ़ करेंगे, विस्तृत करेंगे। और अगर विपक्षी हमारी इस धारा पर हँसते हैं, धिक्कारते हैं, चिड़चिड़ाते हैं, तो उन्हें हँसने दो या खीझने दो, क्योंकि वे वे हैं, हम हम हैं।

एकदम यह सही है कि हमारी अन्तरात्मा जो कुछ हमें कहती है, उसके अनुसार हम चल नहीं पाते, कर नहीं पाते, वैसा साहित्य-सृजन नहीं कर पाते। और इसीलिए तो अन्तरात्मा है जो यह कहती है कि बेवक़ूफ़, तुम यहाँ चूक गये!

हाँ, यह सही है कि अन्तरात्मा जिन भाव-समुदायों को, जिस भाव-धारा को, जिस विचार-धारा को लेकर चल रही है, उसमें ज्ञान के प्रकाश के साथ-ही-साथ अज्ञान और पूर्वाग्रहों का अनजाना अन्धकार भी हो सकता है। हाँ, यह सही है कि अज्ञान और अर्ध-ज्ञान के, पूर्वाग्रहों के, दुराग्रहों के, अन्धकार की ओर न देखते हुए, मैं अपने प्रतिपक्षी के उन सशक्त तर्कों और प्रचण्ड युक्तियों, उसके अपने सत्यांशों, को उपेक्षाभरी दृष्टि से देखता होऊँ। हाँ, यह सही है कि मैं अपने आवेग में, सत्य के नाम पर आत्म-बद्ध दृष्टि ही को यथार्थ दर्शन समझते हुए, जूझ जाता हूँगा। यह सब सही हो सकता है। यह सब सही है।

किन्तु केवल इतना ही सही नहीं है। यह भी सही है कि मेरी अन्तरात्मा ने जीवन-यात्रा में जिन लक्ष्यों और भाव-दृष्टियों को प्राप्त किया है, जिस भाव-धारा का विकास किया है, उसमें महत्त्वपूर्ण सचाइयाँ भी हैं। उस अन्तरात्मा ने जिन विशेष आग्रहों का विकास किया है, वे उसके लक्ष्यों से प्रसूत आग्रह हैं। वे प्रयोजन हैं। वे अन्तरात्मा के संवेदनात्मक उद्देश्य हैं, वे कर्म-प्रक्रिया के लक्ष्य हैं—चाहे वह

कर्म-प्रक्रिया कलाकार का कर्म ही क्यों न हो। उन उद्देश्यों और प्रयोजनों, उनसे प्रसूत आग्रहों और अनुरोधों से, मैं तटस्थ नहीं हूँ। मैं अपनी अन्तरात्मा का पक्षधर हूँ, और अपने-जैसे अन्यों की अन्तरात्माओं का भी पक्षधर हूँ। इसलिए, आप-ही-आप, मेरे अनजाने मेरा अपना एक शिविर बन जाता है, चाहे मैं उसे शिविर कहूँ या न कहूँ, भले ही मैं उस शिविर के सदस्यों के भौतिक अस्तित्व से अपरिचित रहूँ। इसलिए मैं यह लेकर चलता हूँ कि मेरे-जैसे न मालूम कितने ही लोग हैं, जो मित्र हैं, सम्भाव्य मित्र हैं। मैं उन्हें नहीं जानता—शायद उन सबको जानना सम्भव नहीं है। उसी प्रकार, मैं यह भी जानता हूँ कि जिस प्रकार मैं अपने अन-जाने शिविर बन जाता हूँ, या एक शिविर का सदस्य अपने जाने-अनजाने हो जाता हूँ, उसी प्रकार दूसरे लोग भी अपने जाने-अनजाने अन्य शिविरों के सदस्य बन जाते हैं, और मुझे मुक्तिबोध के नाम से न पहचानकर उस शिविर के एक सदस्य के नाम से पहचानते हैं। और इस प्रकार, मैं अपने जाने-अनजाने स्वयं कुछ न करते हुए भी, उनके विरुद्ध कुछ भी न करते हुए भी, उनके प्रतिकूल भाव का, उनकी कोप-दृष्टि का, उनके विरोध-कार्य का, शिकार बन जाता हूँ। मेरे जाने-अनजाने ही वे मेरे विरोधी और शत्रु बन जाते हैं।

यह द्वन्द्व एक वास्तविकता है। उससे छुटकारा नहीं। हाँ, यह सही है कि द्वन्द्व का क्षेत्र और धरातल का जानना एकदम ज़रूरी है, क्योंकि उसका रूप, उसकी प्रक्रिया, विभिन्न स्थिति-दशाओं में विभिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न होते हुए भी, उसकी मूल सामान्य विशेषताएँ क्षेत्र और धरातल के अनुसार ही बनती हैं।

और इस द्वन्द्व-स्थिति में पड़कर ही (पड़ना ही पड़ता है) हमें मालूम हो जाता है कि हमारे प्रतिपक्षी ने बहुत-बहुत सही बातें कहीं हैं, तो उसका प्रयोजन क्या है, उन सही-सही बातों का उसने जो उपयोग किया है तो कौन-सी स्थिति की स्थापना के लिए ?

और अगर मैं पहचान जाऊँ कि उसने ये सही-सही, ये सच्ची-सच्ची बातें कही हैं, तो मैं उन्हें उठा लूँगा। जिस प्रकार यथार्थ का एक अंश मेरे सम्मुख खुला हुआ है, उसी प्रकार यथार्थ का एक अंश उसके सम्मुख भी खुला हुआ है।

सही है कि हमारे प्रयोजन और उद्देश्य-लक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए वह अपने प्रयोजन के अनुसार एक विशेष कोण की ओर ही दृष्टिक्षेप करता है, जिस पर मैंने अगर दृष्टिक्षेप किया भी था तो ध्यान नहीं दिया था, उस कोण-दृश्य को महत्त्व नहीं दिया था। इसलिए यथार्थ के कुछ अंश, जो उसके सामने खुले, मेरे सामने नहीं खुले थे। मैं अवश्य ही उसके सत्यांशों को स्वीकार कर लूँगा और अपने में मिला लूँगा। अपनी विचार-धारा, भाव-धारा, अपनी भाव-दृष्टि में जो कमज़ोरियाँ, जो खाइयाँ और जो कँटीले अहाते हैं, उन्हें भरसक कम करने की कोशिश करता जाऊँगा।

कोई भी द्वन्द्व हो—परिस्थिति ही से द्वन्द्व क्यों न हो—उसमें पड़ने से (उसमें

पड़ना ही पड़ता है) मनुष्य की यथार्थ चेतना बढ़ती ही है, यथार्थ का अधिकाधिक ज्ञान उसे होता जाता है।

किन्तु मैं इस बात की पूरी कोशिश करूँगा कि ये द्वन्द्व झूठे द्वन्द्व न हों। अपनी अहंबद्ध भेद-बुद्धि के कारण हम झूठे द्वन्द्वों का सृजन कर लेते हैं। जो हमसे भिन्न है, वह केवल अन्य ही नहीं, वह विरोधी भी है, विपक्षी भी—यह मानकर चलने के लिए मैं तैयार नहीं।

अहंकार अपना एक इन्द्रजाल खड़ा करता है। तर्क और युक्ति, सही और आधी-सही, बातों का एक अस्त्रागार उसके पास है। लेखक अपनी लेखनी से भी अपने अहंकार की तुष्टि करता है। वह खुद ही अपनी आँखों के सामने कैसा-कैसा अभिनय करता है, तन्मय होकर !

मैं इससे बचना चाहता हूँ, और पराजित हो जाने में ही अपना कल्याण समझता हूँ, क्योंकि पराजित हो जाने से ही तो कोई विजित हो नहीं सकता।

मनुष्य की बुद्धि इतनी कम है, यथार्थ का प्रसार इतना विस्तृत और उलझाव भरा है, कि केवल मेरी ज्ञान-प्रक्रिया ही से—केवल मेरी ही अपनी ज्ञान-प्रक्रिया में सीमित रहने से—मैं उसका सर्वाश्लेषी आकलन नहीं कर सकता। इसीलिए मैं चाहता हूँ ज्ञान-परम्परा, भाव-परम्परा और उसको धारण करनेवाला यह जो जगत् है, वह। मैं उसे चाहने लगता हूँ।

मैं इन्तज़ार करता हूँ। और इन्तज़ार करने में विश्वास रखता हूँ। यह इन्तजार आलसियों का या भाग्यवादियों का इन्तज़ार नहीं है। प्रतीक्षा के इस काल में मनन चलता है, अपनी ही जीवनात्मक भावुक तथा बौद्धिक स्थितियों का। यह मनन विभिन्न आत्म-संशोधनों को ले आता है।

किन्तु यह प्रतीक्षा है काहे की ? इस बात की प्रतीक्षा है यह कि, सम्भव है, किसी देश में, अथवा अनेक देशों में, अथवा इस भारत-भूमि में ही, ऐसे लोग हैं जिनके सामने ठीक वे ही प्रश्न हैं जो मेरे सामने हैं। उनकी भी प्रवृत्ति ठीक वही है जो मेरी है। और उन्होंने अवश्य ही इन प्रश्नों पर सोचा होगा। शायद, मुझसे ज़्यादा सोचा होगा। अधिक व्यापक होगा उनका सोच-विचार। सम्भव है, हाँ सम्भव है ! इसलिए आज नहीं तो कल, जो दृष्टि सामान्यत: गृहीत है, उसमें संशोधन होंगे। संशोधन अवश्यम्भावी हैं। वे एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के अंग हैं। इसलिए मैं ऐतिहासिक प्रक्रिया की ज्ञान के क्षेत्र में भी, दृष्टि-विकास के क्षेत्र में, अनवरत क्रिया पर विश्वास रखता हूँ।

संक्षेप में, मेरी-जैसी अन्तरात्मावालों की, मेरी-जैसी प्रवृत्तिवालों की, एक परम्परा है। वह परम्परा-प्रक्रिया मेरे प्यारे देश में ही नहीं, अनगिनत देशों में है। मैं उस परम्परा-क्रिया का अंग हूँ, और अपनी परम्परा को ढूँढ़ता भी फिरता हूँ। दुःख इसी बात का है कि मैं अंग्रेज़ी को छोड़ दूसरी विदेशी भाषा नहीं जानता, और हिन्दी और मराठी को छोड़ अन्य कोई भारतीय भाषा नहीं जानता। अकिंचन इतना हूँ कि हिन्दी की किताबें भी नहीं खरीद सकता। और लिखने के

काग़ज़ जब ज़्यादा खर्च हो जाते हैं, तब सोचता हूँ कि मैं कितना फिज़ूलखर्च हूँ। ऐसी स्थिति में मैं क्या अपनी परम्परा ढूँढ़ूँगा !

किन्तु हर समस्या का एक-न-एक समाधान है—चाहे अधूरा ही क्यों न सही। इसलिए, मैं अपने आस-पास के लोगों, अपने मित्रों, आत्म-सम्बन्धियों और अपने सहयोगियों तथा परिचितों में उसे ढूँढ़ने लगता हूँ।

और उनसे बहस छिड़ जाती है, या चर्चा हो जाती है, और बहुत बार धरित्री अपने रत्न उगल देती है। और मैं अपने प्रभाव में भी अत्यन्त सम्पन्न अनुभव करने लगता हूँ।

किन्तु देश-विदेश में हो रहे प्रयत्नों की सम्भावना की उपेक्षा मैं नहीं कर पाता। और इस तरह मेरी छाया पृथ्वी पर भटकती रहती है, भटकती रहती है।

'अन्तःकरण का आयतन संक्षिप्त है' नामक मेरी एक कविता में (वह कृति मासिक पत्र में प्रकाशित हुई थी) मेरी इसी प्रवृत्ति का चित्रण है। मेरे अपने लेखे, उसमें एक लिरिसिज़्म है, एक यथार्थप्रवण रूमानी क़िस्म की कल्पनाशीलता है, एक आवेश है, और अन्त में आत्मालोचन है।

इस प्रकार मैं द्वन्द्व-स्थिति में पड़कर मैत्री ही प्राप्त करता हूँ।

हाँ, यह सही है कि मेरी-जैसी अन्तरात्मावाले लोग मुझे धिक्कार भी सकते हैं। मेरे ही शिविर में मेरी ही हत्या हो सकती है, वास्तविक तिरस्कार हो सकता है, हुआ है, होता रहा है, होता रहेगा—सम्भवतः।

क्या इतिहास में हमें ऐसे प्रसंग नहीं मिलते हैं ? खूब मिलते हैं। औरंगज़ेब ने पहले दारा, मुराद और शुज़ा को खत्म किया, और घर को निष्कण्टक करके बाहर चढ़ दौड़ा।

दारा और औरंगज़ेब की यह जोड़ी आपको हर जगह मिलेगी। अमरीका में भी, रूस में भी, साम्यवादी जगत् में भी, पूँजीवादी-साम्राज्यवादी दुनिया में भी। भारत में भी मिलती है।

दारा की हत्या की सम्भावना हमेशा रही है। हमेशा रहेगी। द्वन्द्वात्मक स्थिति की गत्यात्मकता व्यक्ति-रक्षा नहीं करती, प्रवृत्ति-रक्षा सम्पन्न करती है। इसीलिए दारा का जन्म बार-बार होगा, और वह अपना प्रभाव फैलाने के बाद बार-बार मारा जायेगा।

दारा प्रभावशील, विद्वान् और भीगा हुआ राजकुमार था। मैं वह नहीं हूँ, बहुत-बहुत छोटा हूँ, जनसाधारण हूँ, अत्यन्त अल्प हूँ। इसलिए मैं बार-बार नहीं मरूँगा, एक बार मर जाऊँगा हमेशा के लिए, किसी के किये से नहीं, अपने किये।

फिर भी एक प्रश्न है, और वह यह कि मेरी अन्तरात्मा कहाँ तक विकसित है ! स्वयं के अनन्यीकरण, इतरीकरण के साथ, मैं कहाँ तक जगत् के साथ अनन्यीकरण और उसका स्वकीयीकरण कर सका हूँ ? दूसरे शब्दों में, अपनी अन्तरात्मा के प्रयोजन को मैं कहाँ तक दृढ़ कर सका हूँ ?

आत्मालोचन निःसन्देह आवश्यक है। जब तक हमारे कार्य तथा अनुभव-प्राप्त ज्ञान से सम्पादित आत्म-संशोधन अन्तरात्मा के प्रयोजनों को ही दृढ़ और बलवान करते हैं, तभी तक उनकी सार्थकता है। जब तक वे उन प्रयोजनों से प्रसूत हमारी भाव-परम्परा को विकसित और सम्पन्न करते हैं, तभी तक उनका उपयोग है। यह कहना महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि मनुष्य कभी-कभी अपने ही बनाये जाल में फँस जाता है, और अपनी अन्तरात्मा के प्रयोजनों के मार्ग से वह हट जाता है। ऐसे व्यक्ति का सारा अनुभवात्मक ज्ञान और दृष्टि, प्रयोजनहीन होने के कारण, केवल व्यर्थ का भार ही नहीं बन जाती, वरन् उसे तरह-तरह के समझौतों के मार्ग पर आगे बढ़ाती है। और ये समझौते, क्रमशः, उसके व्यक्तित्व को नपुंसक, और गुप्त तथा प्रकट रूप से निराशावादी या भाग्यवादी, बना देते हैं। वह अपने खुद के रास्ते से हट जाता है।

निःसन्देह, यह प्रश्न उठता है कि मेरी अन्तरात्मा कहाँ तक विकसित है!

इस प्रश्न का उत्तर मैं इस तरह देता हूँ। मेरे जीवन ने इस जगत् में अब तक जो यात्रा की है, वह प्रयोजनहीन नहीं की है। मैंने अपने अनुसार कुछ हद तक परिस्थिति को बनाया और बिगाड़ा है। इस जीवन-यात्रा में अभ्यन्तर की एक पुकार रही है। नवयौवनावस्था के पूर्व से ही मेरे प्रयोजन प्राप्त और विकसित होते गये, और उन्हीं के अनुसार मैंने अपनी भाव-धारा विकसित की। यह भाव-धारा अन्तर्निहित है।

ये प्रयोजन मेरे निजत्व के मूल चक्र हैं। वे प्रयोजन क्या हैं?

घर में, परिवार में, समाज में, मनुष्य को मानवोचित जीवन प्राप्त हो। आर्थिक तुला के आधार पर, घर में, परिवार में, समाज में, मनुष्य के मूल्य को न आँका जाये। मनुष्य अपनी और अपने परिवार की अस्तित्व-रक्षा के आर्थिक-भौतिक संघर्ष और तत्सम्बन्धी चिन्ताओं से छूटकर, निर्माण और सृजन के कार्य में लगकर समाज की उन्नति और प्रगति में योग दे, तथा उसको अपने निजत्व के विकास के अवसर प्राप्त हों—सबको समान रूप से। आर्थिक उत्पीड़न और शोषणमूलक यह जो भयानक पूंजीवादी समाज-व्यवस्था है, वह हमेशा के लिए समाप्त हो। और उत्पादन तथा श्रम के समस्त माध्यमों तथा साधनों पर पूरे समाज का अधिकार हो। किसी को भी किसी का व्यक्ति-स्वातन्त्र्य खरीदने का अधिकार नहीं हो, न बेचने का। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को रहन न रखा जाय, न कोई किसी को रहन रखने दे। किन्तु जो व्यक्ति-स्वातन्त्र्य समाजवाद और जनतन्त्र के समन्वय में बाधक हो, या इन दोनों में से किसी एक का भी उत्सर्ग करने के लिए उत्सुक हो, उस व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को पूरा समाज सार्वजनिक रूप से निन्दित और तिरस्कृत करे। समाजवाद जनता की, जनसाधारण की, मुक्ति का राजपथ है। और इसीलिए उसकी मूल आत्मा जनतान्त्रिक है। कैसे जनसाधारण? वे कि जिन्होंने शोषण और उत्पीड़न की जंजीरों को अपने संगठित कार्यों द्वारा तोड़ दिया है। समाज उनके आर्थिक और पारिवारिक स्थिति की सुरक्षा की गारण्टी

लेता है, उनके बाल-बच्चों की शिक्षा तथा चिकित्सा और जीविका-कार्य की गारण्टी लेकर, उनके शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक गुणों के उत्कर्ष के कार्य को सिद्ध करता है। और बढ़ते हुए सामूहिक उत्पादन की प्रणाली के आधार पर उनके जीवन-स्तर को क्रमशः विकसित करता जाता है। मेरे-जैसे कोटिशः अकिंचनों और अरक्षित जीवनवालों की मुक्ति का रास्ता है। समाजवाद की मूल आत्मा जनतान्त्रिक है। जनतान्त्रिक संस्थाओं और जनतान्त्रिक विधि-नियमों से उसे निबद्ध किया जा चुका है, किया जा सकता है। पोलैण्ड और यूगोस्लाविया तथा अन्यान्य देश इस जनतन्त्र के उदाहरण हैं।

जी हाँ, वहाँ समाजवादी समाज-रचना को पलटकर फिर से पूँजीवादी समाज-व्यवस्था को लानेवाली शक्तियों को स्वातन्त्र्य नहीं है।

मनुष्य में एक बहुत बड़ी शक्ति है—विकृत करने की शक्ति। व्यापक सामाजिक प्रभाव रखनेवाले मार्गों और उनके प्रवर्तकों के विचारों को विकृत रूप में रखकर, उस विकृत रूप का सचाई के नाम पर प्रचार किया गया है—चाहे वह बौद्ध धर्म हो या ईसाई मत। या वह कोई अन्य भारतीय और अभारतीय धर्म हो। एक विशेष अनुकूल परिस्थिति पाकर, विकारकर्त्ता अपनी एतत्सम्बन्धी विकृतियों को फैलाते हैं।

इन विकृतियों को जन-चेतना द्वारा ही दूर किया जा सकता है। शिक्षित, सुसंस्कृत, आत्मगौरवपूर्ण मानव (व्यक्ति नहीं), मनुष्य, ऐसा मनुष्य जो समाज में तद्वत् हो गया हो, जिसने समाज का स्वकीयीकरण कर लिया हो, उसका परकीयीकरण—इतरीकरण—न किया हो—ऐसा मनुष्य ही अपने सामाजिक प्रभाव और सामूहिक कार्यों से उन विकृतियों को रोक सकता है। समाजवाद का विकृतीकरण हो सकता है, हुआ है, और भविष्य में भी सम्भव है······

ऐसा क्यों ? इसलिए कि वहाँ भी द्वन्द्व-स्थिति है। इस द्वन्द्वस्थिति से छुटकारा नहीं। अन्तर केवल यह है कि मनुष्य ने मानव-परिस्थिति पर अब तक जो-जो और जितनी-जितनी विजय पायी है, उसके उच्चतम स्तर पर चल रही वह द्वन्द्व-स्थिति है। आदिम क़बीलोंवाली सभ्यता के द्वन्द्व से, दास-सभ्यतावाले द्वन्द्व से, सामन्ती सभ्यता में चल रहे द्वन्द्व से, पूंजीवादी-औद्योगिक स्थिति में चल रहा द्वन्द्व जिस सभ्यता-स्तर का द्वन्द्व है, वह सभ्यता-स्तर पूर्वतर सभ्यता-स्तरों से अधिक विकसित इस अर्थ में है कि मनुष्य ने अपनी परिस्थितियों पर पूर्वतर सभ्यतावाले स्तर के मनुष्य की अपेक्षा अधिक विजय पायी है।

द्वन्द्व-स्थिति में होता यह है कि किसी एक विशेष पक्ष (पहलू) पर, या उसके किसी एक विशेष कोण पर, ही अधिक दृष्टिक्षेप होता है, और शेष पक्षों पर या शेष कोणों पर केवल एक सामान्य दृष्टि, सरसरी नज़र, ही डाली जाती है। इस का कारण यह है [कि] यह द्वन्द्व-स्थिति मानव-जगत् की द्वन्द्व-स्थिति होने से, द्वन्द्व करनेवाले विशिष्ट प्रयोजनों से उन दृष्टियों का सम्बन्ध होता है। ज्ञान प्रयोजनों से सीमित और परिसीमित होता है। परिणामतः, द्वन्द्व-स्थिति बदलते ही हमें

... ... में आवश्यक संशोधन करना पड़ता है।
यथार्थ के निकटतम पहुँचने के लिए, प्रयोजन के अनुसार उसमें उचित और आवश्यक दिशा में परिवर्तन करने के लिए, हमें अपनी चेतना में भी यथार्थानुगत संशोधन करना पड़ता है। इसीलिए अनवरत अध्ययन, अनुसन्धान, और प्रयोग की आवश्यकता होती है।

हाँ, यह सही है कि प्रयोगों में ग़लती हो सकती है। भूलें हो सकती हैं। किन्तु उसके बिना चारा नहीं है। यह भी सही है कि कुछ लोग अपने प्रयोगों से इतने मोहबद्ध होते हैं कि वे उसमें हुई भूलों से इनकार करके उन्हीं भूलों को जारी रखना चाहते हैं। वे अपनी भूलों से सीखना नहीं चाहते। अतः वे जड़वादी हो जाते हैं।

जड़वाद कई तरह से प्रकट होता है। वह अध्यात्म का जामा पहनकर आता है, और भौतिकवाद का भी। व्यक्तित्व और ज्ञान नया कुछ सीखने से इनकार कर देता है। परिणामतः, उसमें ह्रास के लक्षण अधिकाधिक होते जाते हैं। महापुरुषों और दिग्गजों का, काव्य-प्रवृत्तियों का, विचारधाराओं का, क्रमशः ह्रास हमें इसी तरह से देखने में आता है। उनकी ज़मीन खिसकने लगती है। वे इतने ऊँचे हो जाते हैं कि ज़मीन खिसकते-खिसकते वे सिर्फ़ आसमान में लटक जाते हैं। विगत काल में कमायी हुई अपनी पूँजी का वे केवल यश और प्रभावरूपी ब्याज खाते रहते हैं। ऐसे न मालूम कितने ही मृत ज्वालामुखी हमें जीवन-क्षेत्र में दिखायी देते हैं, जो अभी भी बड़े ऊँचे और प्रभावशाली बनकर क्षितिज सीमान्तों पर तने हुए हैं।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रयोग और अनुसन्धान के नाम पर अब तक मानव-जाति को प्राप्त हुए ज्ञान का, अर्थात् सिद्धान्त-व्यवस्था का, अस्वीकार किया जाये। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रयोग के नाम पर यथार्थ-संगत कल्पनाओं और धारणाओं को, सिद्धान्तों को, समाप्त कर दिया जाये। इसका अर्थ यह है कि बदली हुई परिस्थिति में परिवर्तित यथार्थ के नये रूपों का, उनके पूरे अन्तः-सम्बन्धों के साथ, अनुशीलन किया जाये, उनको हृदयंगम किया जाये। चेतना को अधिकाधिक यथार्थ-संगत बनाने के लिए अतिशय संवेदनशील, जिज्ञासु तथा आत्म-निरपेक्ष मन की आवश्यकता होती है।

चूँकि यथार्थ गतिशील है, इसलिए उसके गति-नियमों का अनुशीलन करना आवश्यक है। नव-नवीन उन्मेषों में व्यक्त यथार्थ से विमुख रहकर, या उसकी उपेक्षा करते हुए, अथवा उसका निरादर करते हुए, पुराने सिद्धान्तों की व्याख्या या पुनर्व्याख्या द्वारा उसे निन्दित करना मुझे अवैज्ञानिक और अनुचित मालूम होता है।

ये सिद्धान्त, निःसन्देह, किसी काल में किसी यथार्थ के किन्हीं विगत रूपों अथवा उसके आंशिक आकलन में उद्घाटित किन्हीं पक्षों से, सम्बन्ध संगति और सामंजस्य रखते थे। तभी वे उन विशेष सामान्यीकरणों को धारण कर सके,

कि जो सामान्यीकरण गत काल में उद्घाटित तथ्यों के सामान्यीकरण थे। तात्पर्य यह कि, एक ओर, विचार और बुद्धि को क्रियाशील करके, हम यदि केवल आंशिक सत्यों का उच्चार और पुनरुच्चार करते रहें, तो इस कार्यवाही से हम भले ही अपनी अन्तरात्मा को तृप्त कर लेने का क्षण प्राप्त कर लें, किन्तु यह सत्य है कि ऐसी पिछड़ी हुई और असंस्कृत अन्तरात्माएँ यथार्थ से अपनी दूरी को और बढ़ाते हुए केवल भूतपूर्व ज्वालामुखी रूप में ही रह सकेंगी। सम्भव है कि उनके आकार-प्रकार का अभी भी प्रभाव हो, किन्तु वे वह कम्प नहीं पैदा कर सकतीं, जिनसे मनुष्य के हृदय की जड़ता और स्तब्धता समाप्त होकर वह यथार्थ को अपने अनुकूल बनाने के कार्य में जुट जाये। दूसरे शब्दों में, चेतना में जब तक अधिकाधिक यथार्थ-संगति उत्पन्न नहीं होती, अर्थात् हम अपने-आपमें संशोधन-परिवर्तन नहीं करते, खुद की ही काट-छाँट नहीं करते जाते, तब तक केवल उच्च आदर्शों के शंखों को बजाने से, उन शंख-ध्वनियों से न अपने हृदय का जागरण होगा, और न यथार्थ का आकलन ही।

दूसरे शब्दों में, अन्तरात्मा का प्रश्न, अपनी जीवन-यात्रा में विकसित तथा अर्जित, उस मूलभूत यथार्थ-बोध तथा मानव-मूल्यों की तत्पर क्रियाशीलता से लगा हुआ है, कि जिस मूलभूत यथार्थ-बोध के बिना, और उन मानव-मूल्यों के बिना, हम अपने-आपको एक ही साथ विश्व-चेतन और आत्म-चेतन नहीं कह सकते।

अब अन्त में मैं अपने मन के रहस्य को खोलकर इस प्रबन्ध से छुटकारा चाहता हूँ।

वह इस प्रकार है:

क्या मैंने या किसी भी कवि ने, आज के बदलते हुए ज़माने के संघर्षमय वात्याचक्रों के वातावरण में, अनेक प्रकार की भाव-धाराओं की टकराहट के बीच अपने मन और आत्मा की—अन्तरात्मा की भी—सम्पूर्ण अभिव्यक्ति अथवा महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति अपने साहित्य में की है? क्या वह वैसा कर सकता है?

इसका उत्तर मैं नितान्त वैयक्तिक धरातल पर देना चाहता हूँ। यह एक विख्यात सत्य है कि कलात्मक अभिव्यक्ति श्रमसाध्य है। भाव, तथा उसको प्रकट करनेवाली बहिरन्तर सामंजस्यपूर्ण काव्य-भाषा, इन दोनों का योग धीरे-धीरे ही सिद्ध होता है। लेखक अपने एकान्त में उसे साधने का प्रयत्न करता है। किन्तु उसके बहुत से प्रयत्न यों ही असफल हो जाते हैं, और इसलिए वे कभी भी प्रकाश में नहीं आ पाते। दूसरे शब्दों में, लेखक अपने मन तथा जीवन की विभिन्न स्थितियों का प्रकटीकरण करता है। किन्तु उसके अपने जीवन की स्थिति-परिस्थितियों के फलस्वरूप, उसकी जीवन-दशाओं के परिणामस्वरूप, पुनः-पुनः उत्पन्न होनेवाले जो भाव-प्रसंग उपस्थित होते हैं, और चले चलते हैं, उन्हीं की अभिव्यक्ति का अभ्यास, और उन्हीं की अभिव्यक्ति-पद्धति का विकास, उसके द्वारा होता जाता है। परिणामतः, उसके मन के अन्य भाव तथा संवेदनाएँ काव्य में अप्रकट, किंचित् प्रकट, या अल्प-प्रकट रह जाती हैं, यद्यपि उसकी भाव-दृष्टि

द्वारा हमें यह मालूम हो जाता है कि उसका रुझान किस तरफ़ है।

इस बात को यों भी लिया जा सकता है। मान लीजिए, किसी कवि की छकु मूल आध्यात्मिक या राजनैतिक प्रेरणापूर्ण मानवीय आस्थाएँ हैं। किन्तु जहाँ वह ये आस्थाएँ प्रकट करने लगता है, वहाँ उसकी अभिव्यक्ति श्रीहीन हो जाती है, अथवा वह स्वयं उन आस्थाओं को—वास्तविक जीवन में संवेदन प्रदान करने-वाली अत्यन्त अनुभूत आस्थाओं को—बौद्धिक रूप में रखता-सा प्रतीत होकर, उन आस्थाओं से इतर जो भाव हैं उनका ही प्रभावशील अंकन करता है।

ऐसी स्थिति में साधारण रूप से कहा यह जाता है कि उसके बौद्धिक जगत् का अंग हैं वे आस्थाएँ। लेखक अभी तक उनसे अनुप्राणित नहीं है।

किन्तु यह दृश्य हमें दिखायी देता है कि मनुष्य अपनी कमज़ोरियों का शिकार रहना पसन्द करता है। इन कारणों से (ऐसे ही अन्य कारणों से—जैसे, सम्पन्न जीवन-यापन करने को उच्चवर्गीय आभिजात्य की भावनाएँ, अहंकार, इत्यादि) मनुष्य अपने भीतर ही, एक ओर, वास्तविक मूल्य-भावना (या आदर्श-भावना अथवा आस्था) तथा, दूसरी ओर, मन की इतर वृत्तियाँ—इन दो के बीच फ़ासले खड़े कर लेता है। भीतर-भीतर जहाँ इस तरह के फ़ासले खड़े हो जाते हैं, वहाँ मन आदर्शों की घोषणा नहीं करता है—यह बात नहीं है। यह प्रकट रूप से, सामाजिक रूप से, उनकी दुहाई भी देता है। किन्तु असल में, ये लोग खुद से हारे हुए होते हैं। और भीतर की इस हार का नतीजा ठीक वही होता है, जो उन तमाम फ़ासलों का नतीजा है, जो हम भाइयों-भाइयों के बीच खड़े कर रखते हैं।

हाँ, यह सही है कि कुछ फ़ासले हमें अपने वर्गीय जीवन से प्राप्त होते हैं। तॉल्स्तॉय और किसान—इन दो के बीच बेशक फ़ासले थे, लेकिन वह उन्हें दूर करने की कोशिश करता है। बाक़ी जो हम-सरीखे हैं, वे इन फ़ासलों को, सम्भवतः, आत्मगौरव का रूप समझते हैं, या क्या, यह मैं नहीं जानता। मैं तो एक बात समझता हूँ, और वह यह कि समाज हमें संस्कार-रूप में और भाव-रूप में, अवश्य ही, उच्च मूल्य-भावनाएँ प्रदान करता है। हम उनसे प्रेरित भी होते हैं। किन्तु बीच ही में व्यवधान आ जाते हैं, और ये व्यवधान हमारी इच्छा-वृत्तियों से उत्पन्न होते हैं। इन इच्छा-वृत्तियों में अहंकार की तुष्टि भी सम्मिलित है। इन सारे कारणों से, एक ओर मूल्य-भावना या आस्था, अर्थात् आदर्श-भावना, तथा, दूसरी ओर, आकुल मन—इन दो के बीच खाई पड़ जाती है। आस्था का अस्तित्व—जो उस समय मन के कोने में कहीं पड़ा हुआ है, वह बौद्धिकता का परिणाम नहीं, वरन् आत्म-विभाजन का परिणाम है।

कहा जाता है कि इस युग में व्यक्तित्व का विकेन्द्रीकरण होता है। सचाई यह है कि आत्म-विभाजन और व्यक्तित्व का विकेन्द्रीकरण, व्यक्ति-मन पर परस्पर-विरोधी स्वरूप के बाहरी दबावों का भी परिणाम होता है।

यह कहना ग़लत है कि आदर्श-भावना या आस्था सृजनशील नहीं होती। उसका स्वरूप ही ऐसा होता है कि वह सृजनशील हो। अपनी आदर्श-भावनाओं

या आस्थाओं के परिणामस्वरूप ही लोगवाग राजनीति के क्षेत्र में, बावजूद असफलताओं और कष्टों के, बराबर बने रहते हैं। इन्हीं के परिणामस्वरूप लेखक अनेक कष्टों के बीच अपना कार्य बराबर किये जाता है।

सच तो यह है कि बौद्धिक आस्था नाम की कोई चीज़ नहीं है। यदि आस्था या आदर्श-भावना है, तो वह. अपनी तीव्रता या मन्दता के अनुसार, तीव्र या मन्द संघर्ष कराती है, सृजन कराती है। यह आवश्यक नहीं है कि यह सृजन कला के क्षेत्र में ही हो। वह वास्तविक कर्म-जीवन में भी सृजनशील होती है।

कला के अन्तर्गत आस्था या आदर्श-भावना अनुभवात्मक रूप से प्रकट होती है। वह संवेदनात्मक आत्म-चिन्तन या विश्व-चिन्तन के रूप में व्यक्त होती है। वह मनुष्य के मनोमय जीवन का अंग है। वह प्रयोगवादी तथा नयी कविता के क्षेत्र में भी अनेक स्थानों पर देखी जा सकती है।

किन्तु प्रश्न यह है कि लेखक क्या प्रकट करने के लिए आतुर है? आस्था के जीवन-मार्ग पर चलते हुए भी, लेखक स्थान-स्थान पर, समय-समय पर, दुःख, उद्विग्नता, तीव्र आक्षेपपूर्ण आलोचन-भावना, निराशा, वैकल्य, आत्मालोचन और युयुत्सु भाव प्रकट करता है। यह आवश्यक नहीं है कि लेखक स्वयं, आस्था के मार्ग पर चलते हुए, अपनी आस्थाओं का रूप-स्वरूप और उसकी रूपरेखा या रूप-चित्र प्रस्तुत करे। हाँ, यह सही है कि उसकी भावनाओं में से वह आस्था किसी-न-किसी रूप से झलक-झलक उठती है।

अतएव जब हम किसी कलाकार में आत्मगत भावों की कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रधानता, तथा उसकी आस्थाओं की रूपरेखा या रूपचित्र की अप्रधानता या अभाव देखते हैं, तो जल्दबाजी में यह निर्णय ले लेते हैं कि लेखक ने अपने आदर्श-लक्ष्य या आस्था को, या मूल्य-भावना को केवल बौद्धिक रूप से ग्रहण किया है। मेरा अपना ख़याल है कि इस प्रकार के निर्णय सही नहीं हैं।

यह मैं पहले ही बता चुका हूँ कि काव्याभिव्यक्ति अभ्यास-सिद्ध होती है। एक विशेष प्रकार की भाव-दशाओं की बारम्बारता इतनी प्रबल हो जाती है कि वह अपनी काव्यात्मक शब्दावली विकसित करती है, अपनी अभिव्यक्ति-पद्धति विकसित करती है। लेखक जब इस या ऐसे ही आधार पर अपनी अभिव्यक्ति-पद्धति विकसित कर लेता है, तब वह अभिव्यक्ति-पद्धति स्वयं ही दृढ़ और जड़ हो जाती है। वह फिर अपनी उस अभिव्यक्ति-पद्धति की पकड़ से छूट नहीं सकता, जब तक कि वह अनवरत रूप से अभ्यास न करे। उसके चंगुल से छूटने का परिणाम यह होता है कि उसमें दूसरे प्रकार के भाव—जिसमें आदर्श-भावना या आस्था भी शामिल है—प्रभावशील रूप से व्यक्त नहीं हो पाते।

किन्तु कलाकार की यह एक अवस्था-विशेष ही है। वह उसको पार करके आगे बढ़ सकता है, अर्थात् संवेदनमय जीवनानुभव-सम्पन्न आस्था-चित्र अथवा मूल्यात्मक जीवन-विवेचन, जीवन-समीक्षा प्रस्तुत कर सकता है, करता भी है। किन्तु ये सब बातें लेखक की वास्तविक जीवन-यात्रा में हो रहे उसके वैयक्तिक

विकास की दशाओं और दिशाओं पर निर्भर हैं।

दिशा और उस ओर जाता हुआ पथ, दोनों सही हैं। दिशा हमेशा आगे ही रहेगी, साथ-साथ नहीं चलेगी। हाँ, उसकी संवेदनाएँ साथ-साथ चलेंगी। किन्तु क्षितिज हमेशा आगे ही रहेगा। उसी प्रकार अन्तरात्मा के आग्रह और अनुरोध हमेशा आगे-आगे ही रहेंगे, और लेखक उनका अनुगमन करेगा, और उनका अनुगमन करते हुए भी यह सोचता रहेगा कि उसने अपने आग्रह-लक्ष्यों को उपलब्ध नहीं किया। वह इस चिन्तन से दुखी भी होगा, दुःख प्रकट भी करता रहेगा। इस प्रकार लक्ष्य और उपलब्धि के बीच जो फ़ासला है, वह आतुर मन के लिए बराबर बना रहता है, क्योंकि लक्ष्य स्वयं गतिमान है, मनुष्य की अपनी गति ही के कारण। निष्कर्ष यह कि इन तथ्यों को देखे बिना समीक्षक लेखक की भाव-सरणि पर जो आक्षेप करते हैं, वे मुझे उचित नहीं प्रतीत होते।

[रचना-काल अनिश्चित। **नयी कविता का आत्मसंघर्ष** में संकलित]

सौन्दर्यानुभूति और जीवन-अनुभव

जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मानसिक द्रवण के उत्कर्ष के क्षण को सौन्दर्यानुभूति का क्षण कहा गया है। कलाकार का मुख्य धर्म यह है कि वह इस क्षण का चित्रण करे तथा उसकी सुन्दर आकृतियों को उपस्थित करे। उस क्षण पर कोई बाहरी दबाव न हो। जीवनानुभूतियाँ सौन्दर्यानुभूतियों से पृथक् और स्वतन्त्र होती हैं। उन दोनों के अपने-अपने स्तर हैं, उनकी कोटियाँ भिन्न-भिन्न हैं। अतएव, कलाकार से यह अनुरोध करना कि तेरी कविता में अमुक प्रकार की जीवनानुभूति या जीवन-दृष्टि नहीं है, या तेरे काव्य में यह होना चाहिए या वह —इस प्रकार के अनुरोध कलाकार के स्वातन्त्र्य में विघ्न डालते हैं। इस प्रकार के अनुरोध अगर साम्यवादी मनोवृत्ति के सूचक हों तो रेजिमेण्टेशन की सम्भावना होती है। यदि कलाकार जीवन-जगत् के अन्य क्षेत्रों में काम करना चाहता है या करता है, अथवा उन क्षेत्रों-सम्बन्धी ज्ञान को प्राप्त करना चाहता है या करता है, तो वह एक ज्ञान-पिपासु मानव अथवा एक उत्तरदायी नागरिक की हैसियत से, न कि एक कलाकार की हैसियत से। कलाकार की उसकी स्थिति तभी उपस्थित होती है जब वह सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में रमता है और कलात्मक कृतियाँ उपस्थित करता है।

प्राय: उपर्युक्त प्रकार की मनोभूमि और तत्सम्बन्धित सौन्दर्यवादी सिद्धान्त नयी कविता के क्षेत्र से किये गये शीत-युद्ध की उपज हैं। और चूँकि वे एक विशेष प्रकार की मनोवृत्तिवाले कवियों के कुछ आन्तरिक आग्रहों को सन्तुष्ट करते थे, इसलिए उनका प्रचार भी काफ़ी हुआ, और अभी भी उनका पर्याप्त प्रभाव है। इसलिए आवश्यक यह है कि हम उनकी गहराई से जाँच करें।

पहली बात तो यह है कि कला का प्रसव सौन्दर्यानुभूतियों के क्षण में ही होता है, यह एक अनिवार्य नियम नहीं है। यदि सचमुच वैसा होता तो महाकाव्य और खण्डकाव्य न लिखे जाते। तुलसीदासजी रामायण न लिख पाते। एज़रा पाउण्ड अपने लम्बे काण्ड न लिख पाता। आधुनिक प्रदीर्घ काव्य केवल मानसिक द्रवण के क्षण के उत्कर्ष-रूप नहीं लिखे गये हैं। आधुनिक अमरीकी कवियों ने भी बहुत लम्बी कविताएँ लिखी हैं, वे क्षण की अनुभूति के घेरे में नहीं बाँधी जा सकतीं। सच बात तो यह है कि टी. एस. ईलियट जिस दान्ते को महान् मानता है, उसका काव्य भी क्षण का काव्य नहीं है। क्यों नहीं है ? इसलिए कि क्षण इतने दीर्घ, विस्तृत, सतत और क्रमागत नहीं होते। यह अनिवार्य नियम नहीं है कि काग़ज़-क़लम हाथ में लेते ही वे क्षण उपस्थित हों; अथवा वे क्षण उपस्थित होते ही कलाकृति का प्रादुर्भाव हो और वह बनती चली जाय; और जब तक वह न बने तब तक मानसिक द्रवणवाली सौन्दर्यानुभूतियों के क्षणों का ताँता बना रहे। संक्षेप में, कलाकृति के रचना-कार्य में, सौन्दर्यानुभूतियों की इतनी गतिमानता या बारम्बारता या दीर्घकालिकता नहीं रहती जितनी कि बतायी जाती है।

वास्तविक स्थिति कुछ और ही है। सच तो यह है कि सौन्दर्यानुभूति के क्षण रास्ते चलते भी हो सकते हैं, और काग़ज़-क़लम हाथ में लेते ही लुप्त भी हो सकते हैं। संक्षेप में, कलाकार को अपनी कलाकृतियों की रचना के लिए सौन्दर्यानुभूतियों के क्षण की प्रतीक्षा करने की, उस पर सर्वथा निर्भर रहने की, आवश्यकता नहीं होती है। उसका एक अर्थ यह भी है [कि] मानसिक द्रवण के क्षण का वास्तविक चित्रण अंशत: ही होता है, क्योंकि अभिव्यक्ति के दौरान में मूल सौन्दर्यानुभूति के तत्त्व बदलते जाते हैं और उसमें नये तत्त्व समाते जाते हैं।

प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है ? इसका उत्तर यह है कि कलात्मक चेतना का विस्तार रचना-काल तक सीमित नहीं, वरन्, मुख्यत:, उस काल के बाहर होता है। रचना-काल और सौन्दर्यानुभूति एक-दूसरे का पर्याय हो भी सकते हैं, नहीं भी हो सकते हैं। मुख्य बात यह है कि सौन्दर्यानुभूतियों का काल, मुख्यत:, रचना-काल के बाहर ही होता है। दूसरे शब्दों में, कलात्मक चेतना का विस्तार जीवन-जगत् में विचरण करते हुए, संवेदनात्मक क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए, होता है। एक कलाकार, चाहे वह युद्ध के किसी मोर्चे पर काम कर रहा हो, या बाल-बच्चों के लिए रोटी पका रहा हो, चूल्हा फूंक रहा हो, मंच पर भाषण दे रहा हो, या मुहल्ले-मुहल्ले में जाकर जन-संगठन रहा हो, वह श्मशान-भूमि में हो या विवाहोत्सव में, वह नरक में पड़ा हो या स्वर्ग का सुख भोग रहा हो—ये सब बातें, उसके

ये विविध अनुभव सब कलात्मक चेतना के विस्तार के कारक होते हैं, बशर्ते कि कलाकार में कलाकार का व्यक्तित्व हो। वह उन सारे क्षेत्रों में रहकर भी, उन्हीं क्षेत्रों के अन्तर्गत, न केवल एक उत्तरदायी व्यक्ति बन सकता है, वरन् एक विशुद्ध कलाकार की हैसियत से उन सभी जीवन-अनुभवों का हिस्सेदार बन सकता है। दूसरे शब्दों में, कलाकार केवल कलाकृति उपस्थित करते समय ही कलाकार नहीं होता, वरन् उस समय के बाहर भी वह कलाकार होता है।

कलात्मक चेतना, मानव-प्रसंगों में, मानव-सम्बन्धों, जीवन-स्थितियों तथा मानव-चरित्र में, गहरी मानवीय अनुरक्ति रखने से बनी हुई होती है। मनुष्य चाहे समुन्दर पर तैर रहा हो, या खदानों में काम करता हो या और कुछ, उसकी कलात्मक चेतना स्वयं सक्रिय रह सकती है, अपने कलात्मक ज्ञान की वृद्धि कर सकती है। कलात्मक चेतना मनुष्य के हृदय की वह मूल-बद्ध दृष्टि है, जो उसके अन्तर्बाह्य जीवन के क्षेत्र में पाये हुए अनुभवों और अनुरोधों को कल्पना द्वारा मूर्त्त और उद्दीप्त करती हुई, उसकी आत्मा में जीवन-रस का संचार करती है। यह कलात्मक चेतना दस साल के बालक से लेकर सत्तर-अस्सी साल के वृद्ध तक में हो सकती है।

निःसन्देह, सौन्दर्यानुभूति और वास्तविक जीवन-अनुभूति में गुणात्मक अन्तर होता है। किन्तु यह सौन्दर्यानुभूति कलाकृति के रचना-काल में ही सतत रूप से होती रहे, यह आवश्यक नहीं है। सौन्दर्यानुभूति यदि रचना-काल के बाहर वास्तविक जीवन में गहरे अन्तरानुभवों के रूप में न हो, या न होती रहे, तो रचना के तत्त्व पुष्ट नहीं होंगे, रचना-काल भी रिक्त-सा रहेगा। जिस कलाकार के जीवन-क्षेत्र में सौन्दर्यानुभूतियों की बारम्बारता अल्प है, क्षीण है, उस कलाकार की रचना भी बहुत-कुछ उथली और थोथी रहेगी, भले ही उसकी रचनाओं की आकृति और रूप जितना सुन्दर रहे। कलाकृति की रचना में सारा व्यक्तित्व लगा होना चाहिए, न कि केवल मन का एक अंश। यह व्यक्तित्व यदि सौन्दर्यानुभूतियों से सम्पन्न हो तो वह कला समृद्धि प्राप्त करेगी।

किन्तु कलाकार के व्यक्तित्व की समृद्धि वास्तविक जीवन-जगत् में होती है। यह व्यक्तित्व बाल्यकाल ही से अन्तर के आग्रहों द्वारा विभिन्न सौन्दर्यानुभवों से सम्पन्न होता जाता है। संक्षेप में, कलाकार का अपना एक विशेष स्वभाव होता है। इस स्वभाव से उसका छुटकारा नहीं। यह स्वभाव, यह प्रकृति, जीवन-जगत् में कार्य करती हुई अपने संस्कारों, मनोवृत्तियों, जीवन-लक्ष्यों, आदि-आदि के अनुसार जीवन-जगत् का आभ्यन्तरीकरण करती जाती है।

इसी स्थल पर आकर कलाकार के स्वभाव ही का नहीं, वरन् कलाकार की परिस्थिति और उसके चरित्र का प्रश्न उठता है। बहुतेरे ऐसे कलाकार होते हैं, जो अपने आभ्यन्तरीकृत (संवेदना-रूप-स्थित) जगत् का त्याग करके उन भाव-चित्रकों की पाँत में खड़े हो जाते हैं जिन्होंने साहित्यिक वातावरण बनाया है, और एक विशेष प्रकार की साहित्यिक कृतियों का चलन पैदा कर दिया है। फलतः,

यश-प्राप्ति के लिए, या, कहिये कि, मान्यता-प्राप्ति के लिए, अथवा, यों कहिए कि, किसी-न-किसी प्रकार साहित्यिक वातावरण के साथ अपना संयोजन करने के लिए, वे ऐसे साहित्यिक पैटर्न को अपनाते हैं, जिसमें उनके आभ्यन्तरीकृत जीवन-जगत् के संवेदना-रूपों का वास्तविक अंकन भले ही न हो, किन्तु चूंकि वे पैटर्न चलते हैं, चालू हैं, इसीलिए वे उन्हें अपनायेंगे। संक्षेप में, वे उस समस्या को जन्म देते हैं जिसे हम 'दुहरा जीवन' कहेंगे। एक वह, जो उनके काव्य-साहित्य में मनःस्थिति रूप में प्रकट होता है; दूसरा वह, जो उनके भीतर-ही-भीतर चलता रहता है। ज़िन्दगी दुहरी हो जाती है। हर बात दुहरी हो जाती है। दृष्टिकोण दुहरा, आत्माभिव्यक्ति दुहरी। एक वह, जो दिखाने के लिए है; दूसरी वह, जो छिपाने के लिए और भीतर-ही-भीतर भोगने के लिए है। अपने ही आभ्यन्तरीकृत जीवन-जगत् के संवेदना-रूपों और आभ्यन्तरीकृत यथार्थ के बिम्बों को प्रकट करने का यदि उसने साहस भी किया, तो भी उसके छक्के छूट जाते हैं, क्योंकि जिस पैटर्न को, अभ्यास-वश, उसने प्राप्त किया है, उस पैटर्न में वे समा नहीं सकते। यदि उन्हें सचमुच प्रकट करना हो, तो अपने भीतर ही एक क्रान्ति लानी होगी, जीवन-दृष्टि में, कलाभिरुचि में, कला-सिद्धान्त में और मुख्यतः अभिव्यक्ति-गठन और पैटर्न में। इसके लिए हमारा लेखक तैयार नहीं है, क्योंकि उसके लिए वह सुकर नहीं है। अभिव्यक्ति की निपुणता या कला-कौशल का उसने बहुत संकुचित अर्थ ग्रहण किया है।

साहित्यिक शिल्प का औचित्य वह तब मानता है जबकि वह सूक्ष्म रसाभिव्यंजक महक या उत्तेजक धूम को प्रकट करने में सहायक हो। यदि ऐसा नहीं है तो वह उसके किसी काम का नहीं। पैटर्न का संशोधन न करना, न करते रहना, कला-शिल्प का अत्यन्त संकुचित अर्थ ग्रहण करना, कलाकार के चरित्र के ह्रास का एक लक्षण है।

कलाकार के चरित्र के ह्रास का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण लक्षण भी है। वह है, आभ्यन्तरीकृत जीवन-जगत् के प्रति उदासीन होते हुए, उस बाह्य वास्तविक जीवन-जगत् में विचरण करते हुए भी, उसकी विशेषताओं, समस्याओं, प्रभावों और उसकी प्रेरणाओं आदि से मुँह मोड़ लेना; अभिव्यक्ति के क्षेत्र से उन्हें दूर रखना; और साथ ही यह कहना कि वे सौन्दर्यानुभूति के क्षेत्र से बाहर होते हैं। किन्तु क्या सचमुच सौन्दर्यानुभूतियाँ बाह्य जीवन-जगत् के क्षेत्र से विच्छिन्न और दूर होती हैं? क्या उसने कभी भी अपनी वास्तविक सौन्दर्यानुभूतियों को समझने का प्रयत्न किया है?

प्रश्न यह है कि सौन्दर्यानुभूति क्या है? निःसन्देह, कलात्मक-साहित्यिक दृष्टि से, गुलाब के सौन्दर्य का आस्वादन करना सौन्दर्यानुभूति नहीं है, अथवा स्नेहालिंगन में बंधकर काम-संवेदना प्राप्त करना सौन्दर्यानुभूति नहीं है। सौन्दर्यानुभूति वास्तविक जीवन के भोग का पर्याय नहीं है। दूसरे शब्दों में, जीवनानुभूति सौन्दर्यानुभूति नहीं। प्रेमालिंगन भी सौन्दर्यानुभव नहीं है। न प्राकृतिक सौन्दर्य

का दर्शन ही सौन्दर्यानुभव है। सौन्दर्यानुभव अर्थात् कलात्मक अनुभव के लिए, मनुष्य को क्षण-भर के लिए ही क्यों न सही, अपनी दृष्टि बदलनी पड़ती है। आत्म-बद्ध दशा के भीतर रहकर जो हमारी दृष्टि होती है, वह बद्धता से मुक्ति की दशा में प्राप्त दृष्टि से भिन्न है। संक्षेप में, क्षण-भर के लिए ही क्यों न सही, आत्म-बद्ध दशा से बाहर जाने, अर्थात् अपने पार जाने, या इस ज़िन्दगी से ज़रा हटकर दृष्टि का कोण बदलने, के उपरान्त बाह्य-प्रत्यक्ष अथवा मानस-प्रत्यक्ष में भीगने और रमने से ही आत्म-बद्धता से रहित वह मुक्ति की अवस्था प्राप्त होती है, जब हमारे मन का स्वतन्त्र संचरण होता है और संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार, उद्दीप्त कल्पना-शक्ति जीवनानुभवों को विशेष पैटर्न्स में उपस्थित करती हुई उन्हें संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति की ओर ले जाती है। यह सौन्दर्यानुभूति रास्ते चलते भी हो सकती है। किसी करुण दृश्य को देखकर, हमारे हृदय में जो आन्दोलन होता है, वहाँ यदि मन का स्वतन्त्र संचरण होने लगे, और कल्पना उद्दीप्त होकर उसमें, क्षण-मात्र के लिए ही क्यों न सही, हम डूब जायें, तो निःसन्देह वहाँ हमें सौन्दर्यानुभव प्राप्त होगा।

[अपूर्ण। रचना-काल अनिश्चित]

आत्म-वक्तव्य

आत्म-वक्तव्य : एक

मालवे के विस्तीर्ण मनोहर मैदानों में-से घूमती हुई क्षिप्रा की रक्त-भव्य साँझें और विविध-रूप वृक्षों की छायाएँ मेरे किशोर कवि की आद्य सौन्दर्य-प्रेरणाएँ थीं। उज्जैन नगर के बाहर का यह विस्तीर्ण निसर्ग-लोक उस व्यक्ति के लिए जिसकी मनोरचना में रंगीन आवेग ही प्राथमिक हैं, अत्यन्त आत्मीय था।

उसके बाद इन्दौर में प्रथमतः ही मुझे अनुभव हुआ कि यह सौन्दर्य ही मेरे काव्य का विषय हो सकता है। इसके पहले उज्जैन में स्वर्गीय रमाशंकर शुक्ल के स्कूल की कविताएँ—जो माखनलाल स्कूल की निकली हुई शाखा थी—मुझे प्रभावित करती रहीं, जिनकी विशेषता थी बात को सीधा न रखकर उसे केवल सूचित करना। तर्क यह था कि उससे वह अधिक प्रबल होकर आती है। परिणाम यह था कि अभिव्यंजना उलझी हुई प्रतीत होती थी। काव्य का विषय भी मूलतः विरह-जन्य करुणा और जीवन-दर्शन ही था। मित्र कहते हैं, कि उनका प्रभाव मुझ पर से अब तक नहीं गया है। इन्दौर में मित्रों के सहयोग और सहायता से मैं अपने आन्तरिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ और पुरानी उलझन-भरी अभिव्यक्ति और अमूर्त्त करुणा छोड़कर नवीन सौन्दर्य-क्षेत्र के प्रति जागरूक हुआ। यह मेरी प्रथम आत्म-चेतना थी।

उन दिनों भी एक मानसिक संघर्ष था। एक ओर, हिन्दी का यह नवीन सौन्दर्य-काव्य था, तो दूसरी ओर, मेरे बाल-मन पर मराठी साहित्य के अधिक मानवतामय उपन्यास-लोक का भी सुकुमार परन्तु तीव्र प्रभाव था। तॉल्स्तॉय के मानवीय समस्या-सम्बन्धी उपन्यास या महादेवी वर्मा ? समय का प्रभाव कहिये या वय की माँग, या दोनों, मैंने हिन्दी के सौन्दर्य-लोक को ही अपना क्षेत्र चुना; और मन की दूसरी माँग वैसे ही पीछे रह गयी जैसे अपने आत्मीय राह में पीछे रहकर भी साथ चले चलते हैं।

मेरे बाल-मन की पहली भूख सौन्दर्य, और दूसरी विश्व मानव का सुख-दुःख—इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी।

इसका स्पष्ट वैज्ञानिक समाधान मुझे किसी से न मिला। परिणाम था कि इन अनेक आन्तरिक द्वन्द्वों के कारण एक ही काव्य-विषय नहीं रह सका। जीवन के एक ही बाज़ू को लेकर मैं कोई सर्वश्लेणी दर्शन की मीनार खड़ी न कर सका।

साथ ही जिज्ञासा के विस्तार के कारण कथा की ओर मेरी प्रवृत्ति बढ़ गयी। इसका द्वन्द्व मन में पहले ही से था। कहानी-लेखन आरम्भ करते ही मुझे अनुभव हुआ कि कथा-तत्त्व मेरे उतना ही समीप है जितना काव्य। परन्तु कहानियाँ मैं बहुत ही थोड़ी लिखता था, अब भी कम लिखता हूँ। परिणामतः, काव्य को मैं उतना ही समीप रखने लगा जितना कि स्पन्दन। इसीलिए काव्य को व्यापक करने की, अपनी जीवन-सीमा से उसकी सीमा को मिला देने की, चाह दुर्निवार होने लगी। और मेरे काव्य का प्रवाह बदला।

दूसरी ओर, दार्शनिक प्रवृत्ति—जीवन और जगत् के द्वन्द्व—जीवन के आन्तरिक द्वन्द्व— इन सबको सुलझाने की, और एक अनुभव-सिद्ध व्यवस्थित तत्त्व-प्रणाली अथवा जीवन-दर्शन आत्मसात् कर लेने की, दुर्दम प्यास मन में हमेशा रहा करती। आगे चलकर मेरी काव्य की गति को निश्चित करनेवाला सशक्त कारण यही प्रवृत्ति थी। सन् 1935 में काव्य आरम्भ किया था, सन् 1936 से 1938 तक काव्य के पीछे कहानी चलती रही। 1938 से 1942 तक के पाँच साल मानसिक संघर्ष और बर्गसोनीय व्यक्तिवाद के वर्ष थे। आन्तरिक विनष्ट शान्ति के और शारीरिक ध्वंस के इस समय में मेरा व्यक्तिवाद कवच की भाँति काम करता था। बर्गसों की स्वतन्त्र क्रियमाण 'जीवन-शक्ति' (elan vital) के प्रति मेरी आस्था बढ़ गयी थी। परिणामतः, काव्य और कहानी नये रूप प्राप्त करते हुए भी अपने ही आस-पास घूमते थे, उनकी गति ऊर्ध्वमुखी न थी।

सन् 1942 के प्रथम और अन्तिम चरण में मैं एक ऐसी विरोधी शक्ति के सम्मुख आया, जिसकी प्रतिकूल आलोचना से मुझे बहुत-कुछ सीखना था। शुजालपुर की अर्द्ध-नागरिक रम्य एकस्वरता के वातावरण में मेरा वातावरण भी—जो मेरी आन्तरिक चीज़ है—पनपता था। यहाँ लगभग एक साल में मैंने पाँच साल का पुराना जड़त्व निकालने की सफल-असफल कोशिश की। इस उद्योग के लिए प्रेरणा, विवेक और शान्ति मैंने एक ऐसी जगह से पायी, जिसे पहले मैं विरोधी शक्ति मानता था।

क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ। शुजालपुर में पहले-पहले मैंने कथा-तत्त्व के सम्बन्ध में आत्मविश्वास पाया। दूसरे, अपने काव्य की अस्पष्टता पर मेरी दृष्टि गयी। तीसरे, नये विकास-पथ की तलाश हुई।

यहाँ यह स्वीकार करने में मुझे संकोच नहीं कि मेरी हर विकास-स्थिति में मुझे घोर असन्तोष रहा, और है। मानसिक द्वन्द्व मेरे व्यक्तित्व में बद्धमूल है। यह मैं निकटता से अनुभव करता आ रहा हूँ कि जिस भी क्षेत्र में मैं हूँ वह स्वयं अपूर्ण

है, और उसका ठीक-ठीक प्रकटीकरण भी नहीं हो रहा है। फलतः, गुप्त अशान्ति मन के अन्दर घर किये रहती है।

लेखन के विषय में

मैं कलाकार की 'स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति (माइग्रेशन इंस्टिक्ट) पर बहुत जोर देता हूँ। आज के वैविध्यमय, उलझन से भरे, रंग-बिरंगे जीवन को यदि देखना है, तो अपने वैयक्तिक क्षेत्र से एक बार तो उड़कर बाहर जाना ही होगा। बिना उसके, इस विशाल जीवन-समुद्र की परिसीमा, उसके तट-प्रदेशों के भूखण्ड, आँखों से ओट ही रह जायेंगे। कला का केन्द्र व्यक्ति है, पर उसी केन्द्र को अब दिशाव्यापी करने की आवश्यकता है। फिर युग-सन्धि काल में कार्यकर्त्ता उत्पन्न होते हैं, कलाकार नहीं, इस धारणा को वास्तविकता के द्वारा ग़लत साबित करना ही पड़ेगा।

मेरी कविताओं के प्रान्त-परिवर्तन का कारण है यही आन्तरिक जिज्ञासा। परन्तु इस जिज्ञासु-वृत्ति का वास्तव (ऑब्जेक्टिव) रूप अभी तक कला में नहीं पा सका हूँ। अनुभव कर रहा हूँ कि वह उपन्यास-द्वारा ही प्राप्त हो सकेगा। वैसे काव्य में जीवन के चित्र की—यथा वैज्ञानिक 'टाइप' की—उद्भावन की, अथवा तीव्र विचार की, अथवा शुद्ध शब्द-चित्रात्मक, कविता हो सकती है। इन्हीं के प्रयोग मैं करना चाहता हूँ। पुरानी परम्परा बिलकुल छूटती नहीं है, पर वह परम्परा है मेरी ही और उसका प्रसार अवश्य होना चाहिए।

जीवन के इस वैविध्यमय विकास-स्रोत को देखने के लिए इन भिन्न-भिन्न काव्य-रूपों को, यहाँ तक कि नाट्य-तत्त्व को, कविता में स्थान देने की आवश्कता है। मैं चाहता हूँ कि इसी दिशा में मेरे प्रयोग हों।

मेरी ये कविताएँ अपना पथ ढूंढ़नेवाले बेचैन मन की ही अभिव्यक्ति हैं। उनका सत्य और मूल्य उसी जीवन-स्थिति में छिपा है।

[तारसप्तक (1944) में प्रकाशित]

आत्म-वक्तव्य : दो

अपनी ज़िन्दगी के पिछले वर्षों की ओर मुड़कर देखना सम्मोहक भले ही हो, वह काफ़ी मुश्किल काम है। मुश्किल इसलिए कि हम आगत में प्राप्त भावनाओं की

दृष्टि से विगत की ओर देखने लगते हैं, जिससे होता यह है कि हम विगत की प्रकृति, उसके अन्तःस्वभाव के प्रति अन्याय करने की ओर प्रवृत्त भी हो सकते हैं। यह सम्भावना, निःसन्देह, एक ऐसा खतरा है जिस पर ध्यान जाना और जिससे सँभलकर रहना जरूरी है। जीवन नित्य विकासमान है। किन्तु, विकास की वर्तमान अवस्था से आच्छन्न होकर, विगत की प्रयासशील प्रगति के··· [यहाँ पाण्डुलिपि में दो पृष्ठ अप्राप्य हैं।—सं०] संघर्षशील और परिवर्तनशील विश्व की चेतना थी, किन्तु साथ ही, उनका प्रथम और अन्तिम आश्रय, अधिकतर, उनका अपना 'व्यक्ति' था, और इस प्रथम और अन्तिम के वीच जगत् पसरा हुआ था।

उनका अपना एक आदर्शवाद था। उस आदर्श के तत्त्व विभिन्न कवियों के लिए भले ही भिन्न-भिन्न रहे हों, उनमें से कइयों ने अपने-अपने आदर्शों की प्रेरणा से अपने स्वार्थों के पैरों पर कुल्हाड़ी मार ली थी। दूसरे शब्दों में, वे उसी ज़माने में तथाकथित सांसारिक सफलता प्राप्त कर सकते थे। किन्तु उनकी जीवन-जगत्-सम्वन्धी संवेदना उन्हें अपने-अपने वर्ग से और समाज से सामंजस्य स्थापित नहीं करने देती थी। 'शिक्षा-विवाह-नौकरी-सफलता-यश' के क्रमशः विकसित होते हुए ढर्रेवाज़ रास्ते पर वे नहीं चले। फलतः, वे वेवनाव और अनवने के एक लम्वे-दौर में से गुज़रे। उन्होंने अपनी ज़िन्दगी में अजीवोग़रीव ख़तरे उठाये। उन्हें असाधारण परिस्थितियों और मनःस्थितियों का सामना करना पड़ा। वे 'काव्य में प्रयोग' के पूर्व, वस्तुतः, अपने-आप पर ही प्रयोग कर रहे थे, अपनी ज़िन्दगी पर ही प्रयोग कर रहे थे। जव वे अपने जीवन को ही संस्थापित न कर सके तो वे साहित्यिक क्षेत्र में अपने को कैसे प्रस्थापित करते! शायद उन्हें उसका मोह भी न था। असल में, उनमें से अधिकतर अपने पितृ-गृह को त्याग चुके थे। वे दो पीढ़ियों के संघर्ष के एक ध्रुव थे। और उस संघर्ष की धारा में सामाजिक, राज-नैतिक और व्यक्तिगत संघर्ष आ मिले थे। जीवन अपनी सचेत सर्व-साधारणता में असाधारण हो उठा था, उसकी अनवस्था में एक व्यवस्था उत्पन्न हो रही थी। जिज्ञासा, सम्मोह, साहस, कौतूहल, निष्ठा और तत्परता ज़िन्दगी को नये-नये क्षेत्रों में ले जाती। कभी यह ज़िन्दगी शिखर पर चढ़ जाती और मज़ा आ जाता। कभी वह निचले अँधेरे खड्डे में जा गिरती, और नैराश्यमूलक उत्तेजना सर पर सवार हो जाती। अपने-अपने व्यक्तित्व-चरित्र और स्वभाव के अनुसार, तार सप्तक के कवि अपना-अपना संघर्ष कर रहे थे।

तार सप्तक का वह ज़माना था। तव उस वेदना के पास कोई लाउडस्पीकर न था, कोई मंच न था, कोई प्रवक्ता भी न था, पब्लिसिटी के कोई साधन भी न थे। तार सप्तक के कवि, एक-दूसरे से अलग-अलग, पृथक्-पृथक्, एक-दूसरे से दूर और स्वतन्त्र रूप से, अपनी-अपनी मौलिक शैलियों को ढाल रहे थे। केवल नम्रता के वशीभूत होकर ही उन्होंने अपने काव्य को 'प्रयोग' कहा था।

यद्यपि तार सप्तक दुनिया को आकर्षित न कर सका, उसकी कविताओं का

ज़माना बहुत ही महत्त्वपूर्ण युग था। सन् 1939 से लेकर 1942 तक की मेरी कुछ कविताएँ उसमें संग्रहीत हैं। सन् 43 में वह पुस्तक प्रकाशित हुई। **दूसरा सप्तक** के प्रकाशन तक का काल नयी कविता के लिए अन्धकार-युग था। किन्तु वह अन्धकार-युग बहुत ही ज्योतिष्मान था। वे बड़ी कठिनाइयों के दिन थे। वह बहुत ही साहस का ज़माना था। यद्यपि **तार सप्तक** के कवि अलग-अलग जगह रहते थे, फिर भी वे, अदृश्य संवेदना के सूत्रों से परस्पर बँधे हुए थे।

तार सप्तक की मेरी कविताएँ मुझे अभी भी प्रिय हैं। उनमें मौलिक द्रव्य का कच्चापन और अनगढ़पन है। उनमें कहीं चुनौती का, कहीं निष्ठा का, कहीं प्रश्न और जिज्ञासा का, कहीं संघर्ष का स्वर है। **तार सप्तक** की मेरी कविताओं के विषय अभी भी नये हैं। अगर मैं यह बताऊँ कि वे कविताएँ मुझे क्यों प्रिय हैं, तो उसमें मेरी ही तारीफ़ हो जायेगी। केवल इतना कह दूँ कि मेरी इन कविताओं में से केवल नैराश्यमूलक कविताओं को लेकर ही मेरी कठोर आलोचना की गयी। यह ग़लत था।

किन्तु मेरी वर्तमान काव्य-प्रवृत्तियों के रूप-गुण **तार सप्तक** की कविताओं में नहीं पाये जाते। जिसे मैंने 'अन्धकार युग' कहा है वह मेरे लिए काफ़ी महत्त्वपूर्ण रहा है। सन् 1943 के ज़माने से लेकर सन् 52-53 के काल-खण्ड में जो जीवन-ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ, वह नहीं होना चाहिए था। मानव-मूल्य गिरते जा रहे थे, मनुष्य-सम्बन्ध गँठीले और उलझे हुए हो रहे थे, छोटी-छोटी और अत्यन्त तुच्छ बातों के लिए घनघोर संघर्ष हो रहा था। महत्त्व, प्रतिष्ठा, पद-प्राप्ति के पीछे बड़ी-बड़ी 'प्रतिभाएँ' पड़ी हुई थीं। **तार सप्तक** की कविताओं के ज़माने में ही, हमने अपने आस-पास जो जीवन-जगत् पाया था, उसके कण्ठ-रोधक रूप-स्वरूप के प्रति हमने अस्वीकार का भाव जताया था। किन्तु आगे चलकर तो परिस्थिति और भी बिगड़ गयी। अवसरवादी सामंजस्य करने का हमारा स्वभाव न था। किन्तु अब तो जीने ही के लाले पड़ गये थे।

मानव-सम्बन्धों की इस गिरावट के ज़माने में, मेरी कविता की सारी इमेजरी—बिम्ब-माला—विकसित हुई। उसमें घने और काले, लाल और नीले, जामनी और बैंगनी रंग हैं। इन कविताओं में से अधिकांश अप्रकाशित हैं। यह इमेजरी कहाँ से कैसे पैदा हुई, यह कहना मुश्किल है। केवल इतना कहना चाहूँगा कि मनुष्य-सम्बन्धों की भीषण गिरावट के बीच, मनुष्य-दीप्ति के जो प्रकाशमान दृश्य मेरे सामने आये, उन्हीं के सहारे मेरा जीवन आगे बढ़ता रहा। दृश्य और अदृश्य सहस्रों कोमल स्पर्शों ने संयुक्त रूप से मन की रचना कर डाली। ये स्पर्श जिन ज्वलन्त जनों के हैं, वे कम नहीं, अनगिन हैं। उन्हीं के सहारे अनवस्था व्यवस्था-बद्ध होने लगी। वेदना सोचने के लिए बाध्य हुई। संवेदना डिफ़रेंशियल कैलक्युलस करने लगी। तब कहीं उसे मालूम हुआ कि ऋजु-रेखा, वस्तुतः, वक्र-रेखा का ही एक विशिष्ट उदाहरण मात्र है, और प्रकृति एक-धन-एक-बराबर-दो के गणितिक नियम को, अनिवार्यतः, स्वीकार नहीं करती।

तो मतलब यह कि **तार सप्तक** की कविताओं के अनन्तर, मनुष्य-सम्बन्धों की गिरावट के भीषण दृश्यों के बीच भी, मुझे कोई ध्रुव-सा प्राप्त हो गया था। तत्कालीन कविताओं में, जो **नया साहित्य, प्रतीक** तथा **हंस** में प्रकाशित हुईं, इस तथ्य का स्पष्ट इंगित है। राजनैतिक-सामाजिक क्षेत्र के अधःपतन-सम्बन्धी कविता, जो मैंने बंगाल के अकाल पर लिखी, **नया साहित्य** में प्रकाशित हुई। इसी सम्बन्ध में एक कविता **हंस** में भी निकली, जो तीन-तीन पंक्तियों की है। इसी भीषण परिवेश में, इस स्याह परिपार्श्व में, मेरे मन के भीतर ग्लानि, दुःख, और व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में निराशा का भाव रहना स्वाभाविक ही था। ऐसी ही किसी भीषण मनःस्थिति में, इलाहाबाद के **प्रतीक** में मेरी एक कविता प्रकाशित हुई, जो मुझे अभी भी अत्यन्त प्रिय है। वह है, 'मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कहीं।' एक बेकार का मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत करती हुई एक कविता **हंस** में प्रकाशित हुई। वह भी मेरी अत्यन्त प्रिय कविताओं में से है। परिवार के भीतर उत्पीड़न, शोषण, विषमता और अत्याचार के जो दृश्य दिखायी देते हैं, उनसे विक्षुब्ध होकर मैंने एक कविता लिखी थी, **किसी से**। इस शीर्षक के अधीन वह कविता **हंस** में प्रकाशित हुई। वे सब कविताएँ, जो **तार सप्तक** के प्रकाशन के अनन्तर निकली हैं, उस ज़माने की हैं जब विक्षोभ मेरा एक स्थायी भाव हो गया था। उन दिनों **दूसरा सप्तक** के कवि इधर-उधर छिटपुट दिखायी देते थे।

यद्यपि, आगे के वर्षों में धीरे-धीरे मेरी कविता के काले रंग घुलने लगे, किन्तु मेरी इमेजरी बढ़ती ही गयी। विषय भी विभिन्न और विस्तृत होते गये। यहाँ तक कि सन् 52-53 के आगे मेरी कविताओं ने अपना रूपाकार बढ़ा लिया। यद्यपि पहले की कविताएँ बहुत छोटी न थीं, किन्तु अब की तो, वस्तुतः, प्रदीर्घ हो उठीं।

यह सब क्यों हुआ? इमेजरी क्यों बढ़ने लगी? विषय क्यों विस्तृत हुए? कविताएँ क्यों प्रदीर्घ हो उठीं? इसका उत्तर देना मेरे बस का काम नहीं है। मेरे लिए, वस्तुतः, यह एक सवाल ही है।

मैं उन सौभाग्यशाली व्यक्तियों में से हूँ, जिसे अपने गली-कूचों में रहनेवालों का स्नेह प्राप्त हुआ। वे मेरी ही भाँति छोटी-छोटी हस्तियाँ हैं। किन्तु उनके पेचीदा संघर्ष, अथाह प्रेम करने का उनका हार्दिक सामर्थ्य, और बौद्धिक जिज्ञासा के साथ-ही-साथ, उनकी साहसिक पहल, उनकी रोमैण्टिक कल्पना, उनकी राजनैतिक आशा-आकांक्षाएँ, उनके समाजनैतिक स्वप्न मेरे चारों ओर चक्कर लगाने लगे। मेरी परिस्थिति अब विस्तृत हो गयी, वह फैलकर मैदान बन गयी, मैदान बनकर फैलती हुई वह पूरी पृथ्वी बन गयी। मेरी चहारदीवारी अब पीछे-पीछे हटने लगी और क्षितिज में विलीन होती हुई दिखायी दी। चेहरे अब सुन्दर हो उठे। मनोहर ज्योति से चमकती आँखें अब मुझसे बातचीत करने लगीं। उनमें से एक अरुण दीप्तिमान मुख ने मेरे व्यक्तित्व पर लगे हुए ज़माने के रहे-सहे कीचड़ को भी धो डाला। मैं एकबारगी मुक्त और स्वतन्त्र हो उठा।

यह एक नया जीवन्त वास्तव था। इस वास्तव में संघर्षशील मनुष्य की

अनगिनत परिस्थितियाँ, मन:स्थितियाँ और वस्तु-स्थितियाँ थीं। उन्हें कुछ व्यापक सामान्यीकरणों में ढालकर काव्य-रूप देने की आवश्यकता थी। मैंने उस दिशा में शक्तिभर कोशिश की है। प्रदीर्घ कविताएँ उसी की उपज हैं। मैं चाहता हूँ कि आगे इसी काव्य-प्रकार को और भी अधिक सुधारूँ। उसमें अधिक दीप्ति और प्रकाश लाऊँ। मैंने इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर एक लम्बी प्रणय-सम्बन्धी कविता भी लिखी है।

यह बात सन्देह के परे है कि सच्चा आशावाद मनुष्य की ज्वलन्त वास्तविक ऊष्मा से उत्पन्न होता है, केवल भविष्य-स्वप्न से नहीं।

आज की परिस्थितयाँ ऐसी हैं कि जब कष्ट-ग्रस्त मानव-श्रेणी को अपने उद्धार का रास्ता स्वयं अपने हाथों बनाना होगा। नि:सन्देह, इस मानव-श्रेणी की राजनीति और समाजनीति टुच्ची-ओछी स्वार्थग्रस्त राजनीति नहीं है। उसके पास न केवल एक विश्व-स्वप्न है, वरन् विश्व के क्रान्तिकारी अनुभवों का एक ख़ज़ाना भी है। भले ही हिन्दी साहित्य में इस परम्परा का व्यापक विकास न हुआ हो, किन्तु इस परम्परा की प्रेरणा कुछ हृदयों को तो आकुल कर ही सकती है।

आज के मेरे-जैसे कवि के सामने मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि शिल्प का विकास किस प्रकार किया जाये, वरन् यह है कि जीवन तथा हृदय पर नित्य आघात-प्रत्याघात करनेवाले कारणों को किस प्रकार समेटा जाये। उन्हें किस प्रकार काव्य में रूपबद्ध किया जाये। वास्तविकता तो यह है कि आज के ज़माने में मेरे लिए मुख्य प्रश्न कॉण्टेंट की कमी और शिल्प के आधिक्य का नहीं, वरन् कॉण्टेंट के अतिरेक और शिल्प की अपर्याप्तता का है। इसीलिए, मेरी मुख्य समस्या यह है कि कॉण्टेंट के वैविध्य को किस प्रकार समेटा जाये, किस प्रकार उसे रूपबद्ध किया जाये।

तार सप्तक के इस नये संस्करण में, मैं अपनी एक ताज़ा कविता सम्मिलित कर रहा हूँ। उसके सम्बन्ध में एक विशेष निवेदन यह है कि इस कविता में जान-बूझकर जो रूपक बाँधा गया है, वह साभिप्राय और सोद्देश्य है। भारत के कुछ सक्रिय राजनैतिक क्षेत्रों में—जिसका कि मुझे व्यक्तिगत निजी अनुभव है—जनता को ढोर समझा जाता है। साथ ही उससे भय भी अनुभव किया जाता रहा है। हाँ, यह रुख या भाव अखबारों से, मंच से, नहीं प्रकट किया जाता, अथवा ड्राइंगरूमों में भी नहीं बताया जाता। यह भाव प्रकट किया जाता है, निजी बैठकों में, निजी मण्डली में। शासक-वर्गों के इस लोक-भय से विक्षुब्ध होकर ही, 'लकड़ी का रावण' शीर्षक कविता लिखी गयी है। हाँ, कविता की शैली नितान्त आत्म-परक है, और तथाकथित प्रगतिशील व्याख्याकार यह अर्थ लगा सकते हैं कि मैं उस भावना का भागी हूँ। किन्तु कोई भी मर्मज्ञ पाठक इस कविता के वस्तु-सत्य तक सहज पहुँचकर निर्णय कर सकता है।

[तार सप्तक के दूसरे संस्करण के लिए लिखा गया किन्तु अप्रकाशित वक्तव्य। रचनाकाल सम्भवत: 1963-64]

आत्मवक्तव्य : तीन

पिछले बीस वर्षों में न मालूम कितनी बातें घटित हुई हैं। वे सबके सामने हैं। मेरी अपनी ज़िन्दगी जिन तंग गलियों में चक्कर काटती रही, उन्हें देखते हुए यही मानना पड़ता है कि साधारण श्रेणी में रहनेवाले हम लोगों को अस्तित्व-संघर्ष के प्रयासों में ही समाप्त होना है। मेरा अपना प्रदीर्घ अनुभव बताता है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की वास्तविक स्थिति केवल उनके लिए है जो उस स्वातन्त्र्य का प्रयोग करने के लिए सुपुष्ट आर्थिक अधिकार रखते हों, जिससे कि वे परिवार-सहित मानवोचित जीवन व्यतीत कर सकें, और साथ ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का ऐसा प्रयोग भी कर सकें जो विवेकपूर्ण हो और लक्ष्योन्मुख हो। अपने जीवन के आर्थिक आधार को दृढ़ और सुपुष्ट करने के लिए व्यक्ति के व्यवसायीकरण का मार्ग भी सामने आता है। मेरे लेखे यह अत्यन्त अनुचित मार्ग है और कम-से-कम मैं उसे कभी स्वीकार नहीं कर पाया; लेकिन वह मार्ग तो सामने आता ही है और व्यवसायीकरण-व्यापारीकरण का दबाव तो तीव्रतर होता जाता है। सच तो यह है कि व्यक्ति की सच्ची आत्म-परीक्षा, उसकी आध्यात्मिक शक्ति की परीक्षा, का सबसे प्रधान समय, उस इम्तिहान का सबसे नाज़ुक दौर, यही आज का युग है।

जीवन और परिवेश की विषमता की यह स्थिति आभ्यन्तर लोक में भी दुःस्थिति उत्पन्न करती है, यह एक दारुण सत्य है। मैं कहूँ कि यह मेरा अपना भी सत्य है। परिणामतः, स्वाधीनता के इस युग में मेरी कविता सघन बिम्ब-मालिकाओं में अधिकाधिक प्रकट होने लगी। अचानक अन्तर्मुख दशाएँ और भी दीर्घ और गहन होती गयीं। किन्तु यह भी एक तथ्य है कि इस आत्मग्रस्तता के बावजूद और शायद उसको साथ लिये-लिये मेरा आत्म-संवेदन समाज के व्यापकतर छोर छूने लगा। कविता का कलेवर भी दीर्घतर होता गया। परिणामतः, मेरी कविताएँ कदाचित् मासिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन के योग्य भी नहीं रह गयीं।

यहाँ जो नयी कविता दी जा रही है, और जो सन् 1963 की ही रचना है, अपेक्षाकृत छोटी है। इससे और छोटी रचनाएँ शायद मैं अब लिख नहीं सकता। भाव-प्रकृतियों के ख़याल से यह कविता मेरा प्रायः सर्वांगीण प्रतिनिधित्व करती है। जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, वह मेरी इस टिप्पणी को और आगे बढ़ाती है और कदाचित् उसके बाद यह टिप्पणी भी अनावश्यक हो जाती है।

[तार सप्तक के दूसरे संस्करण (1966) में प्रकाशित। रचनाकाल 1963]

नयी कविता और उसकी पृष्ठभूमि

आधुनिक हिन्दी कविता में यथार्थ

हिन्दी जिस रफ़्तार से दिन-दिन आगे बढ़ती जा रही है, उसका साहित्य जिस गति के साथ विकसित हो रहा है, उसको देखते हुए हमें कहना पड़ता है कि आधुनिक काव्य-काल बहुत दिनों तक रहेगा, क्योंकि वह मानव-जीवन के ऐसे-ऐसे अमर तत्त्वों से संजीवित हो उठा है, जो हमें नित्य उसके प्रति (उस तत्त्व के प्रति) सत्य-निष्ठ और श्रद्धायुक्त बनाये रखता है। हम जीवन के प्रति अधिकाधिक प्रामाणिक होते जा रहे हैं। हमारी कल्पना हमें नील गगन के अथाह शून्य में भटकाती नहीं, वरन् जीवन को उसके यथार्थ स्वरूप में ग्रहण कराते हुए उस ओर उठा ले जाती है।

एक दृष्टि से देखा जाये तो प्रसाद-पन्त-महादेवी का काल समाप्त हो चुका है। उनकी कल्पना-शक्ति और भावनाओं की गूढ़ता इत्यादि बातें, मेरे ख़याल से, पुरानी हो गयी हैं।

गुप्तजी अब शान्त हैं, और पुराने ढर्रे के कवि प्राचीन हो चुके हैं। आजकल हमें ऐसे कवियों की ज़रूरत महसूस होती है जो मानव-जीवन की एकता के साथ ही, उसके वैविध्य से भी अत्यन्त निकटता से परिचित हों, जो वैविध्य को हवा में उड़ाकर अरूप एकता के आकाश में मुक्त न फिरें, किन्तु वैविध्य के संघर्षात्मक संसर्ग से उत्पन्न मानवीय मनोभावों की उत्कटता में अपने को लीन करते हुए, उसी एकता के दर्शन करायें, अर्थात् वे मानवता के अधिक निकट रहें।

पन्त-प्रसाद-महादेवी का सौन्दर्य-दर्शन और उनकी गूढ़ता तत्कालीन ब्रज-भाषा की स्थूल सौन्दर्यगत कविता की इष्ट प्रतिक्रिया थी। भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण के प्रभाव से हिन्दी कविता, नवीन शब्दावली में व्यक्तीकरण के नये ढंग के साथ, प्राचीन दार्शनिक आदर्श को नवोत्फुल्ल सौन्दर्य-दृष्टि से पहचानते हुए, अधिक आन्तरिक होकर आधुनिक हो गयी थी।

किन्तु फिर भी वह अपने को प्राचीन से मुक्त न कर सकी। वह अधिक स्वप्न-शील थी, और नीहारवत् चरम सत्य के पीछे स्वयं नीहारमय हो गयी थी। जीवन

की यथार्थता से स्वतन्त्र होकर, एकान्त में कला-साधक होकर, विश्व के साथ तन्मयत्व प्राप्त करना ही कवियों का आदर्श हो गया। मानव-जीवन की ओर उनकी पहुँच कल्पना द्वारा होने से, उसके कल्याण की तड़प के अभाव में, उन्होंने प्राचीन दार्शनिक आदर्श की सहायता लेकर कविता की। अलौकिक की ओर उनकी कल्पना का प्रयास लौकिक की उपेक्षा पर खड़ा था।

अर्थात् समय की आवाज़ उनके कानों पर न पहुँची। हिन्दुस्तान की विस्तरण-शील आत्मा को भुलाकर अपना एकाकी मार्ग तय करना, उन्होंने अपना धर्म समझा और अपने सुपीरियर ईगो की माया में स्वयं को जगत् से अलग रखा।

मानव-मस्तिष्क की गति प्रतिक्रियाशील है। छायावादी धूमिलता और जीवन की ओर कल्पना द्वारा पहुँच की भी प्रतिक्रिया शुरू है। फलस्वरूप 'नवीन', 'नेपाली', 'बच्चन', 'दिनकर', 'अज्ञेय' इत्यादि कवि एक पंक्ति में खड़े हैं। नये कुछ-एक, जैसे प्रभाकर माचवे वगैरह, अपनी निश्चित दिशा लिये धीरे-धीरे इसी श्रेणी में आ रहे हैं।

'नवीन' नये और पुराने दोनों हैं। किन्तु उनकी कविता की आत्मा की गति अत्याधुनिक ही है। उनके प्रेम-गीत धूमिल-क्षितिज-गीत की दूरागत अस्पष्टता से अलग हैं। जीवन के प्रति उनकी पहुँच अधिक मूर्त्त है, अर्थात् कल्पना द्वारा प्रिय वस्तु को छायारूप-अपरम्पार न मानकर, उसे अपने दिल का आधार, अपने जीवन में होनेवाले कई अनुभवों का कारण, अर्थात् मनुष्य मानना है। 'नवीन' की प्रवृत्ति यथार्थवादी है। समय से स्फूर्ति प्राप्त कर उन्होंने भारतीय क्रान्ति के गीत गाये :

> आज पान देते ही देते छलका नयनों में पानी।
> देख तुम्हारी यह आकुलता मेरी मति-गति अकुलानी।।

'दिनकर' 'नवीन' से कुछ अधिक चित्रकार हैं। ग्रामीण या अन्य चित्रों के द्वारा ही उन्होंने अपनी भावनाओं को प्रकट किया, अर्थात् उनकी काव्यात्मा ने जीवन के कुछ विस्तृत कोनों को छू लिया। भारत के चित्र ही हमें भारत से बद्ध करायेंगे। 'दिनकर' की न केवल प्रवृत्ति यथार्थवादी है, परन्तु कला भी वही है। वीरेन्द्रकुमार भी इस सौन्दर्यगत यथार्थवाद से अलग नहीं। वे वास्तव में सौन्दर्य-चित्रों से ही अरूप भावना-लोक में परिभ्रमण कर रहे हैं, अर्थात् अत्याधुनिक काल के कवियों ने वास्तव की उपेक्षा न की। 'नेपाली' की कविता इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। 'अज्ञेय' भारत की विकसनशील संस्कृति के मुख्य अंगों में से एक अंग, अर्थात् कर्मण्यता, का प्रतिनिधित्व करते हैं। हिन्दुस्तान की बलवान आत्मा यदि दर्शन, कविता, विज्ञान, को उपलब्धि के लिए पोषक समझती है, तो कर्म को भी वह महत्त्व देती है। आधुनिक सांस्कृतिक उत्थान के लिए कर्म भी उतना ही अपरिहार्य है जितना कि बौद्धिक और भावनात्मक पक्ष। सम्पूर्ण विकास को दृष्टि में रखते हुए, हमें 'अज्ञेय' की तेजस्विता सुन्दर परिणाम के लिए सहायक प्रतीत होती है।

आधुनिक भारतीय जीवन विश्व-जीवन के झकोरों से संवेदित है। राजनैतिक जागरण सांस्कृतिक उत्थान का केवल एक पक्ष है। आधुनिक भारतीय अपने-आपको अन्य देशीय लोगों से विलकुल भिन्न नहीं पाता। क्या बौद्धिक और क्या भावनात्मक पक्ष में, हम शैले, वड्सवर्थ, शॉपेनहॉर, नीत्शे, काण्ट, हेगेल, फ़िश्टे, शेलिंग, मार्क्स, क्रोपाटकिन, अनातोले फ़्रांस, रोम्याँ रोलाँ, मेरेडिथ, हार्डी, लैम्ब, स्टीवेंसन, येट्स, टैगोर, गांधी, तॉल्सतॉय, ख़ैयाम, कालिदास से अलग अनुभव नहीं करते। हमने इन्हीं लोगों से वहुत-कुछ स्वीकार किया है। विश्व-साहित्य इतना विस्तृत और अपार है कि मानवीय-व्यक्तीकरण की कलात्मकता और उसके अध्यात्म की गहराई पर आनन्दाश्चर्य होता है। हिन्दुस्तान भी विश्व की संस्कृति का उत्तराधिकारी है। उसकी संस्कृति इसलिए विश्वात्मक होना चाह रही है।

हम प्रगति की ओर यत्नशील हैं। मानवीय आत्मा स्वभावत: प्रगतिशील होती है। हमारे पूर्वगामी कविगण का भी हमारी उन्नति में काफ़ी हाथ है। हम उनके कन्धों पर खड़े होकर विश्व देख रहे हैं।

मैं आपसे पहले कह चुका हूँ कि अत्याधुनिक काव्य-धारा वास्तव को अत्यन्त सहानुभूति से देखती है। लेकिन इससे यह न समझना चाहिए कि वह गद्यात्मिका (प्रोज़ेक) है। नहीं, बात इससे विलकुल उल्टी हैं। वह अत्यन्त मानवीय है। पन्त, प्रसाद, महादेवी का रोमैण्टिक युग समाप्त नहीं है, केवल उसकी दिशा में थोड़ा-सा परिवर्तन है।

'वच्चन' का **निशा-निमन्त्रण** अत्याधुनिक इसलिए है कि उसमें जितनी उत्तमता से यथार्थ के प्रति भावनात्मक रिश्ते का दिग्दर्शन कराया गया है, वह हिन्दी साहित्य-जगत में दुर्लभ है। भावनाओं के लिए अन्त:करण और उसकी कल्पनादि वृत्तियाँ ही काफ़ी नहीं हैं वल्कि स्व-बाह्य संसार और उसकी निज पर प्रतिक्रियाओं की संघर्षात्मक भिन्नता का विस्तृत और अधिक उन्नत अन्त:-करण में परिवर्तन कर देना इष्ट है। यथार्थवाद का यही महत्त्व है। फिर अपने 'स्व' में और स्व-वाह्य जगत् में कोई अन्तर नहीं रह जाता। वच्चन के लिए स्व-वाह्य कल्पना से अधिक महत्वपूर्ण है। रंगीन कल्पना का आश्रय न लेकर, विचार या तर्क को भी त्यागकर, वच्चन की भावनाएँ वाह्य को आत्मसात् करना चाहती हैं। यथार्थवाद का आध्यात्मिक अर्थ यही है, और इसीलिए यथार्थवादी लेखक जीवन के प्रति अधिक उदार रहे हैं।

'वच्चन' अपनी उत्तमता से कुछ अंशों में जव गिरते हैं, तव यह आध्यात्मिक धरातल उनके लिए बुरे अर्थ में अपना कुछ खो वैठता है। जव विचार या तर्क को तलाक़ देकर, कल्पना के रँगीलेपन से वाज़ आकर, असन्तुष्ट भावनाएँ सन्तोष के लिए आत्मलीन होने के वजाय वाहर दौड़ती फिरती हैं, तव सिवा भाग्यवाद के कोई वाद आश्रय नहीं दे सकता। मैंने एक जगह कहीं लिखा है :

"मनुष्य साधारणत: मानस के ऊपरी सतह पर रहता है। उसकी विविध इच्छाएँ, अभिमान, वौद्धिक ज्ञान भी इसी छिछले पानी में पनपने से उसे वाह्य की

ओर ले जाते हैं। वाह्य जगत् में सन्तोष नाम की चीज़ नहीं मिल सकती। अपने अन्दर सुख टटोलने के वजाय जब मानव-मन वाहर भटकता फिरता है, तब सिवा भाग्यवाद और निराशावाद के और दूसरा वाद आश्रय नहीं दे सकता, क्योंकि आशावाद का दूसरा नाम है 'आत्मवल'।"

मेरा दृष्टिकोण स्पष्ट है। 'वच्चन' के भाग्यवाद से आत्मोन्नति का कोई सम्बन्ध नहीं, कारण 'वच्चन' पतन-उन्नयन में विश्वास कम रखते हैं। उनके लिए सब मानव-अन्तःकरण समान हैं। इसलिए उनके साहित्य में आत्मा का प्रश्न ही नहीं उठता। उनके साहित्य की उपज आत्म-चैतन्य (सैल्फ़-कॉन्शसनेस) से नहीं है।

स्वान्तर्जगत् और वाह्य जगत् की विरोधी स्थिति से उठकर, उन दोनों की साम्यावस्था से जनित जो व्यापक दृष्टिकोण है, वह यथार्थवाद की आत्मा है। यथार्थवादी कला उस विरोधी स्थिति को मिटाने का प्रयत्न है, जिसको मैं आध्यात्मिक कहता हूँ। यही जब किंचित् विकृत हो जाती है, अर्थात् जब मानव-मन वाह्य को उसके स्वरूप में न लेकर अपनी संकुचित भावनाओं को उस पर लादना चाहता है, तब, जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, मनुष्य भाग्यवादी वनता है। कहने का सारांश यह है कि भाग्यवाद मनुष्य की भावनाओं के विकार से उत्पन्न है। किन्तु 'वच्चन' के साथ यही विकार उनका कुछ उपकार भी कर गया। जब 'वच्चन' की अतार्किक, कल्पना-विगत, भावनापूर्ण दृष्टि ने वाह्य को देखा, तब सुख मिटनेवाला देखा और दुःख अगाध देखा। संसार की इस स्थिति से उनका कवि-हृदय व्यापक हो गया। दुखियों के प्रति सहानुभूति की गहराई जितनी अधिक मुझे 'वच्चन' में दिखलायी दी, उतनी, मुझे खेद है, छायावादी न दिखला सकते। वास्तव संसार के दुःख के असाध्य रोग ने 'वच्चन' के हृदय को अत्यन्त व्यापक और उदार वना दिया। **निशा-निमन्त्रण** इस दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर काव्य है। अपने दुःख से पीड़ित होकर 'वच्चन' ने संसार के दुःख के दर्शन किये। उनकी प्रिय पत्नी के निधन ने उनके हृदय को नयी आँखें दीं। क्राइस्ट की जगत् के प्रति करुणामयता की तुलना 'वच्चन' की इस आर्द्रता से की जा सकती है।

'वच्चन' का भाग्यवाद भावनाजन्य है, तर्कजन्य नहीं। उनकी फ़िलॉसफ़ी के लिए उनका हृदय टटोला जायगा। महादेवी वर्मा के आँसू हमारे हृदय को रुला नहीं सकते, किन्तु 'वच्चन' का **निशा-निमन्त्रण** पढ़ते समय वरवस आँखें तर हो जाती हैं, कारण यह कि महादेवी वर्मा ने दुःखवाद का धर्म (कल्ट) वना लिया, जो उनकी कल्पना से उत्पन्न है। इसके विपरीत 'वच्चन' स्वयं रोया है, खूब, तब वह दूसरों को रुला सका।

'वच्चन' का वास्तववाद अत्यन्त मानवीय है। उसमें हमारा दिल हिला देने की शक्ति है। भावनात्मक दृष्टि से जीवन के मूल्य पहचानने का यह प्रयास है। अत्याधुनिक काल की प्रमुख धारा का इससे अधिक सुन्दर दर्शन आपको और कहीं नहीं हो सकता।

यहाँ वास्तववाद दूसरे स्वरूपों में आपको अन्य कवियों में मिलेगा। 'नवीन' में वह ओज और स्फूर्ति से युक्त मिलेगा, 'अज्ञेय' में कर्म की अथक ताक़त के स्वरूप में, और 'दिनकर' में कभी करुणा, बेवसी और कभी युद्ध-भावावेश के स्वरूप में दिखलायी देगा।

हमारा प्रयत्न जीवन को उसके विविध और समग्र रूप में एक ही साथ लेकर मानव-आत्मा को दिशा-निर्देश करने में होना चाहिए। ऐसा कवि मनुष्य-जीवन का बहुत बड़ा उन्नायक होगा। पर अभी हमने पाया बहुत कम है। ब्राउनिंग कहता है :

> ग्रो ओल्ड एलोंग विद मी
> दि बैस्ट इज़ येट टु बी
> दि लास्ट ऑफ़ लाइफ़, फ़ॉर व्हिच दि फ़र्स्ट वॉज़ मेड।

[सम्भावित रचनाकाल 1940-41। **नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र** में संकलित]

आधुनिक काव्य की चिन्ताजनक स्थिति

[यद्यपि यह कहा जाता है कि तनाव का, खिंचाव का, काल साहित्य-पूजन के लिए विशेष उपयुक्त रहा है। यह भी सत्य है कि पिछले कुछ सालों से हिन्दी-काव्य में ह्रास के लक्षण स्पष्ट दिखायी देने लगे हैं। वह युग जिसका प्रतिनिधित्व मैथिलीशरण गुप्त से लगाकर तो 'बच्चन' ने किया, अब समाप्त हुआ है। उनकी गूँजें, वही भावच्छायाएँ, वही काव्य-उपादान, थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाली कविताओं में मिल जाया करते हैं।

स्पष्ट है कि विगत साहित्यिक पीढ़ी का रोमैण्टिक काव्य वर्तमान भारतीय जीवन के यथार्थ पर आधारित नहीं है। पिछले आठ-दस सालों से हमारी जिन्दगी में कुछ ऐसी तबदीली हुई है, और पिछले चार-पाँच सालों से उस तबदीली की रफ़्तार इतनी तेज़ हो गयी है कि अलसायी छायाओं के उपवनों के उन्मन वातावरणों से आज हमारी आत्मा की परितृप्ति नहीं हो सकती। न उस टाइप के प्यार को लेकर, उसके अभिशापों और वरदानों तथा तत्सम्बन्धी मूक साधनाओं, मरण-त्यौहारों और अग्नि-शृंगारों के खिलौने से हमारी ज़िन्दगी में भाव-सम्पन्नता आ सकती है, बशर्ते कि हमारा काव्य कवि-गोष्ठियों में उठते-बैठते रस बरसानेवाला काव्य न हो। आज हमारी ज़िन्दगी का यथार्थ हमारे साहित्य में अपने पूरे अभि-

प्राय और आवेग के साथ उतरना चाह रहा है। खेद है कि हिन्दी के प्रत्यक्ष काव्य-प्रयास कुछ महत्त्वपूर्ण अपवादों को छोड़कर उन्हीं पुरानी गूँजों को गुँजा रहे हैं, उसी बासी गन्ध को फैला रहे हैं जिसका हमारे वर्तमान जीवन के यथार्थ से सामंजस्य नहीं हो पाता।

जब तक हमारे कविगण वर्तमान यथार्थ के अभिप्राय समझ नहीं सकेंगे, और उन्हें समझकर उनका चित्रण नहीं कर सकेंगे, तब तक हमारे काव्य-साहित्य का उद्धार नहीं। 'दिनकर' कुरुक्षेत्र का पोथा भले ही लिख लें, और उसमें राष्ट्रवाद के नाम पर बड़े शब्दों और ऊँची-ऊँची कल्पनाओं, फड़कते हुए वाक्यों और धड़कते हुए चित्रणों की रेल-पेल कर दिखायें, यह निश्चित है कि वही ज़िन्दा रहेगा जो वर्तमान यथार्थ के अभिप्रायों को समझ सके। यानी आज के प्रश्नों के सम्बन्ध में निश्चित भावात्मक और बौद्धिक 'आउटलुक' रख सके। 'दिनकर' के बारे में तो यह कहा जा सकता है कि वह अब पुराने खेमे का कवि हो गया है। किन्तु प्रधान प्रश्न तो उन कवियों का है जो, नवीन दृष्टिकोण का विरोध अथवा उपेक्षा करते हुए, अपने प्रयासों के डिफ़ेन्स में इन कवियों के काव्य-उदाहरणों को प्रस्तुत करते हैं। यह भी निश्चित है कि जो व्यक्ति वर्तमान यथार्थ की ओर दृष्टिपात नहीं करता, उससे अपनी काव्य-प्रेरणा और स्फूर्ति ग्रहण नहीं करता, और उस नारे से प्रभावित होता है जो 'भारतीय संस्कृति' का नारा कहलाता है, तो वह व्यक्ति नवीन दृष्टिकोण (मॉडर्न आउटलुक), जनता का दृष्टिकोण, भी ग्रहण नहीं कर सकता। आज 'भारतीय संस्कृति' का नारा उन लोगों का है जो जनता के क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को रूसी दृष्टिकोण कहकर लोगों का ध्यान, वर्तमान जन-जीवन के यथार्थ के तक़ाज़ों से हटाते हुए, उन पुराने मायालोकों में अटकाना चाहते हैं जहाँ अध्यात्म और विलास परस्पर चुम्बन-आलिंगनादि में व्यस्त हैं। यदि 'भारतीय संस्कृति' का अर्थ जनता के अपने तक़ाज़ों और सवालों के आधार पर उसको सुसंस्कृत करना होता तो वह नारा कभी ग़लत नहीं होता। किन्तु बात इससे बिलकुल उलटी है। आज जब इन्सानियत तबाह हो रही है, और कुछ तबक़े उसकी क़ीमत पर लखपति बनने की कोशिश कर रहे हैं, तब ग़रीब मध्यवर्ग के एक लेखक को 'भारतीय संस्कृति' का लुभावना नारा देकर उसे उन लोगों से हटाया जा रहा है जो उसके अपने हैं। यानी जो उसी की तरह तबाह हैं और जिनकी हालत उससे भी बदतर है, जो अपनी ज़िन्दगी के तक़ाज़ों के आधार पर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक लड़ाइयाँ लड़ रहे हैं। जहाँ भूखी जनता को अनुशासन में रहने की, भारतीय संस्कृति के अनुसरण की, दिन-रात नसीहत दी जाती हो, और, दूसरी ओर, बड़े मज़े में अपने सगे-सम्बन्धियों को शोषण का मज़ा लेने दिया जाता हो, वहाँ 'भारतीय संस्कृति' के नाम पर एक बहुत बड़ा फ़्राड चला करता है। अपने शत्रुओं के कैम्प के बुद्धिजीवियों की संघर्ष-आस्था को नष्ट करने के लिए विचारों की जालसाज़ी से भरे आन्दोलनों के ब्रह्मास्त्र छोड़े जाते हैं। 'भारतीय संस्कृति' का नारा उसी का एक अंग है। ग़रीब मध्यवर्ग के लेखक को ऐसे सब

नारों से मोर्चा लेना होगा जो प्रतिक्रियावादियों के कैम्प में से निकलते हैं।

मुझसे कहा जायगा कि यह राजनीति हुई, साहित्य नहीं रहा। किन्तु वस्तु-स्थिति तो यह है कि जनता की राजनीति और जनोन्मुख साहित्य का स्रोत एक है। और वह है, आज का यथार्थ। आज का यथार्थ कोई रहस्यवादी धारणा नहीं है जिसको समझने के लिए इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना नाड़ियों को तीव्र करना ज़रूरी हो। आज का यथार्थ जनता के जीवन का यथार्थ है जो हम स्वयं रोज़मर्रा जीते हैं। यदि हमारी काव्य-प्रेरणा वस्तुतः जनजीवन से उद्‌भूत हुई हो, तो जनजीवन की वर्तमान परिस्थितियाँ और उसके कष्टों का कारण भी हमारे अनुभूति-क्षेत्र का अंग होगा। अर्थात् इन्सानियत को तवाह करनेवाले रावणों, उनके सिपहसालारों और दोस्तों के जन-विरोधी षड्यन्त्र भी हमारी अनुभूति के अंग होंगे, यानी मात्र बौद्धिक स्तर से उतरकर वे हमारे हृदय और आत्मा के समस्त अभिप्रायों में लीन हो जायेंगे। जव वे लीन होंगे तो स्थायी भाव होगा घृणा, घृणा और भयानक घृणा ! तथा उनके नाश का संकल्प ! जन-जीवन के अन्य चित्रों के साथ हमारे दूसरे भाव रहेंगे। देशभक्ति का अर्थ जन-भक्ति होगा। अतएव राजनीति और साहित्य मात्र अभिव्यक्ति में भिन्न हैं। उनका मूल है आज का यथार्थ, यानी जन-जीवन का यथार्थ, उसके लक्ष्य, उसके अभिप्रेत, उसके संघर्ष !

हमारे समाज में कुछ ऐतिहासिक महा-प्रक्रियाएँ चल रही हैं। किसी-न-किसी विकास-अवस्था में दो परस्पर-विरोधी तत्त्वों का संघर्ष चल रहा है। समाज के अन्तस्तल में द्वन्द्वों का यह संघर्ष ऐतिहासिक प्रक्रिया है। इस संघर्ष की तीव्रता दिन-व-दिन गहरी होती जा रही है। संघर्ष व्यापक होता जा रहा है। जव तक हम अपनी बुद्धि, प्राण-मन, हृदय और आत्मा की समस्त अनुभूति तथा शक्ति को केन्द्रित करके, उसके द्वारा इस ऐतिहासिक ज़िन्दा यथार्थ के आधार पर, जन-जीवन के चित्र नहीं खड़े करते, तव तक ग़रीब किन्तु बुद्धिमान लेखक के जीवन-कार्य का प्रथम अनुच्छेद भी समाप्त नहीं होता। स्पष्ट है कि यहाँ हम ऐसे ही लेखक की कल्पना कर रहे हैं जो बड़ी तनख्वाहवाले उच्चवर्गीय साहित्यिकों के जमघट में अपनी साहित्यिक करामात का डेमॉन्स्ट्रेशन देने की इच्छा नहीं रखता; 'रेडियो-कवि' नहीं बनना चाहता; आलस, निठल्लेपन, दोस्तीबाज़ी को साहित्यिक जीवन की अपनी विशेषता नहीं बनाना चाहता; जो साहित्य में कैरियरिस्ट नहीं है, यानी अपनी रचना के मूल्य के आधार पर समाज से क़ीमत माँगता है, न कि सोशल कॉन्टेक्ट्स के ज़रिये मैन्यूवर करने का प्रकट-अप्रकट हिमायती है; जो अपनी बात की पावन्दी चाहता हो और वस्तु-सत्य, चाहे वह बौद्धिक और मानसिक ही क्यों न हो, की परवाह ज़्यादा करता है, यानी वाचाल नहीं है, और अपनी ही कल्पना की पतंग नहीं उड़ाया करता है; जो अपने साहित्य-कर्म के प्रति और उसके जन-जीवन-सम्बन्धी मूल प्रेरणा-स्रोतों के प्रति अगाध रूप से गम्भीर और ईमानदार है, या गम्भीर और ईमानदार रहने की वेहद कोशिश करता है।

स्पष्ट है कि आज का साहित्यिक जितनी गम्भीरता से अपने प्रत्येक प्रकार के उत्तरदायित्वों को सोचेगा और जीवन के समस्त रूपों के अध्ययन में रुचि और सूक्ष्मता प्रगट करेगा, उतनी ही उसकी साहित्य-शक्ति तीव्र और प्रभावोत्पादक होगी। यदि वह अपने सबजेक्ट मैटर के यथार्थ में गम्भीरता से प्रवेश करेगा, तो न सही एक दिन के एक प्रयास में, [बल्कि] धीरे-धीरे, क़दम-ब-क़दम, वह पुरानी जड़ीभूत परतों को तोड़कर अपने नये साहित्य-संस्कारों को जन्म देगा, और वह हौले-हौले उसका विकास करता हुआ आगे बढ़ता चला जायेगा। प्रयास के प्रथम चरण की दुरूहता, उलझी अभिव्यक्ति-शैली तथा भावों का सामान्य स्तर, लेखक के स्वयं के अनुभवों के सहारे निखरकर हीरे और मोतियों-सी चमकती हुई भावच्छवियों और शब्द-मालिकाओं का रूप धारण कर लेगा।

कहना न होगा कि विषय के यथार्थ के यथातथ्य भावात्मक चित्रण का कार्य एक वैसा ही घोर, अविरत और सुदीर्घ संघर्ष है जैसे भारत का वर्तमान जीवन! जितना गहरा यह संघर्ष होगा, समझिये कि उतनी ही गहराई के साथ, अपने स्वयं के काव्य-उपादान लेकर, जन-जीवन का वस्तु-सत्य अपने समस्त सन्दर्भों के साथ अपनी स्वयं की मौलिक अभिव्यक्ति लिये प्रगट होना चाह रहा है। लिखते वक़्त, हर ईमानदार लेखक का यह अनुभव है कि जो बात वह वस्तुतः कहना चाहता है, यानी कि जो असल बात है (जिसे वह उसके सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ प्रकट करने के लिए आतुर है), ठीक वही किन्हीं अजीब शक्तियों के षड्यन्त्र से हाथ से निकल जाती है, और अन्य भाव, अन्य अभिव्यक्तियाँ बीच में दस्तन्दाज़ी-दखलन्दाजी करती हुई किसी दूसरी ओर वहा ले जाना चाहती हैं। असली बात-रूपी रुपहली मछली उसको धोखा देते हुए, जाल में आती हुई-सी लगकर भी, इधर-उधर से फिसल जाती है, और कभी-कभी तो उसे निराश हो जाना पड़ता है। कहना न होगा कि यह एक महान् और सुदीर्घ संघर्ष है। और इस संघर्ष के पीछे है वैज्ञानिक ईमानदारी, जिसकी वैज्ञानिकता का हृदय मनुष्य-हृदय है, यानी वह हृदय की अनुभूति की गहरी वैज्ञानिकता है। ऐसा संघर्षी लेखक झूठे रंगों, झूठी गूँजों और नक़ली बातों के फेर में नहीं पड़ता, न उसके सत्य का स्टैण्डर्ड इतना नीचा होता है कि जो बात अनुभूत नहीं है उसका वह दावा करे। उसकी अनुभूति को कल्पना के पर हैं और वैज्ञानिक आँखें हैं।

किन्तु हमारे लेखक—वे प्रगतिवादी ही क्यों न हों—इस प्रकार [के] संघर्ष से बचते हैं। इसलिए वे बात के नूर के स्थान पर भड़क रंग और फिसलती हुई ज़बान और बहता हुआ स्वर अधिक पसन्द करते हैं। परिणामतः, उनकी बात अधिक रोमैण्टिक ढंग की हो जाती है। शीघ्र इफ़ैक्ट्स देने के लिए वे थोड़ा कहने की चतुरता का इस्तेमाल करते हुए कवि-कर्म से फ़ारिग़ हो लेते हैं। यदि कोई यह कहे कि वे मॉडर्न आउटलुक, जन-जीवन का दृष्टिकोण रखते हुए भी ईमानदार नहीं हैं, तो इस गम्भीर सत्य का एक पहलू [यह] भी है कि जो लेखक शीघ्र परिणाम के पीछे हाथ धोकर इस प्रकार पड़ा हुआ है, वह न अपने दृष्टि-

कोण के प्रति ईमानदार है, न अपने कर्त्तव्य के प्रति। ऐसे लेखक, यह सच है कि, कुछ समय के लिए अपने न्याय्य-पथ पर कथन-शैली के द्वारा साहित्य-जगत् में अपना स्थान बना लेते हैं, किन्तु उनका हो-हल्ला शोर-गुल शीघ्र ही शान्त भी हो जाता है।

मैं यह पहले भी कह चुका हूँ कि जीवन के यथार्थ के प्रति अगर यह ईमानदारी रहे, तो वह स्वयं ही बोलता हुआ चला आता है। यानी, दूसरे शब्दों में, अपने स्वयं के काव्य-उपकरण लेकर उतरता है। तो उसके मानी यह हुए कि घिसे हुए उपमा-चित्रों और प्रतीकों का पंजा आप-ही-आप छूट जाता है। और जीवन-यथार्थ नये काव्य में अपनी नवीन शैली लेकर उतरता है। कहना न होगा कि छायावादी शैली वर्तमान कष्टमय संघर्षमय जन-जीवन-सम्बन्धी चित्र-प्रयासों के लिए नितान्त अनुपयुक्त और बिलकुल बेकार है। फिर भी, बड़ी ही प्रगतिशील भाव-धारा के (कभी-कभी हमारे प्रयासों की गहराई के अभाव में) उन्हीं प्रतीकों को लेकर चलाने के लिए असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। निश्चित और स्पष्ट है कि पुराने प्रतीकों के रंगदार काँच की खिड़कियों से बाहर की असलियत के विशाल दृश्य ठीक-ठीक दीख नहीं पाते। यानी, यद्यपि यथार्थ खुद बोलता हुआ काव्य में उभरना चाहता है, तथापि हमारे साहित्य-सम्बन्धी असंगत संस्कार उसकी ज़बान की जगह उन्हीं घिसी हुई उपमाओं तथा शब्दों का शोर-गुल खड़ा कर देते हैं। दूसरे शब्दों में, पूर्वागत काव्य-शैली तथा भाव-शैली के घनीभूत प्रभाव के कारण नवीन यथार्थ भी अपनी भाषा को छोड़कर, अपना पैटर्न छोड़कर, पुराने पैटर्न में क़ैद हो जाता है। अतएव, नवीन लेखक के पास पुराने प्रभावों से जूझते हुए वर्तमान जन-यथार्थ के चित्र-प्रयासों के लिए उपयुक्त पैटर्नों की प्राप्ति का भी महत्त्वपूर्ण कार्य है। संघर्षी लेखक को, नये यथार्थ की किसी पूर्वागत परम्परा के अभाव के कारण, कभी-कभी अपने पैटर्नों के प्रति, और अपने प्रति उत्पन्न अविश्वास के प्रति, घोर संघर्ष करना पड़ता है। नवीन यथार्थ के पैटर्नों को वह सामाजिक मान्यता नहीं मिल पायी है।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि संघर्षी लेखक के विरुद्ध सारी स्थिति-परिस्थितियाँ आज काम कर रही हैं। चूँकि आज उसे अपना रास्ता बनाना है, यानी नये यथार्थ का समस्त वातावरण शब्दों में अंकित करना है, उनकी अपनी भाषा और प्रतीकों के ज़रिये, साथ-ही-साथ चूँकि विद्वानों की दक़ियानूसी से लगाकर सम्पादकों की निर्बुद्धिता उसके रास्ते में पहाड़ और खाइयों का काम करती है, जो कि उसकी आवाज़ को पाठकों के पास पहुँचने नहीं देती, और चूँकि लेखक स्वयं (यद्यपि पुरानों से बहुत आगे) अपनी मंज़िल के बहुत पीछे होने से उसका ध्यान अपने साहित्य-कर्म के कठोर कार्यक्रमों में ही लगा हुआ है, और चूँकि उसे वस्तुतः जन-जीवन के विभिन्न प्रधान रूपों और प्रधान भावों को अपने भाव-विलास के क्षेत्र में आत्मसात् करने की सुदीर्घ प्रक्रिया में लीन होना है—अतएव, वैज्ञानिक ईमानदारी रखनेवाले अनुभूतिप्रवण साहित्यकार की समस्त प्रवृत्तियाँ आज कठोर संघर्ष

कर रही हैं। इस घनघोर आस्था और अन्ततः अपनी विजय में उतनी ही घनघोर निष्ठा आज के जनवादी लेखक की पतवार है, उसका सम्बल है। यह उसका अहंकार नहीं कि साहित्यिकों की फूहड़ सोसाइटी उसे अरुचिकर प्रतीत होती है।

सबसे बड़ी बात यह है कि जिस प्रकार एक नेता न केवल जनता को नेतृत्व प्रदान करता है, वरन् वह उससे सीख और नसीहत भी ग्रहण करता है, उसी प्रकार नये लेखक का सबसे बड़ा शिक्षक, सबसे बड़ा गुरु, और सबसे बड़ा वैज्ञानिक, स्वयं जन-जीवन और उसके दृश्य हैं। हमें वास्तविक जन-जीवन में अनेक महान् व्यक्ति देखने को मिलते हैं, महान् प्रतिभाएँ दृष्टिगत होती हैं, और महान् संघर्ष और त्याग के विशाल मानवीय दृश्य नज़र में आते हैं, जिनके सामने हमारी तथाकथित साहित्यिक सोसाइटी के नेता बौने, बुज़दिल, निर्बुद्धि मालूम होते हैं। कहना न होगा कि चूंकि लेखक इस जन-जीवन का ही एक भाग, एक अंश है, इसलिए वह इस जन-जीवन के आदेशों का ही पालन करेगा। उसका ख़ुदा और पैग़म्बर उसी जन-जीवन में बसता है, और वही जन-जीवन उसका क़ुरान और मार्क्सिज़्म है। तात्पर्य यह कि हमारा लेखक एक नये ढांचे का व्यक्ति है जो कवि-सम्मेलनों और पत्र-पत्रिकाओं के ग्रामोफ़ोनों से अलग अपनी वीणा पर ज़िन्दगी के सप्त-स्वर छेड़ता है। इस संघर्ष के ऐतिहासिक कार्य और उन स्वरों के आगे वह किसी की परवाह नहीं करता, चाहे वह कितना ही बड़ा तीसमार ख़ाँ क्यों न हो।

यहाँ 'जन-जीवन', इस शब्द को भी स्पष्ट कर देना चाहिये। चूंकि फ़्राड की गुंजाइश सब जगह है, इसलिए यहाँ भी है। जब हम रास्ते पर घूमते हैं तो करुणा-जनक दृश्य दिखायी देते हैं। क्या हम जन-जीवन को उतना ही निःशक्त और दयनीय समझें ! हरगिज़ नहीं ! हमारे कतिपय साथी उस दयनीयता के चीख़ते हुए चित्रों और उसके विद्रूप रंगों को ही एकमात्र जन-जीवन समझते हैं। यह ग़लत है। वह जन-जीवन का एक अल्पांश है। उस अल्पांश से समस्त जन-जीवन पर निर्णय नहीं दिये जा सकते। जन-जीवन में करुणा है, पर विद्रूप दयनीयता नहीं; उसमें कठोर संघर्ष शक्ति है, त्याग की भावना है, विवेक है, कर्मण्यता है; उसी प्रकार युगानुयुग शोषण के कारण, अलावा ग़रीबी के, उसमें अज्ञान है तो ज्ञान भी है, कुसंस्कार है तो क्रान्ति-भावना भी है। सारांश में, जन-जीवन की आत्म-शक्ति संघर्ष-शक्ति के ऐतिहासिक क्रान्तिकारी अभिप्राय हैं। उनके दुख, कष्ट, वेदना में एक रफ़्तार है—वह रफ़्तार जो ज़माने की रग में ग़ुस्सैल ख़ून की तरह बहती है। वह कष्ट-वेदना एक शमशीर है जो जन-शत्रुओं को ख़त्म कर देगी। वह कष्ट-वेदना जन-जीवन के पैरों में मोच नहीं है। सारांश यह कि जन-जीवन के इन मौलिक तत्त्वों के आधार पर ही मानवीय करुणा, संघर्ष, आदि के दृश्य खड़े किये जाने चाहिये।

यहाँ हम एक दूसरे ख़तरे की ओर भी इशारा कर देना चाहते हैं। वह यह

कि जन-जीवन के इन क्रान्तिकारी अभिप्रायों को वास्तविक जन-जीवन के दृश्य से हटाकर उनके सामान्यीकरणों (जेनेरेलाइज़ेशन) की कविता हिन्दी में होती है। जैसे, धरती का प्रतीक लेकर जन-जीवन की प्रशस्ति की रचनाएँ, अथवा किसान-मज़दूरों की क्रान्तिकारी हैसियत के पुरजोश तराने। बिलाशक, ऐसी कविताएँ ज़रूरी हैं, किन्तु चूँकि ऐसी कविताएँ करना अपेक्षाकृत आसान है, और चूँकि इस ढर्रे पर अनेक कविताएँ और भी लिखी जा सकती हैं, और अपनी लिखास (लिखने की प्यास) पूरी की जा सकती है, इसलिए कौन वास्तविक जन-जीवन के दृश्यों की मूर्ति खड़ा करे! जैसे, कोई ग़रीब स्त्री अपने बच्चे को सुलाते हुए लोरी गा रही है और तब उसकी आँखों में जीवन के दृश्य तैर रहे हैं। कौन इस थीम को अंकित करे! इसमें तकलीफ़ होती है! एक वृद्ध पिता अपने नाती को जीवन-संघर्ष में वफ़ादार रहने की बात कहता है। कौन इसका चित्रण करे! तकलीफ़ होती है! एक माता अपने क्रान्तिकारी पुत्र की आँखों में भावी नव-जीवन के सपनों की मूर्ति की तस्वीर देखती देखती हुई पुलकित हो जाती है। कौन उसकी पुलक का अंकन करे! तकलीफ़ होती है! एक मित्र अपने दूसरे मित्र की भयानक तकलीफ़ से पीड़ित होकर वर्तमान ज़िन्दगी की तस्वीर अपनी आँखों में बसाता है। कौन इसका चित्रण करे! तकलीफ़ होती है! गोया आसानी से हो जाय तो ठीक, नहीं तो ऐसी-तैसी!

मराठी, उर्दू और हिन्दी की कविता का मिलान यहाँ ठीक होगा। मराठी में जीवन-दृश्यों के क्षणों का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। उर्दू में क्रान्ति और तारुण्य की बेसब्र सम्मिलित मनोभावनाओं का, और हिन्दी में वर्तमान जीवन की क़टुता का, जोश भरे तरानों और क्रान्ति के सामान्यीकरणों का, बाहुल्य है। हमें जीवन के समस्त दृश्यों का चित्रण करना ज़रूरी है। इसलिए हमारे प्रयास व्यापक होना चाहिए। विशिष्ट (पार्टिकुलर) जन-जीवन-दृश्यों में जन-जीवन के अभिप्रायों के सामान्यीकरण (जेनेरल) की गूँज ज़रूरी है। इन दोनों के मिश्रण से ही पाठक को अपने जीवन-भाव और अपने अभिप्राय समझ में आयेंगे। और इस प्रकार उसके हृदय में कठोर यथार्थ और हिम्मत, शक्ति और मस्ती का योग होगा। विशिष्ट को छोड़ मात्र सामान्य में वह बल नहीं आ पाता, जो ज़िन्दगी में चट्टानी हिम्मत, भुजाओं में फ़ौलादी ताक़त, दिल में इन्सानियत का लहराता समुन्दर, ला सके। इस प्रकार जन-जीवन का ज्ञान, जन-जीवन के अभिप्राय, और उसकी आत्म-शक्ति का मेल, जब तक हम अपने सुख-दुख में न कर केवल ऊपरी अमूर्त्त निराकार वैचारिक स्तर पर ही उसे घुमाते रहेंगे, तो सामान्य विशिष्ट का स्वर नहीं हो पायेगा। काव्य में विशिष्ट के साथ-साथ सामान्य रहे तो जीवन-दृश्य और उनका आघात ठीक-ठीक होगा। हमारे रात-दिन चलते हुए संघर्ष के दृश्यों के अभिप्राय ही तो जन-जीवन के अभिप्राय, जन-जीवन के प्रतीक हैं। इस लक्ष्य की पूर्ति अपने-आपमें एक ऐसा आकर्षक और सम्मोहक कार्य है, जिसके लिए ज़िन्दगी के तमाम दूसरे व्यक्तिगत मोहों को ठुकराया जा सकता है, और उसके

माध्यम द्वारा जीवन की सफलता और अपने काव्य का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

[नया खून 1951 में छद्मनाम से प्रकाशित। पुनः प्रकाशित सबेरा संकेत, दीपावली विशेषांक 1971 में]

प्रयोगवाद

तथाकथित प्रयोगवाद की कोई विशेष व्याख्या नहीं की जा सकती, साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में ही उसे देखा जा सकता है। यह निश्चित है कि प्रारम्भिक रूप में प्रयोगवादी कविताएँ तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के विरुद्ध व्यक्ति द्वारा की गयी भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ हैं। किन्तु अब व्यक्ति छायावादी नहीं, उसमें अब बौद्धिकता आ गयी है। वह जो देखता है उस पर सोचना चाहता है, जो अनुभव करता है वह लिखना चाहता है। उच्च सामाजिक श्रेणियों और वर्गों में वह 'हैव-नॉट्स' में से है, 'हैव्स' में से नहीं। जिस बात पर वह सोचना चाहता है, जिस स्थिति पर सोचने के लिए उसे मजबूर होना पड़ता है, उसके प्रति उसका दृष्टिकोण घनघोर व्यक्तिवादी स्थिति से लगाकर तो अविकसित मार्क्सवादी स्थिति तक फैला हुआ है। समाज उसका गला दबाता है, उसका अपना वर्ग भी उसकी आवाज़ को कुण्ठित करता है। समाज में पुरानापन है, दक़ियानूसी है, जड़ता है और कुचलने की शक्ति है। व्यक्ति इससे विद्रोह करता है, परन्तु विद्रोह करने का तरीक़ा उसे नहीं मालूम। इसलिए मात्र भावनात्मक विस्फोट करके वह रह जाता है। बौद्धिक लक्ष्यानुगामी होने के कारण, उसके विद्रोह में प्रगतिवादी फूत्कार नहीं आ पाते। वह कला-तत्त्व से अधिक सचेतन है, किन्तु अपने उदग्र और दमित भावना-मण्डल की यथातथ्यता को प्रकट करने के लिए उसके पास केवल छायावादी शब्दावली है, जिसका प्रयोग वह नहीं चाहता। उसके अनुसार छायावादी शब्द छायावादी भाव को ही प्रकट करते हैं। वे नये मनोवैज्ञानिक यथार्थ को प्रकट नहीं करते।

इस धारणा का परिणाम यह हुआ कि कविता को वैचारिक गद्य का जामा पहनाया जाने लगा। समाज में सामंजस्य के अभाव के फलस्वरूप तथा उसके विरुद्ध उसमें प्रखर बौद्धिक व्यक्तिवाद का विकास हुआ। कुछ लोगों में अन्तर्मुखी चेतना उदित हुई तो कुछ में बहिर्मुखी। चेतना अधिक यथार्थोन्मुख हुई, चाहे वह

न्तअर्मुखी हो या वहिर्मुखी। कुछ में बाह्य चित्र प्रधान हुए, कुछ में अन्तश्चित्र। यह स्वाभाविक ही था कि इस खेमे के कुछ लोग आगे चलकर मार्क्सवादी होते। नवीन यथार्थोन्मुख (यथार्थ से मतलव हमेशा बाहरी यथार्थ ही नहीं होता) प्रतीक, उपमाएँ समाने आयीं। घिसी-घिसाई शब्दावली का त्याग हुआ।

किन्तु शिक्षित समाज की अभिरुचि छायावादी ही थी। उनके लिए पीड़ा का अर्थ रोमैण्टिक या आध्यात्मिक ही था। यह स्वाभाविक ही था कि उन्हें ये कविताएँ पसन्द न आतीं। आगे चलकर ये ही छायावादी तबक़े और उनके समर्थक प्रशंसक, स्वाधीनता के उपरान्त, साहित्य तथा समाज के प्रभावशाली पदों और स्थानों पर जा पहुँचे। उन्होंने पर्याप्त रूप से ऐसा वातावरण घनीभूत किया जिसमें इस नवीन प्रवृत्ति का कण्ठरोध हो। किन्तु प्रयोगवादी प्रवृत्ति ऐतिहासिक कारणों से ही उत्पन्न हुई थी, उसी से उसका विकास भी हुआ और हो रहा है। इसलिए वह सामयिक विरोधों से दव नहीं सकती थी। **दूसरा सप्तक** के प्रकाशन के साथ ही, हिन्दी की विद्वान्-मण्डली का ध्यान इसकी ओर गया, और तव से प्रयोगवाद चर्चा का विषय वना हुआ है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि **तार सप्तक** और **दूसरा सप्तक** में स्थिति तथा व्यक्ति का वहुत वड़ा भेद है। **दूसरा सप्तक** वालों को अच्छी परिस्थितियाँ मिली थीं। साथ ही, तव तक **तार सप्तक** वाले भी काफ़ी आगे बढ़ चुके थे। इसलिए जिन प्रश्नों को लेकर **तार सप्तक** वाले आगे बढ़े उन प्रश्नों को लेकर **दूसरा सप्तक** वाले नहीं। **तार सप्तक** वालों की रोमांस-भावना की आयु, वहुत अंशों में, छायावाद में ही बीत चुकी थी। वे अपनी छायावादी अवधि पार कर उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया करते हुए प्रयोगवादी थे। तो **दूसरा सप्तक** वाले अपनी नवीन रोमैण्टिक भावनाएँ लेकर प्रयोगवाद में आये। **तार सप्तक** और **दूसरा सप्तक** में यह एक मौलिक भेद है। व्यक्ति के विकास की दृष्टि से **तार सप्तक** अधिक मज़बूत है, **दूसरा सप्तक** रोमैण्टिक परिधान की दृष्टि से अधिक मनोरम। रोमैण्टिक भावनाएँ जीवन की यथार्थता हैं। मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी दृष्टि से वे, अतएव, प्रयोगवाद के लिए निषिद्ध नहीं ठहरतीं, वशर्ते कि उनकी ओर देखने की दृष्टि कुहरिल न हो।

कोई भी नयी साहित्यिक प्रवृत्ति अपनी प्रारम्भिक अवस्था में अनगढ़ होती ही है। किन्तु हिन्दी में केवल उसके कमज़ोर उदाहरणों को लेकर ही उस पर आक्रमण किया गया। उसकी शक्ति नहीं परखी गयी। यह इस बात का सबूत है कि वर्तमान आलोचक, जिनमें प्रगतिवादी और छायावादी शामिल हैं, जीवन के नये मोड़ों की साहित्यिक अभिव्यक्ति का आकलन नहीं कर सकते, न्याय की बात ही नहीं उठती।

हमें साहित्यिक माप-जोख दो दृष्टियों से करनी चाहिए। एक, रूप की दृष्टि से; दूसरे, वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से। वस्तु-तत्त्व में इतनी शक्ति होती है कि वह स्वयं अपने रूप को लेकर आता है। अतएव, मुख्यतः, हमारे लिए वस्तु-तत्त्व

प्रधान हो जाता है। प्रश्न यह है कि क्या प्रयोगवाद का आज तक का विकास ऐसा है कि जो हमारी जनता के मुख्य लक्ष्यों को अग्रसर कर सके? अथवा, क्या उससे यह आशा हो सकती है? मेरा अपना मत यह है कि अभी तक प्रयोगवादी कवियों में यह विशाल चेतना नहीं आ पायी है जिसे हम महत्त्व देते हैं। कुछ कवि तो मात्र मानसिक प्रत्याघातों का चित्रण करके ही चुप रह जाते हैं। अन्यों ने कुछ महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये हैं। इनको देखकर यह आशा होती है कि आगे चलकर नये कवि अपने विशाल उत्तरदायित्वों का निर्वाह अधिक सफलतापूर्वक कर सकेंगे।

[सम्भावित रचनाकाल 1952-59। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित]

मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का एक पहलू

मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता है कि कबीर और निर्गुण पन्थ के अन्य कवि तथा दक्षिण के कुछ महाराष्ट्रीय सन्त तुलसीदासजी की अपेक्षा अधिक आधुनिक क्यों लगते हैं? क्या कारण है कि हिन्दी-क्षेत्र में जो सबसे अधिक धार्मिक रूप से कट्टर वर्ग है, उनमें भी तुलसीदासजी इतने लोकप्रिय हैं कि, उनकी भावनाओं और वैचारिक अस्त्रों द्वारा, वह वर्ग आज भी आधुनिक दृष्टि और भावनाओं से संघर्ष करता रहता है? समाज के पारिवारिक क्षेत्र में इस कट्टरपन को अब नये पंख भी फूटने लगे हैं। खैर, लेकिन यह इतिहास दूसरा है। मूल प्रश्न जो मैंने उठाया है उसका कुछ-न-कुछ मूल उत्तर तो है ही।

मैं यह समझता हूँ कि किसी भी साहित्य का ठीक-ठीक विश्लेषण तब तक नहीं हो सकता जब तक हम उस युग की मूल गतिमान सामाजिक शक्तियों से बननेवाले सांस्कृतिक इतिहास को ठीक-ठीक न जान लें। कबीर हमें आपेक्षिक रूप से आधुनिक क्यों लगते हैं, इस मूल प्रश्न का मूल उत्तर भी उसी सांस्कृतिक इतिहास में कहीं छिपा हुआ है। जहाँ तक महाराष्ट्र की सन्त-परम्परा का प्रश्न है, यह निर्विवाद है कि मराठी सन्त-कवि, प्रमुखतः, दो वर्गों से आये हैं, एक ब्राह्मण और दूसरे ब्राह्मणेतर। इन दो प्रकार के सन्त-कवियों के मानव-धर्म में बहुत कुछ समानता होते हुए भी, दृष्टि और रुझान का भेद भी था। ब्राह्मणेतर सन्त-कवि की काव्य-भावना अधिक जनतन्त्रात्मक, सर्वांगीण और मानवीय थी। निचली जातियों की आत्म-प्रस्थापना के उस युग में, कट्टर पुराणपन्थियों ने जो-जो तकलीफ़ें इन सन्तों को दी हैं, उनसे ज्ञानेश्वर-जैसे प्रचण्ड प्रतिभावान सन्त का

जीवन अत्यन्त करुण कष्टमय और भयंकर दृढ़ हो गया। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ **ज्ञानेश्वरी** तीन सौ वर्षों तक छिपा रहा। उक्त ग्रन्थ की कीर्ति का इतिहास तो तब से शुरू होता है जब वह पुनः प्राप्त हुआ। यह स्पष्ट ही है कि समाज के कट्टरपन्थियों ने इन सन्तों को अत्यन्त कष्ट दिया। इन कष्टों का क्या कारण था? और ऐसी क्या बात हुई कि जिस कारण निम्न जातियाँ अपने सन्तों को लेकर राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में कूद पड़ीं?

मुश्किल यह है कि भारत के सामाजिक-आर्थिक विकास के सुसम्बद्ध इतिहास के लिए आवश्यक सामग्री का बड़ा अभाव है। हिन्दू इतिहास लिखते नहीं थे, मुस्लिम लेखक घटनाओं का ही वर्णन करते थे। इतिहास-लेखन पर्याप्त आधुनिक है। शान्तिनिकेतन के तथा अन्य पण्डितों ने भारत के सांस्कृतिक इतिहास के क्षेत्र में बहुत अन्वेषण किये हैं। किन्तु सामाजिक-आर्थिक विकास के इतिहास के क्षेत्र में अभी तक कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं हुआ है।

ऐसी स्थिति में हम कुछ सर्वसम्मत तथ्यों को ही आपके सामने प्रस्तुत करेंगे।

(1) भक्ति-आन्दोलन दक्षिण भारत से आया। समाज की धर्मशास्त्रवादी, वेद-उपनिषद्वादी शक्तियों ने उसे प्रस्तुत नहीं किया, वरन् आलवार सन्तों ने और उनके प्रभाव में रहनेवाले जनसाधारण ने उसका प्रसार किया।

(2) ग्यारहवीं सदी से महाराष्ट्र की ग़रीब जनता में भक्ति-आन्दोलन का प्रभाव अत्यधिक हुआ। राजनैतिक दृष्टि से, यह जनता हिन्दू-मुस्लिम दोनों प्रकार के सामन्ती उच्चवर्गीयों से पीड़ित रही। सन्तों की व्यापक मानवतावादी वाणी ने उन्हें बल दिया। कीर्तन-गायन ने उनके जीवन में रस-संचार किया। ज्ञानेश्वर, तुकाराम आदि सन्तों ने ग़रीब किसान और अन्य जनता का मार्ग प्रशस्त किया। इस सांस्कृतिक आत्म-प्रस्थापना के उपरान्त सिर्फ़ एक और क़दम की आवश्यकता थी।

वह समय भी शीघ्र ही आया। ग़रीब उद्धत किसान तथा अन्य जनता को अपना एक और सन्त, रामदास, मिला, और एक नेता प्राप्त हुआ, शिवाजी। इस युग में राजनैतिक रूप से महाराष्ट्र का जन्म और विकास हुआ। शिवाजी के समस्त छापेमार युद्धों के सेनापति और सैनिक समाज के शोषित तबक़ों से आये। आगे का इतिहास आपको मालूम ही है—किस प्रकार सामन्तवाद टूटा नहीं, किसानों की पीड़ाएँ वैसी ही रहीं, शिवाजी के उपरान्त राजसत्ता उच्च वंशोत्पन्न ब्राह्मणों के हाथ पहुँची, पेशवाओं (जिन्हें मराठे भी जाना जाता रहा) ने किस प्रकार के युद्ध किये और वे अंग्रेज़ों के विरुद्ध क्यों असफल रहे, इत्यादि।

(3) उच्चवर्गीयों और निम्नवर्गीयों का संघर्ष बहुत पुराना है। यह संघर्ष निस्सन्देह धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक क्षेत्र में अनेकों रूपों में प्रकट हुआ। सिद्धों और नाथ-सम्प्रदाय के लोगों ने जनसाधारण में अपना पर्याप्त प्रभाव रखा, किन्तु भक्ति-आन्दोलन का जनसाधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आन्दोलन का नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने सन्त पैदा किये, अपना

साहित्य और अपने गीत सृजित किये। कबीर, रैदास, नाभा सिपी, सेना नाई, आदि-आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द की। समाज के ध्वस्त-स्वार्थवादी वर्ग के विरुद्ध नया विचारवाद अवश्यम्भावी था। वह हुआ, तकलीफ़ें हुईं। लेकिन एक बात हो गयी।

शिवाजी स्वयं मराठा क्षत्रिय था। किन्तु भक्ति-आन्दोलन से, जाग्रत जनता के कष्टों से, खूब परिचित था, और स्वयं एक कुशल संगठक और वीर सेनाध्यक्ष था। सन्त रामदास, जिसका उसे आशीर्वाद प्राप्त था, स्वयं सनातनी ब्राह्मणवादी था, किन्तु नवीन जाग्रत जनता की शक्ति से खूब परिचित भी था। सन्त से अधिक वह स्वयं एक सामन्ती राष्ट्रवादी नेता था। तब तक कट्टरपन्थी शोषक तत्त्वों में यह भावना पैदा हो गयी थी कि निम्नजातीय सन्तों से भेदभाव अच्छा नहीं है। अब ब्राह्मण-शक्तियाँ स्वयं उन्हीं सन्तों का कीर्तन-गायन करने लगीं। किन्तु इस कीर्तन-गायन के द्वारा वे उस समाज की रचना को, जो जातिवाद पर आधारित थी, मजबूत करती जा रही थीं। एक प्रकार से उन्होंने अपनी परिस्थिति से समझौता कर लिया था। दूसरे, भक्ति-आन्दोलन के प्रधान सन्देश से प्रेरणा प्राप्त करनेवाले लोग ब्राह्मणों में भी होने लगे थे। रामदास, एक प्रकार से, ब्राह्मणों में से आये हुए अन्तिम सन्त हैं, इसके पहले एकनाथ हो चुके थे। कहने का सारांश यह कि नवीन परिस्थिति में यद्यपि युद्ध-सत्ता (राजसत्ता) शोषित और ग़रीब तबक़ों से आये हुए सेनाध्यक्षों के पास थी, किन्तु सामाजिक क्षेत्र में पुराने सामन्तवादियों और नये सामन्तवादियों में समझौता हो गया था। नये सामन्तवादी कुनबियों, धनगरों, मराठों और अन्य ग़रीब जातियों से आये हुए सेनाध्यक्ष थे। इस समझौते का फल यह हुआ कि पेशवा ब्राह्मण हुए, किन्तु युद्ध-सत्ता नवीन सामन्तवादियों के हाथ में रही।

उधर सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में निम्नवर्गीय भक्तिमार्ग के जनवादी सन्देश के दाँत उखाड़ लिये गये। उन सन्तों को सर्ववर्गीय मान्यता प्राप्त हुई, किन्तु उनके सन्देश के मूल स्वरूप पर कुठाराघात किया गया, और जातिवादी पुराणधर्म पुनः निःशंक भाव से प्रतिष्ठित हुआ।

(4) उत्तर भारत में निर्गुणवादी भक्ति-आन्दोलन में शोषित जनता का सबसे बड़ा हाथ था। कबीर, रैदास, आदि सन्तों की बानियों का सन्देश, तत्कालीन मानों के अनुसार, बहुत अधिक क्रान्तिकारी था। यह आकस्मिकता न थी कि चण्डीदास कह उठता है :

> शुनह मानुष भाई,
> शबार ऊपरे मानुष शत्तो
> ताहार उपरे नाई।

इस मनुष्य-सत्य की घोषणा के क्रान्तिकारी अभिप्राय कबीर में प्रकट हुए। कुरीतियों, धार्मिक अन्धविश्वासों और जातिवाद के विरुद्ध कबीर ने आवाज़ उठायी। वह फैली। निम्न जातियों में आत्मविश्वास पैदा हुआ। उनमें आत्म-

गौरव का भाव हुआ। समाज की शासक-सत्ता को यह कब अच्छा लगता? निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का प्रारम्भिक प्रसार और विकास उच्चवंशियों में हुआ। निर्गुण मत के विरुद्ध सगुणमत का संघर्ष निम्न वर्गों के विरुद्ध उच्च-वंशीय संस्कारशील अभिरुचिवालों का संघर्ष था। सगुण मत विजयी हुआ। उसका प्रारम्भिक विकास कृष्णभक्ति के रूप में हुआ। यह कृष्णभक्ति कई अर्थों में निम्नवर्गीय भक्ति-आन्दोलन से प्रभावित थी। उच्चवर्गीयों का एक भावुक तबक़ा भक्ति-आन्दोलन से हमेशा प्रभावित होता रहा, चाहे वह दक्षिण भारत में हो या उत्तर भारत में। इस कृष्णभक्ति में जातिवाद के विरुद्ध कई बातें थीं। वह एक प्रकार से भावावेशी व्यक्तिवाद था। इसी कारण, महाराष्ट्र में, निर्गुण मत के बजाय निम्न-वर्ग में, सगुण मत ही अधिक फैला। सन्त तुकाराम का विठोबा एक सार्वजनिक कृष्ण था। कृष्णभक्तिवाली मीरा 'लोकलाज' छोड़ चुकी थी। सूर कृष्ण-प्रेम में विभोर थे। निम्नवर्गीयों में कृष्णभक्ति के प्रचार के लिए पर्याप्त अवकाश था, जैसा महाराष्ट्र की सन्त परम्परा का इतिहास बतलाता है। उत्तर भारत में कृष्णभक्ति-शाखा का निर्गुण मत के विरुद्ध जैसा संघर्ष हुआ वैसा महा-राष्ट्र में नहीं रहा। महाराष्ट्र में कृष्ण की शृंगार-भक्ति नहीं थी, न भ्रमरगीतों का ज़ोर था। कृष्ण एक तारणकर्ता देवता था, जो अपने भक्तों का उद्धार करता था, चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो। महाराष्ट्रीय सगुण कृष्णभक्ति में शृंगारभावना, और निर्गुण भक्ति, इन दो के बीच कोई संघर्ष नहीं था। उधर उत्तर भारत में, नन्ददास वगैरह कृष्णभक्तिवादी सन्तों की निर्गुण मत-विरोधी भावना स्पष्ट ही है। और ये सब लोग उच्चकुलोद्भव थे। यद्यपि उत्तर भारतीय कृष्णभक्तिवाले कवि उच्चवंशीय थे, और निर्गुण मत से उनका सीधा संघर्ष भी था, किन्तु हिन्दू समाज के मूलाधार यानी वर्णाश्रम-धर्म के विरोधियों के जातिवाद-विरोधी विचारों पर सीधी चोट नहीं की थी। किन्तु उत्तर भारतीय भक्ति-आन्दोलन पर उनका प्रभाव निर्णायक रहा।

एक बार भक्ति-आन्दोलन में ब्राह्मणों का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर नहीं थी। ये घोषणा तुलसीदासजी ने की थी। निर्गुण मत में निम्नजातीय धार्मिक जनवाद का पूरा ज़ोर था, उसका क्रान्तिकारी सन्देश था। कृष्णभक्ति में वह बिलकुल कम हो गया, किन्तु फिर भी निम्नजातीय प्रभाव अभी भी पर्याप्त था। तुलसीदास ने भी निम्नजातीय भक्ति स्वीकार की, किन्तु उसको अपना सामाजिक दायरा बतला दिया। निर्गुण मतवाद के जनोन्मुख रूप और उसकी क्रान्तिकारी जातिवाद-विरोधी भूमिका के विरुद्ध तुलसीदासजी ने पुराण-मतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया। निर्गुण-मतवादियों का ईश्वर एक था, किन्तु अब तुलसीदासजी के मनोजगत् में परब्रह्म के निर्गुण-स्वरूप के बावजूद सगुण ईश्वर ने सारा समाज और उसकी व्यवस्था—जो जातिवाद, वर्णाश्रम धर्म पर आधारित थी—उत्पन्न की। राम निषाद और गुह का आलिंगन कर सकते थे, किन्तु निषाद और गुह ब्राह्मण का अपमान कैसे कर सकते थे।

दार्शनिक क्षेत्र का निर्गुण मत जब व्यावहारिक रूप से ज्ञानमार्गी भक्तिमार्ग बना, तो उसमें पुराण-मतवाद को स्थान नहीं था। कृष्णभक्ति के द्वारा पौराणिक कथाएँ घुसीं, पुराणों ने रामभक्ति के रूप में आगे चलकर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा की।

साधारण जनों के लिए कबीर का सदाचारवाद तुलसी के सन्देश से अधिक क्रान्तिकारी था। तुलसी को भक्ति का यह मूल तत्त्व तो स्वीकार करना ही पड़ा कि राम के सामने सब बराबर हैं, किन्तु चूँकि राम ही ने सारा समाज उत्पन्न किया है, इसलिए वर्णाश्रम धर्म और जातिवाद को तो मानना ही होगा। पं. रामचन्द्र शुक्ल जो निर्गुण मत को कोसते हैं, वह यों ही नहीं। इसके पीछे उनकी सारी पुराण-मतवादी चेतना बोलती है।

क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि रामभक्ति-शाखा के अन्तर्गत, एक भी प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण कवि निम्नजातीय शूद्र वर्गों से नहीं आया? क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि कृष्णभक्ति-शाखा के अन्तर्गत रसखान और रहीम-जैसे हृदयवान मुसलमान कवि बराबर रहे आये, किन्तु रामभक्ति-शाखा के अन्तर्गत एक भी मुसलमान और शूद्र कवि प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण रूप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विशद नहीं कर सका? जब कि यह एक स्वतःसिद्ध बात है कि निर्गुण-शाखा के अन्तर्गत ऐसे लोगों को अच्छा स्थान प्राप्त था।

निष्कर्ष यह कि जो भक्ति-आन्दोलन जनसाधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध जनसाधारण की सांस्कृतिक आशा-आकांक्षाएँ बोलती थीं, उसका 'मनुष्य-सत्य' बोलता था, उसी भक्ति-आन्दोलन को उच्चवर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया, और उससे समझौता करके, फिर उस पर अपना प्रभाव क़ायम करके, और अनन्तर जनता के अपने तत्त्वों को उनमें से निकालकर, उन्होंने उस पर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

और इस प्रकार, उच्चवंशी उच्चजातीय वर्गों का—समाज के संचालक शासक वर्गों का—धार्मिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर, साहित्यिक क्षेत्र में उन वर्गों का प्रधान भाव—शृंगार-विलास—का प्रभावशाली विकास हुआ, और भक्ति-काव्य की प्रधानता जाती रही। क्या कारण है कि तुलसीदास भक्ति-आन्दोलन के प्रधान (हिन्दी क्षेत्र में) अन्तिम कवि थे? सांस्कृतिक-साहित्यिक क्षेत्र में यह परिवर्तन भक्ति-आन्दोलन की शिथिलता को द्योतित करता है। किन्तु वह आन्दोलन इस क्षेत्र में शिथिल क्यों हुआ?

ईसाई मत का भी यही हाल हुआ। ईसा का मत जनसाधारण में फैला तो यहूदी धनिक वर्गों ने उसका विरोध किया, रोमन शासकों ने उसका विरोध किया। किन्तु जब वह जनता का अपना धर्म बनने लगा, तो धनिक यहूदी और रोमन लोग भी उसको स्वीकार करने लगे। रोमन शासक ईसाई हुए और सेंट पॉल ने उसी भावुक प्रेममूलक धर्म को क़ानूनी शिकंजों में जकड़ लिया, पोप जनता से फ़ीस लेकर पापों और अपराधों के लिए क्षमापत्र वितरित करने लगा।

यदि हम धर्मों के इतिहास को देखें, तो यह जरूर पायेंगे कि तत्कालीन जनता की दुरवस्था के विरुद्ध उसने घोषणा की, जनता को एकता और समानता के सूत्र में बाँधने की कोशिश की। किन्तु ज्यों-ज्यों उस धर्म में पुराने शासकों की प्रवृत्ति-वाले लोग घुसते गये और उनका प्रभाव जमता गया, उतना-उतना गरीब जनता का पक्ष न केवल कमजोर होता गया, वरन् उसको अन्त में उच्चवर्गों की दासता—धार्मिक दासता—भी फिर से ग्रहण करनी पड़ी।

क्या कारण है कि निर्गुण-मतवादी जातिवाद-विरोधी आन्दोलन सफल नहीं हो सका? उसका मूल कारण यह है कि भारत में पुरानी समाज-रचना को समाप्त करनेवाली पूँजीवादी क्रान्तिकारी शक्तियाँ उन दिनों विकसित नहीं हुई थीं। भारतीय स्वदेशी पूँजीवाद के अभाव में भौतिक-वास्तविक भूमिका विदेशी पूँजीवादी साम्राज्यवाद ने अदा की। विदेशी पूँजीवाद के विकास के साथ ही भारतीय पूँजीवाद का, मजदूर और मध्यवर्ग का जन्म हुआ, और उसने सामन्ती समाज-रचना के मूल आर्थिक आधार, यानी पेशेवर जातियों द्वारा ग्रामीण उत्पादन की प्रणाली-व्यवस्था तोड़ दी। गाँवों की पंचायती व्यवस्था टूट गयी। ग्रामों की आर्थिक आत्मनिर्भरता समाप्त हो गयी।

भक्तिकाल की मूल भावना-साधारण जनता के कष्ट और पीड़ा से उत्पन्न है। यद्यपि पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कहना ठीक है कि भक्ति की धारा बहुत पहले से उद्गत होती रही, और उसकी पूर्वभूमिका बहुत पूर्व से तैयार होती रही। किन्तु उनके द्वारा निकाला गया यह तर्क ठीक नहीं मालूम होता कि मध्ययुगीन भक्तों की भावना में जनता के सांसारिक कष्टों के तत्त्व नहीं हैं। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन में हमें पर्याप्त सत्य मालूम होता है कि भक्ति-आन्दोलन का एक मूल कारण जनता का कष्ट है। किन्तु पण्डित शुक्ल ने इन कष्टों के मुस्लिम-विरोधी और हिन्दू-राजसत्ता के पक्षपाती जो अभिप्राय निकाले हैं, वे उचित नहीं मालूम होते। असल बात यह है कि मुसलमान सन्त-मत भी उसी तरह कट्टरपन्थियों के विरुद्ध था, जितना कि भक्ति-मार्ग। दोनों एक-दूसरे से प्रभावित भी थे। किन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि भक्ति-भावना की तीव्र आर्द्रता और सारे दुःखों और कष्टों के परिहार के लिए ईश्वर की पुकार के पीछे जनता की भयानक दुःस्थिति छिपी हुई थी। यहाँ यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि यह बात साधारण जनता और उसमें से निकले हुए सन्तों की है, चाहे वे ब्राह्मण वर्ग से निकले हों या ब्राह्मणेतर वर्ग से। साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि शृंगार-भक्ति का रूप उसी वर्ग में सर्वाधिक प्रचलित हुआ जहाँ ऐसी शृंगार-भावना के परिपोष के लिए पर्याप्त अवकाश और साधन था, फुरसत का समय। भक्ति-आन्दोलन का आविर्भाव, एक ऐतिहासिक-सामाजिक शक्ति के रूप में, जनता के दुःखों और कष्टों से हुआ, यह निर्विवाद है।

किसी भी साहित्य को हमें तीन दृष्टियों से देखना चाहिए। एक तो यह कि वह किन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों से उत्पन्न है, अर्थात् वह किन शक्तियों के कार्यों का परिणाम है, किन सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग है? दूसरे यह कि उसका अन्तःस्वरूप क्या है, किन प्रेरणाओं और भावनाओं ने उसके आन्तरिक तत्त्व रूपायित किये हैं? तीसरे, उसके प्रभाव क्या हैं, किन सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरुपयोग किया है और क्यों? साधारण जन के किन मानसिक तत्त्वों को उसने विकसित या नष्ट किया है?

तुलसीदासजी के सम्बन्ध में इस प्रकार के प्रश्न अत्यन्त आवश्यक भी हैं। रामचरितमानसकार एक सच्चे सन्त थे, इसमें किसी को भी कोई सन्देह नहीं हो सकता। रामचरितमानस साधारण जनता में भी उतना ही प्रिय रहा जितना कि उच्चवर्गीय लोगों में। कट्टरपन्थियों ने अपने उद्देश्यों के अनुसार तुलसीदासजी का उपयोग किया, जिस प्रकार आज जनसंघ और हिन्दू महासभा ने शिवाजी और रामदास का उपयोग किया। सुधारवादियों की तथा आज की भी एक पीढ़ी को तुलसीदासजी के वैचारिक प्रभाव से संघर्ष करना पड़ा, यह भी एक बड़ा सत्य है।

किन्तु साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि साधारण जनता ने राम को अपना त्राणकर्ता भी पाया, गुह और निषाद को अपनी छाती से लगानेवाला भी पाया। एक तरह से जनसाधारण की भक्ति-भावना के भीतर समाये हुए समान प्रेम का आग्रह भी पूरा हुआ, किन्तु वह सामाजिक ऊँच-नीच को स्वीकार करके ही। राम के चरित्र द्वारा और तुलसीदासजी के आदेशों द्वारा सदाचार का रास्ता भी मिला। किन्तु वह मार्ग कबीर के और अन्य निर्गुणवादियों के सदाचार का जनवादी रास्ता नहीं था। सचाई और ईमानदारी, प्रेम और सहानुभूति से ज़्यादा बड़ा तकाज़ा था सामाजिक रीतियों का पालन। (देखिये, रामायण में अनुसूया द्वारा सीता को उपदेश)। उन रीतियों और आदेशों का पालन करते हुए, और उसकी सीमा में रहकर ही, मनुष्य के उद्धार का रास्ता था। यद्यपि यह कहना कठिन है कि किस हद तक तुलसीदासजी इन आदेशों का पालन करवाना चाहते थे और किस हद तक नहीं। यह तो स्पष्ट है ही कि उनका झुकाव किस ओर था। तुलसीदासजी द्वारा इस वर्णाश्रम धर्म की पुनः-स्थापना के अनन्तर हिन्दी साहित्य में फिर से कोई महान् भक्त-कवि नहीं हुआ तो इसमें आश्चर्य नहीं।

आश्चर्य की बात यह है कि आजकल प्रगतिवादी क्षेत्रों में तुलसीदास के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, उसमें जिस सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया के तुलसीदासजी अंग थे, उनको जान-बूझकर भुलाया गया है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल की वर्णाश्रमधर्मी जातिवादग्रस्त सामाजिकता और सच्चे जनवाद को एक-दूसरे से ऐसे मिला दिया गया है मानो शुक्लजी (जिनके प्रति हमारे मन में अत्यन्त आदर है) सच्ची जनवादी सामाजिकता के पक्षपाती हों। तुलसीदासजी को पुरातनवादी कहा जायेगा कबीर की तुलना में, जिनके विरुद्ध शुक्लजी ने चोटें की हैं।

दूसरे, जो लोग शोषित निम्नवर्गीय जातियों के साहित्यिक और सांस्कृतिक

सन्देश में दिलचस्पी रखते हैं, और उस सन्देश के प्रगतिशील तत्त्वों के प्रति आदर रखते हैं, वे लोग तो यह ज़रूर देखेंगे कि जनता की सामाजिक मुक्ति को किस हद तक किसने सहारा दिया और तुलसीदासजी का उसमें कितना योग रहा। चाहे श्री रामविलास शर्मा-जैसे 'मार्क्सवादी' आलोचक हमें 'वल्गर मार्क्सवादी' या वूर्ज्वा कहें, यह वात निस्सन्देह है कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से मध्ययुगीन भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक शक्तियों के विश्लेषण के विना, तुलसीदासजी के साहित्य के अन्तःस्वरूप का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। जहाँ तक **रामचरितमानस** की काव्यगत सफलताओं का प्रश्न है, हम उनके सम्मुख केवल इसलिए नतमस्तक नहीं हैं कि उसमें श्रेष्ठ कला के दर्शन होते हैं, वल्कि इसलिए कि उसमें उक्त मानव-चरित्र के, भव्य और मनोहर व्यक्तित्व-सत्ता के, भी दर्शन होते हैं। तुलसीदासजी की **रामायण** पढ़ते हुए, हम एक अत्यन्त महान् व्यक्तित्व की छाया में रहकर अपने मन और हृदय का आप-ही-आप विस्तार करने लगते हैं। और जव हम कवीर आदि महान् जनोन्मुख कवियों का सन्देश देखते हैं, तो हम उनके रहस्यवाद से भी मुँह मोड़ना चाहते हैं। हम उस रहस्यवाद के समाजशास्त्रीय अध्ययन में दिलचस्पी रखते हैं, और यह कहना चाहते हैं कि निर्गुण मत की सीमाएँ तत्कालीन विचारधारा की सीमाएँ थीं, जनता का पक्ष लेकर जहाँ तक जाया जा सकता था, वहाँ तक जाना हुआ। निम्नजातीय वर्गों के इस सांस्कृतिक योग की अपनी सीमाएँ थीं। ये सीमाएँ उन वर्गों की राजनैतिक चेतना की सीमाएँ थीं। आधुनिक अर्थों में, वे वर्ग कभी जागरूक सामाजिक-राजनैतिक संघर्ष-पथ पर अग्रसर नहीं हुए। इसका कारण क्या है, यह विषय यहाँ अप्रस्तुत है। केवल इतना ही कहना उपयुक्त होगा कि इस संघर्षहीनता के अभाव का मूल कारण भारत की सामन्तयुगीन सामाजिक-आर्थिक रचना में है। दूसरे, जहाँ ये संघर्ष करते-से दिखायी दिये, वहाँ उन्होंने एक नये सामन्ती शासक वर्ग को ही दृढ़ किया, जैसा कि महाराष्ट्र में हुआ।

प्रस्तुत विचारों के प्रधान निष्कर्ष ये हैं: (1) निम्नवर्गीय भक्ति-भावना एक सामाजिक परिस्थिति में उत्पन्न हुई और दूसरी सामाजिक स्थिति में परिणत हुई। महाराष्ट्र में उसने एक राष्ट्रीय ज़ाति खड़ी कर दी, सिख एक नवीन जाति वन गये। इन जातियों ने तत्कालीन सर्वोत्तम शासक वर्गों से मोर्चा लिया। भक्ति-कालीन सन्तों के विना महाराष्ट्रीय भावना की कल्पना नहीं की जा सकती, न सिख गुरुओं के विना सिख जाति की। सारांश यह कि भक्ति-भावना के राजनैतिक गर्भितार्थ थे। ये राजनैतिक गर्भितार्थ तत्कालीन सामन्ती शोषक वर्गों और उनकी विचारधारा के समर्थकों के विरुद्ध थे।

(2) इस भक्ति-आन्दोलन के प्रारम्भिक चरण में निम्नवर्गीय तत्त्व सर्वाधिक सक्षम और प्रभावशाली थे। दक्षिण भारत के कट्टरपन्थी तत्त्व, जो कि तत्कालीन हिन्दू सामन्ती वर्गों के समर्थक थे, इस निम्नवर्गीय सांस्कृतिक जन-चेतना के एकदम विरुद्ध थे। वे उन पर तरह-तरह के अत्याचार भी करते रहे।

मुस्लिम तत्त्वों ने मार खाकर भी, हिन्दू सामन्ती वर्ग, उनसे समझौता करने की विवशता स्वीकार कर, उनसे एक प्रकार से मिले हुए थे। उत्तर भारत में हिन्दुओं के कई वर्गों का पेशा ही मुस्लिम वर्गों की सेवा करना था। अकबर ही पहला शासक था, जिसने तत्कालीन तथ्यों के आधार पर खुलकर हिन्दू सामन्तों का स्वागत किया।

उत्तरप्रदेश तथा दिल्ली के आस-पास के क्षेत्रों में हिन्दू सामन्ती तत्त्व मुसलमान सामन्ती तत्त्वों से छिटककर नहीं रह सके। लूट-पाट, नोच-खसोट के उस युग में, जनता की आर्थिक-सामाजिक दुःस्थिति गम्भीर थी। निम्नवर्गीय जातियों के सन्तों की निर्गुण-वाणी का, तत्कालीन मानों के अनुसार, क्रान्तिकारी सुधारवादी स्वर, अपनी सामाजिक स्थिति के विरुद्ध क्षोभ, और अपने लिए अधिक मानवोचित परिस्थिति की आवश्यकता बतलाता था। भक्तिकाल की निम्नवर्गीय चेतना के सांस्कृतिक स्तर अपने-अपने सन्त पैदा करने लगे। हिन्दू-मुस्लिम सामन्ती तत्त्वों के शोषण-शासन और कट्टरपन्थी दृढ़ता से प्रेरित हिन्दू-मुस्लिम जनता भक्ति-मार्ग पर चल पड़ी थी, चाहे वह किसी भी नाम से क्यों न हो। निम्नवर्गीय भक्ति-मार्ग निर्गुण-भक्ति के रूप में प्रस्फुटित हुआ। इस निर्गुण-भक्ति में तत्कालीन सामन्तवाद-विरोधी तत्त्व सर्वाधिक थे। किन्तु तत्कालीन समाज-रचना के कट्टर पक्षपाती तत्त्वों में से बहुतेरे भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव में आ गये थे। इनमें से बहुत-से भद्र सामन्ती परिवारों में से थे। निर्गुण भक्ति की उदारवादी और सुधारवादी सांस्कृतिक विचारधारा का उन पर भी प्रभाव हुआ। उन पर भी प्रभाव तो हुआ, किन्तु आगे चलकर उन्होंने भी भक्ति-आन्दोलन को प्रभावित किया। अपने कट्टरपन्थी पुराणमतवादी संस्कारों से प्रेरित होकर, उत्तर भारत की कृष्णभक्ति, भावावेशवादी आत्मवाद को लिये हुए, निर्गुण मत के विरुद्ध संघर्ष करने लगी। इस सगुण मत में उच्चवर्गीय तत्त्वों का पर्याप्त से अधिक समावेश था। किन्तु फिर भी इस सगुण शृंगारप्रधान भक्ति की इतनी हिम्मत नहीं थी कि वह जाति-विरोधी सुधारवादी वाणी के विरुद्ध प्रत्यक्ष और प्रकट रूप से वर्णाश्रम धर्म के सार्वभौम औचित्य की घोषणा करे। कृष्णभक्ति-वादी सूर आदि सन्त-कवि इन्हीं वर्गों से आये थे। इन कवियों ने भ्रमरगीतों द्वारा निर्गुण मत से संघर्ष किया और सगुणवाद की प्रस्थापना की। वर्णाश्रम धर्म की पुनःस्थापना के लिए सिर्फ एक ही क़दम आगे बढ़ना ज़रूरी था। तुलसीदासजी के अदम्य व्यक्तित्व ने इस कार्य को पूरा कर दिया। इस प्रकार भक्ति-आन्दोलन, जिस पर प्रारम्भ में निम्नजातियों का सर्वाधिक ज़ोर था, उस पर अब ब्राह्मणवाद पूरी तरह छा गया और सुधारवाद के विरुद्ध पुराण मतवाद की विजय हुई। इसमें दिल्ली के आस-पास के क्षेत्र तथा उत्तरप्रदेश के हिन्दू-मुस्लिम सामन्ती तत्त्व एक थे। यद्यपि हिन्दू मुसलमानों के अधीन थे, किन्तु दुःख और खेद से ही क्यों न सही, यह विवशता उन्होंने स्वीकार कर ली थी। इन हिन्दू सामन्त तत्त्वों की सांस्कृतिक क्षेत्र में अब पूरी विजय हो गयी थी।

(3) महाराष्ट्र में इस प्रक्रिया ने कुछ और रूप लिया। जन-सन्तों ने अप्रत्यक्ष रूप से महाराष्ट्र को जाग्रत और सचेत किया, रामदास और शिवाजी ने प्रत्यक्ष रूप से नवीन राष्ट्रीय जाति को जन्म दिया। किन्तु तब तक ब्राह्मणवादियों और जनता के वर्ग से आये हुए प्रभावशाली सेनाध्यक्षों और सन्तों में एक-दूसरे के लिए काफ़ी उदारता बतलायी जाने लगी। शिवाजी के उपरान्त, जनता के ग़रीब वर्गों से आये हुए सेनाध्यक्षों और नेताओं ने नये सामन्ती घराने स्थापित किये। नतीजा यह हुआ कि पेशवाओं के काल में ब्राह्मणवाद फिर ज़ोरदार हो गया। कहने का सारांश यह कि महाराष्ट्र में वही हाल हुआ जो उत्तरप्रदेश में। अन्तर यह था कि निम्नजातीय सांस्कृतिक चेतना जिसे पल-पल पर कट्टरपन्थ से मुकाबला करना पड़ा था, वह उत्तर भारत से अधिक दीर्घकाल तक रही। पेशवाओं के काल में दोनों की स्थिति बराबर-बराबर रही। किन्तु आगे चलकर, अंग्रेज़ी राजनीति के ज़माने में, पुराने संघर्षों की यादें दुहरायी गयीं, और 'ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरवाद' का पुनर्जन्म और विकास हुआ। और इस समय भी लगभग वही स्थिति है। फ़र्क़ इतना ही है कि निम्नजातियों के पिछड़े हुए लोग शिड्यूल्ड कास्ट फ़ेडरेशन में हैं, और अग्रगामी लोग कांग्रेस, पेज़ेन्टस ऐण्ड वर्कर्स पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी तथा अन्य वामपक्षी दलों में शामिल हो गये हैं। आखिर जब इन्हीं जातियों में से पुराने ज़माने में सन्त आ सकते थे, आगे चलकर सेनाध्यक्ष निकल सकते थे, तो अब राजनैतिक विचारक और नेता क्यों नहीं निकल सकते?

(4) सामन्तवादी काल में इन जातियों को सफलता प्राप्त नहीं हो सकती थी, जब तक कि पूँजीवादी समाज-रचना सामन्ती समाज-रचना को समाप्त न कर देती। किन्तु सच्ची आर्थिक-सामाजिक समानता तब तक प्राप्त नहीं हो सकती, जब तक कि समाज आर्थिक-सामाजिक आधार पर वर्गहीन न हो जाये।

(5) किसी भी साहित्य का वास्तविक विश्लेषण हम तब तक नहीं कर सकते, जब तक कि हम उन गतिमान सामाजिक शक्तियों को नहीं समझते, जिन्होंने मनोवैज्ञानिक-सांस्कृतिक धरातल पर आत्मप्रकटीकरण किया है। कबीर, तुलसीदास, आदि सन्तों के अध्ययन के लिए यह सर्वाधिक आवश्यक है। मैं इस ओर प्रगतिवादी क्षेत्रों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

[नयी दिशा, मई 1955 में प्रकाशित। **नयी कविता का आत्म-संघर्ष** में संकलित]

नयी कविता : एक दायित्व

नये कवियों के सामने आज जितनी समस्याएँ प्रस्तुत हुई हैं, उतनी कदाचित् उनके पूर्वजों और अग्रजों के सामने न थीं। उन समस्याओं के बारे में सोचना नये लेखक की एक मजबूरी हो गयी है। उसके सामने ये समस्याएँ किताबी ढंग से पेश नहीं होतीं, वरन् संवेदनाओं का इतिहास बनकर उसके सामने ये महत्त्वपूर्ण हो उठती हैं। इन संवेदनाओं के कार्य-कारणों के विश्लेषण की ओर उसकी दृष्टि जाना स्वाभाविक ही है। ये कार्य-कारण जिन क्षेत्रों के अंगभूत होते हैं, उन क्षेत्रों के तत्त्व-रूप से ही उन समस्याओं का स्वरूप-निर्धारण होता है। संवेदना के स्तर पर ये समस्याएँ भले ही अनेकानेक रूप-निर्धारण करें, और मात्र मनोवैज्ञानिक या व्यक्तिगत कहलायें, असल में उस स्थिति का उद्घाटन करती हैं जिसमें मनुष्य चाहता एक है,और दुनिया देती और कुछ है। साधारण मनुष्य सल्तनत नहीं चाहता। मनुष्य की स्वाभाविक गरिमा के अनुरोधों के अनुसार वह जीवन चाहता है, और उस जीवन की आवश्यकताएँ पूरी हो जाने की स्थिति चाहता है। लेखक इस साधारण मनुष्य से अधिक असाधारण नहीं है (अपवादों को छोड़कर)। आज की दुनिया में बैठा हुआ आज का मनुष्य, विरोधी अनुकूल अथवा भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ करता हुआ, जिस ढंग से अपने जगत् से सन्तुलन अथवा असन्तुलन स्थापित करता चलता है, वह ढंग उसकी संवेदनाओं के इतिहास की शैली बनकर, उसके चरित्र और व्यक्तित्व का निर्माण या संहार करता हुआ, उसके जीवन को एक विशेष प्रकार का रूपाकार, एक विशेष प्रकार का डिज़ाइन, देता चलता है।

निश्चय ही, व्यक्ति द्वारा प्राप्त सामंजस्य को एक दृष्टि से असन्तुलन और दूसरी दृष्टि से सन्तुलन कहा जा सकता है। असल में, वह आस-पास के जगत् से, अपनी स्थिति से, विशेष प्रकार का सामंजस्य, सन्तुलन और असन्तुलन दोनों को एक साथ अपने में धारण किये हुए है। बात थोड़ी स्पष्ट की जाये। एक व्यक्ति बदलते हुए समाज के भीतर नये मानवतावादी मूल्यों से संचालित होकर अपने आस-पास के जगत् और उसके प्रवाहों से विशेष प्रकार का सामंजस्य स्थापित किये हुए है। किन्तु, उसी जगत् का एक पक्ष और एक धारा ऐसी है जो उस व्यक्ति द्वारा प्राप्त इस प्रकार के सामंजस्य को न केवल हीन-दृष्टि से देखती है, वरन् प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, दोनों ही तरीक़ों से उस व्यक्ति की तत्सम्बन्धित सत्ता को समाप्त करने की ओर अग्रसर होती है—भले ही इस सक्रिय विरोध के उसके अपने तरीक़े मीठे और सुसंस्कृत से लेकर अभद्र और कठोरतम रहें। फलतः, व्यक्ति का सन्तुलन यदि एक पक्ष से है, तो उसका दूसरे पक्ष से असन्तुलन अनिवार्य ही नहीं, वह कभी-कभी प्राकृत हो उठता है। यदि व्यक्ति का नये मूल्यों के लिए आग्रह बहुत ही भीतरी और चरित्रगत हुआ तो फिर कहना ही क्या! फिर तो उसके भौतिक और मानसिक जीवन में चिन्ता, आशंका और अशान्ति ही समझिये।

मुश्किल यह है कि उसका यह विरोधी पक्ष घर-आँगन, परिवार-रिश्तेदार, दोस्त-अहबाब, सभा-सोसाइटी, समाज-राजनीति तक ही सीमित नहीं रहता, वरन् उसके अपने मन के भीतर भी वह अनेक प्रकार की द्विधाएँ, और नये और पुराने के बीच के अनेकानेक मानसिक द्वन्द्व, उत्पन्न करता है।

यह आन्तरिक द्वन्द्व, वस्तुतः, बहुत बार उसके भीतर नयी आवश्यकताओं के अनुसार व्यक्तित्व के नये रूपायन के अनुरोधों और पुराने मूल्यों के अनुसार बने हुए आन्तरिक चरित्र, के बीच द्वन्द्व होता है। पुराने मूल्यों और नये मूल्यों का आन्तरिक संघर्ष कहाँ तक सफल होता है, यह व्यक्ति की अपनी तेजस्विता और आत्मबल पर निर्भर है। यह द्वन्द्व सबमें समान रूप से तीव्र ही हो, यह आवश्यक नहीं। लोग संघर्ष के अलग-अलग स्तरों तक पहुँचकर रुक जाते हैं। नतीजा यह होता है कि कुछ पुराने मूल्य साथ-साथ चले चलते हैं, और कुछ नये मूल्य आत्मसात् हो जाते हैं। उनकी भीतरी टक्कर के अलावा वास्तविक बाह्य जीवन में भी टक्कर हो उठती है। इस टक्कर को टाला नहीं जा सकता। जो लोग आत्म-सन्तुष्टिपूर्वक समाज से सामंजस्य की बात करते हैं, उनकी ज़िन्दगी में ज़रा घुसकर देखने से पता चलता है कि उन्होंने कितना और कैसा सामंजस्य प्राप्त कर लिया है। असल में, वह [सच्चा] सामंजस्य न होकर शिष्ट समाज की गोल-मोल सतही आव-भगत से अपनी गोल-मोल सतही सामाजिक भद्रता का सामंजस्य होता है। वह सामंजस्य यश और शिश्नोदर की लिप्सा में पड़े हुए मनुष्य का आत्मछल मात्र है।

नये मूल्यों का जन्म नयी परिस्थितियों की सार्वजनिकता से होता है। मूल्य मूर्त्त होते हैं, जो, केवल भावुक और वैचारिक धरातल पर 'मूल्य' कहलाकर, वस्तुतः, व्यक्तित्व का गुण (वर्च्यू) बनने का प्रयास करते रहते हैं। नयी परि-स्थितियाँ जब व्यक्तित्व को इष्ट दिशा में सम्पूर्ण रूप से मोड़ देती हैं—अपने तक़ाज़ों की पूर्ति के लिए आवश्यक कार्यों की शक्ति जब व्यक्तित्व में पैदा कर देती हैं, यानी उस परिस्थिति के लिए आवश्यक गुणों का जन्म और विकास जब उस व्यक्तित्व में हो जाता है—तब वे मूल्य साकार हो उठते हैं। मूल्यों को जन्म देने-वाली ये परिस्थितियाँ अपनी सार्वजनिकता में ऐतिहासिक होती हैं। अतएव वे मूल्य भी ऐतिहासिक हो जाते हैं।

मध्यवर्गीय परिवारों के क्षेत्र में, पारिवारिक उत्तरदायित्व की सुघर सामा-जिकता और शिष्ट समाज में अपने यश की सुघर वैयक्तिकता महत्त्वपूर्ण होती है। फलतः, पारिवारिक उत्तरदायित्व के सुघर निर्वाह का संघर्ष, और शिष्ट समाज में यश प्राप्त करने का संघर्ष, महत्त्वपूर्ण हो उठता है। इस उत्तरदायित्व का सुघर निर्वाह किस ढंग, किस प्रणाली और किस रीति से हो रहा है, यह महत्त्वपूर्ण नहीं होता, जितनी कि यह बात कि ख्याति मिल रही है, कि यह उत्तरदायित्व पारि-वारिकों को उत्तम रीति का जीवन प्रदान कर रहा है, और यह कि अपने सुघर-सुन्दर जीवन द्वारा वह शिष्ट समाज का यशोभागी है। नतीजा यह होता है कि

मध्यवर्ग की केवल आत्म-वंचनाओं का ही सृजन नहीं होता, वरन् उस तथाकथित यश और उत्तरदायित्व की पूर्ति के मार्ग में व्यक्ति को अनेकों झूठे समझौते करने पड़ते हैं।

भारत की पूरी ऐतिहासिक स्थिति ही ऐसी है कि ग़रीब वर्ग अधिकाधिक ग़रीब होते जा रहे हैं और धनी वर्ग अधिकाधिक श्रीमान। मध्यवर्ग की खाती-पीती शिष्ट श्रेणी और उसी वर्ग की ग़रीब श्रेणी के बीच भयानक खाई पड़ी हुई है, जो दिन-ब-दिन बढ़ती जाती है। ये ग़रीब श्रेणी अब इस नतीजे पर पहुँच रही है कि उनका पूरा उद्धार सभी ग़रीब वर्गों की मुक्ति के साथ है, उनसे अलग हटकर नहीं। प्राइमरी पाठशालाओं के शिक्षकों और बालकों, ग़रीब परिवारों, आफ़िसों के छोटे-छोटे क्लर्कों से लेकर तो इसी वर्ग से उपजे हुए अनेक बुद्धिजीवियों, डॉक्टरों और वकीलों तक में यह बात घर करके बैठ गयी है। निस्सन्देह, इस वर्ग में से बहुतेरे ऐसे हैं जो व्यक्तिगत लाभ की लालसा में औरों की राह में बाधा बनकर स्वयं महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, या आपेक्षिक ऊँची जगह पर पहुँच जाते हैं। किन्तु उनका स्वयं का वर्ग (ग़रीब श्रेणी) उनका स्वागत नहीं करता। फलतः, उच्च वर्गों के प्रति अविश्वास, घृणा, तिरस्कार और क्षोभ, साथ ही, अपने वर्ग की दुःस्थिति में पड़े हुए लोगों की सहायता, प्रेम तथा नये आदर्शों का स्वप्न, और अपनी दुःस्थिति के प्रति उग्र प्रतिक्रिया और विक्षोभ—इस ग़रीब मध्यवर्ग के स्थायी भावों में से हैं। इस वर्ग से उत्पन्न और इस वर्ग से तदाकार लेखक अपनी परिस्थितियों से जूझता हुआ उन्हीं भाव-स्थितियों को व्यक्तिगत धरातल पर प्रकट करता है जो उस वर्ग की अपनी होती हैं। लेखक की ये भाव-स्थितियाँ अपनी श्रेणी की परिस्थितियों की पेचीदगियों से पैदा हुए विविध तनावों से उत्पन्न होती हैं।

ये तनाव ऐतिहासिक तनाव हैं—ऐतिहासिक इस दृष्टि से कि समाज के भीतर चलनेवाली परिवर्तन-प्रक्रियाओं का वे महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इन तनावों का मर्म समझना, उनको उनके वास्तविक सन्दर्भ में देकर संवेदनात्मक ज्ञान के हार्दिक माध्यम द्वारा काव्य में (अथवा उपन्यास आदि में) प्रकट करना, लेखक का ऐतिहासिक कार्य है।

यह निश्चित है कि ग़रीब श्रेणी के परिवारों में भी, (1) सामन्ती प्रभाव, (2) व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादी नयी पीढ़ी, [और] (3) पुरानी और नयी पीढ़ी को अपने अजगर-पाश में बाँधनेवाली एक-सी दुःस्थितियाँ होने के कारण, नये मूल्यों का संघर्ष पेचीदा हो जाता है। सचेत और भावुक जिज्ञासु और कार्यशील नया लड़का अपनी व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादी वृत्ति द्वारा सामन्ती प्रभावों से जूझता हुआ भी, अपने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की वृत्ति को इतना अमानवीय रूप से तीखा नहीं कर सकता कि जिससे वे दुःस्थितियाँ और भी घनीभूत हो जायें। समाज की विषमता का ज्ञान उस लड़के को प्रारम्भ से ही एक वेदना के रूप में प्राप्त हो जाता है। अपने स्कूली जीवन में ही वह सीख जाता है कि ऊनी कोट पहनकर आनेवाला विद्यार्थी और फटा कुर्ता पहनकर विद्याध्ययन करनेवाला विद्यार्थी, इन दोनों की

अलग-अलग श्रेणियाँ हैं, जिनके भाव-समुदाय और मनोवैज्ञानिक तत्त्व अलग-अलग हैं। किन्तु साथ ही, जीवन के अधिकाधिक अनुभव के फलस्वरूप, उसकी संवेदनात्मक ज्ञान-क्षमता गहरी और विस्तीर्ण होती है। फलतः वह यह पाता है कि केवल सामन्ती प्रभाव ही (जिससे जूझने के कारण उसके स्नेह-सम्बन्ध तोड़े-मरोड़े गये हैं), परिवार के अन्दर-बाहर उसकी परिस्थिति खराब होने का एकमात्र मूल कारण नहीं हैं, वरन् उसके मूल में और भी एक तथ्य है। जिसे धन यानी आर्थिक क्षमता और तज्जन्य और तदनुषंगी सामाजिक प्रतिष्ठा कहा जाता है, जिसे समाज में जीवन की 'सफलता' (घोषित या अघोषित रूप से) कहा जाता है, परिवार के अन्दर उसी की दृष्टि से और उसी आधार पर ऊँच-नीच की कल्पना, सफलता-असफलता की कल्पना घर किये बैठती है। समाज के अन्दर [उसे] अपनी आजीविका के संघर्ष के अतिरिक्त, सामाजिक प्रतिष्ठान के मनोविज्ञान से, सफलता-असफलता की कल्पना के मनोविज्ञान से, जूझना पड़ता है। इसका पर्यवसान उसके आस-पास के समाज से न केवल असामंजस्य में होता है, वरन् इस कारण विभिन्न व्यक्तित्व-चरित्रों से परस्पर-आघात-प्रत्याघात द्वारा उसका स्वयं का मन भी अन्तर्मुख होता जाता है। उसे प्रतीत होता रहता है कि साधारणजनों के मानवीय अनुरोधों का पुंज, इन्हीं सामन्ती प्रभाव-पुंजों [के] और व्यक्तिगत पद-प्रतिष्ठा-लोभों और आर्थिक क्षमता की वृद्धि की कला के चमत्कारों के, एकदम विरुद्ध है। जितना-जितना उसका अनुभव बढ़ता जाता है, वह इस नतीजे पर पहुँचता है कि व्यक्तिगत आर्थिक क्षमता और सामाजिक पद-प्रतिष्ठा के पुजारियों का कार्य इस बात का प्रमाण है कि हमारा समाज निकृष्ट क़िस्म के इस सिद्धान्त पर आधारित है कि 'प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने लिए, दूसरों को चूल्हे में जाने दो।' इस सिद्धान्त की पुष्टि उसका अपना अनुभव, अपना जीवन करता है। अनुभव-ज्ञान के अधिकाधिक विकास के साथ उसे यह भी दिखायी देने लगता है कि वर्तमान समाज-प्रणाली दूषित है, पूँजीवादी है। चाहे जितने लोग उसे सुधारने का प्रयत्न करें, इस समाज के मूलाधार को बदले बिना वह नहीं सुधर सकती।

किन्तु इस ज्ञान तक आते-आते तनावों की दुनिया में रहनेवाला व्यक्ति अपनी आधी शारीरिक और मानसिक शक्ति खो देता है। पच्चीस वर्ष की आयु होने के बाद, जब नयी आशा और नये उत्साह की रचनात्मक आवश्यकता होती है, तब वह वृद्ध हो जाता है। आजीविका का संघर्ष उसे पछाड़ देता है। स्नेह की भूख उसे दबा देती है। ज्ञान की पिपासा जाग्रत होते हुए भी, उसके साधन उसके पास नहीं होते। इसलिए उसके स्थायी भाव क्षोभ, घृणा, अविश्वास, तिरस्कार [रहते हैं,] और साथ ही, स्नेह-सम्बन्धों के निर्वाह का अनुरोध, अपने व्यक्तिगत संघर्ष को सामाजिक संघर्ष में बदलने की लालसा, और तत्सम्बन्धी जिज्ञासा पैदा हो जाती है। वह भावुक से अब बौद्धिक होने लगता है।

इस असामंजस्य के अतिरिक्त उसका सामंजस्य भी बहुत बड़ा होता है। उसके आस-पास उसके समानधर्मा और समशील नवयुवकों की अनेक पंक्तियाँ

होती हैं, जिनसे उसे प्रेरणा, सहानुभूति, जीने की और काम कर दिखाने की शक्ति प्राप्त होती है—भले ही उसके काम प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं के कालमों में न दिखायी दें। नतीजा यह होता है कि 'मनुष्य-सत्य' का जो अर्थ वह लेता है, 'मानवीयता' का जो अर्थ उसके द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह अर्थ निश्चय ही अन्य उच्च वर्गों द्वारा लिये गये अर्थ से बहुत कुछ भिन्न होता है।

सामंजस्य फलप्रद करने की यह प्रक्रिया अपने तईं काफ़ी कठिन होती है। जिन लोगों से उसका सामंजस्य होता है, वे उसकी-जैसी ही तनावों की दुनिया में रहनेवाले लोग होते हैं। उनके पास मूल साधनों की ही कमी होती है। जीविकोपार्जन स्वयं एक बड़ी कठिन समस्या हो जाती है। किन्तु, उन्हें सबसे बड़ी सुविधा यह होती है कि स्वयं की जीवन-स्थिति के कारण ही वे ग़रीब वर्ग के एक भाग होते हैं, इसलिए उनकी मनोदशाएँ वे अधिक समझते हैं, और उन सामाजिक प्रक्रियाओं की उन्हें अधिक जानकारी होती है जो उन ग़रीब वर्गों में चलती रहती हैं। दूसरे, स्वयं पढ़े-लिखे और सांस्कृतिक क्षेत्र में होने के कारण, वे प्रगति की अद्यावत् प्रवृत्तियों को आत्मसात् किये रहते हैं।

अपने साहित्य की जीवन-भूमि में ऐसे लोग मुख्यतः तीन बातें अर्जित करते हैं: (1) व्यक्तिगत संघर्ष को सामाजिक संघर्ष में बदलने की प्रक्रिया, और सामाजिक संघर्ष में व्यक्तिगत संघर्ष का महत्त्व।

(2) नये मानवतावादी मूल्यों के लिए किये जानेवाले संघर्ष में चरित्र का महत्त्व ('चरित्र' का यहाँ साधारण अर्थ नहीं लिया जा रहा है, अज्ञान भी चरित्र का अंग है), वैज्ञानिक विचारधारा का महत्त्व, जिस पर उसकी विश्व-दृष्टि आधारित है, विश्व-दृष्टि के विकास का महत्त्व—इस विश्व-दृष्टि में चरित्र की मानवीय मनोहरता और सुदृढ़ता भी सम्मिलित है। इस चरित्र में मानवीय सुकुमार गुणों का समन्वय तो हो ही, साथ ही उसमें समाज के अन्दर दुष्प्रभावों से उत्पन्न धारणाओं के विरुद्ध अपनी सत्ता स्थापित करने की प्रवृत्ति भी हो। वैचारिक आकर्षण में चरित्र का आकर्षण भी सम्मिलित है, इसलिए कि विचार यथार्थ की वेदनाओं से प्रसूत हैं, वे संवेदनात्मक ज्ञान-क्षमता के हार्दिक माध्यम से उत्पन्न हुए हैं।

(3) अनुभवजन्य तथा विचारजन्य ज्ञान की प्राप्ति का अनुरोध होता है कि ज्ञान-प्राप्तिकर्ता का चरित्र भी उस ज्ञान द्वारा निश्चित किये गये मानदण्डों और कार्यों की पूर्ति करे। सारांशतः, व्यक्तित्व को अब ऐसे गुणों की आवश्यकता होती है जो नये मानवीय मूल्यों की नयी-नयी मंजिलों तक पहुँचने के संघर्ष में टिकने के लिए उसे सक्रिय सहायता कर सकें, उसे जीवन-ज्ञान की गहराई दे सकें, और उस ज्ञान के कार्यात्मक तक़ाज़ों की पूर्ति के लिए आवश्यक हार्दिक, बौद्धिक और कार्यात्मक क्षमता प्रदान कर सकें।

किन्तु इस पूरे विकास के लिए व्यक्ति को एक-से-एक भयानक तनावों की राहों से गुजरना पड़ता है। बैठकर प्रोफ़ेसरी करनेवाला व्यक्ति चार अख़बार

पढ़कर गप लगा सकता है, अमेरिका और रूस [के बारे में] दून की हाँक सकता है, लेकिन समाज की गलियों में रहनेवालों के संघर्ष के मनोविज्ञान को वह क़तई नहीं समझ सकता।

इस पूरे संघर्ष में, भीतरी व्यक्तित्व को ख़ूब चोटें पहुँचती हैं, दिल और दिमाग़ में तनावों के कारण उसकी शारीरिक और मानसिक शक्ति बहुत ज़्यादा खर्च हो जाती है। इस संघर्ष में, उसके हार्दिक स्नेह-सम्बन्ध, जिनके बिना वह जी नहीं सकता, काफ़ी तोड़े-मरोड़े गये होते हैं। हार्दिक सम्बन्धों में टूट-फूट की नुकसान-भरपाई हो ही जाये, यह आवश्यक नहीं होता। उसे हृदय-सम्बन्धी सहायता की ज़रूरत महसूस होती रहती है। जीविका-सम्बन्धी प्रश्न सनातन हो जाता है। बिना आर्थिक क्षमता के, वह पारिवारिक स्नेह की जीवन-सम्बन्धी कार्यगत आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर सकता।

इस प्रकार, एक ओर उसके जीवन में सहकारियों, सहयोगियों और सहानुभवियों का बल होता है, नये अनुभव से प्राप्त संवेदनात्मक ज्ञान-क्षमता होती है, तो दूसरी ओर, विशुद्ध व्यक्तिगत क्षेत्र में वह 'असफल' (सांसारिक दृष्टि से) है। किन्तु सबसे बड़ा बल प्रेरणा का उन्मेष है, व्यापक भावनाओं को अनुभव करने की हार्दिक क्षमता और सामाजिक विकास में योग देने की वृत्ति और कार्य [है,] जिसका सम्बल उसे सहारा देता रहता है।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि अपने विकास में इस श्रेणी के व्यक्ति की दो प्रतिक्रियाएँ परिलक्षित होती हैं। एक, सामन्ती प्रभावों और प्रतिच्छायाओं के विरुद्ध व्यक्ति-स्वातन्त्र्य भावना से संचालित प्रतिक्रियाएँ; दूसरी, आर्थिक-सामाजिक व्यक्तिवाद के विरुद्ध, यानी तदनुषंगी समस्त विकृतियों के विरुद्ध, (चाहे वे समाज-रचना से सम्बन्धित हों या व्यक्ति से) मानव-मुक्ति और मानव-गरिमा की भावना से संचालित प्रतिक्रियाएँ।

इन दोनों भावनाओं द्वारा संचालित प्रतिक्रियाएँ, जो ग़रीब वर्ग के किसी लेखक को अपने व्यक्तित्व के अंग के रूप में प्राप्त होती हैं, उसे संघर्षों और तनावों की दुनिया में प्राकृत रूप से पहुँचा देती हैं। ये संघर्ष और तनाव बहुधा उसे अन्तर्मुख बना देते हैं, और दुखी हुई आत्मा के आत्मनिवेदन की वृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं। दूसरे, ये संघर्ष की सीमा में ही घिरे नहीं रहते, किन्तु इन दो उपर्युक्त वृत्तियों और परिस्थिति की पेचीदगियों की भावना के मिले-जुले रूप में भी प्रकट होते हैं। कभी वे आत्मद्वन्द्व का रूप लेते हैं, कभी बाहरी यथार्थ को मोड़ने की आकांक्षा बनते हैं, तो कभी मात्र निराशा का पुंज बन जाते हैं। किन्तु, वस्तुतः, ये संघर्षों और तनावों से उत्पन्न विभिन्न सम्मिश्र भाव-स्थितियाँ ही हैं।

इस श्रेणी के कवियों के लिए, नयी कविता का जन्म संघर्षों और तनावों से उत्पन्न विभिन्न भाव-स्थितियों से हुआ है।

साहित्य की वास्तविक जीवन-भूमि (जो इन्होंने पायी है), वस्तुतः, उनकी कविता से अधिक सम्पन्न गरिमामय, वैविध्यपूर्ण और नये मूल्यों से समन्वित है।

किन्तु, नयी कविता तो तनावों के मनोविज्ञान को भी पूर्णत: बिम्बित नहीं कर पाती। संवेदनात्मक ज्ञान-क्षमता और अनुभव-सामर्थ्य की श्री से स्वयं सम्पन्न होते हुए भी लेखक तनावों के अत्यन्त लघु, अत्यन्त अल्प क्षेत्र को ही कविता में प्रतिबिम्बित कर पाता है। यहाँ तक कि नये मूल्यों के क्षेत्र में उसने स्वयं जो ईमानदार संघर्ष किया है, उनकी गूँज ही कहीं-कहीं प्रकट होती है, न कि इस संघर्ष के वस्तु-तत्त्वों (जिनमें मनोवैज्ञानिक तत्त्व प्रधान रूप से शामिल हैं) का मानसिक चित्र। यहाँ तक कि वास्तविक जीवन में महान् भावनाएँ, जो मूर्त्त होती हैं और बराबर अनुभव की जाती हैं (वह लेखक का मानव-सामर्थ्य है), नयी कविता में बिम्बित नहीं हो पातीं। कहीं-कहीं, इधर-उधर, ऐसी मानसिक प्रतिक्रियाओं के खण्ड-चित्र दिखायी देते हैं। किन्तु तनावों के विस्तार-चित्र, जिनमें जीवन के सामान्यीकरणों के लिए गुंजाइश हो, मुझे तो कम-से-कम नहीं-से दिखायी दिये। मतलब यह है कि इस श्रेणी के लेखकों में से बहुतेरों में (जिनमें नम्रतावश नहीं, वास्तविकतावश, मैं भी अपने को शामिल करता हूँ) कहीं-न-कहीं अटकाव जरूर है, जिसका निदान आवश्यक है।

इसका एक कारण, जो मुझे सूझ पड़ता है, यह है कि कविता ऐसे लोगों के लिए 'प्राइवेट' चीज हो गयी है—प्राइवेट इस अर्थ में कि अपने वास्तविक जीवन में किये हुए वास्तविक संघर्ष, और उसके दौरान में प्राप्त अनुभव, और अनुभूत महान् भावना की वास्तविकताएँ, और पायी हुई दृष्टि, उसको इतना हर्षोत्फुल्ल या प्रेरणामय नहीं करतीं, जितना कि संघर्ष में शक्ति के अतिव्यय से उत्पन्न थकान और क्षोभ उसे किसी 'मात्र अपने' से आत्मनिवेदन करने की ओर प्रोत्साहित करते हैं। फल यह होता है कि यद्यपि आत्मनिवेदन कवितामय हो जाता है, लेखक अपने व्यक्तित्व को अप्रत्यक्षत: विकृत रूप से देखने लगता है—यानी जहाँ तक कि उस लिखित कविता का क्षेत्र है। अर्थात्, वह अपने भीतर के मानव-सामर्थ्य की ऊँचाइयों के प्रति कला के क्षेत्र में अनुत्तरदायी व्यवहार करता है। यह क्रिया इस बात का भी संकेत है कि लेखक के व्यक्तित्व-चरित्र में एक खाई है, एक दीवार है। दीवार इसलिए कि वस्तुत: जिस प्रकार की स्थिति और जीवन वह अपने लिए चाहता है (उसका चाहना नि:सन्देह अत्यन्त मानवोचित है), वह न मिलने पर (वह सबको मिलना, सामान्यत:, असम्भव भी है, जब तक कि समाज-स्थिति ही आमूल बदल न जाये और सबको वैसी जीवन-स्थिति न मिले) वह न केवल दुखी है, वरन् उन इच्छाओं से इतना लिपटा हुआ है कि उसके काव्य के लिए तज्जन्य दुःख ही महत्त्वपूर्ण है, न कि उसके स्वयं किये हुए संघर्ष, न कि उसके अपने ज्योतिर्मान अनुभव, न कि उसकी अपनी महान् भावना, जो चाहे समाज-उन्नति के कार्य में आत्मत्व और मैत्री की हो या प्रगाढ़ स्नेह की, जबकि वस्तुत: उसने ये बातें अनुभव की हैं। अपने व्यक्तित्व को देखने के उसके दृष्टि-विकार का एक कारण यह है कि उसके जीवन-मूल्यों के प्रति उसकी वफादारिता में कमी है, और यह कमी बहुत बड़ी है। यह कमी उसके सामर्थ्य को भी कम करती है, यहाँ तक कि उसके अपने

अनुभवों, उसकी अपनी गहन व्यापक भावनाओं, उसके अपने संघर्षों, के मानवैतिहासिक महत्त्व को उचित रूप से आँक नहीं पाती। मैं जानता हूँ कि मेरे इस कथन के अपवाद भी बताये जा सकते हैं। किन्तु, वे अपवाद, अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, मेरे उपर्युक्त सामान्यीकरण के लिए ऐसे प्रधान नहीं हैं कि वह सामान्यीकरण भंग हो सके।

इसका एक दूसरा पक्ष भी है। वह है, बढ़-चढ़कर बात करने की अयथार्थ आत्मश्लाघामयी अहंवादी प्रवृत्ति। यह प्रवृत्ति तथाकथित प्रगतिवाद के जोशीले उद्गारों में भी दिखायी देती है। इस प्रवृत्ति से हानि बहुत अधिक हुई है। 'हम यह कर देंगे, वह कर देंगे, दुनिया के तख्ते को पलट देंगे' वाले कवि महान् राजनैतिक भावनाओं के वस्तुपरक, वस्तु-सत्यात्मक, यथार्थ चित्रण से अछूते रहे हैं—जो राजनैतिक जीवन के राजनैतिक संघर्ष में प्राप्त अप्रतिम हृदय-विस्तार के रूप में वास्तविक जीवन में हमें प्राप्त होती हैं। खेद है कि मानव-मुक्ति की राजनीति की महान् मनुष्यता का विश्वदर्शी काव्य हिन्दी में नहीं आ सका है। इसके विपरीत, जो मिला 'उसमें काव्य का खरापन' भी बहुत हद तक उपेक्षित होने लगा। बढ़-चढ़कर बात करने का ढोल काव्य-संघर्ष की वास्तविक अनुभवात्मक ऊँचाइयों की छाया भी नहीं छू सका।

उधर, नयी कविता के (इस श्रेणी के) लेखकों में, अपने अनुभव की साक्षात् जीवन-भूमि होने, रहने और बढ़ने के बावजूद, अपने ही उत्कट प्रयासों और पराजयों के कारणों की खोज की भावनाओं, जिज्ञासाओं और पुन: प्रयासों की वास्तविकताओं के बावजूद, काव्य में जो आया, जो उतरा वह केवल मानसिक प्रतिक्रिया के खण्ड-चित्र ही हैं। तनाव-भरे जीवन के व्यापक मनोवैज्ञानिक और तथ्यात्मक सामान्यीकरणों का उसमें अभाव-सा है।

इसके विपरीत, जिस व्यक्ति में लक्ष्य के प्रति, श्रेष्ठतम जीवन-मूल्यों के प्रति, तदाकारिता कम हुई, या जिसने उसे जिस छोटी हद तक समझा, उतना ही उस लक्ष्य का तक़ाज़ा भी उस पर कम हुआ। उन अनुरोधों की उग्रता की तुलना में व्यक्तित्व की सापेक्ष दुर्बलता की भावना कभी-कभी तीव्र होती है। किन्तु उन आग्रहों की उग्रता कम होने की स्थिति में व्यक्तित्व पर दबाव कम हो जाने से, तथाकथित सन्तुलन और आत्मविश्वास के आभास का जन्म होता है। अपने ही तथाकथित सन्तुलन और आत्मविश्वास के आभास की भाव-स्थिति में, लेखक कभी-कभी अपने सामर्थ्य की डींग-सी मारने लगता है। सारांश, एक ओर, अनुभूत की हुई महान् भावनाओं, विशाल अनुभवों, भव्य करुणार्द्र स्थितियों और अथक जिज्ञासाओं की निश्छल प्रश्नभरी दृष्टियों का (जो उसके जीवन की वास्तविकताओं की एक महत्त्वपूर्ण अंग रही हैं), कोई यथार्थ मनोवैज्ञानिक मानवीय चित्र नहीं उपस्थित किया जाता। उसके विपरीत, व्यक्तित्व पर लक्ष्यों की माँगें कम होने की स्थिति में, छोटी-मोटी सांसारिक सफलताओं के नशे में, लेखक अपने तथाकथित सन्तुलन और आत्मविश्वास के आभास का वृहद् रूप बनाकर कविता

में तथाकथित 'आत्म-स्थापना' करता है। किन्तु पाठकों को या अन्य लेखकों को ऐसी कविता पढ़कर केवल इतना ही प्रतीत होता है कि कवि 'आत्म-प्रस्थापना' के मूड में है। कुल मिलाकर नतीजा यह होता है कि वास्तविक अनुभवित जीवन के साक्षात् मनोवैज्ञानिक वस्तुतत्त्वात्मक चित्र, अपने अभाव में, महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। विशेष वर्ग में रहनेवाले विशेष प्रकार के जीवन में पड़े हुए पूर्ण मनुष्य का मनोवैज्ञानिक चित्रण नहीं हो पाता। स्वयं के द्वारा किये गये जीवन के नये मूल्यों के संघर्ष के अनुभव तो गुहान्धकार में छिप ही जाते हैं, उन दुःस्थितियों को ही संघर्ष का नाम दिया जाता है, जहाँ, वस्तुतः, वहिरागता वाधाएँ और उनकी पीड़ाएँ ही हैं, किन्तु पेचीदगियों की भँवरों में पड़कर (उन्हें मेटने के लिए काफ़ी अक़्ल और धैर्य की आवश्यकता होती है) मन केवल डूवा ही जाता है, उवरता नहीं। यानी कि पीड़ा के सामने प्रयासरहित होने की स्थिति को संघर्ष कहा जाने लगता है। जहाँ संघर्ष है, वस्तुतः, वही संघर्ष है। हर वाधा, मुठभेड़ हुए विना, संघर्ष नहीं हो सकती। जो व्यक्ति, वस्तुतः, अपने संघर्षों के प्रयासों की प्रेरणा में विश्वास करता है, वह आस्थावान होता है। और वह अन्यों की सत्प्रेरणाओं पर भी सहज विश्वास कर लेता है। किन्तु जिसमें ऐसा नहीं होता, वह डींग भले ही मार ले, वह न अपने प्रति आस्थावान होता है, न अन्यों के प्रति। वस्तुतः, मूलतः वह अनास्थाशील व्यक्ति है। नयी कविता में नये मूल्यों के संघर्ष के तनावों के, तथा मानवास्था के, मनोवैज्ञानिक चित्र कितने कम हैं, यह किसी से छुपा नहीं है। दूसरी ओर, उच्चवर्गीय सम्मोहों का काफ़ी प्रभाव नयी कविता पर है। वड़ी-वड़ी राजधानियों में रहनेवाले युवा साहित्यिकों की महत्त्वपूर्ण कृतियों में, सावुन और टॉयलेट के रोमांस से लगाकर तो न जाने किन-किन शृंगारिक वृत्तियों का (शहरी उच्चवर्गीयों की अभिरुचि का) सम्मोह दिखायी देता है।

शृंगार और रोमांस सव जगह हैं और जीवन का एक अंग हैं। विभिन्न वर्गों में ही, प्रेम से सम्वन्धित मनोवैज्ञानिक वस्तु-तत्त्व भी अलग-अलग होते हैं। गोदान की सिलिया का प्रेम, सियाराम की नारी का प्रेम, यशपाल के प्रेम से विलकुल भिन्न है। यशपाल आदि लोग (जिनमें ग़रीव श्रेणी से आये हुए वहुत-से नये कवि भी शामिल हैं) उच्च-मध्यवर्गीय शृंगारिक तथा इतर सम्मोहों में जकड़े हुए हैं। अपनी श्रेणी की कविता को इन फ़ैशनों से वचाना क्या ज़रूरी नहीं है? यह इसी वात को सावित करता है कि उच्च वर्ग के प्रति आसक्त लेखक साधारण श्रेणी की जीवन-भूमि में प्राप्त शृंगार का चित्रण नहीं कर सकते या नहीं करना चाहते। किन्तु वात केवल शृंगार की ही नहीं, विचारों की, दृष्टि की, अभिरुचि की, और मर्मज्ञता की भी है। और, मूलतः, उस संघर्ष को समझने की वात है, जो सिर्फ़ उन्होंने ही नहीं किया है—अर्थात्, जीवन-मूल्यों की वात है। किस प्रकार के जीवन-मूल्य आप प्रस्तुत करना चाहते हैं—उच्च मध्यवर्गीय? या साधारण जन के? इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि कला और तन्त्र के क्षेत्र में उच्च-मध्यवर्गीयों की सफलताओं से अपने लिए नतीजे न निकाले जायें, किन्तु अपनी श्रेणी को

छोड़कर उनके सम्मोहों के वशीभूत तो न हुआ जाय।

इस श्रेणी के सारे लक्ष्यों का समवाय एक ही सूत्र में है। और वह, वस्तुतः, है मानव-मुक्ति, जिसके अन्तर्गत जीवन के सभी पक्ष आ जाते हैं, चाहे वह शृंगार हो या राजनीति। हर पक्ष में मुक्ति का संघर्ष है। कोई भी पक्ष इससे खाली नहीं है। उसमें, रामचन्द्र शुक्ल की शब्दावली में, सत् और असत् का, मंगल और अमंगल का, संघर्ष चला हुआ है—चाहे वह सौन्दर्य का क्षेत्र क्यों न हो। इस संघर्ष के द्वन्द्वों को पहचानना, उनके मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का चित्रण करना, क्या नयी कविता का, नये साहित्य का, कर्त्तव्य नहीं है? काव्य में नये जीवन-मूल्यों की संस्थापना के लिए हमें प्रयास करना ही होगा, यह निस्सन्देह है।

अन्त में, एक स्पष्टीकरण करना और ज़रूरी है। मैंने साधारण वर्ग के मनुष्य की ही ऊँचाइयों को ध्यान में रखा है। मेरा यह खयाल है कि उसमें अनेक निचाइयों के बावजूद, ऊँचाइयाँ हैं। अनेक निचाइयों के बावजूद, उसी तरह, एक ईमानदार लेखक में भी ऊँचाइयाँ हैं। मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि आत्मगत और बहिर्गत यथार्थ को यथार्थ दृष्टि से ही देखा जाना ज़रूरी है।

[**नयी दिशा**, अक्टूबर 1955 में प्रकाशित। **नयी कविता का आत्मसंघर्ष** में संकलित]

नयी कविता और आधुनिक भाव-बोध

बहुत दिनों से हिन्दी साहित्य में नयी कविता होती चली आयी है। विगत दो दशाब्दियों से हिन्दी कविता ने जो नया रंग पकड़ा है, उससे घबराकर बहुतों ने अलग-अलग कोणों से उसका विरोध भी किया। किन्तु आज यह प्रकट सत्य है कि नयी कविता को साहित्य के मैदान से कोई भी नहीं हटा सकता। जिस समय वह साहित्य के मैदान से हटती नज़र आयेगी, तब यह देखा जायेगा कि भिन्न और नवीन प्रकार की काव्याभिरुचि और भिन्न और नवीन प्रकार की काव्यधारा उसका स्थान ले रही है। किन्तु, इस समय कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता कि नयी कविता का पद और प्रभाव क्षीण हो रहा है।

'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' पुस्तक में यह निबन्ध 'छायावाद और नयी कविता-2' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था।—सं०

पिछले बीस-पच्चीस वर्षों के भीतर नयी काव्य-प्रवृत्ति अनेक विकास-चरणों को पार करती हुई यहाँ तक आ पहुँची है। उसके भीतर अनेक शैलियाँ, अनेक भाव-धाराएँ, और अनेक वैचारिक दृष्टियाँ काम कर रही हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य और स्नेह-भावना से लेकर तो सभ्यता-समीक्षा तक, जो-जो भाव-श्रेणियाँ सम्भव हो सकती हैं, वे सब उसमें हैं। गीत और छन्दोबद्ध कविता से लेकर पद्याभास गद्य तक उसमें सम्मिलित हैं। दुर्भाग्य की बात केवल यह है कि उसके जो विरोधी समीक्षक हैं, [वे] उसकी सारी कृतियों, सारी शैलियों और भाव-धाराओं को सामने रखकर, उनका अध्ययन करके, उसका विरोध नहीं करते। केवल विरोधात्मक प्रचार को ही वे समीक्षा समझते हैं। किन्तु ऐसी समीक्षा का कोई मूल्य नहीं है, इतिहास ने यह स्पष्ट कर दिया है।

छत्तीसगढ़ नयी कविता के क्षेत्र में भी उर्वर रहा है। हमारे छत्तीसगढ़ में स्व. सतीश चौबे की केवल कुछ कविताओं ने ही हिन्दी संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। आज इसी छत्तीसगढ़ के श्रीकान्त वर्मा नयी कविता के क्षेत्र में नवीन उपलब्धियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। हिन्दी काव्यजगत् उनसे पूर्णतः परिचित है। नाम गिनाना खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि बहुत-से नाम छूट भी सकते हैं। किन्तु श्रीहरि ठाकुर का नाम भुलाना नहीं चाहूँगा, जिनके अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप नये स्वर नामक दो काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए, जिनमें नयी काव्य-प्रवृत्ति को विशेष स्थान दिया गया। आज श्री नारायणलाल परमार, श्री विश्वेन्द्रनाथ ठाकुर तथा मेरे अन्य मित्र इसी क्षेत्र में काम करते जा रहे हैं। यह इस बात का सूचक है कि छत्तीसगढ़ का यह क्षेत्र नयी काव्य-धारा से पूर्णतः परिचित है।

नयी कविता की आत्मा है आधुनिक भाव-बोध। आज का सुशिक्षित मनुष्य अपने परिवेश-परिस्थितियों से जो संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करता है, वे संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ या उनका सामान्यीकरण नयी कविता में प्रकट होता है। ऐसे सुशिक्षित मनुष्य का दृष्टिकोण मध्ययुगीन धार्मिक दृष्टि से अनुप्राणित अथवा छायावादी भावुकता से परिपूर्ण कल्पना-प्रधान (मैं दृष्टिकोण की बात कर रहा हूँ) नहीं होता। विज्ञान के इस युग में, उसकी दृष्टि यथार्थोन्मुख तथा संवेदनशील होती है। वह यथार्थ सम्बन्धों को ग्रहण कर यथार्थ-बोध द्वारा संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करता है।

आधुनिक साहित्य-बोध को भी परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है। वे परिभाषाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। महत्त्व की बात केवल इतनी है कि आधुनिक संवेदना एक विशेष परिभाषा की सीमा के अन्तर्गत नहीं लायी जा सकती। किन्तु यह बात सही है कि पूर्वतर युगों की भाव-दृष्टियों से वह सर्वथा भिन्न है। वह कहाँ किस प्रकार भिन्न है, यह पहले बताया जा चुका है। किन्तु खेद की बात यह है कि आधुनिकता के आदर्शभूत देश यूरोप-अमरीका माने गये हैं। फलतः, बहुत-से कवि यूरोपीय-अमरीकी भाव-तत्त्वों को भारतीय वेश में उपस्थित करते-से दिखायी देते हैं। अगर यूरोप-अमरीका का कवि उदास है, और

उसका जी काट खाने को होता है, तो हमारे यहाँ के कवि भी उदासी को फ़ैशनेबल समझकर कविता में उदासी का चित्रण करते हैं। यह ग़लत है।

किन्तु, यहीं समीक्षकों के सामने एक समस्या उठ खड़ी होती है। आज सुशिक्षित मध्यवर्ग के लिए भारतीय परिस्थिति अनुकूल नहीं है। भ्रष्टचार, अनाचार, तंगी, कलह, राग-द्वेष, दाँव-पेंच के दृश्य हमें सर्वत्र दिखायी देते हैं। पैसे की क़ीमत बढ़ गयी है, आदमी की क़ीमत गिर गयी है। ऐसी स्थिति में भारतीय कवि की कविता में उदासी और विफलता, ग्लानि और क्षोभ का चित्रण होना स्वाभाविक है। अतएव उसे यूरोप-अमरीका से उधार ली हुई भावना कहना असंगत प्रतीत होता है। होता यह है कि कवि *अपनी स्वयं की मनःस्थिति* और अपने स्वयं के रुझान और मनोदशाओं के अनुसार बाहर के प्रभाव ग्रहण करता है।

आज यूरोप-अमरीका में एक विशेष प्रकार की समाज-समीक्षा, सामाजिक आलोचन, सभ्यता-समीक्षा प्रचलित है। कई ऐसे लेखक-कवि हैं जो भारतीय अनुभव को ध्यान में न रखकर, विदेशों में प्रचलित जो सभ्यता-समीक्षा है उसको अपनाकर, काव्य में अपनी भावनाएँ प्रकट करते हैं। पश्चिमी जगत् में प्रचलित सभ्यता-समीक्षा की एक विशेषता यह है कि उसमें मानव की उन्नतिपरक शक्तियों में आस्था का अभाव है। कहा गया है कि मानव स्वभावतः क्षुद्र है, तुच्छ है, वह स्वभावतः स्वार्थ-प्रेरित है। उसका मूल लक्ष्य स्वार्थ-पूर्ति है। हाँ, यह सही है कि कभी-कभी, किन्हीं अवसरों पर, वह महापुरुषों और वीरपुरुषों के रूप में भी सामने आता है; किन्तु यह भी एक धोखा है। मनुष्य विचित्र मनोवैज्ञानिक स्वार्थों से प्रेरित होकर महान् बनता है। आत्म-प्रदर्शन-प्रवृत्ति, निम्नता-भाव के विपर्यय से उत्पन्न उच्चता-भाव, अधिकार-प्राप्ति की भावना, इत्यादि-इत्यादि, न मालूम कितनी ही सूक्ष्म किन्तु निम्न प्रवृत्तियों से परिचालित होकर, मनुष्य वीर पुरुष और महापुरुष बनने का प्रयत्न करता है। सहकारिता, सद्भावना, और सदाचार —ये सब ऊपरी-ऊपरी व्यावहारिक बातें हैं, व्यावहारिक सुविधा से उत्पन्न हैं। संक्षेप में, मनुष्य मूलतः क्षुद्र है। अतएव दुःख सनातन है। दुःख से उबरने का कोई उपाय नहीं।

इसी प्रकार, यह कहा गया है कि वर्तमान सभ्यता औद्योगिक सभ्यता है। औद्योगिक सभ्यता यान्त्रिक सभ्यता है, जिसमें मनुष्य सिर्फ़ एक पुर्ज़ा है, इससे ज़्यादा कुछ नहीं। यह सभ्यता मानव-व्यक्तित्व का हनन करती है, उसका नाश करती है। मानव-आत्मा का और मानव-व्यक्तित्व का उद्भास और विकास उसमें नहीं होता। समाजवादी और पूँजीवादी दुनिया में अन्तर केवल यह है कि पूँजीवादी दुनिया में व्यक्ति को चीखने-चिल्लाने का अधिकार है। किन्तु परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि वह अपना विकास नहीं कर सकता, यद्यपि साम्यवादी दुनिया में तानाशाही के कारण, वहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के अभाव में, व्यक्ति-विकास का प्रश्न ही नहीं उठता। यानी कि इस सवाल पर चौतरफ़ा नज़र डालने पर, यही साबित होता है कि व्यक्ति की आत्म-स्थिति, अर्थात् व्यक्ति के स्वभाव, की भाँति

ही उसकी बाह्य स्थिति और परिवेश निराशाप्रद है। और, आत्मिक तथा बाह्यगत दोनों दृष्टियों और क्षेत्रों में, यह जो दुःख और निराशा है, वह मूलभूत, अनिवार्य और अटल है। मनुष्य की इससे उबरने की कोशिश केवल एक मानसिक बहलावा है, इससे अधिक कुछ नहीं।

बहुत-से व्यक्ति समाज में लीन होकर राजनैतिक और सामाजिक कार्यों में अपनी मुक्ति की खोज करते हैं, जनता के उद्धार में अपना उद्धार देखते हैं। किन्तु, जनता क्या है ? उसका अपना कोई मन नहीं होता, जिधर हाँको उधर हँकती है। जनता ढोर है। जनता क्या है, एक भीड़ है। भीड़ की अपनी कोई आत्मा नहीं होती। भीड़ सामूहिक उत्तेजना में—अनजानी उत्तेजनाओं में—कार्य करती है। सन्तुलित बुद्धि से खूब सोच-विचार करके, एकान्त चिन्तन के द्वारा, वह किसी निर्णय पर नहीं पहुँचती। उसमें आत्मा नहीं होती। ये जुलूस, ये नारे, ये सामूहिक प्रदर्शन, ये सामूहिक कार्य, व्यक्ति के अपने आत्मतन्त्र के लोप के प्रमाण हैं। व्यक्ति मूलतः आत्मतन्त्री होता है, व्यक्ति मूलतः अद्वितीय होता है। अपनी अद्वितीयता की रक्षा के द्वारा ही मनुष्य सृजनशील हो सकता है, वस्तुतः आत्मतन्त्री हो सकता है। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति अपनी अद्वितीयता की रक्षा चाहता है, सृजनशील होना चाहता है वह समाज में अपने को खो न दे, भीड़ का अंग न बने, जनता में विलीन न हो जाये। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति, अद्वितीय व्यक्ति, सृजनशील व्यक्ति, समाज और जनता से अलग रहकर मौलिक साहित्य दे सकने की स्थिति में हो सकता है। नहीं तो नहीं। और इस प्रकार सृजन-कार्य ही में मानव की सच्ची मुक्ति है, या उसकी आत्मपूर्ति है।

अब यह समझ में आ गया होगा कि नयी कविता में प्रचलित बहुतेरा निराशावाद और जनता और समाज से अलग रहकर जीने की यह प्रवृत्ति—अर्थात् व्यक्तिवाद—दोनों एक दार्शनिक भूमिका में, दार्शनिक विचारधारा का रूप धारण कर, हिन्दी साहित्य में—नयी कविता के क्षेत्र में—खूब प्रचलित है। भारतीय मध्यवर्गीय जीवन में आज जो खेदपूर्ण अवसन्न दुःखमय स्थिति है, उसकी प्रधान मनोदशाओं को आज यूरोप-अमरीका का यह वैचारिक प्रवाह प्राप्त हो जाता है। और इस प्रकार नये काव्य में स्वप्न-भंग, खेद, ग्लानि और निराशा के भावों को एक वैचारिक भूमिका और दर्शन मिल जाता है, जिसमें व्यक्ति-समीक्षा, सभ्यता-समीक्षा और मानव-भाग्य-समीक्षा भी है।

मैं इस वैचारिक प्रवृत्ति का विरोध करता हूँ। बहुतेरे लोग इसका विरोध करते हैं। किन्तु यह प्रवृत्ति प्रबल है।

ध्यान में रखने की बात है कि नयी कविता के पूरे क्षेत्र को इस वैचारिक प्रवृत्ति ने—इस निराशा-दर्शन ने, इस व्यक्तिवाद ने—नहीं घेरा है। उसका कुछ अंश ही इस प्रवृत्ति का शिकार है। किन्तु नयी कविता के क्षेत्र का यह अंश संगठित है और संगठित रूप से इसका प्रचार होता है। इन लोगों के बीच लोकप्रिय विदेशी पत्रों में इसी तरह के लेख प्रकाशित होते रहते हैं।

किन्तु नयी कविता के क्षेत्र में कुछ आवाज़ें ऐसी हैं जो भारतीय व्यक्तित्व की, भारतीयता की, रक्षा चाहती हैं। वे भारतीय व्यक्तित्व को पश्चिमी जगत् से नहीं, वरन् एशिया, अफ्रीका, दक्षिण अमरीका से जोड़ना चाहती हैं। इन देशों में समाज-परिवर्तन, संघर्ष और निर्माण की प्रक्रिया जारी है। इसमें जनता और उसका नेतृत्व दोनों खूब भाग लेते हैं। वहाँ भी साहित्य विकासमान हो रहा है। अलजीरिया और इजिप्ट, कांगो और क्यूबा, सीलोन और जापान, इण्डोनेशिया अर्जेन्तीना-जैसे देशों में ज़िन्दगी नये उभार पर है, और वह विभिन्न कलात्मक माध्यमों से प्रकट हो रही है। नयी कविता का एक क्षेत्र, या यों कहिये कि नयी पीढ़ियों का एक हिस्सा, मानसिक रूप से अपने को इन उठते हुए देशों के निकट पाता है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि नयी कविता का मूल प्राण है आधुनिक भाव-वोध। यह आधुनिक भाव-वोध पश्चिमी जगत् के व्यक्तिवादी-निराशावादी दर्शन से अनुप्राणित हो अथवा भारत के अपने भविष्य-स्वप्न से। भारत के अपने भविष्य-स्वप्न से जो प्रेरित हैं, वे तथाकथित पिछड़े देशों के संघर्षों और निर्माणों को प्रस्तुत करनेवाली प्रेरणाओं के अधिक निकट पाते हैं स्वयं को। भविष्य भी इन्हीं के साथ है, क्योंकि वे मानव की उन्नति-परक शक्तियों में, मानव की उद्धार-क्षमता में, समाजवाद और जनतन्त्र में, भारतीय संस्कृति की विकास-शक्तियों में, प्रगाढ़ विश्वास रखते हैं।

दुनिया छोटी होती जा रही है। राष्ट्रीयता के भाव अन्तर्राष्ट्रीयता से अलग नहीं किये जा सकते। नयी कला, नयी कविता, स्वयं एक अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु हो गयी है। किन्तु अपनी भूमि और अपने देश की मिट्टी में रँगकर ही विश्वात्मक हुआ जा सकता है, नहीं तो नहीं।

इस व्यापक भावभूमि से यदि हम चलें, तो हम पायेंगे कि नयी काव्य-प्रवृत्ति, जो केवल क्षण-चित्रों को प्रस्तुत करती है, इस दायित्व को निभा नहीं पाती। क्षण-चित्र अपने-आपमें अपूर्ण हैं। जीवन समग्र है, किन्तु वह अपनी समष्टि में उलझा हुआ है। अतएव कोई भी क्षण-चित्र उस समग्र को, उसकी सारी पेचीद-गियों में, प्रतिविम्वित नहीं कर पाता। यही दुर्भाग्य है। लेखक की मूल प्रवृत्ति यह हो गयी है कि किसी भी जीवन-खण्ड में प्रकट एक स्थिति, एक प्रसंग के अन्तर्गत एक विशेष भाव को पकड़ ले और उसे शव्द-वद्ध कर दे। वह उस भाव से सम्वद्ध अन्य सूत्रों को पकड़कर उन्हें प्रस्तुत नहीं कर पाता। इससे यही सूचित होता है कि वास्तविक जीवन-विश्लेषण की क्षमता उसमें नहीं है। वह वाह्य के प्रति केवल संवेदनाघात करके, संवेदनात्मक प्रतिक्रिया करके, उसे शव्दों में वाँध देता है। मेरे कथन का यह अर्थ नहीं है कि जीवन-विश्लेषण के विस्तृत चित्रों का नितान्त अभाव है। नयी कविता के क्षेत्र में ऐसी वहुतेरी कृतियाँ मौजूद हैं, जिनमें जीवन के विस्तृत चित्र, जीवन की विभिन्न परस्पर-संलग्न समस्याएँ तथा दिक्-संकेत, प्राप्त होते हैं। किन्तु प्रधानता उनकी नहीं है। ऐसा क्यों? यह इसलिए

है कि कवि-कलाकार यथार्थ-बोध के प्रथम स्तर पर, संवेदनात्मक आकलन और संवेदनात्मक प्रतिक्रिया के स्तर पर, ही रहना चाहते हैं। वे वास्तविक जीवन-विश्लेषण को उसकी पूरी गहराई [में] आत्मसात् करना नहीं चाहते, ऐसा प्रतीत होता है। यही कारण है कि जीवन के विस्तार-चित्र हमें नयी कविता में कम दिखायी देते हैं, क्योंकि उसमें केवल विशिष्ट का चित्रण ही नहीं, वरन् परस्पर-सम्बन्धित विशिष्टों का चित्रण और उनका सामान्यीकरण—विश्लेषण और समन्वय—इन दोनों की आवश्यकता है। गहराई से जीवन में पैठने के अतिरिक्त जीवन के वैविध्य के अनुभव, जीवन-चिन्तन और कलात्मक उपलब्धि के लिए आवश्यक अभिव्यक्ति-क्षमता—यह सब चाहिए। तभी हम एक विशेष दृष्टि से अनुभवों का संकलन करके उन्हें क्रम-बद्ध रूप में, एक मनोहर काव्यात्मक प्रकाश-वातावरण के भीतर, स्थापित कर सकेंगे। किन्तु यह नहीं होता है, क्योंकि क्षण-चित्र उपस्थित करने में जो सुकरता और सुविधा होती है, वह इसमें नहीं है। ध्यान में रखिये कि नयी कविता की भी एक रूढ़ि बन गयी है (किसी भी काव्य-रूढ़ि को बनने के लिए बीस-पच्चीस साल बहुत होते हैं), और, इस रूढ़ि के अनुरोधों के कारण, अगला विकास भविष्य पर छोड़ दिया गया है।

सच बात तो यह है कि जीवन-विश्लेषणपरक विस्तृत चित्रण करने के लिए जिस बौद्धिकता, और संकलित अनुभव-चित्रों के गठन के लिए जिस बुद्धि-शक्ति, की आवश्यकता होती है, वह इस क्षेत्र में बहुत कम दिखायी देती है। वस्तुतः, नयी कवितावाले ठीक ही करते हैं, जब वे यह कहते हैं कि हमारी कविता बौद्धिक नहीं है। नयी कविता को बौद्धिक कहनेवाले वे लोग हैं जो छायावादी कल्पना-प्रधान भावुकतावाद की दृष्टि से, उनके पैमाने को ध्यान में रखते हुए, नयी कविता को देखते हैं। नयी कविता की गद्यात्मक आभा को देखकर वे उसे बौद्धिक कहते हैं। किन्तु नयी कविता में किसी बौद्धिक प्रक्रिया का उत्कर्ष नहीं दिखायी [देता]। उसमें तो संवेदनाघातों या उनके सामान्यीकरणों अर्थात् सामान्यीकृत भावों की ही प्रधानता है। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

किन्तु यदि हमें सच्चे आधुनिक भाव-बोध को चित्रित करना है, तो हमें तीव्रतम संवेदना-शक्ति के अतिरिक्त सूक्ष्म का अवगाहन करनेवाली बुद्धि और उसकी विश्लेषण-क्षमता चाहिए ही। और उसके अतिरिक्त हमें विशेष-दृष्टि से अनुभव-संकलन और उनके क्रमबद्ध चित्रण-गठन की भी आवश्यकता होती है।

इसी को मैं दूसरे शब्दों में यों कहूँगा कि हमें कोई प्रयोगवाद और नयी कविता के नपे-तुले, जाने-माने दायरे से निकलकर नव-क्लासिकवाद की तरफ़ मुड़ना होगा। तभी हम यथार्थ के परस्पर-अन्तःसम्बन्धों को गहराई से समझकर, जीवन के वैविध्य को इस प्रकार रख सकेंगे कि जिनमें कोई निष्कर्ष निकल सके। दूसरे शब्दों में, हम अनुभव संकलित करके उनके क्रम-चित्रों का एक ऐसा संगठन उपस्थित कर सकेंगे, जो यथार्थ को प्रस्तुत करेगा, जो उस यथार्थ की सारभूत विशेषताओं के चित्रण द्वारा किन्हीं जीवन-निष्कर्षों को अंकित और संकेतित

कर सकेगा।

जिस प्रकार आज जीवन छिन्न-विच्छिन्न है, उसी प्रकार, सम्भवतः उन्हीं छिन्न-विच्छिन्नताओं के परिणामस्वरूप, नये काव्य में सब ओर क्षण-चित्र ही क्षण-चित्र हैं। किन्तु यह स्थिति, स्थिति होने मात्र से, अपने औचित्य को सिद्ध नहीं कर सकती। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि एक ओर भारतीय भूमि और आकाश में नयी कविता अधिक-से-अधिक रमे, तो दूसरी ओर, यह भी आवश्यक है कि हम, नव-क्लासिकवाद की तरफ़ मुड़ते हुए, वैविध्यपूर्ण जीवन के सारभूत निष्कर्षों और दिक्-संकेतों को, अनुभूत यथार्थ के परस्पर अन्तःसम्बन्धों को, अनुभव-चित्रों के संगठन के द्वारा प्रकट कर सकें। तभी हम आधुनिक युग के बहिरन्तर सत्य की गहनता और वैविध्य को, उसके सारे महत्त्व के साथ, कलात्मक अभिव्यक्ति दे सकेंगे।

[**नये स्वर**, अप्रैल 1956 में प्रकाशित। **नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र** में 'छायावाद और नयी कविता-2' शीर्षक से संकलित]

छायावाद और नयी कविता

कोई भी नया साहित्यिक आन्दोलन उन विशेष देश-कालगत परिस्थितियों से पैदा होता है जिन्हें हम सामाजिक विकास की एक महत्त्वपूर्ण शृंखला कह सकते हैं। याद कीजिये वह ज़माना, जब गांधीवादी राजनीति को सप्रश्न दृष्टि से देखा जा रहा था और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनी थी। वामपक्षी विचारधारा हंस के ज़रिए हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में फैल रही थी और साहित्यिक मूल्यों के पुनर्निर्धारण के प्रश्न कुछ साहित्यिकों के मन में घुमड़ रहे थे। इन वामपक्षी विचार-आवर्तों ने दो प्रकार के लेखक पैदा किये—एक तो वे जो सीधे-सीधे राजनैतिक विचार-प्रवाह के साहित्यिक रूपान्तर थे, और दूसरे वे थे जिन्होंने छायावादी साहित्यिक आदर्शों और मनोदशाओं के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रियाएँ की थीं। ये दूसरे प्रकार के लेखक सन् 1939 से ही छायावादी-आदर्शवादी भूमि को वैचारिक दृष्टि से त्याग रहे थे। उनका सबसे महत्त्वपूर्ण विरोध सिर्फ़ एक बात को लेकर था। और वह यह कि छायावाद ने अर्थ-भूमि को संकुचित कर दिया है। सौन्दर्य, दुःख, कष्ट, लक्ष्य, आदर्श, क्रोध, क्षोभ का चित्रण जो छायावाद में हुआ, वह वास्तविक मनोदशाओं का नहीं, वरन् कल्पित: दुःख, कष्ट, क्रोध, क्षोभ आदि का है। छायावादी मनोदशा वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं करती—वह जीवन जो जिया जाता है—

उसकी करुणा वास्तविक करुणा नहीं। छायावादी मनोभावों में रंगीनी इसीलिए है कि उसमें जिन्दगी, जैसी कि वह जी जाती है, की असलियत लापता है। यही है वह मूल प्रतिक्रिया जो नयी कविता ने उन दिनों छायावाद के विरुद्ध की थी।

किन्तु इस प्रतिक्रिया की पार्श्वभूमि सामाजिक न थी। आग्रह इस बात का था कि छायावाद में वर्णित करुणा व्यक्ति की वास्तविक करुणा नहीं, ज़िन्दगी के भीतर करुणास्पद परिस्थितियों से उत्पन्न मनोभावों का चित्रण नहीं। वह कुछ और ही है, जिसमें करुणा का विलास है, उसकी तकलीफ़ नहीं। लेकिन नयी कविता का कवि इस तकलीफ़ को आत्मकेन्द्री अर्थों में ही देख रहा था। वह इस करुणा की सामाजिक व्याख्या न कर पाता था। अतएव नयी कविता का जन्म छायावादी व्यक्तिवाद के विरुद्ध यथार्थोन्मुख व्यक्तिवाद की ही बग़ावत थी। यह बग़ावत इसीलिए सम्भव थी कि देश की बिगड़ी हुई दशा में मध्यम-वर्ग के साधारण व्यक्ति का जीवन असह्य हो उठा था। ऐसा व्यक्ति यह सोचता था कि तत्कालीन रोमैण्टिक कविता कम-से-कम उसके कष्टग्रस्त जीवन के मनोभावों के यथार्थ को तो उभारे।

नयी कविता की दूसरी बद्धमूल धारणा यह थी कि छायावाद जीवन के प्रश्नों को भावुकता-प्रधान, कल्पना-मूलक, आदर्शवादी दृष्टि से देखता है। उसकी यह दृष्टि जीवन के यथार्थ के बिलकुल विपरीत है। जैसे, स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों का आदर्शीकरण, नारी का आदर्शीकरण, किसान-मज़दूर-जीवन का रोमैण्टिक वायवीय चित्रण, (जैसे पन्त की **ग्राम्या** में) दुःख और करुणा का आदर्शीकरण—गोया हर चीज़ का कल्पना-प्रवण आदर्शीकरण और उदात्तीकरण। निश्चय ही छायावाद की फ़िलॉसफ़ी और कार्य-पद्धति ही गड़बड़ है। इस प्रतिक्रिया का फल यह हुआ कि नयी कविता जीवन की समस्याओं को बौद्धिक दृष्टि से देखने और मिटाने के लिए छटपटाने लगी और उसकी चित्रण-पद्धति बौद्धिक हो उठी। यह बौद्धिकता उसके दृष्टिकोण तक ही सीमित न रही, वरन् काव्य-रचना का एक प्रमुख सर्जनात्मक तत्त्व बनकर सामने आयी। और साथ ही उसकी शैली को भी प्रभावित किया।

चूँकि नयी कविता कल्पना-प्रवण, भावुकतापूर्ण, वायवीय आदर्शवादी व्यक्तिवाद के विरुद्ध यथार्थवादी व्यक्तिवाद की बग़ावत थी, इसलिए उसमें (1) बौद्धिकता के कारण यथार्थवादी आत्म-चेतना, और (2) व्यक्तिवाद का आत्मकेन्द्री स्वरूप, अर्थात् वास्तविक सुख-दुःख की सामाजिक पार्श्वभूमि और ऐतिहासिक शक्तियों के प्रति सघन रागात्मक सम्बन्ध की क्षीणता, पायी जाती है। ध्यान रहे कि इन्हीं दो मूलभूत बातों से शेष सब बातें या विशेषताएँ प्रादुर्भूत होती हैं। चूँकि नयी कविता की यथार्थोन्मुख बौद्धिकता व्यक्ति और समाज के सम्पूर्ण प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकती थी, इसीलिए धीरे-धीरे उसमें साम्यवाद आना निश्चित ही था। **तार सप्तक** के प्रकाशन (सन् 1943) तक उसके चार कवि प्रगतिवादी [थे] और दो कवि प्रगतिवाद से प्रभावित हुए। केवल एक श्री अज्ञेय प्रगतिवादी न हो सके।

यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी वनने के अनन्तर सन् '42 तक वामपक्षी विचारधाराएँ युवकों में फैल चुकी थीं। यह भी ध्यान देने की वात है कि साधारण रूप से **तार सप्तक** में संगृहीत कविताएँ सन् '42 के उत्तरार्ध के पूर्व की ही कविताएँ हैं। इसलिए उन कविताओं में पूँजीवाद के विरुद्ध क्षोभ के वावजूद व्यक्ति-चेतना का ही प्राधान्य है।

दूसरा सप्तक निकलते तक परिस्थिति वदल चुकी थी। नयी कविता का टेकनीक प्रचार पा चुका था। जिन व्यक्तिगत और सामाजिक-राजनैतिक स्थिति-परिस्थितियों से **तार सप्तक** वालों को जूझना पड़ा, वे परिस्थितियाँ **दूसरा सप्तक** वालों के पास न थीं। जिन प्रश्नों को **तार सप्तक** में उठाया [गया] उनका विकास भी **दूसरा सप्तक** में न हो पाया। **तार सप्तक** के कवियों में, वर्तमान दु:स्थिति के भाव से ग्रस्त रहने की मनोदशा के कारण उत्पन्न नकारवादी नैराश्यमूलक निवेदन, राजनैतिक विरोध, सामाजिक व्यंग्य, व्यक्ति के भीतर के वास्तविक अन्तर्विरोध (जिनके स्पष्टीकरण का वहुत वड़ा सामाजिक महत्त्व है), व्यक्ति-चेतना क आभ्यन्तर विकेन्द्रीकरण (जो समाज में स्पष्ट लक्षित होता है), सामाजिक क्रान्ति के प्रति निष्ठा, मनुष्य की उन्नयनशीलता के प्रति विश्वास और आस्था दृष्टिगोचर होती है। **दूसरा सप्तक** में न इतना सामाजिक व्यंग्य है और न राजनैतिक विरोध और न इतनी निविड़ आत्म-चेतना। इसके विपरीत, उसमें मनोहर प्राकृतिक दृश्यांकन, निसर्ग सौन्दर्य का अनेक रूपकों में चित्रण, वातावरण के सुघर रेखा-चित्र और काव्य-शिल्प की रमणीयता के दर्शन होते हैं। **दूसरा सप्तक** वालों का टेकनीक सधा हुआ है, और उनके काव्य-विषय भी अपेक्षाकृत सरल हैं। सामाजिक व्यंग्य, प्रगतिशील प्रवृत्ति और राजनैतिक स्वर क्षीण है, और वह भी सिर्फ़ गूँज भर है। **तार सप्तक** वालों ने जितने मनोभावों को और मनुष्य-दशाओं को मथा है, उतना **दूसरा सप्तक** वालों ने नहीं। ऊपर लिखित कथन सिर्फ़ भेद दरशानेके लिए है, न कि किसी की श्रेष्ठतरता स्थापित करने के लिए।

स्वर्गीय पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में छायावाद के प्रति जो क्षोभ प्रकट किया, वह एकदम नि:सार और अनर्गल है, यह नहीं कहा जा सकता। उन्होंने वार-वार यह शिकायत की है कि छायावाद में अर्थ-भूमि का संकोच हो गया है, मानव-मन के वहुत ही अल्प और अ-महत्त्वपूर्ण विषयों की ओर ध्यान दिया गया है। छायावाद के सार्वभौम एकच्छत्रता के वातावरण में, नये कवियों ने केवल नम्रता प्रदर्शित करने के लिए अपनी कविताओं को प्रयोग कहा। वस्तुत:, वे कविताएँ प्रयोग न होकर साक्षात् कविताएँ थीं। नयी कविता के विरोधियों ने निन्दा के तुच्छ भाव से प्रयोगवाद शब्द चला दिया। अत:, हमारे पाठक यह जान लें कि नयी कविता, कविता है, प्रयोग नहीं। अगर उनमें आज अधकचरापन दिखायी देता है, तो यह तो नयी कविता की प्रारम्भिक अवस्था ही का लक्षण

है, जैसा कि वह छायावाद में भी था, या कि अन्य साहित्यिक प्रणालियों की प्रारम्भिक अवस्था में हो सकता है। तो आइये, अब नयी कविता के स्वरूप पर थोड़ा विचार करें और उसकी सफलताओं पर भी दृष्टि डालें।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि नयी कविता का कवि जगत् और जीवन से, सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति-परिस्थिति से, जागरूक रहा। किन्तु उसकी उनके प्रति मानसिक प्रतिक्रियाएँ अन्तर्मुखी, भावप्रवण और निविड़ आत्ममूलक रहीं। इस आत्म-केन्द्रिता से उसकी बौद्धिकता अलग नहीं की जा सकती। उदाहरणतः, कवि जो भाव अपने हृदय में अनुभव करता है—चाहे वह राजनैतिक हो या व्यक्तिगत—उस भाव को ठीक वैसे ही लिखना चाहेगा जैसा वह वस्तुतः उसके हृदय में है। उसके सारे रूप-रंग, स्थिति-प्रलय का सच्चा चित्र उपस्थित करना चाहेगा, जैसे घनघोर उदासी को इस प्रकार प्रकट करेगा—

> आज उचटा-सा हृदय;
> साइरन बज जाये उसके बाद
> निर्जन शून्य सड़कों-सा निभृत निःसंग खाली
> व्यर्थता की स्याह-सी बेमाप
> चादर से
> अभी ज्यों ढँक गया हो शून्य जी का प्रान्त। (नेमिचन्द्र)

अगर कोई छायावादी कवि होता तो घनघोर उदासी के बेमनपन को वायवीय प्रकार से रखता। ध्यान रहे कि कलकत्ते में बमबारी की आशंका से मारवाड़ियों और बनियों की बेतहाशा भीड़ स्टेशन पर जमी रहती थी। कलकत्ते में साइरन की आवाज एक भयानक सूचना थी, जिससे सारी सड़कें सूनी पड़ जाती थीं। अपने मन के वास्तविक भाव-सत्य को उसने यथार्थ-प्रेरित उपमाओं और प्रतीकों से बाँधा। जैसे, 'लहू की बूँदों से जलते हैं सड़कों पर बिजली के बल्ब लाल-लाल' (रामविलास शर्मा)। शर्माजी युद्धातंक के वातावरण का चित्रण कर रहे हैं। यह कभी आवश्यक नहीं है कि उपमाएँ और चित्र बाहरी सामाजिक यथार्थ से ही उद्भूत हुए हों; किन्तु यह आवश्यक है कि प्रस्तुत उपमा या चित्र ठीक उसी मात्रा में और ठीक उसी रूप में उपस्थित किये जायें, कि जिस मात्रा में और जिस रूप में कवि के भाव हैं। प्रभाव और भाव की अन्विति नयी कविता के टेकनीक की पहली शर्त है। सारांश यह कि कल्पना तथा शैली के सम्बन्ध में नयी कविता में वैज्ञानिकता बरती जाती है, और भाव-तत्त्व के यथार्थ स्वरूप-चित्रण को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है। इसका प्रधान कारण है नयी कविता का कवि जगत् और जीवन से वस्तुवादी यथार्थोन्मुख दृष्टि लेकर जन्मा है, चाहे वह अपने मन के निगूढ़तम भावों की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म छटाओं को प्रकृतिरूपात्मक उपादानों के द्वारा चित्रित करता हो, अथवा अपने मन की भाव-स्थिति को आधुनिक सभ्यता के उपकरणों से प्रतीकों द्वारा व्यक्त करता हो। उसकी कविता में सामाजिक यथार्थ, प्राकृतिक सौन्दर्य और भव्यता से लेकर निगूढ़ भाव-स्थितियों के विश्लेषण और

चित्रण व्यंग्य और विद्रोह सभी सम्मिलित हैं। उसकी वास्तविकता-ग्राहक दृष्टि जब मन की स्थितियों पर मुड़ती है, तो कल्पना-शक्ति के माध्यम से वह आत्माभिव्यक्ति का साधन बनती है। जैसे, अज्ञेय की यह कविता :

हम रहे, झर चलीं बूँदें काल निर्झर की
उदधि की झंझा-प्रताड़ित द्रुत लहर हमने नहीं माँगी,
वासना से, याचना से हम परे थे—
सहज अनुरागी।
... ...
वक्ष थे संलग्न, पर अस्तित्व के उस इन्द्रधनु के छोर,
नहीं करना चाहते थे,
निरे मानव-जीव की शत-फण बुभुक्षा के
कुलाहल का आस्फालन;
... ...
आत्मलय के रुद्र-ताण्डव का प्रमाथी
तप्त आवाहन;
क्योंकि दोनों चल रहे थे एक ही समताल की गति पर।

अथवा धर्मवीर भारती की यह बात देखिये :

लेकिन फिर भी मजबूरी है
तुम दूर कहीं, खाली-खाली भारी मन से,
धुप-धुप करती-सी ढिबरी के नीचे बैठी
कुछ घर का काम-काज धन्धा करती होगी,
यह शाम मुझे इस तरह निगलती जाती है !
कोहरे की पाँखें फैलाती, नरभक्षिणी
यम की चिड़िया-सी
यह जाड़े की मनहूस शाम मँडराती है !

जहाँ तक राजनैतिक-सामाजिक चित्रणों का प्रश्न है, श्री हरिनारायण व्यास, रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, हमारे सामने प्रमुख रूप से आते हैं। राजनैतिक-सामाजिक आस्थाओं का भाव-प्रधान स्वरूप हमें श्री हरिनारायण व्यास में ही मिलता है। यही कारण है कि वे 'शरणार्थी' में इस प्रकार की पंक्तियाँ लिख सके—

हम पड़े हैं तम्बुओं में
गिन रहे हैं कल्पना के फूल की पँखुरी।
खून में भीगे हुए परिधान अपने
खा रहे हैं धूप उस मैदान में।

हंस के शान्ति अंक में प्रकाशित शमशेर बहादुर सिंह की 'शान्ति' पर कविता हिन्दी प्रगतिशील साहित्य में एकदम बेजोड़ है। सामाजिक परिवर्तन के लिए

उत्सुक भावनाओं की गहरी मानवता उसमें लक्षित होती है। 'नयी कविता' में अब तक व्यंग्य और राजनैतिक विरोध का स्वर भी तीव्र तो था, पर उसमें मानवीय गहराई का अभाव था। सो शमशेर ने पूरा किया। समय के विशाल कैनवास पर देश-देशान्तरों के मानव-चित्रों का विहंगावलोकन करने का श्रेय नरेश मेहता को प्राप्त है। उन्होंने प्रकृति-सौन्दर्य को वैदिक संस्कृति की आँखों से देखा और उसके भव्य उदात्त चित्र खड़े किये। 'उपस' पर उनकी कविता की कुछ पंक्तियाँ ये हैं :

किरणमयी, तुम स्वर्ण वेश में !
स्वर्ण देश में !
सिंचित है केसर के जल से
इन्द्रलोक की सीमा,
आने दो सैन्धव घोड़ों का
रथ कुछ हलके धीमा।

अथवा 'किरन-धेनुएँ' में—

बरस रहा आलोक दूध है,
खेतों खलिहानों में,
जीवन की नव-किरण फूटती
मकई के धानों में,
सरिताओं में सोम दुह रहा वह अहीर मतवाला !

किन्तु चित्रकला की प्रधानता और उसके सम्पूर्ण आकार की व्यंजना श्री गिरिजाकुमार माथुर में ही है। डॉ. रामविलास शर्मा की यह 'प्रत्यूप के पूर्व' की झाँकी देखिये :

सीत्-सीत् करती बयार है बह रही,
पौ फटने में अभी पहर भर देर है।
बरगद से कुछ दूरी पर जो दीखता
ऊँचा-सा टीला, उस पर एकत्र हो,
ऊँचा मुँह कर देख डूबता चन्द्रमा
हुआ-हुआ करते सियार हैं बोलते।

सारांश यह कि नयी कविता में कोई भी विषय नहीं छूटता। ध्यान में रखने की बात सिर्फ़ इतनी है कि नयी कविता भाव या अनुभूति को, स्थिति या दृश्य को, उसके मूर्त्त स्वरूप और सत्ता में पकड़ती है। कल्पना उसके लिए सिर्फ़ एक वैज्ञानिक अस्त्र है, जिसके ज़रिए अंकन किया जाता है।

[सम्भावित रचनाकाल 1955-56। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित]

हिन्दी-काव्य की नयी धारा

सन् 1940-43 के आस-पास हिन्दी के कुछ नये लेखक यह अनुभव कर रहे थे कि छायावादी काव्य और साहित्य के मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक भाववादी आदर्श ज़िन्दगी के तक़ाज़ों को पूरा नहीं कर पाते, वास्तविक संवेदनात्मक प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाते। इन लेखकों को महादेवी की 'पीड़ा' वास्तविक पीड़ा की श्रेणी में बैठती दिखायी न दी। उनका खयाल था कि असल जिन्दगी—जिसे जिया जाता है—वह बहुत ही उलझनभरी, अपने-आपमें सम्पन्न, साथ ही, बड़ी कठोर भी है। उनका यह ज्ञान अनुभवजन्य था। ये लोग अपने अनुभव की संवेदनात्मक प्रक्रियाओं और रूपों को प्रकट करने लगे। यथार्थ के अनुभवों से ग्रस्त होकर, आत्म-प्रकटीकरण की दिशा में उन्होंने अपने प्रयास आरम्भ किये।

राष्ट्र में कांग्रेस के भीतर वामपक्षी विचारधाराओं के उदय तथा विकास का वह काल था। व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से सचेत रहते हुए, उनका वैज्ञानिक समाधान पाने और उसको व्यावहारिक रूप देने की तलाश हुई। एक वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि की खोज आरम्भ हुई—ऐसी दृष्टि जो व्यक्तिगत-सामाजिक समस्याओं से लगाकर तो अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं तक का वैज्ञानिक उत्तर दे सके। वामपक्षी भाव-विचारधाराओं ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। यह स्वाभाविक ही था कि ऐसे लोगों के लिए हृदय की दृष्टि बौद्धिक होती। जीवन की छोटी-से-छोटी मनोवैज्ञानिक बात क्यों न हो, उसके प्रति दृष्टि बहुत महत्त्वपूर्ण हुई। किन्तु, वस्तुतः, इन लोगों का साहित्य वामपक्षी साहित्य न हो पाया। यह सकारण था।

ये लोग समस्याओं को संवेदनात्मक रूप से अनुभव करते थे, उनके निराकरणों और समाधानों को नहीं। समाज और व्यक्ति की भीतरी आत्म-संगति में बहुविध दरारों और दोषों के तीव्र संवेदनात्मक बोध को लेकर चलनेवाला व्यक्ति यदि वैज्ञानिक रूप से सिद्ध समाधानों को संवेदनात्मक स्तर पर धारण कर न चले तो अन्ततः उसे मात्र काल्पनिक आत्म-संगति या विश्व-संगति को लेकर ही तो आना होगा। नया वैज्ञानिक बोध इतना गहरा न हो पाया कि वह हार्दिक और आत्मिक आस्था और विश्वास का रूप ले सके।

संगति का प्रश्न मामूली प्रश्न नहीं है। लेखक के जीवन की अपने साहित्य से संगति, उद्घोषित आदर्शों की समाज से संगति, व्यक्ति से समाज का सामंजस्य, व्यक्ति की भीतरी आत्म-संगति—[इन सब] की दृष्टि से जब उसने अपनी तरफ़ और सब तरफ़ देखना आरम्भ किया, तो उसे घृणा, जुगुप्सा, निराशा के वास्तविक अनुभवों से गुजरना पड़ा। उसने इस सम्बन्ध में अपने-आपको भी क्षमा नहीं किया। वह बहुत बार आत्म-घृणा से भी भर उठा। इस दृष्टि का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि उसका 'समाज' से जो सामंजस्य चाहिए, वह बिगड़

गया। अपने व्यक्तिगत जीवन में उसने न केवल 'समाज' के प्रति अश्रद्धा, अनास्था की संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ कीं, वरन् उससे समझौते के अभाव में वह उससे अलग, अकेला, अपने-आपमें ढका-मुँदा रहने लगा। यहीं से उसकी आत्मग्रस्तता शुरू होती है।

उधर उसे जीवन में संघर्ष करना पड़ रहा था। जीवन-स्तर लगातार गिरता जा रहा था। समाज से उसके सन्तुलन तथा समझौते के अभाव में, उसे अपने व्यक्तिगत व्यावहारिक जीवन में असफलता मिलनी ही थी। इसके फलस्वरूप वह अधिक आत्मग्रस्त, अधिक अहंग्रस्त हो उठा। अपनी अहं-चेतना को पुष्ट करके ही वह जी सकता था।

इस भाव-भूमि को लेकर सन् 1940-43 के काल की उन कविताओं का आविर्भाव हुआ, जिनमें से कुछ **तार सप्तक** में संगृहीत है। इन कविताओं की विशेषता यह थी कि इन्होंने छायावादी मानदण्ड स्वीकार नहीं किये। नये यथार्थ ने नये प्रतीक और नयी उपमाएँ प्रदान कीं। अब चन्द्र 'तप-क्षीण कापालिक' हो गया। आत्मा, जिसको हंस की उपमा दी जाती रही अब चिमगादड़ हो गयी। यद्यपि घृणा, निराशा और जुगुप्सा का स्वर उभरा, किन्तु वह इतना और ऐसा नहीं था कि यह बतलाया जा सके कि उसमें आशा और विश्वास है ही नहीं। वैज्ञानिक बुद्धि, यथार्थवादी दृष्टि के फलस्वरूप जो निराशा उत्पन्न हो, वह स्वयं आशा को फलदायी करती है। वह न वायवीय निराशा है, न वायवीय आशा। काव्यानुभूति की कसौटी यथार्थ के संवेदनात्मक अनुभव बने। काव्य-परीक्षा यथार्थ-वादी अनुभूति हुई।

तार सप्तक के प्रकाशन की ओर तीन-चार बड़े आदमियों को छोड़कर भद्र साहित्य में किसी का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। किन्तु पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी, इलाचन्द्र जोशी, और रामचन्द्र टण्डन ने विशेष लेख लिखे और उसका खूब स्वागत किया। किन्तु वह काल 'बच्चन', 'अंचल', नरेन्द्र, और, बाद में, शिवमंगलसिंह 'सुमन' का काल था। फिर भी **तार सप्तक** नये लेखकों में प्रचलित हुआ। नये ढंग की कविताएं की जाने लगीं। जगह-जगह नये-नये लेखक पैदा हुए। उनके लिए **तार सप्तक** ने पार्श्वभूमि पैदा कर दी थी। उधर **तार सप्तक** के लेखक स्वयं अपना विकास कर रहे थे, यद्यपि मासिक-पत्रों ने भी प्रकाशन का दरवाज़ा उनके लिए बन्द कर रखा था।

जमाना आया जब **दूसरा सप्तक** का भी प्रकाशन हुआ। फिर तो लेखकों की बाढ़ आ गयी। समालोचकों का ध्यान नये लेखकों की तरफ़ गया। और अब तो विश्वविद्यालयों की एम. ए. परीक्षाओं में प्रयोगवाद के प्रश्न पूछे जाते हैं। कविवर 'दिनकर', नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉक्टर रामविलास शर्मा ने काव्य की इस प्रवृत्ति का डटकर विरोध किया। किन्तु उसका फैलना रुका नहीं। आज वह पहले से ही बंगला, उर्दू और मराठी में पर्याप्त रूप से पुष्ट हो गयी है।

दूसरा सप्तक का स्वर **तार सप्तक** से निराला है। एक तो यह कि **तार**

सप्तक के लेखकों की जवानी साहित्यिक-रोमैण्टिक छायावाद में निकल गयी थी। उनके सम्मुख जीवन के प्रश्न, समस्याएँ, प्रमुख थीं। **दूसरा सप्तक** वालों की सौन्दर्य-प्रेम-भावनाएँ नये ढंग से सम्मुख आयीं। नये ढंग की कविता को उनकी यह सबसे बड़ी देन है। नौजवानी में ही उनको पके-पकाये रूप में प्रगतिवादी अथवा कोई अन्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण मिल गया था। छन्द, भाव, भाषा, शैली सभी उन्हें तैयार मिले। इसके लिए उनको कोई संघर्ष नहीं करना पड़ा, न बौद्धिक, न हार्दिक। इसलिए उनकी कला अधिक सुखात्मक और सौन्दर्यमयी हुई। किन्तु उन्होंने जीवन के सम्बन्ध में वे प्रश्न नहीं उठाये, जो **तार सप्तक** वालों ने खड़े किये थे। **तार सप्तक** वाले मंज़िल-पर-मंज़िल इतने आगे बढ़ गये कि उसमें संग्रहीत कविताओं से उनकी आज की काव्य-स्थिति का कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

ये कवि विचारधारा की दृष्टि से दो खेमों में बँटे हुए हैं। एक खेमा है सक्रिय प्रगतिशीलता-विरोधी, जिसमें सर्वप्रमुख हैं श्री वात्स्यायन और धर्मवीर भारती, आदि। दूसरे लोग प्रगतिवाद के पक्ष में हैं, जिनमें प्रमुख हैं गिरिजाकुमार माथुर, नेमिचन्द्र जैन, नरेशकुमार मेहता, भारतभूषण अग्रवाल, आदि। बहुत थोड़े ऐसे हैं जो इन दोनों की कुछ-कुछ बातें मानते हुए भी दोनों से थोड़े-थोड़े दूर हैं। उनमें से प्रमुख हैं श्री प्रभाकर माचवे, पण्डित भवानीप्रसाद मिश्र, आदि।

काव्य-प्रवृत्तियों की दृष्टि से, यह कहा जाना चाहिए कि इनके फिर दो विभाग हो जाते हैं। एक में प्रमुखतः सौन्दर्यवादी ही आते हैं। जैसे, गिरिजाकुमार माथुर, नरेशकुमार मेहता, और, कुछ अंशों में, हरिनारायण व्यास, तथा सच्चिदानन्द वात्स्यायन। दूसरे पक्ष में आभ्यन्तर प्रतीकात्मक चित्रण ही अधिक होता है, जिनमें प्रमुख हैं वात्स्यायन, गजानन माधव मुक्तिबोध, धर्मवीर भारती, आदि। मज़ेदार बात यह है कि भवानीप्रसाद की शैली ऐसी है कि वह आभ्यन्तर को बाह्य बनाकर चलती है। ऐसे लोगों में स्वयं मिश्रजी और माचवे हैं।

हिन्दी साहित्य में नयी कविता का प्रसार होता जा रहा है। उसे कोई रोक नहीं सकता। आज के प्रगतिवाद में बाह्य पक्ष का ही चित्रण किया जाता है, व्यक्तिगत यथार्थ, आन्तरिक अनुभूति, को तो वे लोग जैसे छूते ही नहीं। यहीं उनका मामला गड़बड़ है। जब तक सम्पूर्ण मनुष्य को लेकर हम न चलेंगे, तब तक उसके किसी एक ही अंश को सर्वप्रधान बनाकर हम सम्पूर्ण को खण्डित कर देंगे। जब तक हम आज के युग के पीड़ित मनुष्य की सम्पूर्ण आत्मसत्ता का चित्रण नहीं करते, उसके वास्तविक सुख-दुख, उसके संघर्षों और आदर्शों का अंकन नहीं करते, उसके अनिवार्य भवितव्य और कर्त्तव्य का मार्ग प्रशस्त नहीं करते, तब तक नयी कविता का कार्य अधूरा है। हम नहीं करेंगे तो कोई और आकर करेगा। ऐतिहासिक अनिवार्यताएँ किसी के लिए रुकती नहीं।

[सम्भावित रचनाकाल 1955-57। किसी पत्रिका में प्रकाशित]

नयी कविता की प्रकृति

नयी कविता की प्रकृति और रूप की चर्चा करना यहाँ व्यर्थ है। इतना कहना काफ़ी है कि वह व्यक्ति-मन की प्रतिक्रिया है। प्रथम उन्मेष-काल में उसके पास आदर्शवाद था, सामाजिक विषमताओं को दूर करने के कार्य में लगने के अतिरिक्त, विषमताहीन समाज-व्यवस्था का स्वप्न और व्यक्ति-विकास की अनन्त सम्भावनाओं का स्वप्न भी उसके पास था। फलतः, यदि उसके काव्य में समाज के (वर्तमान पूँजीवादी समाज के) प्रति क्षोभ और कष्ट-भावना थी, तो दूसरी ओर वैफल्य का भान भी था। किन्तु यह वैफल्य उसका व्यक्तिगत था। एक विशेष समाज, वर्ग और परिवार में पाये जानेवाले व्यक्ति के मानस का चित्रण उसमें है, उसमें एक मनोवृत्तान्त है। यदि कवि अपनी आत्मपरक कविता में अपनी व्यथा प्रकट नहीं करेगा तो फिर काहे में करेगा। उसकी उदासी और विफलता रोमैण्टिक नहीं है, वरन् इसके विपरीत वह वास्तविक जीवन-समस्याओं से उत्पन्न है। उसके पास आदर्शवाद और आशावाद भी है। अतएव वह अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख के परे जाकर, खतरा मोल लेते हुए, राजनैतिक-सामाजिक विषय की कविता लिखने के पहले उस क्षेत्र में स्वतः कार्य करता है, और उसके साथ राजनैतिक-सामाजिक काव्य-विषय भी चुनता है। संक्षेप में, काव्य-रचना उसके जीवन से सम्बद्ध है—ऐसे जीवन से जो उसके काव्य की मूल भूमि है। ध्यान में रखने की बात है कि आगे चलकर, नयी कविता के डिफ़ेन्स में जब प्रगतिवादी दृष्टि का विरोध किया गया, तब सबसे पहले जीवन और काव्यानुभूति की समानान्तरता का, पैरेलेलिज़्म का, सिद्धान्त स्थापित किया गया। कहा गया कि जीवन में प्राप्त होनेवाली अनुभूतियाँ और सौन्दर्यानुभूति, ये दो चीज़ें अलग-अलग हैं। बाह्यतः स्पष्ट-सी दीखनेवाली इस बात के पीछे एक स्पष्ट-अस्पष्ट राजनैतिक उद्देश्य था। वह यह कि कवि का काव्य-जीवन और वास्तविक जीवन, इन दो में अविच्छिन्नता और मौलिक एकता को कुहरिल कर दिया जाये। यह सिद्धान्त एक बहुत ही खतरनाक मान्यता है। नयी कविता के बुर्ज से शीत-युद्ध चलानेवाले नीति-नियामकों का वह एक सोद्देश्य मानसिक विक्षेप है। इसकी चर्चा आगे होगी।*···

[कला-सम्बन्धी धारणाओं को मूल जीवन-दृष्टि से सुविधा के लिए भले ही अलग रखा जाय, वे इससे सर्वथा विच्छिन्न नहीं होतीं। ध्यान में रखने की बात है कि भारतीय-साहित्य-चिन्तन में काव्य-सौन्दर्य के सम्बन्ध में विस्तृत और

* 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' पुस्तक में 'नयी कविता की प्रकृति' शीर्षक से ही प्रकाशित इस निबन्ध में यहाँ जो अंश दिया हुआ था वह असम्बद्ध था। पाण्डुलिपि से मिलाने पर यह स्पष्ट हुआ कि सम्भवतः इस अंश के पहले और बाद के दो हस्तलिखित पृष्ठ नहीं हैं। इसलिए उस अंश में से एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य, जो किसी हद तक सम्बद्ध भी है, यहाँ इन कोष्टकों के भीतर दिया जा रहा है।—सं०

वैविध्यपूर्ण चर्चा है। किन्तु नयी कविता ने पैतृक सम्पत्ति भी नहीं ली है।]...

नयी कविता की अपनी विशेष कोई दार्शनिक धारा या विचारधारा नहीं रही। वह तरह-तरह के झुकावों, दृष्टियों और विचारों का एक ढेर बन गयी। संक्षेप में, नयी कविता के पास अपनी कोई विशिष्ट दार्शनिक धारा या विचारधारा नहीं है। लगभग सभी कवियों में विकसित विश्व-दृष्टि का अभाव है, सांगोपांग विचारधारा का अभाव है। अगर किसी में कोई विश्व-दृष्टि है भी, तो वह ऐसी स्थिति में है कि वह उसकी भाव-दृष्टि का अनुशासन, प्रायः, नहीं कर सकती।

काव्य के लिए विचारधारा का महत्त्व

क्या यह वांछनीय है? इस प्रश्न का उत्तर, अपने-अपने झुकावों के अनुसार, अलग-अलग तरह से दिया जायेगा। मेरे अपने मतानुसार, यह अच्छा नहीं हुआ। अच्छा नहीं है, हानि-प्रद है, साहित्य के लिए, देश के लिए, स्वयं कवियों के अपने अन्तर्जीवन के लिए भी। आज बहुत-से कवियों के अन्तःकरण में जो बेचैनी, जो ग्लानि, जो अवसाद, जो विरक्ति है, उसका एक कारण (अन्य कई कारण हैं) ऐसी विश्व-दृष्टि का अभाव है जो उन्हें आभ्यन्तर आत्मिक शक्ति और मनोबल प्रदान कर सके तथा उसकी पीड़ाग्रस्त अगतिकता को दूर कर सके।

कहा जायेगा कि नयी कविता, वस्तुतः, एक नयी तर्ज़ है, नया काव्य-प्रकार है; और उसमें विभिन्न विश्व-दृष्टियों या विचारधाराओं को स्थान प्राप्त है। और, यह कि यदि वैसी विचारधाराएँ उसमें नहीं आ पातीं, तो इसका कारण यह है कि समाज ने, उन विचार-धाराओं के लिए, फ़िलहाल, कोई उपजाऊ ज़मीन तैयार नहीं की है।

इस सम्बन्ध में मेरा यह निवेदन है कि नयी कविता के क्षेत्र में कार्य करनेवाले कवियों द्वारा किसी ऐसी विश्व-दृष्टि के विकास के प्रयत्न नहीं देखे गये (या वे प्रयत्न इतने प्रधान नहीं हुए कि सबका ध्यान अपनी ओर खींच सकें), जो उनकी भाव-दृष्टि का अनुशासन कर सकें, और उस भाव-दृष्टि में किसी-न-किसी प्रकार से उनकी विश्व-दृष्टि प्रतिच्छवित हो सके।

यह भी कहा जा सकता है कि लेखक-कलाकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह समग्रतापूर्ण किसी विश्व-दृष्टि का विकास करे। यह काम दार्शनिकों, चिन्तकों तथा अन्य विचारकों का हो सकता है, लेखक-कलाकार का नहीं। इसी सिलसिले में ऐसे साहित्य-युगों की ओर संकेत किया जा सकता है जबकि किसी दार्शनिक धारा को लेखक-कलाकार ने अपनी कला का आधार नहीं बनाया, नहीं ही बनाया—जैसे, हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य, अथवा कहिये, वीरगाथा काल। अन्य देशों के साहित्य-युगों के भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। संक्षेप में, कलाकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह कोई दार्शनिक आधार ग्रहण करे। और सचमुच यदि हम 'दार्शनिक' आधार का बहुत संकुचित अर्थ स्वीकार करें, तो कलाकार के लिए यह ज़रूरी नहीं है कि वह किसी बँधे-बँधाये वैचारिक ढाँचे

जो अपनी कला की श्रेष्ठता उपस्थित करने के लिए यान्त्रिक रूप से स्वीकार करे। यह सच नहीं है।

फिर भी ऐसे लेखक कलाकार होते आये हैं जिन्होंने व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में, एक कलाकार की हैसियत से, सोचा-विचारा है। चेतना की समृद्धि और विस्तार श्रेष्ठ कला का एक लक्षण है। और जब तक मानव-समस्याएँ हल नहीं होतीं, चाहे वे किसी भी क्षेत्र और स्तर की क्यों न हों, तब तक मानव-संवेदनापूर्ण कलात्मक चेतना का यह धर्म है कि वह उन पर सोचे-विचारे और अपनी दृष्टि को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करे।

एक बात और भी है। किसी भी कलाकृति में लेखक की जीवन-दृष्टि अवश्य प्रकट होती है। भले ही लेखक जाने या न जाने, उसी जीवन-दृष्टि के भीतर और उसके आसपास जीवन-जगत्-सम्बन्धी तरह-तरह की धारणाएँ और विचार होते हैं। यह भी एक तरह की विचारधारा ही है, जिसे हम पूर्णतः सुसम्बद्ध सुसंगत वैचारिक व्यवस्था भले ही न कहें।

कलाकार और मानव-समस्या

उस युग में, उस काल-विशेष में, जबकि मानव-समस्याएँ अधिकाधिक एकत्रित और विकसित होती जाती हैं, यह स्वाभाविक ही है कि लेखक-कलाकार उनसे प्रभावित हो और उन्हें अपनी कलात्मक चेतना के विषय बनाये। अगर वह किसी कारण से—जैसे राजनैतिक कारणों से—उन समस्याओं के स्वाभाविक तर्कसंगत समाधानों को स्पष्टतः और पूर्णतः प्रकट नहीं कर पाता, अथवा उन समस्याओं की वास्तविक रूपाकृतियों को स्पष्टतः और पूर्णतः प्रकट करना अपने लिए खतरनाक समझता है, तो वैसी स्थिति में वह उन्हीं समस्याओं के प्रतिबिम्बन को बदलकर, सिर्फ़ इशारेबाजी से उन्हें बताता-समझाता हुआ, आगे बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों में, किसी-न-किसी प्रकार से वह उन्हें, प्रत्यक्षतः या परोक्षतः, सूचित अवश्य कर देता है, और उनके आधार पर एक मानव-कथा या सांकेतिक मनो-वृत्तान्त उपस्थित कर देता है। किन्तु भारत में ऐसी कोई स्थिति नहीं है कि हमारे कवि-कलाकार उन मानव-समस्याओं से जी चुरायें। और, उनकी इस प्रकार उपेक्षा करें मानो वे हैं ही नहीं, और यदि हैं भी तो केवल कलाकार की अपनी निजी किसी मनोग्रन्थि या व्यक्तिगत समस्या के रूप में। कम-से-कम, प्रस्तुत समय में, भारत में ऐसी कोई भयानक बाधा नहीं है जो लेखक को अपने पूर्ण और मूर्त आत्म-प्रकटीकरण अथवा जीवन-चित्रण से रोके।

तो फिर वह कौन-सी चीज़ है जो कवि-कलाकार को, अपने ही क्यों न सही, मूर्त और साक्षात् जीवन के चित्रण और पूर्ण आत्म-प्रकटीकरण से रोकती है? क्या मैं यह कहूँ कि उनमें प्रतिभा का अभाव है? मैं जानता हूँ कि वैसी चीज़ नहीं है, कदापि नहीं है। फिर क्या बात है?

मेरे मत से, उसका उत्तर उन विचार-सरणियों में मिलेगा जो नयी कविता के आस-पास फैली हुई हैं, और उसको घेरे हुए हैं। फिर भी मुझसे यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि आखिर आज यह सवाल उठाने की ज़रूरत ही क्या पड़ गयी।

तो इसका उत्तर यह है कि नयी कविता उस प्रकार की आइवरी टॉवर की, रोमैण्टिक स्वप्नशीलता की, एकान्त-प्रिय आत्म-रतिमय आध्यात्मिकता की, कविता नहीं है, जैसी कि पुराने रोमैण्टिक युग की हुआ करती थी। वह, मूलतः एक परिस्थिति के भीतर पलते हुए मानव-हृदय की, पर्सनल सिचुएशन की, कविता है। इसीलिए उसमें कहीं आत्मालोचन है, तो कहीं बाह्य स्थिति-परिस्थिति और समाज पर व्यंग्य है, तो कहीं आर्थिक विवशताओं से उत्पन्न करुणा-भाव है, तो कहीं ग्लानि है, कहीं वैफल्यजनित विक्षोभ है, तो कहीं जीवन-आलोचन है। यहाँ तक कि उसमें जहाँ रोमैण्टिक रंग हैं, वहाँ भी एक व्यक्ति-स्थिति-परिस्थिति का दबाव है या उभार है। यह पर्सनल सिचुएशन यहाँ तक बढ़ गयी है कि बहुतेरे कवियों ने उसे व्यक्त करने के लिए अपनी एक निजी अभिव्यक्ति-शैली और प्रतीक-सम्पदा भी बढ़ा ली है। यहाँ तक कि कई बार एक कवि को दूसरे कवि की कविता ही समझ में नहीं आती। अजी, यह पर्सनल सिचुएशन यहाँ तक बढ़ चुकी है कि कइयों के अपने एस्थेटिक पैटर्न्स बनकर वे इतने जड़ीभूत हो गये हैं, कि कविगण एक-दूसरे की गहराइयों को सचमुच समझ नहीं पाते। हिन्दी कविता के क्षेत्र में मुझे जो अनुभव हुए हैं उसके आधार पर मैं यह बात कह रहा हूँ।

निज समस्या की मानव-समस्या में परिणति आवश्यक

अपने इन घरौंदों, इन काराओं के पार जाकर, उन पर्सनल सिचुएशन्स, वैयक्तिक स्थिति-परिस्थितियों का सामान्यीकरण करते हुए, आत्म-स्थिति और व्यक्ति-स्थिति से हटकर मानव-समस्या के रूप में उन्हें देखना क्या कलात्मक चेतना का धर्म नहीं होना चाहिए? आज जो प्राप्त मानव-सम्बन्धों का ताना-बाना है, उसका अवलोकन-निरीक्षण-अध्ययन तथा उससे उचित निष्कर्षों की प्राप्ति के प्रयत्न, कलात्मक चेतना के बाहर की कोई चीज़ होनी चाहिए? क्या कलात्मक चेतना का विस्तार वहाँ तक नहीं हो सकता? कलात्मक चेतना के विस्तार के प्रति यह अरुचि क्यों?

इसका उत्तर यह कहकर दिया जा सकता है कि जहाँ तक जीवन को तद्गत (वस्तुपरक) दृष्टि से देखकर उसके अध्ययन का प्रश्न है, वह काम शास्त्रों का है, न कि कलाकार का। अतएव कलाकार से वैसी बातें कहना उसके व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में बाधा डालना है। कलाकार का काम तो केवल आत्माभिव्यक्ति करना है।

किन्तु प्रश्न यह है कि इतर जनों को यह अधिकार क्यों न हो कि वे यह जानें

कि कलाकार की वह आत्मा, जिसकी वह अभिव्यक्ति कर रहा है, कैसी है ? हीन और क्षुद्र है या श्रेष्ठ और उदात्त ? ज्ञान-दीप्त है या अज्ञानग्रस्त ? वस्तुतः, वह कवि जीवन-संवेदनशील है, या जीवन के स्थान पर उसने किसी झूठी स्वप्न-प्रतिमा को खड़ा करके काम से छुट्टी पायी है ? आदि-आदि प्रश्न उठते हैं। क्या ऐसे सवाल उठाना स्वाभाविक नहीं है ?

यदि कवि-कलाकार किसी शास्त्रीय पुस्तक के पास न भी पहुँचे, तब भी, मनुष्य होने के नाते, वह समस्याओं के प्रति संवेदनशील अवश्य होता है। यह सही है कि कोई लेखक-कलाकार अधिक संवेदनशील तो कोई कम संवेदनशील होता है, अथवा किसी की संवेदना का विस्तार संक्षिप्त तो किसी का व्यापक होता है। फिर भी यह कहना कि वह मानव-समस्या के प्रति संवेदनशील नहीं है, मुझे अत्युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। बातचीत के दौरान में प्रकट किये गये इस ख़याल से तो मैं सहमत हूँ कि हिन्दी का कवि, साधारणतः, एक पिछड़ा हुआ प्राणी है। किन्तु क्या वह इतना पिछड़ा हुआ है कि उसे साहित्य का आदिवासी कहा जाय ? मेरे ख़याल से ऐसा कहना कवियों का अपमान है। किन्तु, यदि वह उन समस्याओं के प्रति संवेदनशील है, तो वह उनका चित्रण इस प्रकार क्यों नहीं कर पाता कि जिससे वह एक मानव-समस्या के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत हो ? मानव-समस्या जब भी हमारे हृदय को स्पर्श करती है, तब हमें लगता है कि वह अपने पूरे ताने-बाने के साथ उपस्थित हो रही है। तो, वह समस्या, उसके ताने-बाने, उसकी पीड़ा, इन तीनों का समग्र एकीभूत संवेदनात्मक अंकन क्यों नहीं हो पाता ? यह ठीक है कि एक ही मानव-समस्या को भिन्न कलाकार भिन्न रूप से ग्रहण करेंगे या समझेंगे, अथवा उनके सम्बन्ध में हमारा संवेदनात्मक ज्ञान तीव्र होते हुए भी उथला हो सकता है। किन्तु, प्रश्न यह है कि हमारी व्यक्ति-समस्या, मन की निविड़ पीड़ा, एक मानव-समस्या के रूप में गृहीत और चित्रित क्यों नहीं हो पाती।

मेरे ख़याल से यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। व्यापक मानव-जीवन तक पहुँचने के लिए यह सिर्फ़ पहला क़दम, पहली सीढ़ी है।

व्यक्ति-समस्या को मानव-समस्या बनाकर तभी प्रस्तुत किया जा सकता है जब हम उस समस्या से पूर्ण तटस्थ हों, और फिर उसमें भीगें-रमें, और इस प्रकार उस सारे ताने-बाने को देखें जिससे मानव-जीवन बना हुआ है, अपनी स्थिति में और विकास में। संक्षेप में, हमें केवल तथाकथित सौन्दर्यानुभूति के क्षणों के बाहर जाना होगा, और भाव का आधार बननेवाले ज्ञान का विस्तार करना होगा। केवल एक क्षण के उत्कर्ष का चित्रण करने के बजाय हमें लम्बी नज़र फेंकनी होगी, और वह सारा तानाबाना अंकित करना होगा जिससे वह समस्या, एक विशेष काल और परिस्थिति में, विशेष रंग और रूप में, विकसित और ग्रन्थिल हुई है। यह सब कार्य तथाकथित सौन्दर्यानुभूति के बाहर का कार्य है। और, चूँकि वह कार्य सौन्दर्यानुभूति के बाहर का कार्य है, इसलिए यह समझा जाता है कि

वह सौन्दर्यानुभूति के क्षणों के लिए, या कलात्मक चेतना की परिवृद्धि और विकास के लिए, महत्त्वपूर्ण नहीं है। और यदि है भी तो उससे कला का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। वह जैसी है वैसी ही रहेगी।

आन्तरिक निषेध और पिछले पाप

सच बात तो यह है कि इस प्रकार के झुकावों और दृष्टियों के पीछे, कला-सम्बन्धी कुछ धारणाएँ और विचार-सरणियाँ काम कर रही हैं। ये धारणाएँ और विचार-सरणियाँ उस काल में अधिक प्रचलित और प्रसारित हुईं जिसे हम हिन्दी-क्षेत्र में शीत-युद्ध का काल कह सकते हैं।

आपको याद होगा, सन् 1951-52 के अनन्तर, साहित्य-क्षेत्र से, विशेषकर काव्य-क्षेत्र से, प्रगतिवादी विचार-धारा को खदेड़कर बाहर करने के लिए नयी कविता के बुर्ज़ से शीत-युद्ध की गोलन्दाज़ी की गयी थी। यह शीत-युद्ध, मेरे लेखे, विश्व में चल रहे राजनैतिक शीत-युद्ध की साहित्यिक शाखा के रूप में था। इस शीत-युद्ध के दौरान तरह-तरह के प्रश्न उठाये गये, जो सचमुच कला-चिन्तन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। कला का स्वरूप क्या है? काव्य-सौन्दर्य के तत्त्व क्या हैं? साहित्यिक उत्तरदायित्व का क्या अर्थ है? आदि-आदि के सम्बन्ध में ज़ोरदार चर्चाएँ हुईं। एक नया साहित्यिक वातावरण उत्पन्न हुआ। नयी कविता को प्रबल समर्थक शक्ति मिली। (किन्तु ऐसा नहीं था कि मूल प्रगतिवादी विचार-धारा उन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकती थी)। यह वातावरण एक विशेष समूह द्वारा, लगभग संगठित रूप से, तैयार किया गया था। उसने कविता को नयी व्यक्तिवादी पश्चिमी भूमिका प्रदान की। पश्चिमी साहित्य की परम्परा अत्यन्त उच्च, श्रेष्ठ और भव्य है। अमरीकी साहित्य एक श्रेष्ठ साहित्य है, तथा वह ब्रिटिश तथा फ़्रांसीसी साहित्य से बहुत कुछ भिन्न है। अमरीकी साहित्य की अधिकांश प्रेरणाएँ प्रगतिशील हैं, यथार्थवादी हैं। ऐसी ही श्रेष्ठ परम्पराएँ पश्चिमी यूरोप में भी हैं। किन्तु, शीत-युद्ध के नीति-नियामकों ने उनसे अपनी प्रेरणा ग्रहण नहीं की, वरन्, साम्यवाद-विरोध को अपना प्रधान धर्म मानते हुए, (उन दिनों डलेस का ज़ोर था, भारत में भी डलेसवादियों की आज भी कमी नहीं है), वे नीति-नियामक ऐसे सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे, जो घोषित रूप से थे तो साहित्य-सौन्दर्य, कला-सौन्दर्य के सम्बन्ध में, किन्तु उनका उद्देश्य अधिक व्यापक था। चूँकि प्रगतिवाद, अपने अन्तर्बाह्य कारणों से, विशृंखल हो गया था, साथ ही वह जिस रूप में हिन्दी-क्षेत्र में था वह अपरिपक्व ही कहा जा सकता है, इसलिए उसका प्रभाव क्षीणतर होता गया। उस पुराने अपरिपक्व प्रगतिवाद ने अपने हठ के कारण नयी कविता का सब तरह से विरोध किया, इसलिए उसे मार खानी पड़ी। इस शीत-युद्ध के समय प्रचलित सिद्धान्तों की छाप अभी भी नयी कविता पर है, यह भूलना नहीं चाहिए।

ध्यान में रखने की बात है कि एक कला-सिद्धान्त के पीछे एक विशेष जीवन-

दृष्टि होती है, उस जीवन-दृष्टि के पीछे एक जीवन-दर्शन होता है, और उस जीवन-दर्शन के पीछे, आजकल के ज़माने में, एक राजनैतिक दृष्टि भी लगी रहती है। निःसन्देह, नयी कविता की एक फ़िलॉसफ़ी के रूप में कला-सिद्धान्त लाया गया। कला-सिद्धान्त के पीछे सामाजिक-साहित्यिक मनोवृत्तियों का विश्लेषण करनेवाला 'आधुनिक भाव-बोध' का सिद्धान्त आया, और 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' के नाम पर एक सामाजिक-राजनैतिक दर्शन भी प्रस्तुत हुआ। और ये सब नयी कविता के समर्थन और विस्तार में ही आये। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

यूरोप में काव्य-सौन्दर्य का ऊहापोह करनेवाले सिद्धान्तों का एक जंगल का जंगल खड़ा हुआ है। ध्यान में रखने की मुख्य बात यह है कि न केवल ये सिद्धान्त परस्पर-भिन्न होते हैं, वे सिद्धान्त रूप में भी अस्थायी होते हैं। साहित्य-सिद्धान्त के क्षेत्र में, सौन्दर्य-तत्त्व का विश्लेषण करनेवाली थियॅरीज़ के मृतावशेष इधर-उधर फैले पड़े हैं। मुख्य बात यह है कि वे सौन्दर्य-सिद्धान्त किसी विशेष कला-प्रवृत्ति की औचित्य स्थापना के लिए, किसी जीवन-दृष्टि के (जो कला में प्रकट होती है) समर्थन के लिए, लाये जाते हैं। और वह काव्य-प्रवृत्ति नष्ट होते ही, या उसमें नये तत्त्वों का समावेश होते ही, उन कला-सिद्धान्तों में भी धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगता है। प्रगतिवादियों के विषय एक थे, दृष्टि एक थी, वैसे ही उनका पैटर्न भी था। नया विषय, नयी दृष्टि और नये पैटर्न के लिए नया कला-सिद्धान्त लाया गया। किन्तु चूंकि उस कला-सिद्धान्त के पीछे पश्चिम का उज्ज्वल मानवतावाद न होकर उसी पश्चिम का अत्यन्त संकुचित व्यक्तिवाद था, इसलिए इस नये कला-सिद्धान्त में भी वह संकुचित जीवन-दृष्टि प्रकट हुई। और इस संकुचित व्यक्तिवाद में शीत-युद्ध के उद्देश्य छिपे हुए थे।

यह नया कला-सिद्धान्त, मुख्यतः, जीवनानुभव और सौन्दर्यानुभूति की समानान्तरता मानता है। सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में ही कला का प्रसव होता है। किन्हीं अन्तर्बाह्य आवेगों से मन का द्रवण होकर जब वह उत्कर्ष प्राप्त करता है, तब यह कहा जायेगा कि वह सौन्दर्यानुभव का क्षण है। इसलिए कलाकार से यह अनुरोध नहीं किया जा सकता कि तू ऐसा लिख वैसा लिख, तेरी कला ऐसी हो वैसी हो। सौन्दर्यानुभव के क्षणों में जिस प्रकार उसका मन द्रवित होकर आत्म-प्रकटीकरण करना चाहेगा, करेगा। उसका काम तो सिर्फ़ आत्मप्रकटीकरण और सुन्दर आकृतियों का निर्माण करना है। ध्यान रहे कि प्रगतिवादी सज्जन कलाकारों से इस प्रकार के अनुरोध करते थे। यह उनकी तानाशाही मनोवृत्ति थी। इस प्रकार वे रेजिमेण्टेशन करना चाहते थे। कलाकार को पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह मनचाही चीज़ लिखे। यदि पाठकों को अच्छी लगे तो ठीक, न अच्छी लगे तो ठीक। यदि इस प्रकार के क्षणों में कोई मूल्यवान अनुभव ग्रथित हुआ, और उसकी अभिव्यक्ति सुन्दर हुई, तो निःसन्देह, वह मानवतावाद की स्थायी निधि में स्थान पायेगा। यदि आज नयी कविता लोकप्रिय नहीं है तो जनता में उसकी अभिरुचि बढ़ायी जा सकती है, प्रचार और प्रशिक्षण द्वारा।

संक्षेप में, तरह-तरह के विचार प्रकट किये गये। उनमें मुख्य बात यह बतायी गयी कि जीवनानुभवों का स्तर और सौन्दर्यानुभवों का स्तर परस्पर भिन्न है। सौन्दर्यानुभवों की स्वतन्त्र क्रियमाणता, स्वतन्त्र गति है। इसलिए उस पर किसी भी प्रकार के बाह्यानुरोध नहीं लादे जा सकते। कलाकार का काम, कलाकार की हैसियत से, सिर्फ़ सौन्दर्यानुभवों के क्षण की परिसीमा के भीतर रहकर उसका चित्रण करना है, अर्थात् कलाकार की हैसियत कलात्मक क्षण के अनुभवन और चित्रण तक ही मर्यादित है। शेष कार्य वह एक नागरिक की हैसियत से, या ज्ञान-पिपासु बुद्धिवादी की हैसियत से, चाहे तो, कर सकता है। यह उन नीति-नियामकों की भूमिका थी।

इस भूमिका के विशेष सामाजिक-राजनैतिक उद्देश्य थे। पहला तो यह था कि लेखक-कलाकार को वास्तविक जीवन के स्पर्श से बचाया जाये, जिससे कि वह वास्तविक जीवन को अपनी कलात्मक चेतना के अन्तर्भूत न कर सके। क्योंकि यदि उसने वैसा, वस्तुतः, किया, तो निःसन्देह होगा यह कि वास्तविक जीवन की तरह-तरह की विषमताएँ सामने आयेंगी, और उनका चित्रण करते हुए वह वाम-पन्थी मनोवृत्तियों का भी चित्रण कर सकता है। उन नीति-नियामकों का मुख्य उद्देश्य तो उन वामपन्थी मनोवृत्तियों से युद्ध करना था। यही कारण है कि उन्हीं के काव्य-क्षेत्र के अन्तर्गत बहुत-से रचनाकारों ने जब अपनी किन्हीं कृतियों में वामपन्थी मनोवृत्तियाँ प्रकट कीं, तो उनकी वे कृतियाँ, उन नीति-नियामकों और उनके अनुसरण-कर्त्ताओं के लेखे, असुन्दर हो गयीं।

किन्तु इसके विपरीत, यह स्पष्ट है कि कलाकार को जीवन के स्पर्श से बचाया नहीं जा सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि कलाकार को ऐसी भूमिका प्रदान की जाये जिससे वह उन मनोवृत्तियों के पंजे में न आये। 'आधुनिक भाव-बोध' तथा 'लघु-मानव' आदि सिद्धान्त इसी आवश्यकता से उत्पन्न हैं। यह तो स्पष्ट है कि इस 'आधुनिक भाव-बोध' में उन उत्पीड़नकारी शक्तियों का बोध शामिल नहीं है जिन्हें हम शोषण कहते हैं, पूँजीवाद कहते हैं, साम्राज्यवाद कहते हैं; तथा उन संघर्षकारी शक्तियों का बोध भी शामिल नहीं है, जिन्हें हम जनता कहते हैं, शोषित वर्ग कहते हैं। यहाँ तक कि इस आधुनिक भाव-बोध में उस देश-निर्माण का स्वप्न भी नहीं है, जिसके अन्तर्गत हमारे यहाँ औद्योगीकरण हो रहा है, न उस देश-निर्माण का जबकि ग़रीब-अमीर रहेंगे ही नहीं।

संक्षेप में, भारत की शिक्षित मध्यवर्गीय जनता में जो भाव-संवेदनाएँ प्रगति-शील राजनैतिक अर्थ रखती हैं, कोई क्रान्तिकारी अर्थ रखती हैं, उनका 'आधुनिक भाव-बोध' में कोई स्थान नहीं है। हम तो केवल 'लघु-मानव' हैं, साधारण जनता नहीं। साधारण जनता में विश्व-परिवर्तन की अदम्य क्रान्तिकारी शक्ति होती है। लेकिन उन नीति-नियामकों के लेखे, वह भीड़ की अन्धी ताक़त है। वास्तविक चेतना तो व्यक्ति के अपने अभ्यन्तर की समृद्धि है। तो इसलिए व्यक्तित्व की इकाई महत्त्व-पूर्ण है। यह इकाई 'लघु-मानव' है, क्योंकि अब यह इकाई महान् आदर्शों के उच्च-

नए स्तर की प्राप्ति के पीड़ाजनक भीषण प्रयत्नों में संलग्न नहीं है, न हो सकती है। महान् आत्माओं, महान् प्रतिभाशालियों, महामानवों का युग गया। अब हम जन-साधारण भी नहीं, केवल लघु-मानव हैं। क्योंकि हम जनसाधारण हो जायें तो वाम-पन्थी मनोवृत्तियों के शिकार होकर, भीड़ की अन्धी ताक़त बनते हुए, अपनी व्यक्ति-गत रचना को खो देंगे। इसलिए हमें जनसाधारण से लघु-मानव बन जाना चाहिये।

हमें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एक पुनीत सिद्धान्त है (चाहे उसमें लूट-खसोट, अनाचार, भ्रष्टाचार, स्वार्थ, चरित्रहीनता, धन का प्रभुत्व, शोषण, क्यों न चलता हो!)। यदि समाज में बुराइयाँ हैं तो धीरे-धीरे ही दूर होंगी। लोग हैं कि जो अपने लघुत्व के कारण इस स्वातन्त्र्य से डरते हैं। वे कलाकार हीन हैं जो बाह्यानुरोध स्वीकार करते हैं। मनुष्य की परम-चेतन अन्तरात्मा पर ज़ोर डालनेवाली, और उसे गुलाम बनानेवाली, यह साम्यवादी पार्टी रेजिमेण्टेशन करती है। वह साहित्य का भी रेजिमेण्टेशन करना चाहती है। वह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विरुद्ध अधिनायकत्व के सिद्धान्त में विश्वास रखती है। साम्यवाद का विरोध एक पवित्र धर्म है। ये कुछ बुद्धिजीवी और वह कुछ जनता इतनी बेवक़ूफ़ है कि उनके बहकावे में आ जाती है। वह विदेशी प्रभाव भारत में लाती है, लोगों के दिमाग़ों को ग़ुलाम बना लेती है (पश्चिमी प्रभाव भारतीय प्रभाव है, अमरीकी नीति-नियमन वस्तुतः भारतीय है। अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद भारत का शत्रु है, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद और साम्राज्यवाद भारत का अपना सगा भाई है!)।

यह एक स्पष्ट तथ्य है कि हमारे अधिकांश कवि इस राजनीति के चक्कर में नहीं हैं। मेरा उद्देश्य तो केवल यही दरशाना था कि किस प्रकार एक कला-सिद्धान्त के साथ एक समाजनीति और राजनीति लगी हुई है। किन्तु, आज की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि, यद्यपि इस राजनैतिक विचारधारा का कोई विशेष प्रभाव हम पर नहीं है, फिर भी काव्य-सौन्दर्य-सम्बन्धी बहुत-सी धारणाओं का हम पर अवश्य प्रभाव है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम उसकी जाँच करें।

[रचनाकाल अनिश्चित, सम्भवतः 1955 के बाद। **नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र** में संकलित]

नयी कविता का आत्मसंघर्ष

जब कभी कोई नयी काव्य-प्रवृत्ति अथवा साहित्य-प्रवृत्ति अवतरित होती है, कला के मूल तत्त्वों के सम्बन्ध में, सिद्धान्तों के बारे में, बहस शुरू हो जाती है। यदि इस

विचार-विनिमय को वास्तववादी होना है, तो उसे एक साथ दो काम करने होंगे —एक तो अपने युग-विशेष की प्रवृत्तियों को समझना होगा, दूसरे, नयी काव्य-प्रवृत्ति के स्वरूप को हृदयंगम करना होगा। नयी काव्य-प्रवृत्ति अभी तक पण्डितों, आचार्य प्रवरों और आलोचक-वरेण्यों द्वारा हृदयंगम नहीं हो सकी है। किन्तु यह चिन्ता की बात नहीं है। चिन्ता की बात यह है कि नयी काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र के भीतर से ऐसी कोई आलोचना अभी नहीं उठी है जो उस प्रवृत्ति की सीमाएँ बताये और उसकी विस्तृत समीक्षा करे।

कला की वस्तु और रूप का प्रश्न आज ही क्यों उठ खड़ा हुआ ? वह भी इतने ज़ोर से क्यों ? संवेदनशील कवि-हृदय को उसके आस-पास की वास्तविकता के मार्मिक पक्ष गहरी चुनौती देते हैं। यह चुनौती दो प्रकार की होती है—एक, तत्त्व-सम्बन्धी; दूसरी, रूप-सम्बन्धी। आज के कवि के हृदय में तनाव भी है, घिराव भी। किन्तु कवि-हृदय फैलना चाहता है, आत्म-विस्तार करना चाहता है। फैलने की इस मनोवृत्ति के सक्रिय होते ही, उसे मानव-वास्तविकता के मूल मार्मिक पक्ष दिखायी देने लगते हैं। किन्तु कहना चाहिए कि इन मार्मिक पक्षों का संवेदनात्मक आकलन करने की सारी तत्परता होते हुए भी, अभिव्यक्ति लँगड़ा जाती है। आज की काव्य-प्रवृत्ति की मनोवैज्ञानिक धारा यदि विशुद्ध आत्म-परक भाव-धारा होती, अर्थात् अनायास प्रवाहित होनेवाले स्वच्छन्द भावों का वह प्रवाह होता, तो दिक़्क़त का सामना न करना पड़ता। किन्तु वह कविता संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनों के तीव्र मानसिक प्रतिक्रियाघातों को प्रकट करना चाहती है (वह सर्वत्र कहाँ तक सफल है, यह एक अलग प्रश्न है)। ऐसी स्थिति में, उसे न केवल अनुभूति-पक्ष के वरन् वस्तु-पक्ष के, और उससे सम्बन्धित परिज्ञान-पक्ष के, विकास की अपेक्षा है। यह सवाल, या इससे सम्बन्धित प्रश्न, कविजनों के मन में उठते रहते हैं।

किन्तु ज्ञान-पक्ष संवेदना से हटकर काव्योपयोगी नहीं रहेगा। यह तथ्य स्वीकृत करने पर भी, इस बात से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि आज की नयी कविता के प्रगल्भ विकास के लिए कवि की मूलभूत संवेदन-शक्ति में विलक्षण विश्लेषण-प्रवृत्ति चाहिए।

ऐसा क्यों ? इसलिए कि कविता पुराने काव्य-युगों से कहीं अधिक, बहुत अधिक, अपने परिवेश के साथ द्वन्द्व-स्थिति में प्रस्तुत है। इसलिए उसके भीतर तनाव का वातावरण है। परिस्थिति की पेचीदगी से बाहर न निकल सकने की हालत में, मन जिस प्रकार अन्तर्मुख होकर निपीड़ित हो उठता है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आज की कविता में घिराव का वातावरण भी है।

अतएव आज की कविता, किसी-न-किसी प्रकार से, अपने परिवेश के साथ द्वन्द्व-स्थिति में उपस्थित होती है, जिसके फलस्वरूप यह आग्रह दुर्निवार हो उठता है कि कवि-हृदय द्वन्द्वों का भी अध्ययन करे, अर्थात् वास्तविकता में बौद्धिक दृष्टि द्वारा भी अन्तःप्रवेश करे, और ऐसी विश्व-दृष्टि का विकास करे, जिससे व्यापक

जीवन-जगत् की व्याख्या हो सके, तथा अन्तर्जीवन के भीतर के आन्दोलन, आर-पार फैली हुई वास्तविकता के सन्दर्भ से, व्याख्यात, विश्लेषित और मूल्यांकित हों।

तभी हम आस-पास फैली हुई मानव-वास्तविकता के मार्मिक पक्षों का उद्घाटन-चित्रण कर सकेंगे। माना कि यह उद्घाटन-चित्रण मात्र विवेचनात्मक बौद्धिक दृष्टि से ही नहीं होगा। किन्तु उस बौद्धिक प्रतिभा के फलस्वरूप संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन अधिक पुष्ट होंगे। अनुभूति को ज्ञान-प्रेरित जीवनानुभव प्राप्त होने की सम्भावना बढ़ जायेगी। इस प्रकार व्यक्तित्व अधिक सक्षम हो सकेगा।

किन्तु केवल इतना ही काफ़ी नहीं है। वैविध्यपूर्ण, स्पन्दनशील, आस-पास फैले हुए मानव-जगत् के मार्मिक पक्षों के वेदनात्मक चित्रण के लिए अभिव्यक्ति-सम्पदा भी चाहिए। केवल आत्यन्तिक तीव्र संवेदनाघातपूर्ण मानसिक प्रतिक्रिया करनेवाली काव्य-शैली को अधिक लचीली, अधिक सक्षम और सम्पन्न बनाना होगा, जिससे कि वह एक ओर कवि-हृदय की अत्यन्त सूक्ष्म संवेदनाएँ मूर्तिमान कर सके, तो दूसरी ओर, वास्तव जीवन-जगत् की लहर-लहर को हृदयंगम कर उसे समुचित वाणी दे सके। पुरानी शास्त्रीय शब्दावली में कहा जाये तो, उसे भाव-पक्ष के साथ विभाव-पक्ष का चित्रण करना होगा।

सच बात तो यह है कि आज के कवि को एक साथ तीन क्षेत्रों में संघर्ष करना है। उसके संघर्ष का त्रिविध स्वरूप यह है या होना चाहिए: (1) तत्त्व के लिए संघर्ष; (2) अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए संघर्ष; (3) दृष्टि-विकास का संघर्ष। प्रथम का सम्बन्ध मानव-वास्तविकता के अधिकाधिक सक्षम उद्घाटन-अवलोकन से है। दूसरे का सम्बन्ध चित्रण-सामर्थ्य से है। और तीसरे का सम्बन्ध थियॅरी से है, विश्व-दृष्टि के विकास से है, वास्तविकताओं की व्याख्या से है। यह त्रिविध संघर्ष है।

कला-तत्त्व

कला वस्तु-तत्त्व-अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था का ही एक भाग है। वे ऐसे अन्तर्तत्त्व हैं जो बाहर के धक्के से या उन धक्कों के संचय से उद्वेलित अर्थात् (1) तरंगायित, (2) मानसिक दृष्टि के सम्मुख उद्घाटित, (3) जीवन-मूल्यों तथा पूर्वतर अनुभवों से आलोकित, तथा (4) अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठते हैं।

तरंगायित होकर जब अन्तर्तत्त्व मानसिक दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हो उठते हैं, तभी उनमें रूप आ जाता है, अर्थात् कल्पना-बिम्ब या स्वर या प्रवाह से वे संवृत हो उठते हैं। कल्पना का कार्य यहीं से शुरू हो जाता है। बोध-पक्ष अर्थात् ज्ञान-वृत्ति भी यहाँ सक्रिय हो उठती है। यह उद्घाटन-क्षण है—यह कला का प्रथम क्षण है। इसके अनन्तर मानसिक दृष्टि, जो इस तत्त्व-रूप को देख रही थी, उसके रस में निमग्न-सी होने लगती है। साथ ही बोध-पक्ष यानी ज्ञान-वृत्ति की

सक्रियता के फलस्वरूप वह तटस्थ भी हो जाती है। वह अन्तःप्रवेश करने लगती है, साथ ही वह बाहर से पर्यवलोकन भी करती है। फलतः, एक ओर, रस का प्रवाह या भाव-प्रवाह अन्य समस्वभावी और समरूप अनुभवों को उस तत्त्व में मिला देता है, तो दूसरी ओर, हृदय में संचित जीवन-मूल्यों की, अर्थात् हमारे अन्तःकरण में स्थित आदर्शात्मक सत्ता की, भी एक धारा इस तत्त्व में मिलने लगती है। कल्पना उद्दीप्त होकर, संवेदना से आप्लुत उस मूल तत्त्व को, समरूप अनुभवों और जीवन-मूल्यों से संश्लेषित करती हुई, एक संश्लिष्ट जीवन-चित्रशाला उपस्थित कर देती है। यह कला का दूसरा क्षण है कि जिसमें हमारे वेदनात्मक हेतु और संवेदनात्मक अभिप्राय किसी व्यापक मार्मिक जीवन-महत्त्व से न्यस्त हो जाते हैं, और हमारे लिए वह आत्म-तत्त्व इतना अधिक महत्त्वमय मालूम होता है कि हम उसकी अभिव्यक्ति के लिए छटपटाते हैं। इस छटपटाहट को जब हम शब्द, रंग तथा स्वर में अभिव्यक्त करने लगते हैं, तब कला का तीसरा क्षण शुरू हो जाता है। अभिव्यक्ति के साधन, अर्थात्, भाषा, हमारे लिए सामाजिक हैं। इससे उसके शब्द-संयोग, भाव-परम्परा और ज्ञान-परम्परा से पूर्ण हैं। अतएव हमें अपने हृद्गत तत्त्वों को उनके मौलिक रूप रंग और भार में स्थापित और प्रगट करने के लिए नये शब्द-संयोग बनाने या लाने पड़ते हैं। शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो, हमें नवीन वक्रोक्तियों और भंगिमाओं का सहारा लेना पड़ता है। साथ ही, कल्पना-शक्ति भी नव-नवीन रूप-बिम्बों का विधान करती है, जिससे मनस्तत्त्व अपने मौलिक रूप-रंग में प्रकट हो सकें।

अभिव्यक्ति का संघर्ष दीर्घ होता है। कला का यह तीसरा क्षण दीर्घ होता है। उस संघर्ष में, अभिव्यक्ति के स्तर तक आते-आते, हमारे मनोमय तत्त्व-रूप बदलने लगते हैं। होता यह है कि उस संघर्ष के दौरान में भाषा के भीतर अवस्थित ज्ञान-परम्परा और भाव-परम्परा के कारण, जो पहले से ही शब्द-संयोग बने हुए हैं, उन शब्द-संयोगों के साथ अनिवार्य रूप से जुड़े हुए जो अर्थानुषंग हैं, उन अर्थानुषंगों के प्रभाव में आकर, समशील-समरूप अर्थानुषंगों को आत्मसात् कर, मनोमय रूप-तत्त्व अपने को और पुष्ट करते हैं। फलतः, वे इस हद तक बदल भी जाते हैं। जब वे अपने खास साइज और अपनी खास काट की अभिव्यक्ति पा लेते हैं, तब उनके तत्त्व और रूप पहले से बहुत कुछ बदले हुए होते हैं। सामाजिक सम्पदा होने के कारण भाषा मनोमय रूप-तत्त्वों को उनके प्रकट होने के दौरान में घटा-बढ़ा देती है, और अनजाने ढंग से उनमें नये रूप-तत्त्व ला देती है। साथ ही यह अभिव्यक्ति-संघर्ष भाषा को कुछ बदल देता है, उसे नवीन शब्द-संयोग, नवीन अर्थवत्ता और नयी भंगिमाएँ और व्यंजनाएँ देता है। इस प्रकार, कलाकार भाषा का भी निर्माण करता है। अभिव्यक्ति समाप्त होते ही, उसके संघर्ष का अन्त होते ही, कला का तीसरा क्षण भी समाप्त होता है। अब कलाकृति सामने आ जाती है। अब उसमें केवल इधर-उधर कुछ शब्दों या स्वरों के फेरफार के सिवाय कुछ बाक़ी नहीं रह जाता।

यदि उपर्युक्त स्थापनाएँ सही हैं, तो उससे कई निष्कर्ष निकलते हैं। सृजन-प्रक्रिया के दौरान में काव्य के मनोमय तत्त्व और रूप स्थिर नहीं होते। वे मनोमय तत्त्व-रूप तब तक अपने को विकसित और संशोधित करते जाते हैं, अपने को पुष्ट और प्रकाशान्वित करते जाते हैं, जब तक कि अभिव्यक्ति में सम्पूर्णता आकर कला का तीसरा क्षण समाप्त न हो जाये। इसका अर्थ यह है कि जो महानुभाव आत्मोद्‌घाटन को ही काव्य का उद्देश्य समझते हैं, आत्म-प्रकटीकरण प्रधान मानते हैं, वे सज्जन आत्म-प्रकटीकरण की प्रक्रिया हृदयंगम नहीं कर सके हैं। कवि अपने अन्तर में व्याप्त जीवन-जगत् को प्रकट करता है। वह किसी भावोद्देश्य को प्रकट करता है, किन्तु यह भावोद्देश्य निरा व्यक्तिगत नहीं होता। सच तो यह है कि मनुष्य जब काव्य में अपने-आपको प्रकट करता है, तब वह केवल आत्म-प्रस्थापना ही नहीं करता, वरन् वह आत्म-औचित्य की स्थापना करता है। आत्म-औचित्य की स्थापना के द्वारा ही वह आत्म-प्रस्थापना करता है। फलतः, इस औचित्य-स्थापना की भावना से प्रेरित होकर, वह अपने भीतर जो कुछ उसका अपना विशिष्ट है, उसे सामान्य में—उस सामान्य में जिसे वह सामान्य समझता है—इतना अधिक मिला देता है, कि उस सामान्य के प्रवाह में बहकर उसका विशिष्ट आमूलाग्र बदल जाता है। और जब वह विशिष्ट सामान्य में घुल-मिलकर रूपान्तरित हो जाता है, तब कवि आह्लाद और प्रकाश का अनुभव करता है। और उसे लगता है कि उसका विशिष्ट—जो अब विशिष्ट रहा ही नहीं—बहुत ही मार्मिक महत्त्व-प्रकाश, मार्मिक महत्त्व-किरणें, विकसित कर रहा है। यह सामान्य क्या है? वे जीवन-मूल्य हैं, वे जीवन-दृष्टियाँ हैं, जो कवि ने अपने बाह्य विस्तृत जीवन में पायी हैं। दूसरे शब्दों में, उसके अन्तर में व्याप्त ये जीवन-मूल्य और यह जीवन-दृष्टि बाह्य जीवन-जगत् का ही मनोवैज्ञानिक रूप हैं।

सृजन-प्रक्रिया के दौरान में एक विलक्षण बात घटित होती है। एक तो यह कि विशिष्ट जब सामान्य में घुलता है, तब उस विशिष्ट के कारण कवि की आत्म-लीन दशा का जो संवेदनात्मक पुंज है वह तो स्थायी रहता है, किन्तु उस बद्धता के घेरे की दीवारें टूट जाती हैं। इस प्रकार कवि-मन, संवेदनात्मक पुंज धारण करते हुए भी, जो पुंज उसकी आत्मलीन स्थिति में उद्‌बुद्ध हुए थे—सामान्य भूमि पर आकर जीवन-मूल्य और जीवन-दृष्टियों से समन्वित होने से—अपने को उन संवेदना-पुंजों से ऊपर उठा हुआ अर्थात् तटस्थ महसूस करता है, तथा वे संवेदना-पुंज जीवन-मूल्यों और जीवन-दृष्टियों से तथा पूर्वगत अनुभवों से मिल-कर अपने को व्यापक महत्त्व और प्रकाश से युक्त कर लेते हैं। अतएव उन संवेदना-पुंजों में दर्शक-मन को एक अद्वितीय आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार दर्शक-मन अपने को एकदम तटस्थ, तो, दूसरी ओर, एकदम रसमग्न अनुभव करता है। विशिष्ट को सामान्य बनाने के हेतु, कवि-मन वेदनात्मक उद्देश्य से प्रेरित होकर निरन्तर भाव-संशोधन और भाव-सम्पादन करता जाता है। यह कवि की आन्तरिक प्रक्रिया का अंग है। सच तो यह है कि कविता एक सांस्कृतिक

प्रक्रिया है।

अभिव्यक्ति प्राप्त होने पर, भाव-पक्ष का सामाजीकरण हो जाता है। सृजन-प्रक्रिया के अन्तर्गत विशिष्ट को सामान्य बनाने की यह क्रिया तभी से शुरू हो जाती है, जब कवि कला के प्रथम क्षण में अन्तर-नेत्रों से उस तत्त्व को देखने लगता है, कि जो तत्त्व उन अन्तर-नेत्रों के सामने तरंगायित और उद्घाटित हो उठता है। आगे चलकर, समरूप अनुभवों से मिलते हुए, वह मनोमय तत्त्व जब जीवन-मूल्यों और जीवन-दृष्टियों से अपना संगम करता है, तब वह और भी सामान्य हो उठता है। प्रश्न यह है कि वे जीवन-मूल्य और जीवन-दृष्टियाँ किसकी हैं ? (केवल व्यक्ति की तो वे हो ही नहीं सकतीं)। वह सामान्य भूमि किसकी है ? यह प्रश्न स्वाभाविक है। यह प्रश्न हमें समाजशास्त्रीय आलोचना की ओर ले जाता है। आगे चलकर जबकि कवि अपने मनोमय तत्त्व-रूप को बाह्य अभिव्यक्ति के साँचे में ढालने लगता है, या जब वह बाह्य अभिव्यक्ति को अन्तर-अभिव्यक्ति (मनोमयतत्त्वात्मक रूप) के साइज़ की, काट की, रंग की, बनाने लगता है, तब उसकी आँखों के सामने जो सौन्दर्य-प्रतिमान होता है, वह सौन्दर्य-प्रतिमान किस सौन्दर्याभिरुचि ने, किस वर्ग की सौन्दर्याभिरुचि ने, उत्पन्न किया है, यह प्रश्न स्वाभाविक हो उठता है। सौन्दर्याभिरुचि यदि मात्र व्यक्तिजन्य होती तो बात अलग थी। किन्तु सौन्दर्याभिरुचि का वह फ़्रेम, मात्र व्यक्तिजन्य नहीं है। अतएव यह प्रश्न बिलकुल स्वाभाविक है कि उस वर्ग ने सौन्दर्याभिरुचि के उस फ़्रेम का विकास किया तो क्यों किया, उसका औचित्य क्या है, सीमाएँ क्या हैं, आदि-आदि।

ध्यान रहे कि सौन्दर्याभिरुचि अपनी रक्षा के लिए सेंसरों का भी विकास करती है। प्रश्न यह है कि सेंसर किन मनस्तत्त्वों के विरुद्ध हैं, क्यों हैं, क्या इसका विश्लेषण आवश्यक नहीं है ? उदाहरण के लिए, आज की नयी कविता में कर्कश विद्रोह-स्वर, अथवा गली-कूचों की धूल और मिट्टी की व्यंग-तस्वीर, अथवा क्रान्तिकारी चण्डता सौन्दर्यजनक नहीं समझी जाती। भद्रवर्ग की बैठक में सुनायी गयी ऐसे भावोंवाली कविताओं के प्रति प्रतिष्ठित महारथियों ने अविश्वास-अरुचि और वैराग्य ही प्रकट किया। उन्होंने बार-बार यह कहा कि उन्हें प्रतीत नहीं होता कि वह स्वर वस्तुत. आत्मानुभूति है। अर्थात्, उन्होंने उस पर अविश्वास किया। दूसरे शब्दों में, नयी कविता खास काट की, खास शैली की होने के अलावा कुछ विशेष विषयों और मनस्तत्त्वों तक ही सीमित रहनी चाहिए। स्पष्ट है कि उनकी सौन्दर्याभिरुचि एक विशेष वर्ग की है, जिस विशेष वर्ग ने विशेष वर्ग-स्थिति में ही उस विशेष सौन्दर्याभिरुचि का अंगीकार किया है। और उस अभि-रुचि के अन्तर्गत सेंसर काफ़ी सक्रिय हैं। उस उच्च-मध्यवर्गीय सौन्दर्याभिरुचि के अधीन हो निम्न-मध्यवर्गीय कविजन, जाने-अनजाने, उस फ़्रेम के कारण सेंसर लगाते रहते हैं, और इस प्रकार अपने मानव-स्पन्दन और मर्मानुभव काटते रहते हैं। निस्सन्देह, सौन्दर्याभिरुचि और उसके अधीनस्थ सेंसर के विशेषण के

सिलसिले में हमें उस सौन्दर्याभिरुचि और सेंसर की सामान्य भूमि, अर्थात् वर्गीय भूमि, तक पहुँचना ही पड़ता है।

सच तो यह है कि काव्य की विशिष्ट और सामान्य भूमियों को पूर्णतः समझने का अभी प्रयास नहीं किया गया है, अथवा उन उपायों में सर्वांगीण पूर्णता नहीं आ पायी है। जो हो, यह सही है कि कविता में कवि का आत्मोद्घाटन उतना विश्वसनीय नहीं है, जितनी कि उसकी सामान्य भूमि।

सृजन-प्रक्रिया के उपर्युक्त विश्लेषण से जो दूसरा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है, वह यह है कि यदि कलाकार के तीनों क्षण पूर्ण न हुए, या उनमें शिथिलता आयी, तो कविता सुन्दर नहीं होगी। उसके तत्त्वों में निखार नहीं आयेगा। जो कविताएँ दुर्बोध हो जाती हैं, उन कविताओं में मन रस-मग्नता के साथ-ही-साथ पर्यालोचनपूर्ण तटस्थता का निर्वाह नहीं कर पाता। तटस्थता के पूर्ण निर्वाह के अभाव का प्रमुख कारण यह है कि वह अपनी वेदनाओं को जीवन-मूल्यों और जीवन-दृष्टियों के प्रकाश में नहीं देख रहा है, कि वह अभी भी व्यक्तिबद्ध है, आत्मग्रस्त है। वे दृष्टियाँ और वे मूल्य उसके सम्बन्धित तत्त्वों का अंग नहीं बनी हैं, उनका सामाजीकरण नहीं हुआ है। मैं कला के दूसरे क्षण की बात कर रहा हूँ। फलतः, कवि अपने आत्मलीन भाव को तो देख पाता है, किन्तु उनको पूर्वगत अनुभवों से प्रकाशित और जीवन-मूल्यों से समन्वित करनेवाली जीवन-दृष्टि से एकात्म नहीं कर पा रहा है। इस सामान्य भूमि पर खड़े होकर वह तटस्थ हो सकता है। जब तक उसकी वेदना व्यापक मार्मिक अर्थ नहीं देती, तब तक कला का दूसरा क्षण सिद्ध-सम्पन्न ही नहीं हो सकता। संक्षेप में, वह उस सामान्य भूमि और अपनी विशिष्ट अनुभूति को समन्वित और एकात्म नहीं कर पाता। फलतः, वह मात्र आत्मग्रस्त होकर रह जाता है। इसके विपरीत, जिन कवियों के पास अपने संवेदन शिथिल हैं, वे शीघ्र ही तटस्थ हो जाते हैं, अपने से वे जल्दी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु मनोमय तत्त्व में संवेदनात्मक आनन्द प्राप्त होने की दशा क्षीण होने के कारण, वे उस मनोमय तत्त्व के संवेदन-पुंजों को ही ग्रहण नहीं कर पाते। फलतः उनकी कविता रिक्त रह जाती है, शुष्क हो जाती है। मनोमय तत्त्व के संवेदन-पुंजों को प्राप्त करना कवि का आद्य-प्राथमिक कर्त्तव्य है। वे उसे ही भूल जाते हैं। सच तो यह है कि कवि सृजन-प्रक्रिया के दौरान में निराला जीवन जीता है। उस जीवन को उसे ईमानदारी से आग्रहपूर्वक ध्यानशील होकर जीना चाहिए। नहीं तो बीच-बीच में साँस उखड़ जायेगी और उसके फलस्वरूप काव्य में खोट पैदा होगी।

सृजन-प्रक्रिया के उपर्युक्त विश्लेषण से एक तीसरा निष्कर्ष निकलता है। वह यह है कि कवि की संवेदन-क्षमता, कल्पना की संश्लेषण-शक्ति और बुद्धि की विश्लेषण-शक्ति, इन तीनों में से कोई भी बात कमज़ोर हुई, तो मनोमय तत्त्व-रूप अपनी-अपनी सही-सही ऊँचाई को नहीं प्राप्त कर सकेगा। इसके साथ अभिव्यक्ति सामर्थ्य को भी जोड़िये। अभिव्यक्ति-सम्पदा की प्राप्ति के लिए निरन्तर संघर्ष

आवश्यक है। यह प्रयत्नसाध्य है और अभ्यासवश है।

हमारे जन्मकाल से ही शुरू होनेवाला हमारा जो जीवन है, वह बाह्य जीवन-जगत् के आभ्यन्तरीकरण द्वारा ही सम्पन्न और विकसित होता है। यदि वह आभ्यन्तरीकरण न हो तो हम कृमि—पानी का जीव हायड्रा—बन जायेंगे। हमारी भाव-सम्पदा, ज्ञान-सम्पदा, अनुभव-समृद्धि उस अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था ही का अभिन्न अंग है, कि जो अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था हमने बाह्य जीवन-जगत् के आभ्यन्तरीकरण से प्राप्त की है। हम मरते दम तक जीवन-जगत् का आभ्यन्तरीकरण करते जाते हैं। किन्तु साथ ही, बातचीत, बहस, लेखन, भाषण, साहित्य और काव्य द्वारा हम निरन्तर स्वयं का बाह्यीकरण करते जाते हैं। बाह्य का आभ्यन्तरीकरण और आभ्यन्तर का बाह्यीकरण एक निरन्तर चक्र है। यह आभ्यन्तरीकरण तथा बाह्यीकरण मात्र मननजन्य नहीं वरन् कर्मजन्य भी है। जो हो, कला आभ्यन्तर के बाह्यीकरण का एक रूप है।

बातचीत, बहस, भाषण, लेखन, चित्रकला, काव्य-साहित्य, आदि द्वारा हम बाह्य जीवन-जगत् के साथ या तो सामंजस्य उत्पन्न करते हैं (या उस सामंजस्य के अनुकूल प्रस्तुत होते हैं), अथवा उसके साथ हम द्वन्द्व में उपस्थित होते हैं। काव्य भी या तो बाह्य जीवन-जगत् के साथ सामंजस्य में या उसके अनुकूल उपस्थित होता है, अथवा उसके साथ द्वन्द्व रूप में प्रस्तुत होता है, अथवा काव्य-प्रवृत्ति (बातचीत, भाषण, लेखन, के समान ही) एक स्तर या क्षेत्र में सामंजस्य, और दूसरे स्तर या क्षेत्र में द्वन्द्व, को लेकर प्रस्तुत होती है। संक्षेप में, आभ्यन्तर या बाह्यीकरण, विश्वव्यापी सामंजस्य या द्वन्द्व अथवा दोनों के भिन्न रूप में उपस्थित होता है। कला इस नियम का अपवाद नहीं है।

आज की कविता में उक्त सामंजस्य से अधिक द्वन्द्व ही है। इसलिए उसके भीतर तनाव या घिराव का वातावरण है। आज का पद्याभास गद्य, मुख्यतः, यह बात व्यक्त करता है कि इसमें सुमधुर लयात्मक किन्तु गणितयन्त्रीय छन्दों का स्थान नहीं। संक्षेप में, इस पार्श्वभूमि को देखकर ही वर्तमान कविता की विवेचना होनी चाहिये।

किन्तु, आवश्यकता इस बात की है कि हम इस द्वन्द्व को पूर्णतः समझें और तदनुसार अनुभव-समृद्धि बढ़ायें। मेरा अपना मत है कि हमारे साहित्य-चिन्तन या कलात्मक दृष्टि का विकास तभी होगा, जब हम वास्तविक जीवन में व्यापक तथा विविध जीवनानुभवों से सम्पन्न होंगे, तथा हम विक्षुब्ध उत्पीड़ित मानवता के (वायवीय नहीं, पूर्ण) आदर्शों से एकात्म होंगे। इसके बिना तत्त्व-समृद्धि और तत्त्व-परिष्कार की समस्या अधूरी ही रह जायेगी। लेकिन पता नहीं क्यों, मुझे यह विश्वास है कि नयी काव्य-प्रवृत्तियाँ चाहे वे गीत-रूप में ही क्यों न आयें—उक्त कार्य कर सकेंगी।

वास्तविक जीवन-जगत् के मार्मिक पक्षों को प्रकट करने के लिए, दूसरे शब्दों में, हमारे आभ्यन्तर में व्याप्त वास्तविक जीवन-जगत् के मार्मिक पक्षों की

अभिव्यक्ति के लिए, हमें कुछ खतरों से सावधान रहना होगा।

कुछ खतरे

एक खतरा है जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि का। नयी काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र के कुछ महान् व्यक्ति, अपनी वर्गीय अभिरुचि के फलस्वरूप, सौन्दर्य का जो प्रतिमान हमारे सामने रखते हैं, उसमें जब तक व्यापक संशोधन नहीं होगा, तब तक हम अपने ही जीवन-अनुभवों का पूर्ण और प्रभावशाली चित्र उपस्थित नहीं कर सकते। जो काव्यात्मक व्यक्तित्व एक बन्द सन्दूक (क्लोज़्ड सिस्टम) बनाता है, ('तुम नहीं व्याप सकते, तुममें जो व्यापा है, उसी को निबाहो'), वह जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि ही प्रस्तुत कर रहा है। इस तरह की जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि के फलस्वरूप ही, कुछ साहित्यिक समाजशास्त्री अपने ढर्रे के बाहर के क्षेत्र में प्रचलित नयी काव्य-समृद्धि में विद्रूपता के अतिरिक्त कुछ नहीं देखते। यदि हमें वैविध्यपूर्ण, परस्पर द्वन्द्वमय, मानव-जीवन के (अपने अन्तर में व्यापित) मार्मिक पक्षों का वास्तविक प्रभावशाली चित्रण करना है, तो हमें जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि और उसके सेंसर त्यागने होंगे, तथा अनवरत रूप से अपने ढाँचों और फ्रेमों में संशोधन करते रहना होगा। मनुष्य-जीवन का कोई अंग ऐसा नहीं है जो साहित्याभिव्यक्ति के अनुपयुक्त हो। जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि एक विशेष शैली को दूसरी विशेष शैली के विरुद्ध स्थापित करती है। गीतों का नयी कविता से कोई विरोध नहीं है, न नयी कविता को उसके विरुद्ध अपने को प्रतिष्ठापित करना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि जीवन में नये तत्त्व आयें, न कि [किसी] काव्य-शैली की धारा की समाप्ति हो। किन्तु जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि जबर्दस्ती का विरोध पैदा करा देगी। वह स्वयं अपनी धारा का विकास भी कुण्ठित करेगी, साथ ही पूरे साहित्य का।

नयी कविता के विभिन्न कवियों की अपनी-अपनी विशेष शैलियाँ हैं। इन शैलियों का विकास अनवरत है। आगे चलकर जब वे प्रौढ़तर होंगी, नयी कविता विशेष रूप से ज्योतिर्मान होकर सामने आयेगी। साथ ही, नयी कविता में स्वयं कई भाव-धाराएँ हैं, एक भाव-धारा नहीं। इनमें से एक भाव-धारा में प्रगतिशील तत्त्व पर्याप्त हैं। उनकी समीक्षा होना बहुत आवश्यक है। मेरा अपना मत है, आगे चलकर नयी कविता में प्रगतिशील तत्त्व और भी बढ़ते जायेंगे और वह मानवता के अधिकाधिक समीप आयेगी।

[कृति, फरवरी 1960 में प्रकाशित। नयी कविता का आत्मसंघर्ष में संकलित]

नयी कविता की अन्तःप्रकृति : वर्तमान और भविष्य

नयी काव्य-धारा के सम्बन्ध में न मालूम कितनी ही बार विस्तारपूर्वक चर्चा हो चुकी है। पत्र-पत्रिकाओं में लेख इत्यादि के प्रकाशनों के साथ-ही-साथ अब तो पुस्तकें भी निकल आयी हैं। अनेक लेखकों ने अपनी बातें समझ-समझाकर पाठकों के सामने उपस्थित की हैं। नयी काव्य-धारा अब हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में प्रधान धारा बन उपस्थित हुई है। यही नहीं, अब वह कहानी-साहित्य को भी प्रभावित कर रही है। नयी कहानी नामक जो एक नये ढंग की कहानी हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में आ रही है, वह एक तरह से, कहा जाये तो, नयी कविता की देखा-देखी, या उससे किसी-न-किसी प्रकार से प्रेरित, नयी कहानी है।

लेकिन, बावजूद इसके, नयी कविता का विरोध अभी भी होता रहता है। यह विरोध कभी दबे और कभी खुले स्वर से, कभी आदर्श के नाम से तो कभी काव्य-भाषा के नाम से, होता ही आया है। अभी भी वह जारी है।

इसके पहले कि हम इस विरोध के रुख को जानें, यह आवश्यक है कि हम सर-सरी तौर पर नयी काव्य-प्रवृत्ति के अन्तःस्वरूप को पहचानने की कोशिश करें।

सबसे पहली बात जो जानने की है वह यह कि आज की सभ्यतावस्था में, आज की समाजावस्था में, जो जीवन-प्रसंग उपस्थित होते हैं, जो वास्तविक अनुभूतियाँ हमें होती हैं, जो वास्तविक अनुभव हमें होते हैं, वे बार-बार उत्पन्न ऐसी संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ हैं जो हम अपनी परिस्थिति और परिवेश के साथ किया करते हैं। ये संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ वास्तविक जीवन-प्रसंगों में होने के कारण मूर्त्त होती हैं। और, उनके सन्दर्भ का एक सूत्र परिस्थिति और परिवेश में होता है, तो उसी सूत्र का दूसरा छोर मानव-अन्तःकरण में होता है। इस तथ्य को हमें भूलना नहीं है कि ये प्रतिक्रियाएँ वास्तविक जीवन-प्रसंगों में वास्तविक परि-वेश के प्रति वास्तविक मानव-अन्तःकरण में उत्पन्न होती हैं।

लेखक या तो इन मूर्त्त संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करता है, अथवा हृदय में संचित इन संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं के पुंजों को, उनके सामान्यीकरणों को, इन संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं से उत्तेजित स्वप्नों को, अथवा इन संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं द्वारा प्रेरित अन्य भावों या विचारों को, काव्य में व्यक्त करता है। चाहे वह विचार व्यक्त करे, चाहे भाव, अथवा कोई कल्पना-चित्र या स्वप्न ही उपस्थित क्यों न करे, उसका मूल आधार, उसका प्रेरणात्मक तत्त्व, और उसका रूप और आकार, उसके ताने-बाने, उसके अन्तःसूत्र, उन संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं से बने होते हैं, जो संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ मनुष्य आज की समाजावस्था के अन्तर्गत जीवन-प्रसंगों और जीवन-स्थितियों में प्राप्त वास्तविक परिवेश और

वास्तविक परिस्थितियों के प्रति किया करता है। दूसरे शब्दों में, नयी काव्य-धारा का प्राण है वास्तविक संवेदनात्मक और बौद्धिक समसामयिकता।

आज के कवि के अन्तःकरण में जो कडुआहट, दुःखानुभव, आत्मग्लानि, सौन्दर्यासक्ति, आलोचनशीलता आदि-आदि भाव हैं, वे सब आधुनिक समाजावस्था के अन्तर्गत उपस्थित जीवन-प्रसंगों में, अर्थात् वास्तविक और परिस्थिति के प्रति, संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं के पुंज हैं, अथवा उनके आधार पर किये गये सामान्यीकरण हैं। उनमें जो भाव-दृष्टि प्रकट होती है, वह भाव-दृष्टि उस संवेदनात्मक स्थिति में पड़े हुए मनुष्य की भाव-दृष्टि है। इसी को बहुत-से लोग आधुनिक भाव-बोध भी कहते हैं।

किन्तु, आधुनिक भाव-बोध की जिस ढंग से परिभाषा की गयी है, उससे सबका सहमत होना कठिन हो जाता है। यह क्यों है, किस प्रकार है, यह आगे बताया जायेगा।

नयी काव्य-प्रवृत्ति की दूसरी विशेषता है पुरानी काव्य-भाषा का त्याग, और ऐसी सामान्य भाषा का प्रयोग जिसका उपयोग बातचीत में किया जाता है। छायावादी काव्य-भाषा लाक्षणिक और अलंकरण-प्रधान थी, उसका प्रयोग शिक्षित समुदायों के वार्तालाप में नहीं होता था। न इस समय होता है। सामान्य बातचीत में साधारण रूप से जिन शब्दों का प्रयोग होता है वे सब नयी कविता में ग्राह्य हो सकते हैं, बशर्ते कि काव्यात्मक अर्थद्योतन की क्षमता रखते हों। ऐसा क्यों? सामान्य वार्तालाप या चर्चा या बातचीत की भाषा का ही प्रयोग क्यों?

इसका कारण यह है कि संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ जो मन में उठती हैं, वे किसी काव्य-भाषा के वस्त्र पहनकर नहीं आतीं। काव्य-भाषा का आदर्श तो यह होना चाहिये कि वह उत्तेजित शारीरिक चेष्टा के रूप-जैसी ही प्रत्यक्ष प्रतीत हो। चूँकि यह सब विषयों में सर्वत्र सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए स्वर को साधा जाना चाहिए। स्वर को साधा भी जाता है। स्वर का अर्थ है लहज़ा। नयी काव्य-प्रवृत्ति की काव्य-भाषा यद्यपि बातचीत के बहुत निकट आ गयी है, किन्तु यह नैकट्य काव्यात्मकता के त्याग अथवा भावना की शिथिलता के कारण यदि उत्पन्न है तो वह निःसन्देह निरर्थक है। ऐसी कविता में संवेदनाघात नहीं होगा। ध्यान में रखने की बात है कि नयी काव्य-भाषा में सामान्य वार्तालाप की भाषा के प्रयोग का अर्थ यह नहीं होता कि उसमें संस्कृत शब्दों का त्याग हो, न वैसा माना ही जाता है।

नयी कविता की काव्य-भाषा अभी भी विकासावस्था में है। इसीलिए, अनेक प्रकार के भाषा-रूप हमें उसमें दिखायी देते हैं। महत्त्व की बात केवल इतनी ही है कि पुरानी भावुकता-प्रधान अलंकृति-मूलक काव्य-भाषा का प्रयोग खप नहीं सकता। उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि पुराने काव्य में हमें भावना की अतिशयोक्ति और भावों की अतिरंजना दिखायी देती है। इसके विपरीत, संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ विशेष मात्रा और विशेष अनुपात में होती हैं। उसी मात्रा और

अनुपात के शब्दाघात करना आवश्यक है। मात्रा और अनुपात का सही-सहीपन अत्यन्त महत्त्व की बात है।

अब आप छन्दों पर आइये। नयी कविता या प्रयोगवादी कविता में नियम-बद्ध छन्दों का प्रयोग कम होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस काव्य-प्रवृत्ति में छन्दों का निषेध है। इस धारा के अन्तर्गत अनेक कविताएँ छन्दोबद्ध हैं। ध्यान में रखने की बात है कि उसमें गीत भी लिखे गये हैं। गीति-काव्य का निषेध उसमें नहीं है। अनेक नये कवियों में गीतात्मकता है। मुक्त छन्द प्रसाद और निराला ने भी खूब लिखे। यहाँ तक कि पद्याभास गद्य भी हमें निराला में मिलता है।

तार सप्तक वालों ने छायावादियों के इस नये छन्द-प्रयोगों की स्वाधीनता का पूरा लाभ उठाया। आगे चलकर मुक्त छन्द को ही नये कवियों ने पद्याभास गद्य का रूप दिया। पद्याभास गद्य का प्रचार इतना क्योंकर हुआ ?

सबसे पहले तो यह बता दूँ कि पद्याभास गद्य में बाह्य-परिवेश से की जाने-वाली संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं और भाव-प्रक्रियाओं को उनके सहज प्रवाही और पूर्ण रूप में उपस्थित किया जा सकता है। पद्याभास गद्य में, काव्य उसी प्रकार पढ़ा जाना चाहिए जिस प्रकार गद्य। हमारे यहाँ छन्द की भाषा गद्य की भाषा-जैसी नहीं पढ़ी जा सकती। अगर आप दोनों की तुलना कर देखें तो आपको स्पष्ट भेद मालूम होगा। धारणा यह है कि गद्य की भाषा अधिक स्वाभाविक है, उसमें भाषा का स्वाभाविक स्वर, उसका लहजा, उच्चारण-विधि, इन सबकी समुचित रक्षा होती है।

ये सब बातें मैंने आपके सामने परिचयात्मक रूप से ही रखी हैं। मैं आपके सामने जो बातें विशेष रूप से रखना चाहता हूँ, वे आगे आयेंगी। यह सबको मालूम है कि बाह्य परिस्थिति या परिवेश से की गयी संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ और उनका सामान्यीकरण नव-काव्य में व्यक्त होता है। इसीलिए उसमें एक गहरी सम-सामयिकता है।

इसी बात को मैं अब दूसरे ढंग से कहना चाहता हूँ। संसार को जीवन-जगत् को देखने की छायावादी दृष्टि में हमें अतिशय भावुकता और आध्यात्मिकता के दर्शन होते हैं। छायावादी काव्य-दृष्टि भावुकता-प्रधान है, अत्यधिक भावुकता-प्रधान। इसके विपरीत, नयी काव्य-दृष्टि में हमें तथाकथित बौद्धिक दृष्टि दिखायी देती है। यहाँ 'बौद्धिक' शब्द भ्रामक है। वस्तुतः, नयी काव्य-दृष्टि में हमें व्याख्या-त्मक, विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक तत्त्व बहुत कम दिखायी देते हैं। इसलिए, मेरा अपना यह खयाल है कि नयी काव्य-दृष्टि को हम बौद्धिक नहीं कह सकते। यह सोचना ग़लत है कि जहाँ भावुकता का, अर्थात् भावात्मक व्याकुलता का, अभाव है, वहाँ बौद्धिकता है। बौद्धिकता, वस्तुतः, ज्ञान-दृष्टि है। ज्ञान में तथ्य-बोध, विवेचन, विश्लेषण और मूल्यांकन होता है।

[अपूर्ण। रचनाकाल अनिश्चित। सम्भवतः 1959 के बाद]

नयी कविता : निस्सहाय नकारात्मकता

नयी कविता के वर्तमान स्वरूप के प्रति कइयों में असन्तोष है—स्वयं उन बहुत-से कवियों में भी, जो इस धारा के अंग हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि इस धारा का विश्लेषण-विवेचन खास वे लोग करें, जो एक ओर तो इस धारा के अंग हैं तो दूसरी ओर उससे असन्तुष्ट भी हैं। असन्तोष प्रगति का लक्षण माना जाता है, किन्तु वह उसका वास्तविक लक्षण तो तब सिद्ध होगा, जब प्रगति वस्तुतः हो, होकर रहे।

काव्य का उन्नयन और विकास, निःसन्देह, एक जटिल प्रक्रिया है। केवल कवि-प्रतिभा पर ही काव्य की उन्नति निर्भर नहीं है। हाँ, उसकी उन्नति के लिए जो तत्त्व आवश्यक होते हैं उनमें कवि की क्षमता भी एक तत्त्व है, किन्तु केवल वही पर्याप्त नहीं होता। उदाहरणार्थ, पश्चिमी जगत् की द्वितीय युद्धोत्तर कविता में यद्यपि नया मोड़ आया है, फिर भी द्वितीय युद्ध के पूर्व उसकी जो उठान थी, उनकी ऊँचाई तक वर्तमान काव्य नहीं पहुँचा है—यह विज्ञों की राय है। सम्भव है, अनेक अन्य 'विज्ञ' इस बात को काटने के लिए कुछ युक्तियाँ और प्रमाण प्रस्तुत करें। किन्तु यह निश्चित तथ्य है कि काव्य-साहित्य की उन्नति उत्तरोत्तर और अनवरत होती जाये, यह अनिवार्य नियम नहीं है।

हिन्दी के वर्तमान काव्य-साहित्य के प्रति कुछ लोगों में जो असन्तोष है, उसे देखकर यह कहना पड़ता है कि यह असन्तोष इसलिए है कि काव्य में जो कुछ वे कहना या देखना चाहते हैं, वह प्रकट नहीं होता है या नहीं हो पाता। कोई चीज़ कहीं खो गयी है, गुम गयी है। जो बुनियादी है, बुनियादी होकर सताती है, वह नहीं मिल पाती। उच्छ्वास की कमी नहीं, वातावरण-चित्रण, प्रतीकात्मक भाव-व्यंजना, अनूठी शैली—जी हाँ, सब-कुछ है, किन्तु जीवन का जो मूल सत्य है, वह तिरोहित है। शायद, सत्य है भी कि नहीं इसमें सन्देह है; किन्तु असत्य भी जीवन का सत्य है, वह पूर्णतः चित्रित हो। सो, वह भी नहीं। एक निःसहाय नकारात्मकता, अथवा, अधिक-से-अधिक, जीवन के छिटपुट चित्र, जिसमें कभी आलोचनात्मकता है तो कभी औदासीन्य का कलुष। इस स्थिति के विरुद्ध, काव्य-स्थिति के विरुद्ध, स्वयं कवि ही विद्रोह कर उठता है (भले वह उसे कहे या न कहे)। हाँ, यह सही है कि जीवन के इन छिटपुट चित्रों में भी भाव-गम्भीरता है तथा सचाई होती है (नहीं भी होती है)। फिर भी उससे सन्तोष नहीं हो पाता। कुछ और चाहिए, और, और!—वह चाहिए जो जीवन को उसकी समग्रता में, उसकी सारी विशेषताओं सहित, प्रकट करे। केवल छिटपुट प्रयत्नों में (और उसकी वाह-वाही में) अब मज़ा नहीं आता।

इसलिए कुछ लोग 'खोज' पर विश्वास करते हैं। सतत अन्वेषण, सतत अनुसन्धान के पथ का नाम लेनेवाले लोग कम नहीं। किन्तु अनुसन्धान और अन्वेषण

का थियॅराइज़ेशन (केवल विचारणा, केवल सिद्धान्त-स्थापना) ही किया जाता है। अधिक-से-अधिक, वह आत्मान्वेषण और आत्मानुसन्धान बनकर रह जाता है, जिसके आवेग में दो-चार, पाँच-दस, दस-बीस कविताएँ बनाकर मामला ठप्प हो जाता है। और ऐसी कविताओं में आवृत्ति, पुनरावृत्ति, आवृत्ति-पुनरावृत्ति। फिर वही दुष्चक्र चालू। संक्षेप में, एक घेरा बन गया है, उसमें से निकलना मुश्किल है।

इस प्रकार के या ऐसे ही किसी अन्य प्रकार के विचार सुनने का अवसर मिला करता है। बहुत-से लोग पश्चिमी काव्याभ्यासी होकर अनुवाद-कार्य में इसलिए तल्लीन हैं कि उस अभ्यास के द्वारा उन्हें नयी अभिव्यक्ति प्राप्त हो सकेगी। ऐसे कवियों के मन में यह भाव प्रधान हो उठा है कि अभिव्यक्ति-शैली प्राप्त करने से हमारी कुछ कमियाँ दूर हो सकेंगी। अतएव, अनुवाद-कार्य काव्याभ्यास का आवश्यक अंग माना जा रहा है।

इस सम्बन्ध में भी कुछ विचार हो जाये। पहली बात तो यह है कि मनुष्य का कोई सच्चा श्रम अकारथ नहीं जाता। इसलिए काव्यानुवाद का भी, निःसन्देह, अपना एक महत्त्व है। सन्त रामदास ने कवि को शब्दों का ईश्वर कहा था। किन्तु, हमारे प्राचीन सिद्धान्त-शास्त्री प्रतिभा के अतिरिक्त निपुणता और अभ्यास को महत्त्व देते आये हैं। आज के युग में, जबकि परिवर्तन की गति द्रुततर है, जबकि जगत् अधिकाअधिक परस्पर-सम्बद्ध और संक्षिप्त होता जा रहा है, जबकि घटनाओं का वेग तीव्र होकर सामाजिक जीवन में तरह-तरह की ध्वनि-प्रति-ध्वनियाँ उत्पन्न कर रहा है, जबकि मन में तरह-तरह के घात-प्रतिघात हो रहे हैं, जबकि व्यक्ति-जीवन में भाँति-भाँति के उत्तरदायित्व प्रधान हो रहे हैं, सामाजिक जीवन जटिल होकर कर्तव्य-भावना ग्रन्थिल हो गयी है—तो ऐसी स्थिति में मन के भीतर जो उद्वेग है, जो एकालाप है, जो सुर है, उसकी प्रभावमय अभिव्यक्ति के लिए निःसन्देह शब्द-सम्पदा चाहिए, अभिव्यक्ति का अभ्यास चाहिए। यदि विदेशी स्रोतों से सहायता मिल सकती हो तो उसे लेने में मुझे कोई हर्ज़ नहीं दीखता।

किन्तु (और यह बहुत बड़ा किन्तु है), यह विदेशी सहायता भारतीय जीवन का, हमारे अन्तर्जीवन का, कवि-जीवन का, स्थान ग्रहण नहीं कर सकती, हमारे मूल उद्वेगों का स्थान नहीं ले सकती, हमारी जीवन-दिशा का स्थान नहीं ले सकती। वह तभी स्वीकरणीय या अस्वीकरणीय है जबकि हम अपने वस्तु-तत्त्व से पूर्णतः सचेत हों। अपनी भाषा, अपना इतिहास, अपनी संस्कृति और साहित्य के तीव्र रासायनिक द्रव में गलकर ही, उससे एकीभूत होकर ही और विश्व-जीवन की विकीरणशील किरणों से शोधित होकर ही, हमारे वस्तु-तत्त्व जब निखर उठें, तब उस वस्तु-तत्त्व के आग्रहों और अनुरोधों को पूरा करने के लिए ही वह सहायता आवश्यक है। वह ज़रूर ली जानी चाहिए। यदि हमारी ऐसी स्थिति नहीं है, तो निःसन्देह वह सहायता प्रतिकूल है। निष्कर्ष यह कि मुख्य प्रश्न जीवन-चेतना

का प्रश्न है, न कि अभिव्यक्ति-सम्पदा के अन्वेषण का।

[2]

यह बिलकुल सही है कि कवि को पण्डित, आचार्य या सम्पादक होने की आवश्यकता नहीं है, उसके काव्य का सौन्दर्य, उसके पाण्डित्य और आचार्यत्व पर निर्भर न होकर, उसकी भाव-समृद्धि और अभिव्यक्ति-क्षमता पर निर्भर है। किन्तु मुख्य बात यह है कि भाव-समृद्धि और अभिव्यक्ति-क्षमता, दोनों एकीभूत संघनित स्थिति में बहुत कम पायी जाती हैं। अगर सचमुच वैसा होता तो क्या बात थी! शायद इसीलिए सतत अभ्यास की आवश्यकता है। किन्तु इसके तथा अन्य बातों के अतिरिक्त, काव्य-सौन्दर्य के लिए एक और चीज़ की ज़रूरत है। वह है सौन्दर्य की थियॅरी।

आप मानिये या न मानिये, मेरा तजुर्बा यह है कि रचनाकार के मन में सौन्दर्य का कोई नमूना, कोई डिज़ाइन, कोई पैटर्न होता जरूर है। लेखक यह कोशिश करता है कि उसकी कृति नमूने के समीपतर हो। इसी बात को मैं दूसरे शब्दों में कहता हूँ। सौन्दर्य-सम्बन्धी कोई कल्पना-कृति है जिसे हम यदि वैचारिक शब्दावली में कहें तो थियॅरी कह सकते हैं। यह सच है कि कवि रचना करते समय उसमें इस प्रकार सचेत नहीं रहता, मानो वह कोई बाह्य चित्र हो या बाह्य सिद्धान्त हो। किन्तु सौन्दर्य-सम्बन्धी वह कल्पना-कृति, थियॅरी के तत्त्व या सिद्धान्त के तत्त्व अवश्य रखती है। सौन्दर्य-सम्बन्धी लेखक की वह मान्यता, जिसके अनुसार वह रचना करता है, रचना-प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। होता यह है कि सौन्दर्य-सम्बन्धी वे कल्पना-कृतियाँ, या वे धारणाएँ, कभी-कभी अपने ही वस्तु-तत्त्वों के अभिव्यक्ति-रूपों के विरुद्ध पूर्वाग्रह भी बन जाती हैं। इन पूर्वाग्रहों के कारण वे अभिव्यक्ति-रूप काव्य में स्थान नहीं ले पाते। दूसरे शब्दों में, या तो वस्तु-तत्त्व ही काटकर फेंक दिये जाते हैं, या उन्हें ऐसी अभिव्यक्ति दी जाती है जो उनकी मूल अभिव्यक्ति स्वभावतः नहीं है। इस प्रकार पुराना घेरा ज्यों-का-त्यों बना रहता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और निवेदनीय है। वह यह कि बहुतेरे कविजन यह सोचते हैं, या यह सोचने के लिए मजबूर हो जाते हैं, कि चूँकि प्रत्येक कवि की अपनी विशेष अभिव्यक्ति शैली हुआ करती है, इसलिए उस विशेष अभिव्यक्ति शैली के विकसित होने पर कवि ने एक मंज़िल तै कर ली। महत्त्व की बात यह है कि अभिव्यक्ति-प्रयास के दीर्घ काल में जो शैली विकसित हो जाती है, वह आगे चलकर उसी कवि का एक बहुत बड़ा बन्धन भी हो जाती है। सभी तरह के अनुभूत वस्तु-तत्त्व एक ही प्रकार की अभिव्यक्ति शैली में नहीं बाँधे जा सकते। यह तो कहने की बात है कि तत्त्व स्वयं ही अपना रूप ग्रहण करता है। सच बात तो यह है कि पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त करने की प्रक्रिया में तत्त्व स्वयं बदलने लगते हैं। यहाँ तक कि, प्रारम्भतः, जिन उद्वेगपूर्ण भाव को लेकर कवि लिख रहा था,

कृति उस मूल भाव से दूर चली जाती है, उससे भिन्न हो जाती है। इसीलिए मेरा यह मत रहा है कि कला में वस्तुतः आत्माभिव्यक्ति नहीं हुआ करती। अभिव्यक्ति होती है, किन्तु जीने और भोगनेवाले अपने मन की, अपनी आत्मा की, वह सच्ची अभिव्यक्ति है, यह कहने का साहस नहीं हो पाता। वस्तुतः, यह आत्माभिव्यक्ति नहीं है। सौन्दर्य-सम्बन्धी अपनी-अपनी धारणाओं के अनुसार, जो लोग अत्यधिक विशिष्ट बनने का प्रयत्न करते हैं और उसमें उलझकर रह जाते हैं, वे न आत्माभिव्यक्ति करते हैं, न सामान्याभिव्यक्ति। सच बात तो यह कि आत्मपरक रूप से विश्वपरक, जगत्परक होने की लम्बी प्रक्रिया की अभिव्यक्ति ही कला है— अभिव्यक्ति-कौशल के क्षेत्र में और अनुभूति अर्थात् अनुभूत वस्तु-तत्त्व के क्षेत्र में।

दूसरे शब्दों में, सतत अन्वेषण और सतत अनुसन्धान का बाजा बजानेवाले लोग, वस्तुतः, प्रयोग नहीं कर रहे हैं, वे प्रयोगवादी नहीं हैं, वे घेरे में फँसे हुए लोग हैं। बहुत-से उसी में खुश हैं, कई अपनी इस स्थिति से असन्तुष्ट भी हैं। किन्तु यह घेरा तब तक नहीं टूट सकता, जब तक कि वस्तु-तत्त्व भिन्न-भिन्न होकर, व्यापक होकर, विभिन्न काव्य-रूप ग्रहण नहीं करते। अथवा इसी बात को मैं इस तरह कहूँगा कि काव्य-रूप में बँधनेवाले तत्त्व, और वस्तुतः अनुभूत होनेवाले तत्त्व, इन दो की यदि हम तुलना करें तो पायेंगे कि बहुत कम अनुभूत वस्तु-तत्त्व काव्य-रूप ग्रहण करते हैं। शेष वस्तु-तत्त्वों को काव्य-रूप देने का प्रयत्न नहीं किया जाता। और यदि किया भी जाता है तो सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणाओं की तृप्ति न होने की स्थिति में उनको काटकर फेंक दिया जाता है। फलतः, कवि-व्यक्तित्व और वास्तविक व्यक्तित्व में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ दिखायी देता है। कविता में केवल एक ही स्थायी भाव बार-बार प्रकट होकर समाप्त हो जाते हैं, यद्यपि संवेदनशील मन जीवन-जगत् को आत्मसात् करता हुआ, और उसके विरुद्ध-अनुकूल क्रिया-प्रतिक्रिया करता हुआ, अपना सचेत जीवन जिया करता है। फलतः, कभी-कभी तो यह होता है कि कवि-व्यक्तित्व वास्तविक व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता।

भाव अथवा जीवन के जो छिटपुट चित्र कवि उपस्थित करता है, उनमें मात्र विशिष्ट क्षण का चित्र बहुत कम होता है। सच बात तो यह है कि उसमें एक दिशा में जानेवाले, अथवा एक ही प्रकार के, विभिन्न भावों का सामान्यीकरण (जेनरलाइज़ेशन) होता है। किन्तु, जीवन के जो अन्य अनुभूत वस्तु-तत्त्व हैं, उनसे इन सामान्यीकरणों का मानो कोई सम्बन्ध न हो, ऐसा दिखायी देता है। जीवन विभिन्न अनुभूत क्षेत्रों के विभिन्न अनुभूत वस्तु-तत्त्वों का उनसे सायुज्य-स्थापन नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए लगता है रचनाकार के व्यक्तित्व में अन्तर्विभाजन है—काव्य-रूप ग्रहण करनेवाले वस्तु-तत्त्व अलग और विशिष्ट, जीवन में अनुभूत होनेवाले वास्तविक क्षण पृथक् और विशिष्ट। इन सबका विशाल सामान्यीकरणों के अन्तर्गत संयोजन न होने से बड़ी गड़बड़ है।

संक्षेप में, काव्य में जीवन के व्यापक चित्र चाहिए, न कि छिटपुट। व्यापक चित्रों

में जीवन के विविध क्षेत्रों और अनुभवों का सामान्यीकरण, निष्कर्ष आवश्यक है। यह न होने से तृप्ति नहीं होती, मार्गदर्शन नहीं होता। जिन्दगी को जीने और उसे ले चलने का उत्साह और उसकी दीप्ति हमें काव्य से मिलनी चाहिए। जीवन के विविध अनुभवों के सामान्यीकरणों से उत्पन्न निष्कर्ष-रूप दीप्ति वही दे सकता है। कविता जीवन-वहन की लालटेन हो सके, इसका हमें प्रयत्न करना होगा।

भारतीय मन की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। वह साहित्य को अपने आत्मीय परमप्रिय मित्र की भाँति देखना चाहता है, जो रास्ते चलते उससे बात कर सके, सलाह दे सके, काट-छाँट कर सके, प्रेरित कर सके, पीठ सहला सके, और मार्ग-दर्शन कर सके। भारतीय साहित्य में उन लोगों की वाणी को ही प्रधानता मिली है, जिन्होंने आध्यात्मिक असन्तोषों और अतृप्तियों को दूर करने की दिशा में विवेक-वेदना-स्थिति से ग्रस्त होकर काम किया है। आशा है कि हम लोग वैसा ही करेंगे।

[रचनाकाल 1959 के बाद, क्षत्रज्ञ में प्रकाशित। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित]

रचनाकार का मानवतावाद

नयी कविता पर विचार करते-करते मैं यह सोचने लगता हूँ कि उसमें प्रेरणामय मानवतावादी दृष्टि होनी चाहिए। किन्तु इस प्रकार कुछ कह देने से नयी कविता में, या किसी भी कविता में, वे गुण उत्पन्न नहीं हो सकते कि जिनका आग्रह मैं कर रहा हूँ या दूसरे कर रहे हैं। प्रेरणामय मानवतावादी भाव-धारा उसमें तब तक उत्पन्न नहीं हो सकती जब तक कि समाज में या जीवन-जगत् में मानवता-वादी भावधारा का उत्कट और व्यापक प्रभाव न हो, अथवा रचनाकार का ऐसा प्रचण्ड व्यक्तित्व न हो कि जैसा, मान लीजिये, वॉल्ट ह्विटमैन का था। यदि कुछेक समीक्षाकारों और विचारकों के अनुरोधों और आग्रहों से कविता का रूप-रंग बदल पाता, तो न मालूम कितने ही समीक्षकों और विचारकों के भिन्न-भिन्न आग्रहों और अनुरोधों के अनुसार, कविता के भिन्न-भिन्न रूप-रंग हो जाते। लेकिन ऐसा नहीं हो पाता, न ऐसा होना चाहिए। क्यों, ऐसा क्यों नहीं होना चाहिए?

यह इसलिए नहीं होना चाहिए कि काव्य में—साहित्य में—चूंकि आभ्यन्तरीकृत जीवन और जीवन-दृष्टि प्रकट होती है, इसलिए जब तक कि रचनाकार

वाह्य अनुरोधों और आग्रहों को स्वीकार करके उनके प्राप्त सत्यों के अनुसार जीवन का आभ्यन्तरीकरण नहीं करता, तब तक वह नवीन दृष्टि से, अर्थात् उन अनुरोधों और आग्रहों को, अन्तर में स्थान देकर उनकी क्रियाशील शक्ति से, आभ्यन्तरित जीवन को काव्य में कलात्मक रूप से प्रकट नहीं कर सकता। और, यदि वह इस प्रकार के आभ्यन्तरीकरण के विना रचना उपस्थित करता है, तो निस्सन्देह उसकी उस रचना में कलात्मक गुण उत्पन्न नहीं होंगे—ऐसे गुण जो प्रभावकारी हों। दूसरे शब्दों में, उसमें वह सौन्दर्य उत्पन्न नहीं होगा कि जो कलाकृति के लिए आवश्यक होता है।

तो मुख्य प्रश्न बाह्य अनुरोधों और आग्रहों की दृष्टि से जीवन के आभ्यन्तरीकरण का है, अर्थात् अपने व्यक्तित्व के—अपने कलाकार-व्यक्तित्व के—संशोधन तथा पुनःसंशोधन का है, न कि केवल नवीन दृष्टि की अभिव्यक्ति का। दूसरे शब्दों में, मुख्य प्रश्न कलाकार की जीवन्त संवेदनशील मानसिकता का है, उसके वास्तविक संवेदनशील मन का है, जो अन्तर्वाह्य तत्त्वों का आकलन-ग्रहण तथा सम्पादन-संशोधन किया करता है।

अपने से वाह्य प्रतीत होनेवाले वे आग्रह और अनुरोध जब कलाकार के अन्तःकरण में स्थान ग्रहण कर लेते हैं, और अपनी क्रियाशील शक्ति के द्वारा संवेदनात्मक अनुभवों की गहन अन्तर-दृष्टि-सम्पन्न व्यवस्था में (और उस अन्तर-दृष्टि में) आवश्यक परिवर्तन उत्पन्न करने लगते हैं, तब यह कहा जा सकता है कि वास्तविक जीवन-जगत् का एक विशेष और विशिष्ट प्रकार से आभ्यन्तरीकरण हो रहा है। संवेदनात्मक अनुभवों की यह गहन अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न व्यवस्था क्या है? संवेदनात्मक अनुभवों में गहन जीवन-आलोचना के जो सूत्र होतें हैं वे सूत्र ही संवेदनात्मक अनुभवों से उत्पन्न या उनसे संयुक्त अन्तर्दृष्टि हैं। यह जीवन-आलोचन इतना निजगत, निजबद्ध और संवेदनायित होता है कि उसको संवेदनात्मक अनुभवों से विच्छिन्न करके पृथक् रूप से स्थापित करना कदाचित् सम्भव नहीं है। वह हमारे संवेदनात्मक जीवन ही के इतिहास का एक अंश है।

तात्पर्य यह कि वाह्य आग्रहों और अनुरोधों के आभ्यन्तरीकरण की क्रिया सम्भव तो है। किन्तु, अन्तःकरण में स्थित होकर उन अनुरोधों की क्रियाशील शक्ति जब तक इतनी सक्षम और समर्थ नहीं हो जाती, कि वे अनुरोध गहन संवेदनात्मक अनुभवों की अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न व्यवस्था का सम्पादन-संशोधन और पुनर्गठन कर सकें—जब तक वह इतनी सक्षम और समर्थ नहीं हो जाती कि लेखक की अपनी मूलभूत प्रेरणा बन सके, और लेखक की अपनी मूलभूत प्रेरणा बनकर उसके अन्तर्तत्त्वों की व्यवस्था को पुनर्रूपायित और पुनर्निरूपित कर सके, तब तक लेखक के द्वारा स्वीकृत वे वाह्य अनुरोध और आग्रह केवल सतही ढंग से उसके मन में रह रहे हैं, यही तो कहा जायेगा।

लेखक के अन्तर्जीवन—संवेदनशील अन्तर्जीवन—के संशोधन-परिष्करण का कार्य इतना सरल भी नहीं है, भले ही लेखक स्वयं उसे करे। वह एक क्रमशः

विकसित विवेक की क्रियाशीलता के बिना अधूरा ही है। किन्तु, केवल विवेक भी अपने-आपमें कुछ नहीं कर सकता, जब तक संवेदनात्मक अनुभवों का वह स्वयं अंग नहीं बन जाता, आन्तरिक-मानसिक-संवेदनात्मक प्रवाह का जब तक वह, बेमालूम ढंग से, अंग नहीं बन जाता। दूसरे शब्दों में, संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनों की एकमेक स्थिति जब तक उपस्थित नहीं हो जाती, तब तक वह विवेक अन्तर में भी संवेदनात्मक जीवन का अंग न होगा।

आन्तरिक जीवन के अपने भीतरी विरोध होते हैं, अपना तनाव होता है। उसमें पनपने और तड़पने वाले अनेकानेक मूल्यवान अनुभव और महत्त्वपूर्ण सत्य, अभिव्यक्ति—कलात्मक अभिव्यक्ति—प्राप्त नहीं कर पाते। क्यों प्राप्त नहीं कर पाते ?

केवल वे ही संवेदनात्मक अनुभव, केवल वे ही अनुभवात्मक सत्य, कलात्मक अभिव्यक्ति पा लेते हैं, जो लेखक के संवेदनात्मक उद्देश्यों के—रचना उपस्थित करनेवाले संवेदनात्मक उद्देश्यों के—अनुसार होते हैं। रचना उपस्थित करनेवाले संवेदनात्मक उद्देश्य किस प्रकार के होते हैं ?

क्या यह सत्य नहीं है कि अपने जीवन में प्राप्त विशेष अनुभवों और विशेष भाव-प्रेरणाओं को ही लेखक प्रकट करता है, तथा इतर अनुभवों और भाव-प्रेरणाओं को वह व्यक्त नहीं करना चाहता या उन्हें व्यक्त करने की व्याकुलता उसमें उत्पन्न नहीं हो पाती ? रचना प्रसूत करनेवाले उसके संवेदनात्मक उद्देश्य, उन विशेष व्याकुलताओं की ही एक शाखा हैं, कि जो व्याकुलताएँ अनुभूत जीवन के किसी विशेष अंग या क्षेत्र ही से सम्बद्ध होती हैं, और उन्हीं से उत्पन्न या निष्पन्न होती हैं। शेष अनुभवात्मक जीवन उनसे अलग रह जाता है, अर्थात् कलात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करने के लिए आतुर नहीं होता। क्या यह सत्य नहीं है ?

कलात्मक रचना का मनोविज्ञान निःसन्देह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। कलाकार बाह्य अनुरोधों और आग्रहों को स्वीकार करके भी, और तदनुसार अपने अन्तर्तत्त्वों की व्यवस्था का संस्कार करते हुए भी, उन अनुरोधों और आग्रहों को कलाकृति में अवतरित करे ही, यह आवश्यक नहीं होता—अर्थात् वह वैसा करेगा ही, यह अनिवार्य नियम नहीं है। इसके विपरीत, बहुधा यह देखा गया है कि लेखक चुप हो जाता है (सम्भवतः इसके कारण तरह-तरह के होंगे), अथवा वह अपनी दिशा बदल देता है, या वह संकल्पशील कर्म-जीवन में प्रविष्ट होकर उनकी पूर्ति करने लगता है।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आभ्यन्तरीकृत अनुरोध तथा आग्रह कलाकृति में व्यक्त नहीं होते, या उनके अनुसार कलाकृति निर्मित नहीं होती, नहीं हुआ करती। यह सब-कुछ कलाकार की उन आन्तरिक व्याकुलताओं पर निर्भर है, जिन्हें मैंने पहले संवेदनात्मक उद्देश्य कहा।

सच बात तो यह है कि सब कुछ कलाकार के व्यक्तित्व-निर्माण के इतिहास,

उसके संवेदनात्मक जीवन के इतिहास, और उन सबसे बने हुए कवि-स्वभाव, पर निर्भर है।

किन्तु ऊपर जो पेचीदगियाँ बतायी गयी हैं उनका मतलब यह नहीं है कि लेखक-कलाकार बाह्य अनुरोधों या आग्रहों को स्वीकार नहीं करता। अथवा उसके स्वभाव से जो भिन्न और बाह्य हैं—अर्थात् वैसे अनुरोध—उनका वह विरोध ही करता रहता है। नहीं, यह बात नहीं।

इसके विपरीत, सच्चा संवेदनशील लेखक-कलाकार, अपने को बाह्य प्रभावों को ग्रहण करने के लिए छुट्टा छोड़ देता है, या उसे छोड़ देना चाहिए। कलाकार चाहे जितना महान् क्यों न हो, जीवन-जगत् की तुलना में उसका अन्तर छोटा ही है। इसलिए, वह जीवन-जगत् के बिम्बों, प्रेरणापूर्ण दृश्यों, भाव-विचारधाराओं के सार-सत्यों को पीता रहता है, या पीते रहना चाहिए।

इस प्रकार की प्रवृत्ति यदि उसमें है, तो वह बाह्य अनुरोधों और आग्रहों को अपने संवेदनशील विवेक द्वारा ग्रहण कर उन्हें अपने ढंग से आत्मसात् करता रहता है। लेखक-कलाकार भले ही इस तथ्य को अस्वीकार कर दे कि वह बाह्य अनुरोधों या आग्रहों को कदापि नहीं मानता, किन्तु सच तो यह है कि वह अपने ढंग से उन्हें किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करता रहता है। जहाँ भी और जिसमें भी उसे सत्यांश दिखायी देता है, उस सत्यांश को वह सोख लेता है। निःसन्देह, यह आत्मसात्करण उसके अपने अन्तर्जीवन से सम्बद्ध है। वह उन सत्यांशों को अपने संवेदनशील अन्तर्जीवन में मिला लेता है। इस प्रकार, क्रमशः, लेखक के व्यक्तित्व का विकास होता जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि लेखक बहुत बार बाह्य अनुरोधों या आग्रहों को स्वीकार करके उन्हें आत्मसात् करके, अपने संवेदनात्मक अन्तर्जीवन में मिलाकर भी, या तो चुप हो जाता है, या अपनी दिशा बदलकर संकल्पशील कर्म-जीवन में प्रविष्ट हो जाता है। कि तु आत्मसात्कृत उन बाह्य अनुरोधों या आग्रहों के अनुसार कलाकृतियाँ उपस्थित नहीं कर पाता।

यदि हम यह मान लें कि वे बाह्य अनुरोध और आग्रह उसके अन्तर्जीवन के इतिहास बन चुके हैं, उसके प्रेरक तत्त्व बन चुके हैं, तो क्या कारण है कि वह वैसी कलाकृतियाँ उपस्थित नहीं कर पाता?

इसका, सम्भवतः, एक कारण यह है कि लेखक के पास उस प्रकार की अभिव्यक्ति का अभ्यास नहीं है, कि जैसी अभिव्यक्ति उन अनुरोधों और आग्रहों की दिशा में चलने के लिए आवश्यक है।

अभिव्यक्ति का अभ्यास कलाकार का एक मुख्य कर्त्तव्य है। सूचित दिशा में चलने के लिए अनवरत अभ्यास की आवश्यकता है। होता यह है कि लेखक अपने नवीन अनुरोधों (बाह्य अनुरोधों के आत्मसात् प्रभग्वों से उत्पन्न आग्रहों) द्वारा प्रेरित होकर चलता तो है, उसके पास कहने के लिए भी बहुत-कुछ होता है; किन्तु तदनुसार सक्षम अभिव्यक्ति के विकास के प्रारम्भिक चरण में होने से वह

आत्मविश्वास तो देता है। नवीन अनुरोध नवीन कथ्य ले आते हैं, उन कथ्यों को कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करना सरल कार्य नहीं होता। उन कथ्यों को व्यक्त करने के लिए, प्रभावोत्पादक कलात्मक रूप से प्रस्तुत करने के लिए, तदनुसरण-शील अभिव्यक्ति-पद्धति का विकास करना पड़ता है। अतएव लेखक, वस्तुतः शुरू में, सक्षम अभिव्यक्ति के विकास के प्रारम्भिक चरण ही में, लड़खड़ाता रहता है।

क्यों लड़खड़ाता रहता है? इसलिए कि अब तक उसने जिस अभिव्यक्ति-पद्धति और सौन्दर्याभिरुचि का विकास किया है, वह—एस्थेटिक पैटर्न—नवीन कथ्य की अनुसारिणी सक्षम अभिव्यक्ति के पथ पर चलनेवाले मन को मोड़ती रहती हैं, भावों और शब्दों को व्यवस्था-बद्ध करनेवाली (ग़लत शब्दों को, और अनायास उत्पन्न हुए किन्तु सन्दर्भ न रखनेवाले भावों और शब्दों को, स्वीकार करनेवाली) उसकी आलोचन-संशोधन-सम्पादन दृष्टि में बाधा और व्यतिरेक, सन्देह और शंका उत्पन्न कर देती हैं। बार-बार यह घटना होने पर लेखक उस विषय-क्षेत्र के उस पथ पर आत्म-विश्वास खो देता है, लड़खड़ा जाता है, और हाथ में लिया हुआ काम फेंक देता है।

किन्तु, यदि वह कथ्य अन्तर्जीवन में स्थायी बना हुआ है, उस कथ्य को संवेदित करनेवाली अन्तर्बाह्य स्थिति-परिस्थितियाँ बराबर बनी हुई हैं, अथवा जीवन-जगत् का वातावरण ऐसा है, देश-समाज और साहित्य-क्षेत्र का वातावरण ऐसा है, कि उस विशेष प्रकार के कथ्य को महत्त्व प्राप्त हो गया है, तो लेखक श्रमपूर्वक, तथा पुनः-पुनः प्राप्त असफलताओं के बावजूद, सक्षम अभिव्यक्ति प्राप्त करने के बारम्बार प्रयत्न में स्वयं कलात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है, और साहित्य-क्षेत्र में, निज-विशिष्ट स्थान बना लेता है।

मनुष्य का स्वभाव है कि जो सुकर है, जो सुगम है, उसे अपनाता है, जो कठिन है, जो श्रम-साध्य है, उसे बाह्यतः मूल्य प्रदान करते हुए भी अपनाता नहीं। उसकी यह आदत अपने जीवन ही के मूल्यवान् तत्त्वों को अभिव्यक्ति प्रदान नहीं करने देती। परिणामतः, स्वयं के ही कुछ आवृत और पुनरावृत भावों और अभिव्यक्ति-पद्धति को—भले ही वे उसके जीवन में, वस्तुतः, विशेष स्थान न रखते हों—दुहराता रहता है, उन्हीं की जुगाली करता रहता है। परिणामतः, उसका वास्तविक अन्तर्जीवन (और उसका व्यक्तित्व तथा जीवन-प्रसंग भले ही किसी अन्य उपन्यासकार का विषय हो जायें) उसकी कला में व्यक्त नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में, यह कहना कि कलाकृति में कवि-कलाकार आत्मोद्घाटन करता है, अत्यन्त संकुचित और वायवीय अर्थ ही में सही हो सकता है।

कलाकृति में व्यक्त भाव किन्हीं विशेष सन्दर्भों में लेखक के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं। कोई लेखक मात्र आत्मग्लानि अथवा किसी बुभुक्षित वासना का दमित रूप अथवा अन्य कोई सामाजिक आलोचन प्रकट करता है। किन्तु जो विशेष भाव लेखक प्रकट करता है, केवल वे ही उसके हृदय में हैं, तथा अन्य नहीं, यह मानना ग़लत है। होता यह है कि लेखक व्यक्त किये जानेवाले भावों को कोई अतिरिक्त

मूल्य प्रदान करता है, शेष भावों को नहीं। परिणामतः, केवल वे ही भाव तथा उनके आस-पास लगे हुए भाव ही वह प्रकट करता है। शेष को छोड़ देता है। दूसरे शब्दों में, लेखक अपनी मूल्य-भावना के अनुसार आभ्यन्तर भावों को प्रस्तुत करता है। और उसके अन्तःकरण में एक मूल्य-भावना होती है जो उसे किन्हीं विशेष भावों को प्रकट करने के लिए तैयार करती रहती है। दूसरे शब्दों में, लेखक अपना एक एस्थेटिक्स तैयार कर लेता है।

मानव-अन्तःकरण में आलोचन-धर्म मूलभूत है। वह संवेदनात्मक अनुभवों से, प्राथमिक अवस्था में, अविच्छिन्न होता है। किन्तु आगे चलकर वह सामान्यीकरणों के रूप में, जीवन-तथ्यों के सामान्यीकरणों के रूप में, प्रकट होता है। इस प्रकार मानव-अन्तःकरण में संवेदनात्मक आधारों पर, अनुभवात्मक आधारों पर, एक विशेष प्रकार की जीवन-ज्ञान-व्यवस्था उत्पन्न और विकसित हो जाती है। यह जीवन-ज्ञान-व्यवस्था मूल्य-भावनाओं और आलोचन-सूत्रों को अपने में सम्मिलित किये रहती है। संक्षेप में, जीवन-ज्ञान-व्यवस्था में मूल्य-भावना और आलोचन-सूत्र होते ही हैं। यह जीवन-ज्ञान-व्यवस्था जीवन-यात्रा के क्रम में विकसित होती जाती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इसके अन्तर्गत समाया हुआ जो विश्व-बोध या जीवन-जगत्-बोध है, जो मूल्य-भावना है, जो विचार-व्यवस्था है, जो आलोचन-सूत्र हैं, वे परिष्कृत हों, निज-बद्धता से परे होकर वे संशोधित-सम्पादित किये गये हों।

इस जीवन-ज्ञान-व्यवस्था की, विचार-व्यवस्था की, एक विशेषता ध्यान में रखने योग्य है। उसमें जीवन-व्याख्यान के जो सूत्र होते हैं वे उस दृष्टि के अंग हैं, कि जो दृष्टि भोक्ता मन ने जीवन-यात्रा में निजगत प्रयासों और बाह्य प्रभावों से प्राप्त और विकसित की है। यह दृष्टि और मूल्य-भावना बाह्य और अन्तर के योग से प्राप्त और विकसित होती है। चूँकि उसकी वास्तविक जीवन-प्रणाली एक विशेष वर्ग के क्षेत्र में ही चलती रहती है, अतएव उस वर्ग में प्रचलित सामान्य भाव-धारा भी उसके विकास में सहयोग प्रदान करती है। इस प्रकार उस मूल्य-भावना तथा दृष्टि के विकास में जितना निजगत योग है, उतना ही पारिवारिक तथा वर्गीय क्षेत्रों का भी उसके विकास में सहयोग है। इस प्रकार, एक ही साथ, वह दृष्टि निजगत तथा जीवन-क्षेत्रगत अर्थात् वर्गगत प्रयासों के योग का एक परिणाम है, भले ही संवेदना के रूप में, अनुभूति के रूप में, उसके तत्त्व तथा कार्य निजी मालूम हों।

संवेदनात्मक-अनुभवात्मक आधारों पर उपस्थित यह जो विचार-व्यवस्था है, यह जो जीवन-ज्ञान-व्यवस्था है, वह उसके साहित्य में, उसकी रचना में, उसकी कलाकृति में, तरह-तरह से प्रकट होती है। मेरे अपने खयाल से वह मुख्यतः दो प्रकार से प्रकट होती है। एक तो वह भाव-दृष्टि, जीवन-आलोचन, जीवन-विवेक अथवा विचार-चित्रण या भावांकन के रूप में प्रकट होती है। किन्तु इसके अतिरिक्त वह कलात्मक विवेक का रूप धारण कर, कला-सम्बन्धी विचारधारा

भी बन जाती है, और उसके प्रभाव से वह कलाकृति का अन्तर्बाह्य संगठन भी करती है।

किन्तु, महत्त्व की बात यह है कि उसके अन्तःकरण में स्थित यह जो जीवन-ज्ञान-व्यवस्था है—जिसके मूल-जाल संवेदनात्मक-अनुभवात्मक होते हैं—उस जीवन-ज्ञान-व्यवस्था को जीवन-जगत् की व्याख्या के साथ, अर्थात् किसी व्यापक विचार-धारा के साथ, किसी दर्शन के साथ, जोड़ने का प्रयत्न होता रहता है। एक ओर, लेखक स्वयं जीवन-जगत् की व्याख्या चाहता है, तो, दूसरी ओर, साहित्य-क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की विचारधाराएँ और दर्शन जीवन-जगत् की व्याख्या को लेकर उपस्थित होती हैं। इस प्रकार लेखक के अन्तःकरण में उपस्थित संवेदनात्मक-अनुभवात्मक जीवन-ज्ञान-व्यवस्था के साथ जीवन-जगत् की दार्शनिक व्याख्या का समन्वय हो जाता है, और वह दार्शनिक धारा लेखक को आत्म-विस्तार के रूप में ही दिखायी देती है।

यह आवश्यक नहीं है कि लेखक जिस जीवन-ज्ञान-व्यवस्था को लेकर चलता है उसमें विकास नहीं होता, अथवा जिस दार्शनिक धारा को लेकर चलता है, उसमें वह अपनी ओर से कोई नवीन तत्त्व नहीं जोड़ता।

इसके विपरीत, वह स्वयं भी अपने-आपको उस दार्शनिक धारा द्वारा परि-पुष्ट करता है, अपने स्वयं की जीवन-ज्ञान-व्यवस्था का व्याख्यान उस दार्शनिक धारा की सहायता से करता है, साथ ही उस दार्शनिक धारा को वह अपनी विशेष दृष्टि से व्याख्यात करता हुआ उसमें नवीन अर्थ भर देता है।

किन्तु, अब तक विकास-प्राप्त जीवन-ज्ञान-व्यवस्था, जो लेखक के अन्तःकरण में स्थित होती है और कलाकृति में किसी-न-किसी रूप में प्रकट होती है, वह नवीन जीवन-परिस्थितियों की पेचीदगियों में पड़कर नवीन जीवन-प्रसंगों में ठेस खाकर जब नवीन तत्त्व ग्रहण करने लगती है, तब ऐसे नवीन संवेदनात्मक अनुभव-तत्त्वों के स्तर-के-स्तर हृदय में बन जाने के उपरान्त, या तो कलाकार पूर्व-प्राप्त दार्शनिक धारा को ही लचीली बनाकर उसमें नवीन अर्थ भरते हुए उसे नये रूप में, किन्तु पुराने नाम से ही, विकसित कर लेता है, अथवा जीवन-जगत् की व्याख्या करनेवाली ऐसी नवीन विचारधारा को ग्रहण करता है जिसमें उसके नव-प्राप्त अन्तर्तत्त्वों की व्याख्या प्राप्त हो सके।

संक्षेप में, इस प्रकार हम देखते हैं कि दार्शनिक विचारधारा लेखक की एक निजी आवश्यकता होती है। वह दार्शनिक विचारधारा कितनी दार्शनिक है, अथवा वह कितनी व्यवस्थाबद्ध है, वह कितनी सत्याधारित है, यह एक भिन्न प्रश्न है। महत्त्व की बात (लेखक के लिए) इतनी ही है कि वह अन्तःकरण-स्थित जीवन-ज्ञान-व्यवस्था को व्यापक दृष्टिकोण से व्याख्यात करती है।

लेखक कलाकृति में उस दार्शनिक भाव-धारा को ज्यों-का-त्यों प्रकट नहीं करता, वरन् वह उसे एक दृष्टि-रूप में ग्रहण कर उसके अनुसार जीवन-व्याख्यान या जीवन-आलोचन (जैसा और जितना कलाकृति में सम्भव है) उपस्थित करता

है। उस दृष्टि द्वारा उसके हृदय में मूल्य-भावना विकसित होती है, और उस मूल्य-भावना के अनुसार, वह किन्हीं विशेष अन्तर्तत्त्वों को महत्त्व प्रदान कर शेष को अभिव्यक्ति-क्षेत्र से बहिर्गत कर देता है, अथवा उन्हें उपेक्षित करता है।

कलाकृति में—कलाकार के कार्य में—यह मूल्य-भावना बहुत सक्रिय होती है। वह किन्हीं विशेष भाव-दशाओं, किन्हीं विशेष जीवन-तत्त्वों को अभिव्यक्ति-महत्त्व प्रदान करती हुई, उन्हें विशेष कोण से, विशेष दृष्टि से ही स्थापित करती है। यह कोण, यह दृष्टि, क्या है ? वह उस ज्ञानात्मक भाव-धारा का ही एक रूप है जिसे मैंने दार्शनिक विचारधारा कहा।

अतएव, कलाकार अपने औचित्य की स्थापना के लिए, आत्म-विस्तार के लिए, अपने को उच्चतर स्थिति में उद्बुद्ध करने के लिए, अपना अन्तःसंगम दार्शनिक भाव-धाराओं से करता है। चूँकि वह कलाकार है, इसलिए वह कला में जीवन-चित्र ही प्रस्तुत करता है, न कि दर्शन की व्याख्या। किन्तु, उसके पास अपना एक वैचारिक दृष्टिकोण रहता ही है, जो एक मूल्यांकनकर्त्री और नियन्त्रण-शील शक्ति के रूप में उसकी कलाकृति के रूप-तत्त्व और तत्त्व-रूप को नियमित करता है। अतएव यह कहना ग़लत है कि लेखक के पास जीवन-जगत् की व्याख्या अर्थात् विचारधारा का नितान्त अभाव है।

हाँ, यह कहना सही हो सकता है कि अपनी एक विशेष अवस्था में वह एक सर्वांगीण जीवन-जगत्-व्याख्या—ऐसी व्याख्या जो सब दृष्टियों से उसे सन्तोष प्रदान कर सके—उसने अभी प्राप्त नहीं की है, अतएव उसने अमुक विचारधारा से अमुक तत्त्व लेकर, भिन्न भाव-धारा से कोई अन्य तत्त्व लेकर, किसी दूसरी फ़िलॉसफ़ी से कोई तीसरी बात लेकर, अपने-आपको परिपुष्ट करने का प्रयत्न किया है, अथवा जीवन-जगत् के वास्तविक क्षेत्र में किसी सामान्य ज्ञान से बहुत-सी बातें लेकर उसने अपने को सन्तुष्ट कर लिया है। यह सब हो सकता है। सम्भवतः आज की नयी काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र में ऐसा ही कुछ है।

बात जो भी हो, यह निश्चित है कि लेखक के व्यक्तित्व का एक पक्ष वैचारिक है, और यह वैचारिक पक्ष अपनी पूरी वैचारिकता भले ही कलाकृति में उपस्थित न करे, वह स्वयं ओझल रहकर, किन्तु एक शक्ति के रूप में, उसके उस संवेद-नात्मक-अनुभवात्मक पक्ष का, जो कि कलाकृति में उपस्थित होता है, नियमन-नियन्त्रण अवश्य ही करता है।

इन्हीं बातों को देखते हुए, लेखक के इस वैचारिक पक्ष के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए, साहित्य के क्षेत्र में अनेक विचारधाराएँ उपस्थित की जाती हैं, उपस्थित होती हैं—आध्यात्मिक, समाजवादी तथा समाजवाद-विरोधी तथा अन्य।

कलाकार का अन्तर्मन विचारों को आत्मानुभूत जीवन-सन्दर्भों से एकाकार करके ग्रहण करता है। अन्तर्मन में उपस्थित वास्तविक जीवन विचारों में प्रवाहित होता है। विचारों की यह प्रवहणशीलता लेखक की सारी संवेदनाओं से मिलकर

उसके अन्तर्जीवन का अंश बन जाती है।

किन्तु जहाँ ये विचार कलाकार के अन्तःकरण में संवेदनात्मक रूप से उपस्थित जीवन-सन्दर्भों द्वारा ग्रहण नहीं किये जाते, वहाँ वे बाहरी ही रह जाते हैं। ऐसे न मालूम कितने विचार हैं, जो अपने-आपमें सुसंगत और न्यायोचित रहते हैं। किन्तु कलाकार के लिए वे उसी ढंग से बाहरी हो जाते हैं, जिस प्रकार बाजार घर के बाहर ही होता है।

ऐसी स्थिति में, लेखक के द्वारा आत्मानुभूत न हो पानेवाले विचारों का आग्रह यदि उससे किया जाये, अथवा लेखक यह समझे कि ऐसे विचारों को उस पर लादा जा रहा है, तो मन-ही-मन अथवा प्रकट रूप से वह विक्षुब्ध होकर विद्रोह कर उठता है।

लेखक चूंकि किसी-न-किसी रूप से जीवन का चित्रण करता है, इसीलिए उसकी जीवनानुभूतियों को, उसकी भावनाओं-कल्पनाओं और जीवनानुभूति-रंजित बुद्धि को, उत्तेजित और प्रोत्साहित करने या कर सकनेवाली शब्दावली और शैली में जब तक कोई समीक्षा या सिद्धान्तवाद या विचारधारा प्रस्तुत नहीं की जाती, तब तक वह उसे प्रभावित या प्रोत्साहित अथवा प्रेरित नहीं कर सकती।

यह विशेषकर उस स्थिति में होता है जब लेखक उस विचारधारा या भाव-धारा या सिद्धान्तवाद को अपने वायुमण्डल से नहीं खींच पाता, क्योंकि वह विचारधारा या भाव-धारा या सिद्धान्तवाद उस वायुमण्डल में होता ही नहीं, न उस समय उसके होने की कोई सम्भावना ही दिखती है।

किन्तु जब किसी विशेष स्थिति-परिस्थिति में, वैसी विचार-धारा या भाव-धारा या सिद्धान्तवाद स्वाभाविक हो उठता है, अर्थात् उस विशेष स्थिति-परिस्थिति में जब उस ढंग के झुकाव या रुझान या उन्मुखताएँ स्वाभाविक रूप से उपस्थित होती हैं, तब वैसी स्थिति-परिस्थिति में कलाकार उस विचारधारा को, उसकी बौद्धिक-सैद्धान्तिक शब्दावली को, अनायास ग्रहण कर लेता है, अर्थात् वह विवेचनात्मक-सैद्धान्तिक शब्दावली यदि उसके निकट नहीं तो दूर भी नहीं मालूम होती।

किन्तु ऐतिहासिक युगों में ऐसी भी विशेष स्थिति-परिस्थितियाँ होती हैं, जब समीक्षा या सिद्धान्त-विवेचना और सिद्धान्तों का बौद्धिक प्रयोग एक विशेष स्तर पर चलता रहता है, तथा कलाकार का जीवन-चिन्तन या जीवन-अनुभव और उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति किसी भिन्न स्तर पर चलती रहती है, और ये दोनों स्तर एक-दूसरे से समानान्तर चलते रहते हैं, और, बावजूद उनकी टकराहट के, कलाकार का जीवन-चिन्तन और कलात्मक अभिव्यक्ति समानान्तर चलती रहती है। ऐसी भी एक परिस्थिति होती है।

इसका परिणाम यह होता है कि सिद्धान्त-विवेचन अर्थात् विचारधारा की मूल दृष्टि या तो स्वयं बदलकर कलाकार के समीप आने लगती है, अथवा उस

विवेचन की मूलधारा एक स्वतन्त्र विचार-सरणि बनकर, बदलते हुए जीवन के मूल स्रोतों से विच्छिन्न होकर अपने-आपको जड़ीभूत अवस्था में परिणत कर लेती है। विचारधाराओं की जड़ीभूत स्थिति यही सूचित करती है कि जीवन द्वारा उपस्थित नये सत्यों, तथ्यों तथा समस्याओं से उसने अपने-आपको अलग करके कूटस्थ ब्रह्म की स्वयंपूर्ण-सम्पूर्ण इयत्ता स्थापित कर ली है।

इस प्रकार उस विचारधारा के क्षेत्र में जब सृजनशील और जीवनजन्य उद्वेगों से परिपूर्ण चिन्तन रुक जाता है तब, वैसी स्थिति में, उसमें उदात्त और उच्च गौरव-गर्वपूर्ण अहंकार की भव्यता भले ही झलकने लगे, वह, बावजूद उसमें स्थित महत्त्वपूर्ण सत्यों के, जीवन-विकास के लिए निरुपयोगी हो उठती है—अपनी जड़ता के कारण, सत्यांशों के कारण नहीं।

दूसरे शब्दों में, समीक्षात्मक विवेचन तथा कलाकार के जीवन-चिन्तन की समानान्तरता तथा परस्पर-संवाद के अभाव की स्थिति जब स्पष्टतः दिखायी देने लगती है, तब यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि उस विचारधारा के क्षेत्र में काम करनेवाले लोग अपनी स्वयं की अक्षमताओं की घनी परछाईं अपनी स्वयं की विचारधारा के क्षेत्र में तो नहीं डाल रहे हैं। दुर्भाग्य की बात यह है कि किसी भी विचारधारा के क्षेत्र में, या कहिये, समीक्षात्मक विवेचन के क्षेत्र में, काम करने-वाले लोगों में आत्मालोचन और आत्म-समीक्षा बहुत कम दिखायी दी है। अपनी अनेकानेक असफलताओं के दोष, अपनी प्रभावहीनता के अपराध, का कुछ भी भाग अपने हिस्से में न रखकर उन्होंने सर्वथा कलाकार के मत्थे मढ़ा है।

कलाकार होने मात्र से कोई व्यक्ति, बहैसियत एक कलाकार के, कोई देवता, सन्त या वांछनीय कलाकार नहीं हो जाता। अगर ऐसा होता तो औरंगज़ेब की प्रशस्ति में काव्य करनेवाला कवि कालिदास [त्रिवेदी (एक रीतिकालीन कवि)], बहैसियत एक कलाकार के, औरंगज़ेब से सम्बन्धित कविताओं में भी जीवन-सत्य की कलात्मक अभिव्यक्ति कर रहा होता। उन कलाकृतियों में, अर्थात् उन सवैयों-कवित्तों में, वह चाटुकार का कार्य कर रहा था। प्रसिद्ध कवि पद्माकर ने अपने संरक्षक हिम्मत बहादुर की बहादुरी के जो गीत गाये हैं उससे यही प्रमाणित होता है कि कलाकार, केवल रचना-कर्म के कारण ही, अपने-आपमें कोई देवता या सन्त या वांछनीय कलाकार नहीं हो जाता। वह कहाँ तक, किस हद तक, किस सीमा तक, वांछनीय कलाकार है, यह उसकी कलाकृति के अपने रूप-स्वरूप पर, उस कलाकृति की मूल प्रेरणा पर, उस कलाकार के व्यक्तित्व पर (जो उस कलाकृति में प्रकट हुआ है), तथा उस कलाकृति में जो जीवन-मर्म प्रकट किये गये हैं (यदि वे प्रकट किये गये हैं तो)—इन सब पर और उनके प्रभावों के स्वरूप पर, इन सब परस्पर-सन्निविष्ट बातों पर, एक साथ निर्भर करेगा। कलाकार होने मात्र से, रचनाकार होने मात्र से, कोई व्यक्ति श्रेष्ठ वांछनीयता का अधिकारी नहीं होता।

समीक्षक के अहं-बद्ध विचारों का तुषार जिस भाँति उसके उग्र अहंकार का

ही द्योतक होता है, उसी प्रकार कलाकार का अहंकार भी एक बड़ी अजीब चीज होती है। ऐसी अहंकारात्मक मनीषा जब प्रतिभा के नाम से खुलकर खेलती है, तब साहित्य का 'कल्याण' हो जाता है। समीक्षा और कला की यह टकराहट, असल में, महामहिम व्यक्तियों या महत्त्वाकांक्षी किन्तु पदहीन महानुभावों की आपस की टकराहट है।

कला, चाहे वह यथार्थवादी कला ही क्यों न हो, एक आत्मपरक प्रयास है। यह उसकी विशेषता है, बहुत बड़ी विशेषता। कला न केवल एक आत्मपरक प्रयास है, वरन् उसकी अपनी एक सापेक्ष स्वतन्त्रता है। वह व्यक्ति-सापेक्ष है, जीवन-सापेक्ष है, वर्ग-सापेक्ष है, युग-सापेक्ष है। वह स्वतन्त्र भी है। वह स्वतन्त्र इस अर्थ में है कि जो भाव-बीज कलाकार के अन्तःकरण में उदित होकर, उसके सारे संवेदनों और अनुभवों द्वारा परिपोषित होकर, विस्तार ग्रहण करके, उसके अन्तर्मन को आच्छादित करते हुए अपनी अभिव्यक्ति-लक्ष्य की ओर विकास-यात्रा करता है, तो उस भाव-बीज की विकास-यात्रा और उसकी अभिव्यक्ति अपने-आपमें विभिन्न और अनुकूल-विपरीत तत्त्वों का एक गतिशील किन्तु संगतिबद्ध और सामंजस्यबद्ध रूप बन जाती है।

उन भाव-बीज की (इस प्रकार की) गतिशील अभिव्यक्ति के दौरान में, यह सामंजस्य-बद्धता का, तथा उसके भीतर के तत्त्वों के विभिन्न अन्तःसम्बन्धों में एक गतिशील संगति की स्थापना का, यह जो शब्दात्मक-भावात्मक प्रयास है, उसके अपने विशेष-विशेष नियम हैं, जो कलाकार द्वारा अपने अन्तःकरण में अपने-अपने ढंग से अनुभूत तथा विकसित होते हैं।

यही कारण है कि दॉस्तॉवस्की की उपन्यास-रचना का शिल्प और शैली तुर्गनेव की उपन्यास-रचना के शिल्प और शैली से भिन्न है। यही कारण है कि उपन्यास-कला के किन्हीं सिद्धान्त-ग्रन्थों को पढ़कर, उनमें बताये नियमों का अनुसरण करते हुए, उन नियमों पर चलने की पूरी पाबन्दी बताते हुए, कलाकृति प्रस्तुत नहीं की जाती।

कला की स्वतन्त्रता का अर्थ है कला-तत्त्वों की अन्तःसंगठनशील, गतिशील संगति का, अर्थात् कला की स्वाभाविकता का, निर्वाह। इस गतिशील संगति की स्थापना के कार्य में जो भी अन्दर या बाहर के व्यवधान उत्पन्न होते हैं, वे कला-तत्त्व की (अभिव्यक्ति रूप धारण करनेवाली) आत्म-विकसनशील गति में बाधा डालते हैं, अतएव वे कला की स्वतन्त्रता की उपेक्षा करते हैं।

कला की स्वतन्त्रता और कलाकार की स्वतन्त्रता, ये दोनों समानार्थी अथवा समीपार्थी शब्द नहीं हैं। कला की स्वतन्त्रता जीवन-सापेक्ष है, व्यक्ति-सापेक्ष है। क्योंकि यदि कलाकार अन्तर्तत्त्वों की गतिमानता में उनके विशिष्ट अन्तः-सम्बन्धों को अनुभूत करके उनमें संगति और सामंजस्य स्थापित नहीं करता—अर्थात् काव्य-निर्वाह नहीं करता—तो इसका अर्थ ही यह है कि अन्तर्तत्त्वों की गति जिस दिशा की ओर जाना चाहती है, वहाँ से उसे मोड़कर (क्यों मोड़कर ?

एस्थेटिक पैटर्न के मोह से ग्रस्त होने से ? अथवा अन्य आदर्श, निष्कर्ष, उपदेश, शैली-सौन्दर्य आदि के सम्मोह से जड़ होकर ?) कोई भिन्न दिशा देना चाहता है। वैसी स्थिति में उसके अन्तःकरण में भावना, कल्पना, बुद्धि, इन तीनों का, तथा जीवनानुभूति और उसको प्रकट करने का संवेदनात्मक उद्देश्य, इन दोनों का, योग न होकर वे अलग-अलग पड़ जाते हैं। इस प्रकार कलाकृति बाधा-ग्रस्त हो जाती है।

इस बात को हम यों कहेंगे कि लेखक के अन्तःकरण में संचित जो भाव-तत्त्व हैं, जो जीवन-ज्ञान-व्यवस्था है, और उस व्यवस्था के अन्तर्गत जो दृष्टि है, उनसे परिचालित और परिपुष्ट जो संवेदनात्मक उद्देश्य हैं—उन [सब] से कलाभिव्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षा रखती है, उन पर निर्भर करती है अपने रूप-तत्त्व के विकास के लिए। इस प्रकार कला की स्वतन्त्रता लेखक के अन्तर पर, लेखक के अन्तर में उपस्थित जीवन-तत्त्वों पर, कलाकार के अन्तर में उपस्थित भाव-दृष्टि तथा जीवन-ज्ञान-व्यवस्था पर, निर्भर है और उन्हीं से मर्यादित है।

दूसरे शब्दों में, इस अन्तःस्थित भाव-दृष्टि तथा जीवन-ज्ञान-व्यवस्था से भिन्न, पृथक् तथा बाह्य तत्त्वों के दबाव में आकर लेखक जब-जब कलाकृति में संशोधन करता है, अथवा ऐसे तत्त्वों के दबाव में आकर वह नवीन रचना उपस्थित करना चाहता है, करता है, तो वैसी स्थिति में कला की आत्मतन्त्रता-स्वधर्मिता में बाधा होने से उसकी स्वतन्त्र स्थिति नष्ट हो जाती है।

संक्षेप में, कला की स्वतन्त्रता जीवन-सापेक्ष है—वह जीवन जो भाव-रूप में अन्तःकरण-स्थित है। वह उसी पर निर्भर है। कलाकार की स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि कलाकार मनचाहे जैसे भावों को मनचाही जैसी रूप-शैली में प्रकट कर सकता है। यहाँ उसकी कला के स्वरूप पर, और उस स्वरूप का कवि-अन्तःकरण से जो सम्बन्ध है उस पर, दृष्टि नहीं है, वरन् उस अधिकार पर दृष्टि है जिसे कलाकार अपना अधिकार समझता है। कलाकार की, लेखक की, यह स्वतन्त्रता समाज-सापेक्ष और समाज-स्थिति-सापेक्ष है। पूँजीवादी देशों में साम्यवादी साहित्य पर न मालूम कितनी बार, साम्यवादी लेखकों पर न मालूम कितनी बार, प्रगतिशील चित्रकारों पर न मालूम कितनी ही बार, अंकुश लगाया गया, उनकी कृतियाँ जब्त की गयीं, उन रचयिताओं को जेल की हवा खानी पड़ी। जब तक अपनी कलाकृति में आप समाज की आलोचना ऐसे ढंग से करते रहेंगे कि जिससे आग सुलगेगी, तब तक आपकी कुशल नहीं। आप अपनी चाल बदलिये, नहीं तो मार खानी पड़ेगी।

मेरा सरीखा एकान्तप्रिय निःसंग व्यक्तिवादी स्वभाववाला लेखक एक पुस्तक लिखता है—**भारत : इतिहास और संस्कृति**। मध्यप्रदेश के शिक्षा-विभाग द्वारा पुस्तक स्वीकृत हो जाती है। एक सरकारी पाठ्यपुस्तक समिति उसे स्वीकार कर लेती है। किन्तु उसके बाद मध्यप्रदेश सरकार का गृह-विभाग क्रुद्ध होकर उस पर

पाबन्दी लगा देता है। वह पुस्तक अब इस राज्य में खरीदी-बेची नहीं जा सकती। वह यहां ग़ैर-कानूनी घोषित हो गयी है। (देखिये 19 सितम्बर, 1962 का सरकारी गज़ट। वह दिन मेरे लेखक-जीवन की एक महान् तिथि है!)।

संक्षेप में, लेखक की स्वतन्त्रता तथा कलाकार की स्वतन्त्रता, वस्तुत:, अभिव्यक्ति के अधिकार की स्वतन्त्रता है, किन्तु यह स्वतन्त्रता समाज-सापेक्ष और समाज-स्थिति-सापेक्ष है। कुछ बातें कहने का, कुछ बातें शब्दबद्ध करने का मुझे अधिकार नहीं है, भले ही सैद्धान्तिक रूप से विद्वान् लोग अपनी विद्वत्ता का परिचय देते हुए पूंजीवादी जनतन्त्र की प्रशंसा करें, और यह कहें कि वैसी बातें मुझे लिखने-करने का बराबर अधिकार है।

चूंकि मैंने अपनी पुस्तक का उल्लेख किया, इसलिए कह दूं कि उस पुस्तक में (अ) क्रान्तिकारी आवाहन नहीं है, (ब) हिंसा का प्रचार नहीं है, (स) वह अश्लील भी नहीं है। फिर भी उसमें कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण सत्यांश हैं जो नागवार गुजरे हैं। बस, उसके ग़ैर-क़ानूनी क़रार दिये जाने का यही रहस्य है।

दूसरे शब्दों में, लेखक और कलाकार की स्वतन्त्रता समाज-सापेक्ष है, समाज-स्थिति-सापेक्ष है। मानव-गौरव और उच्च अभिरुचि को ध्यान में रखते हुए भी जो रचनाएँ आती हैं, उनमें ऐसे सत्यांश हो सकते हैं जो अप्रिय हों। अतएव वे सत्ताधारी अथवा सम्पन्न या प्रभावशाली वर्गों की भावना को ठेस पहुँचा सकते हैं।

इस बात को ध्यान में रखते हुए समाज में उन सत्यों के विरुद्ध ऐसी मनोग्रन्थियां तैयार कर दी जाती हैं कि जिससे अमुक-अमुक लेखक को प्रकाशक न मिल सके।

जनमत और लोकाभिरुचि बनाने का ठेका जहाँ उच्च-सम्पन्न वर्गों ने ले लिया है, वहाँ किसी भी बात की परिभाषा जो उनकी दी हुई होती है, खूब चलती है। और उस परिभाषा को विश्वविद्यालयों से लेकर छोटे-मोटे प्रकाशकों तक में इस तरह स्वीकृत करा लिया जाता है कि जिससे उसी के माप-मान चल पड़ते हैं। संक्षेप में, एक भाव-प्रवाह, विचारधारा, सत्य और सत्यांश के विरुद्ध मनोग्रन्थियाँ स्थापित करा दी जाती हैं। कलाकार या तो इस तरह की मनोग्रन्थियों का स्वयं शिकार हो जाता है, और अपनी जिन्दगी के एक हिस्से को अभिव्यक्ति के क्षेत्र से निकालकर फेंक देता है, अथवा यदि वह बहुत ही आतुर है तो चुपचाप लिखता जाता है, छपाता नहीं, छिपाता है, और बाह्य प्रोत्साहन के अभाव में बहुत बार वह रचनाएँ अधूरी छोड़ देता है। पूरी नहीं करता, इसलिए कि उसकी अभिव्यक्ति का भाव-बिन्दु प्रकट हो गया होता है, किन्तु उसका सांगिक सावयव अन्त:संगठन उपस्थित करने की उसे आवश्यकता नहीं रह जाती।

विभिन्न समाजों में इस प्रकार की मनोग्रन्थियां जो क्रमश: अथवा अचानक प्रचार द्वारा उत्पन्न की जाती हैं, विकसित की जाती हैं, वे अच्छी हैं या बुरी यह एक भिन्न प्रश्न है। एक खास ढंग की अलिखित सोशल सैंक्शन्स, अर्थात् समाज-

मान्यताएँ और समाज-अस्वीकृतियाँ, उचित होंगी, अमरीका में वे स्वतन्त्रता की कसौटी घोषित की जायेंगी, भले ही फिर हब्शियों को, एफ़्रो-अमेरिकनों को, गोरों के होटलों और रेस्तराओं से अलग रखा जाये। वह चल जायेगा। लेकिन साम्यवादी समाज-रचना को उलट देने या उसको निन्दनीय ठहराने की गरज़ से लिखे गये साहित्य या उसमें प्रकट भाव-दृष्टि को लेखक और कलाकार की स्वतन्त्रता की कसौटी माना जायेगा। हाँ, चार्ली चैपलिन की ओर ध्यान मत दिलाओ।

कलाकार की स्वतन्त्रता समाज-सापेक्ष और समाज-स्थिति-सापेक्ष है, यह निर्विवाद है। सम्पूर्ण स्वतन्त्रता कहने-भर की बात है। कलाकार को तो केवल यह देखना है—यदि वह मानव-धर्म और मानव-न्याय-बुद्धि की भावना रखता है (सब कलाकार ऐसे नहीं करते)—कि वह सर्वोच्च मानव-मूल्यों की, मानव-मुक्ति के लक्ष्य की, स्थिति कहाँ पाता है, और कहाँ नहीं पाता, अर्थात् किस प्रकार की भाव-दृष्टियों में वह अपनी अनुकूलता पाता है, और किस प्रकार की भाव-दृष्टियों में नहीं। दूसरे शब्दों में, किस प्रकार के सोशल सैंक्शन्स उसके अनुकूल हैं और किस प्रकार के नहीं।

मूलभूत अन्तर्विरोधों से ग्रस्त समाजों में, निःसन्देह लेखक-वर्ग में भी, कलाकार-वर्ग में भी, सोशल सैंक्शन्स अर्थात् सामाजिक निर्बन्धों के प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ होती हैं; तथा न केवल वे दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, वरन् परस्पर-विरोधी भी हो सकती हैं।

ऐसी स्थिति में, कोई एक भाव-दृष्टि अथवा कुछ समानतामूलक भाव-दृष्टियों का समूह, सामाजिक प्रभाव तथा प्रतिष्ठा-सम्पन्न उच्च पदासीन वर्गों द्वारा मान्यता-प्राप्त हो जाते हैं, तथा शेष दृष्टि या दृष्टियाँ मलिन भाव की सूचक, निम्न भाव की सूचक, निम्न-पदासीन, तथा रिक्त और अर्थहीन क़रार दी जाती हैं।

इस प्रकार का यह दृष्टि-भेद, या यों कहिये कि दृष्टि-संघर्ष, सदा-सर्वदा तथा अनिवार्यतः नये और पुराने का झगड़ा नहीं होता, वरन् वह वर्गों का संघर्ष होता है। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि वह नये और पुराने का भी संघर्ष हो सकता है। वह वैसा है या नहीं, यह देखने-समझने की बात होती है।

एकाध उदाहरण अप्रासंगिक न होगा। छायावाद तथा द्विवेदीयुगीन काव्य-प्रवृत्ति, दोनों एक ही मध्यवर्ग से निःसृत हुईं। अपने-अपने ढंग से दोनों आदर्शवादी और अध्यात्मवादी थीं। फिर भी भाषा, भाव, शैली, तीनों क्षेत्रों की भिन्नता ने संघर्ष का रूप भी धारण कर लिया, यह किसी से छिपा नहीं। उसी प्रकार प्रयोगवादी या नयी कविता का जन्म भी मध्यवर्ग में हुआ। छायावाद और इस आधुनिकतावादी प्रवृत्ति में संघर्ष रहा, यह सर्वविदित है। यह नये-पुराने का झगड़ा है।

किन्तु, मध्यवर्ग के क्षेत्र में प्रयोगवादी प्रवृत्ति का उदय, विकास और प्रसार, और फिर उसी मध्यवर्गीय क्षेत्र में उसी प्रगतिवादी प्रवृत्ति की क्षीणता और दुर्बलता का ऐतिहासिक सत्य यही तो प्रकट करता है कि इस मध्यवर्गीय क्षेत्र को, एक ओर,

वैभव-सम्पन्न उच्चवर्गीय प्रवृत्ति हथियाना चाहती है तो, दूसरी ओर, समाजवादी आदर्श का समर्थन करनेवाली शक्ति—सर्वहारा शक्ति—उसे अपने प्रभाव में लाना चाहती है।

मध्यवर्गीय क्षेत्र में इन दोनों के प्रचार-प्रसार का खूब क्षेत्र भी है। उच्च-मध्यवर्गीय आभिजात्य-मानवतावादी आध्यात्मिकता, व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादी प्रणाली के नाम पर, साहित्य-क्षेत्र से समाजवादी प्रभाव का उन्मूलन करना चाहती है। उसका मूल सामाजिक आधार है—उच्च-मध्यवर्गीय लोग और उनकी सौन्दर्याभिरुचिपूर्ण जगमगाहट से मोहमुग्ध वे निम्न-मध्यवर्गीय लेखक, जो लोभ-ग्रस्त और पिपासु होकर उनके आस-पास मँडराते हैं, या व्यक्तिगत आधार पर उनसे घृणा करते हुए भी उनके पद-चिह्नों पर चलने में अपनी कलात्मक प्रवृत्ति की सार्थकता समझते हैं।

इसके विपरीत, इसी मध्यवर्ग में भिन्न-भिन्न स्थानों पर ऐसे लोग भी हैं, जो न अत्यन्त दरिद्र निम्न-मध्यवर्गीय हैं, न ऐसे जिन्हें हम आर्थिक दृष्टि से किसी भी हालत में सुखी कह सकते हैं। यह श्रेणी साहित्य तथा कला के क्षेत्र में भी काम करती है, तथा वह ज्ञान-भिक्षु है, यह कहा जा सकता है। इसकी मनोवृत्ति में प्रगतिवादी प्रवृत्तियों के प्रति समीपता, सम्भवतः, पायी जा सकती है, और वह बहुत-कुछ अंशों में अभी भी देखी जा सकती है। प्रगतिवादी जीवन-मूल्य भी इनमें देखे जा सकते हैं। यह है सामाजिक आधार, उस सर्वहारा आन्दोलन के, मध्यवर्ग के ऊपर, प्रभाव का।

इसके बावजूद, प्रगतिवादी आन्दोलन यदि बहुत-कुछ पीछे हटा है, तो इसका कारण यह नहीं है कि मध्यवर्ग पूरा-का-पूरा अवसरवादी हो गया है, यद्यपि उच्च-मध्यवर्गीय प्रभुता तथा बल-सम्पन्न पूंजी की सत्ताधारिता ने भी इसमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया है। किन्तु इसका एक कारण यह भी है कि प्रगतिवादी प्रवक्ताओं ने अपनी वही पुरानी छर्रेवाली बन्दूक और वही पुराने तमंचे निकाले जिनकी आज कोई क़ीमत नहीं। संक्षेप में, उनके पास, प्रगतिवादी प्रवक्ताओं के पास, मध्यवर्गीय अन्ध-सिद्धान्तवादी अहंकार तो था, किन्तु कला की सृजनशील प्रक्रिया में, कला-सम्बन्धी समस्याओं में, वह सूक्ष्म गति नहीं थी, जो कि एक जीवन-मर्मज्ञ और कला-मर्मज्ञ के लिए आवश्यक होती है। यही नहीं, लेखकों से, विशेषकर नये ढंग के लेखकों से, वे तनकर अलग रहते थे। सिद्धान्तों के आइवरी टॉवर में रहकर (अपनी ठाठदार रोज़ी-रोटी का सवाल वे पहले ही हल कर चुके थे) वहाँ के बुर्ज़ों से वे लेखकों के नयेपन पर, और नये लेखकों के यूथ पर, अपने तीर-कमान का प्रयोग करते थे, खूंखार होकर। निःसन्देह, उनमें से कुछ ने नयी प्रवृत्ति के साथ चलने का प्रयत्न किया भी तो लँगड़ाते हुए। सच तो यह है कि वे घिसे-पिटे थे और अपने घिसे-पिटेपन को सिद्धान्तवादिता का जामा पहनाकर सर्वमान्य होने का प्रयत्न करते थे।

यहां उनकी आलोचना करने का मेरा अभिप्राय नहीं है। मैं तो यह कह रहा

हूँ कि प्रगतिवादी धारा का जो पीछे हटना हुआ, उसमें प्रगतिवाद के प्रवक्ताओं की निःसंज्ञ अक्षमता और जड़-बधिर-अन्ध-पंगु प्रतिभा का भी विलक्षण योग था।

हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में शीत-युद्ध अब भी चला हुआ है। साहित्य-क्षेत्र में मध्यवर्ग ही क्रियाशील है, और, सम्भवतः आगामी दसियों वर्षों तक वह क्रियाशील रहेगा। मध्यवर्ग के ही लेखक आज भी हैं। जीवन की समस्याएँ जटिलतर होती जा रही हैं। ये समस्याएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। समाज में आज उत्पीड़न और शोषण की मात्रा, अतिचार और अत्याचार की मात्रा, और भी अधिक, और भी तीव्र हो रही है। अवसरवाद, भ्रष्टाचार, नैतिकता का ह्रास, मानवतावादी मूल्यों की अवनति और व्यक्तिवद्ध अहंवादी मूल्यों का बढ़ता हुआ प्रभाव, लूट-खसोट आदि-आदि बातों से सामान्य मानव का दुःख, अपरिसीम होता जा रहा है।

ऐसी स्थिति में, शीत-युद्ध के एक केन्द्र को यह चिन्ता सता रही है कि कहीं यह सन्तप्त मानव समाजवाद और साम्यवाद का शिकार न हो जाये। ऐसी स्थिति में, वह पाता है कि पश्चिमी जगत् का उच्च साहित्य साम्यवादी या समाजवादी प्रभाव को रोकने में विशेष सहायक नहीं होता। हाँ, यह सही है कि समाज की जो आलोचना उसमें की गयी है वह कोई साम्यवादी दृष्टि या समाजवादी दृष्टि से नहीं। यहाँ तक कि कभी-कभी उस दृष्टि की आलोचना समाजवादी भी करते हैं। किन्तु फिर भी वह आलोचना तो हुई है। ऐसी स्थिति में, वे अमरीकी प्रयोग-वादी और श्रेष्ठ उपन्यासकारों का, अथवा ब्रिटेन या फ्रांस के उच्च साहित्य का, प्रचार नहीं करते, क्योंकि आज के सन्दर्भ में उनके लिए वे उपयोगी सिद्ध नहीं होते।

आज तो उन्हें पाश्चात्य जगत् की अराजकतापूर्ण स्थिति को, तथा उससे उत्पन्न मानव-दुःख को, इस प्रकार परिभाषित करना है कि जिससे मनुष्य संकल्प-धर्मा बनकर महान् कार्यों के लिए, मुक्ति-कार्यों के लिए, उद्युक्त न हो।

उदाहरणतः, वीरता की व्याख्या लीजिये। वीरता क्या है ? अपने लघुत्व को ढाँकने का एक तरीक़ा है। फिर लोग उस ओर उन्मुख क्यों होते हैं ? इसलिए कि वे अपने लघुत्व की वास्तविकता से घृणा करते हैं। निष्कर्ष : (1)मानव निरन्तर लघु है।(2) इसलिए उसका दुःख स्थायी है।(3)वह दु.ख से मुक्ति के प्रयत्न में वीरता बताता है, किन्तु यह वीरता वस्तुतः उसके लघुत्व ही का मानसिक विक्षेप है।(4)यह मानसिक विक्षेप उसमें क्यों होता है ? इसलिए कि उसमें बहुत बार आत्म-घृणा और आत्म-दया होती है, अतएव अपने लघुत्व से घृणा करते हुए वह अपनी ऊँचाइयाँ प्रदर्शित करने के लिए वीरता के दृश्य प्रस्तुत करता है।(5)वीरता के दृश्य प्रस्तुत करने से वह महान् नहीं हो जाता, क्योंकि वह निरन्तर लघु है।(6) इसलिए उसका दुःख स्थायी है। (7) अतएव मानव-मुक्ति के लिए प्रयत्न वृथा है, क्योंकि मुक्ति-जैसी कोई चीज़ नहीं है—एक दुःख से दूसरे दुःख की ओर जाने का वह प्रयत्न है।

यह मानवतावादी अद्यतन दर्शन है। मानव के सम्बन्ध में यह एक प्रकार का नकारवाद है। मानवीय भाग्य और वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में यह एक प्रकार

का निराशावाद है।

[इस] विचारधारा के दो पक्षों की तरफ़ हमारा ध्यान जाना ज़रूरी है। एक तो यह कि यह मुख्यतः मानव-मुक्तिवादी विचारधाराओं के विरुद्ध है। उसकी तीखी नोंक खासकर साम्यवादी धारणाओं के विरुद्ध है, क्योंकि साम्यवादी धारणाओं में यह बताया गया है कि मनुष्य चाहे तो अपना भाग्य-परिवर्तन कर सकता है। मनुष्य के अन्तःकरण में वे शक्तियाँ मौजूद हैं जो व्यक्ति और समाज, इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करते हुए मनुष्य को अधिक पूर्ण, अधिक सक्षम और अधिक सुखी बना सकती हैं। उसमें यह बताया गया है कि जन-साधारण में महान् सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं। मनुष्य ने अपने श्रम और बुद्धि द्वारा महान् उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, और मनुष्य का सच्चा सुख और मुक्ति तथा उपलब्धि सर्वजनहितार्थ उसकी सृजनशीलता में ही निहित है, उसके सृजनशील कार्यों में ही है। इस कारण साम्यवादी नैतिक जगत् की विचारधारा लोगों को आकर्षित करती है, बहुत आकर्षित करती है।

इस आकर्षण के प्रतिरोध के लिए यह आवश्यक है कि ऐसी भाव-धारा प्रचलित की जाय, जिससे दुःख को शाश्वत मानकर उससे समझौता करते हुए, समाज-परिवर्तन और मानव-परिवर्तन के स्वप्न को छोड़ दिया जाये।

इस भाव-धारा की यह विशेषता ऐसी है जो मानव-प्रगति के चक्र में रोध और बाधा उत्पन्न करती है। दुःख के स्थायित्व, लघुत्व की मूल स्थिति, तथा उच्चतर गुणों के माया-स्वप्नत्व, का पाठ पढ़ाकर, मनुष्य को मानव-सत्ता के उच्चतर रूपान्तर के कार्यों और कार्यक्रमों से अलग करने का उद्देश्य और प्रेरणा उसमें समायी हुई है।

हिन्दी काव्य-सृष्टि की वर्तमान गतिविधि में इस भाव-धारा का प्रभाव स्वाभाविक होता जा रहा है।

कारण क्या है ? कारण है—वर्तमान देशकालावस्था की कतिपय विशेषताएँ। देश में, सामान्यतः, अवसरवाद, अनाचार, स्वार्थपरता, लाभ-लोभ और व्यक्तिवादी महत्त्वाकांक्षा का प्रभाव विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में लगातार बढ़ता जा रहा है। परिणामतः, जन-साधारण का जीवन मलिन और दुःखपूर्ण तथा वैयक्तिक आशाहीनता और भविष्यहीनता के भावों से ग्रस्त हुआ जा रहा है। काव्य में भी यही भविष्यहीनता तथा आशाहीनता के अराजक भाव बढ़ते जा रहे हैं। बाह्य समाज के जो सामान्य दृश्य कवि को दिखायी दे रहे हैं, वे उत्साह-संहारक, प्रेरणा-नाशक और हृदय-विदारक हैं।

शीत-युद्ध के दौरान में, नवीन भाव-धारा ने विगत जनतन्त्रवादी विचारधारा से भी युद्ध किया और प्रगतिवादी विचारधारा से भी। इसको दुहराने की आवश्यकता नहीं। महत्त्व की बात यह है कि लेखक में साम्यवाद-विरोधी, राजनीति-विरोधी, और अब जन-विरोधी, मनोग्रन्थियाँ पहले से ही तैयार कर दी गयी हैं। ये अब और भी अधिक दृढ़ बनायी जा रही हैं।

ध्यान में रखने की बात है कि सभ्यता, समाज, व्यक्ति, इन सबकी (इनकी दृष्टि से देखी गयी) वर्तमान स्थिति की आलोचना के तत्त्व इन कवियों में खूब प्रचलित हैं, किन्तु ये आलोचना के तत्त्व अत्यन्त व्यक्तिवादी दृष्टि की उपज हैं।

इस आलोचना का सारांश यह है कि रूस हो या अमरीका, सर्वत्र औद्योगिक सभ्यता है। औद्योगिक सभ्यता व्यक्तित्व का नाश करती है। व्यक्ति में आत्म-निर्णय, विवेक की शक्ति का ह्रास हो जाता है। उसका व्यक्तित्व भी विखण्डित हो जाता है। साम्यवादी जगत् और 'स्वतन्त्र' जगत्, इन दोनों में अन्तर केवल यह है कि 'स्वतन्त्र' जगत् में व्यक्ति, बावजूद व्यक्तित्व-विभाजन के, बावजूद व्यक्तित्व-नाश के, अपने स्वतन्त्र निर्णय के लिए स्वतन्त्र है।

व्यक्ति अपना स्वतन्त्र निर्णय तब तक नहीं कर सकता, जब तक वह भीड़ का अंग है। समाज में जब तक व्यक्ति पृथक्-पृथक् हैं और मनन के जगत् में रहकर निर्णय करने को स्वतन्त्र हैं, तब तक ही वह व्यक्ति है। तब तक वह आत्मा का केन्द्र है। किन्तु ज्यों ही वह एक हो जाता है, वह जन-यूथ के मनोविज्ञान की धारा में बहता है। स्वतन्त्र निर्णय की उसकी शक्ति या तो क्षीण हो जाती है या लुप्त हो जाती है। इसलिए, ये जो सड़कों पर जुलूस चल रहे हैं, ये जो हड़तालें हो रही हैं, ये जो सामूहिक-राजनैतिक आक्रमण-प्रत्याक्रमण हो रहे हैं, वे सब भीड़ की मनोवृत्ति के परिचायक होने से, स्वतन्त्र निर्णय के अभाव की अन्ध शक्ति को ही सूचित करते हैं। परिणामतः, लेखक—जो कि अकेले में ही रहता है—उसे अकेले में रहना ही अच्छा है। तभी वह मानवता के उच्च गुणों को (यदि वे हैं तो) प्रतिष्ठापित कर सकता है। जनवाद, समाजवाद भीड़ की मनोवृत्ति के परिचायक हैं। जुलूस, हड़ताल आदि राजनैतिक सामूहिक कार्य ग़लत हैं। जनता ढोर है, वह पशु है, क्योंकि वह नेताओं के बहकावे में आती है, क्योंकि उसमें 'स्वतन्त्र' निर्णय करने की शक्ति नहीं है।

व्यक्ति अपनी व्यक्ति-सत्ता में अद्वितीय है, निःसंग है। और ऐसी बाह्य प्रभावहीन निःसंग स्थिति में ही, अपने इस प्रकार के एकान्त में ही, वह स्वतन्त्र निर्णय कर सकता है, अन्यथा नहीं।

दुःख की स्थिति प्रायः स्थायी है। मनुष्य लघु है। लघुत्व से पूर्ण मनुष्य अपने लघुत्व से घृणा करता है, इसलिए कुछ काल के लिए वह 'वीर' बन जाता है। वीरता या महानता भ्रमात्मक है। लघुत्व मनुष्य की मूल प्रकृति है। अतएव, हे महोदय, महानों और वीरों के चक्कर में मत पड़िये।

दूसरे शब्दों में, यह जो विद्यमान स्वार्थग्रस्त अहंग्रस्त व्यक्ति-सत्तात्मक स्थिति है—जिससे कि यह समाज बना हुआ है—उसको पहचानना, और उस यथार्थ को पहचानकर अपनी अद्वितीयता की रक्षा करना आवश्यक है।

अद्वितीयता की यह रक्षा उन दार्शनिक या कहिये धार्मिक अथवा आध्यात्मिक या रहस्यात्मक अनुभवों में हो सकती है, जिनकी परिभाषा करना, जिनके स्वरूप की व्याख्या करना, उनका काम है जिनको इसमें दिलचस्पी है।

और, इस प्रकार की अन्तिम व्याख्या और अन्तिम परिभाषा—वह जो भी है—यदि व्यक्ति-सत्ता की एकमेव अद्वितीयता की रक्षा करती है तो उस स्थिति में वह मानव की सर्वोच्च परिभाषा, उसकी निजी शक्तियों की, आत्म-शक्तियों की सर्वोच्च परिभाषा भी होगी।

मैंने इस भाव-धारा की कतिपय विशेषताओं को अपने शब्दों में रखने का प्रयत्न किया है, न कि भाव-धारावालों के शब्दों में। अतएव इसमें उनके विचारों को सम्भवत: भद्दा बनाकर भी रखा गया है। किन्तु, भले ही मैंने उसे हलके ढंग से या भद्दे ढंग से रखा हो, उसका सार-सत्य वही है जो मैंने कहा।

उपर्युक्त भाव-धारा सम्पूर्ण-सर्वांगपूर्ण अथवा व्यवस्था-बद्ध या सुसंगठित रूप से सब कवियों में नहीं पायी जाती है। किसी में उसका कोई अंश है, तो किसी में कोई और। इन कवियों की आभ्यन्तर जीवन-ज्ञान-व्यवस्था में इस भाव-धारा का योग है, वह कितना और कैसा योग है, यह एक भिन्न प्रश्न है।

यह भी ध्यान में रखने की बात है कि सब प्रयोगवादियों या नये कवियों की यह विशेषता नहीं है। सभी में यह भाव-धारा पायी जाती है—यह कहना यथार्थ के अनुसार नहीं।

महत्त्व की बात केवल यह है कि यह भाव-धारा नितान्त प्रतिक्रियावादी है। इसके सारे आघात का मुख्य लक्ष्य कवि-कलाकार को लेखक-समाज से, सामाजिक-मानवीय भावनाओं से, सामाजिक-मानवीय लक्ष्यों से, सामाजिक-मानवीय सत्ता के उच्चतर रूपान्तर के स्वप्न-लक्ष्य और प्रयत्न से, पृथक् नि:संग और विरोधात्मक रूप में स्थापित करना है।

इस लेखक का मुख्य उद्देश्य इस भाव-धारा के मुद्देवार खण्डन उपस्थित करना नहीं है। इसका मुख्य उद्देश्य वर्तमान स्थिति पर अपनी बुद्धि अनुसार प्रकाश डालते हुए यह बताना है कि आखिर किस प्रकार इस भाव-धारा से छुटकारा प्राप्त हो सकता है।

यह जानना ज़रूरी है कि आख़िर इस क्षेत्र में इस भाव-धारा का प्रचार क्योंकर हुआ। बाह्य परिस्थिति वैसी थी, यह कहकर छुट्टी लेना ग़लत है। आन्तरिक अवस्था का भी इस भाव-धारा के प्रचार-प्रसार में योग है। यह आन्तरिक अवस्था साहित्य-क्षेत्र की आन्तरिक अवस्था तथा अन्त:करण के भीतर की अवस्था भी है।

काव्य एक आत्मपरक प्रयास है। भारतीय साहित्य—विशेषकर हिन्दी साहित्य—में आत्मपरक काव्य की परम्परा रही आयी। उसी प्रकार साहित्य के तत्त्वों के विश्लेषण और उसके प्रभाव के विश्लेषण की भी परम्परा रही है।

प्रगतिवादी समीक्षा और प्रगतिवादी साहित्य ने मनुष्य के मात्र सामाजिक-राजनैतिक पक्ष पर ही ख़ूब ज़ोर दिया। उसके शेष पक्षों पर, तुलनात्मक दृष्टि से, बहुत कम बल रहा, या नहीं ही रहा। परिणामत:, पाठक के सामने मनुष्य का जो चित्र प्रस्तुत हुआ, वह एकपक्षीय ही था, उसमें मानव-सत्ता की सर्वांगीण

प्रगतिशील दृष्टि का प्रकटीकरण नहीं था।

इसका प्रभाव प्रगतिशील साहित्यकारों के व्यक्तित्व पर भी हुआ। एक ओर, वे अनेकानेक रचनाओं में केवल उद्बुद्ध सामाजिक-क्रान्तिकारी भाव-दृष्टि प्रकट करते थे; तो दूसरी ओर, उनके वास्तविक जीवन में जो दृश्य बहुत-बहुत लोगों ने समीपता से देखा है उसमें उच्चवर्गीय संकीर्णता, विलास-लोलुपता, अपने पास अधिकाधिक उच्चवर्गीय सामाजिक प्रभाव तथा अधिकाधिक वस्तु-संग्रह और कीर्ति-संग्रह की लालसा प्रत्यक्ष दिखायी दे रही थी। इसी मनोवृत्ति के उदाहरण अधिकतर दिखायी दे रहे थे। अपवाद कुछ थे, वे अत्यन्त अल्प थे। संक्षेप में, इन लेखकों के वास्तविक जीवन में प्रगतिशील दृष्टि का अनुशासन नहीं था, और उस प्रगतिशील दृष्टि से जीवन-संगठन नहीं था। उच्च और सुखपूर्ण वैयक्तिक जीवन ही उनका प्रधान जीवन-लक्ष्य था।

वैसे ही उनके सामाजिक सम्बन्ध भी थे। उन सामाजिक सम्बन्धों के कारण और उनके द्वारा ही वे भौतिक उन्नति के सोपानों पर चलते जा रहे थे। यदि समाजवाद के द्वारा उनका निजी प्रभाव बढ़ता है तो वह भी अच्छा ही है—यह मानकर मानो कि वे चलते थे। उच्च वर्गों में उनके गहन सामाजिक सम्बन्धों ही के कारण, उन्हें अपने प्रगतिवाद से कोई आर्थिक या सामाजिक हानि नहीं हुई।

परिणामतः, उनके वास्तविक जीवन और आचरण के द्वारा कोई विशेष प्रेरणा नहीं मिल पाती थी। अपने भौतिक अस्तित्व की रक्षा का संघर्ष, जो एक साधारण मनुष्य को, एक ग़रीब आदमी को करना पड़ता है, वह उनके लिए मानो कि नहीं था, और अगर था भी तो वह एक ऐसे ढंग से था जिसे हम मोटर-कारवालों पर लदे हुए क़र्ज़ से छुटकारे का संघर्ष कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, ये लोग मानव, मानवता, संघर्षशील मानवता, मुक्ति-संघर्ष, जनवाद, किसान-मज़दूर क्रान्ति, आदि शब्दों का प्रयोग करते थे, और विभोर होकर, भक्ति-भावपूर्वक, उन सब तत्त्वों का प्रतिपादन भी करते थे।

इसका परिणाम यह हुआ कि, जैसा कि दिखायी देता था, उनकी विभिन्न कल्पनाएँ अतिसरलीकरण पर आधारित हो गयी थीं। ज़िन्दगी की पेचीदगियों पर उनका ध्यान न जाकर, सामान्य विशेषताओं पर ही दृष्टि टिक जाती थी। इसलिए उनका 'प्रगतिशील' मानव एक निष्ठावान क्रान्तिकारी मानव था, जो प्रगतिशील मूल्यों की स्थापना के लिए जूझ पड़ता है। उसके हृदय में कहीं भी कोई शंका, अपने व्यक्ति-सुख के सम्बन्ध में कोई चिन्ता, अथवा अपनी परिस्थितियों से कोई घबराहट, नहीं थी—यद्यपि यह साफ़ था कि वास्तविकता बराबर यह सूचित करती रहती थी कि वास्तविक 'प्रगतिशील' मनुष्य, जो कि हमें काम करते हुए दिखायी देता है, प्रगतिशल कविता में दिखायी दे रहे प्रगतिशील मानव से कहीं अधिक उलझाव-भरा, कमज़ोर और विविधपक्षीय रुझान रखनेवाला मनुष्य है। संक्षेप में, प्रगतिवादी मानव-बिम्ब जो काव्य में उपस्थित हुआ, प्रगतिवादी मानव के वास्तविक जीवन संघर्ष और वास्तविक व्यक्तित्व से बहुत

कुछ दूर होकर, अतिसरलीकरण पर आधारित कल्पना के रूप में था। साथ ही, उसका केवल [एक] ही पक्ष—सामाजिक-राजनैतिक पक्ष ही—सामने आता था, दूसरे पक्ष नहीं।

परिणामतः, प्रगतिवादी काव्य एक हद तक, एक सीमा तक, ही प्रभावित करता था। सारे जीवन को, मन-वचन-कर्म को—जीवन-यापन पद्धति को,—हृदय, आत्मा और बुद्धि को, एक केन्द्र से अनुशासन और नियन्त्रण करनेवाले प्रगतिवादी आदर्श और प्रगतिवादी जीवन-मूल्यों और उनके कार्यात्मक तथा अनुभावात्मक रूपों का चित्रण हमें दिखायी देता था, न आन्तरिक तथा बाह्य समस्याओं का चित्रण जो कि इस प्रकार के आत्मैक्य (?) से स्वभावतः उत्पन्न होता है।

इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। प्रगतिवाद के कतिपय प्रवक्ता अपने प्रवचनों को विशुद्ध मार्क्सवाद और उसका विशुद्ध प्रयोग समझते हुए, और इस महान् कार्य से प्रसूत अहंकार के प्रतिनिधि बनकर, जिस प्रकार आलोचना करते जाते थे उससे, देश में वामपन्थी समाजवादी राष्ट्रवाद के बढ़ते हुए प्रभाव की धारा की उच्च लहरों पर चढ़कर, वे नित्य-नूतन विजय प्राप्त करते जाते थे। वह युग ही वैसा था।

महत्त्व की बात यह है कि [उन्होंने] प्रयोगवादी और नयी कविता का आरम्भ ही से विरोध किया। वे उसकी सूरत देखकर ही चिढ़ते थे। किसी विशेष साहित्य-धारा की उत्पत्ति-विकास के मूलभूत कारणों का तटस्थ विश्लेषण न कर, उसका विस्तृत स्वरूप-विश्लेषण और उस पर आधारित मूल्यांकन न कर, वे केवल उसको नष्ट-भ्रष्ट कर डालने के लिए ही कटिबद्ध रहे।

खैर, यह पुरानी बात हो गयी। दुःख की बात यह है कि आज भी उनके द्वारा [सिवाय] केवल विरोध के, विशुद्ध विरोध के, और कुछ नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में, जब नये प्रकार के लेखकों से उन्होंने अपने को अलग कर डाला, वे कैसे प्रतिक्रियावादी विचार-धाराओं से मोर्चा ले सकते थे, उन्हें बचा सकते थे?

आज आवश्यकता इस बात की है कि नये काव्य-क्षेत्र में एक विशेष केन्द्र से प्रतिक्रियावादी, जन-विरोधी, विचार-धारा का परिचालन किया जाता है, इसको रोका जाये। किन्तु यह कौन कर सकता है? क्या यह नये काव्य के स्वरूप ही से भड़कनेवाले लोगों से ही सिद्ध होगा?

मेरे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि समीक्षा की भाषा, समीक्षा-शैली, समीक्षा के अन्तर्गत विचारधारा की अभिव्यक्ति, इस प्रकार से हो कि लेखक यह समझ सके कि समीक्षक उसका शत्रु नहीं, उसका मित्र है, उसका भ्राता है। तभी वह लेखकों का विश्वास प्राप्त कर सकेगा।

लेखक लम्बी-चौड़ी सिद्धान्तवादी शब्दावली से न प्रभावित होता है, न उसे जान ही पाता है। अतएव यह आवश्यक है कि इस ढंग से बात की जाये कि जिससे समीक्षक और लेखक की दूरी कम हो, वे दो विभिन्न पृथक् लोकों में न रहकर,

एक ही जगत् में रहकर, एक ही भाषा बोलते-से प्रतीत हों।

महत्त्व की दूसरी बात यह है कि साहित्य-क्षेत्र में जिन केन्द्रों से जो प्रतिक्रियावादी विचारधारा प्रचारित और प्रतिचालित होती है, उन केन्द्रों और उनकी प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं की मूलगामी और प्रखर आलोचना करते हुए—इस प्रकार आलोचना करते हुए कि जिससे प्रगतिशील मानवतावाद का मार्मिक और सर्वांगपूर्ण तथा प्रेरणापूर्ण चित्र उपस्थित हो सके—अनेक व्यापक विवेचन और मन्थन करनेवाली पुस्तकें लिखी जायें, लेख लिखे जायें, तथा उस चुनौती को सहर्ष स्वीकार किया जाये जो भारतीय मानवता को विचारधारा के रूप में विशेष केन्द्र या केन्द्रों से दी गयी है।

दूसरे शब्दों में, समीक्षा एक ऐसा सिद्धान्त-संगत, जीवन-ज्ञानपूर्ण, जीवन-संवेदनपूर्ण, मार्मिक मानव-चित्र प्रस्तुत करे, जो आज की व्यापक दुःख और कष्ट की स्थिति-परिस्थिति से ग्रस्त लेखक की विभिन्न वास्तविक मनोदशाओं के लिए न केवल ग्राह्य हो, वरन् उसके विभिन्न पूर्वाग्रह-ग्रस्त भावों को छिन्न-भिन्न करते हुए उसे प्रेरणा प्रदान करे—ऐसी प्रेरणा जो एक ही साथ उसकी समस्याओं और विश्व की समस्याओं के समाधान का एक नम्र, किन्तु अत्यन्त भाव-संवेदनशील प्रयत्न हो।

सिद्धान्त जीवन-जगत् के विभिन्न सामान्यीकरणों ही पर तो आधारित होते हैं। वे मानव के अन्तःकरण में स्थित जीवन-ज्ञान-व्यवस्था का ही तो एक ऊर्ध्व-विकास रूप हैं। अतएव मेरा यह आग्रह है कि समीक्षा में आज के लेखक के परिवेश, उसकी रचना-प्रक्रिया, उसके अन्तःकरण के संवेदन-पुंजों को समझते हुए, उसकी विशेष सन्दर्भयुक्त भाषा को समझते हुए, और यह मानते हुए कि लेखक मानव-जीवन ही की अभिव्यक्ति कर रहा है—संक्षेप में, लेखक के अन्तःकरण और काव्य में सहानुभूतिशील अन्तर्दृष्टि को परिचालित करते हुए—कार्य किया जाये। विरोधी विचारधारा के क्षेत्र में तथा स्वरूप-विश्लेषण करनेवाली वास्तविक साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में क्या ऐसी अपेक्षा करना ग़लत है?

[सम्भावित रचनाकाल 1959-64 के बीच। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित]

समीक्षाएँ

धरती : एक समीक्षा

मुझे कहने दीजिये कि धरती [त्रिलोचन का काव्य-संग्रह] के गीतों का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक है, जिनसे मात्र काव्य-सामर्थ्य ही नहीं प्रकट होता, वरन् जीवन के विस्तृत दायरे के विभिन्न भागों का काव्यात्मक आकलन करने की क्षमता भी प्रकट होती है। यही कारण है कि जब कवि ने, एक ओर, अनेक सफल प्रयोग किये हैं, तो दूसरी ओर, उसने परम्परागत छन्दों का और शैली का सहारा लेकर उस शैली को अपनी निजी मौलिकता भी प्रदान की है। और, इस द्विविध सफलता के लिए कवि बधाई का पात्र है।

कवि की अपनी अनुभूतियाँ बहुत संयम के साथ प्रकट होती हैं। उसमें चीख-पुकार या अट्टहास का आलोड़न नहीं है। न वह चीज़ है जिसे आप अतृप्त वासना कह सकते हैं। इन सब दोषों से मुक्त, विचारों और भावनाओं से आलोकित, काव्य मिलना कठिन होता है। साथ ही कवि की प्रगतिशीलता अट्टहासपूर्ण आन्तरिक क्षति-पूर्ति के रूप में नहीं आयी है, वरन् कवि के अपने जीवन-संघर्ष से मँज-घिसकर तैयार हुई है। इसीलिए कवि कह उठा :

मुझमें जीवन की लय जागी
मैं धरती का हूँ अनुरागी,
जड़ीभूत करती थी मुझको
वह सम्पूर्ण निराशा त्यागी

सारी कविताओं में कवि का गहरा आत्मविश्वास और सामाजिक लक्ष्य के प्रति ईमानदारी प्रकट होती है। यह मात्र ईमानदारी ही नहीं, प्रत्युत् उसका जीवन-दर्शन है। उससे जहाँ थोड़ा-सा भी स्खलन होता है, उसे अपने प्रति क्षोभ होता है और वह कहता है :

पथ पर धूल उड़ा करती है
वह भी आखिर कुछ करती है
पर मैं—मेरे मन, तुम बोलो—क्या करता हूँ
क्या मेरा जीवन जीवन है

और नहीं तो तत्त्व मुक्त हैं
वे विराट में प्रभा-युक्त हैं
मेरे पाँचों तत्त्व लजाली मैं मरता हूँ
क्या मेरा जीवन जीवन है ।

कवि में नैतिक सचाई बहुत प्रबल होने के कारण ही वह सामाजिक लक्ष्य के प्रति उन्मुख है। बहुत काफ़ी लोगों का खयाल है कि नैतिक सचाई से अनुप्रेरित कविता में काव्य कम होता है और कोरा उपदेश अधिक। परन्तु इस विचार में कोई सार नहीं है। कवि ने डायडैक्टिक काव्य के कई अपने उदाहरण रखे हैं, जो शुद्ध काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट चीजें हैं। इसी नैतिक भावना के कारण ही कवि अधिक मानवीय हो गया है। यह मानवीय गुण ही उसके समाजवादी ध्येय और तद्गत काव्य के उद्गम का मूल कारण है।

संघर्षकालीन कवि का व्यक्तित्व साधारण रूप से एकांगी नहीं रह पाता। जीवन की कठोर वास्तविकताएँ बरबस उसे अपनी ओर खींचती हैं। संघर्ष के कारण चेतना विकसित होती है, जिसकी सहायता से वह विपरीत वास्तविकताओं से जूझकर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

ये वास्तविकताएँ और उनके प्रति मानसिक प्रतिक्रियाएँ अब तक काव्य का विषय बन न सकी थीं। परन्तु जब वे कवि के जीवन की अवश्यम्भावनाएँ बन बैठीं, तो वे काव्य का विषय क्यों न बनतीं? यहीं 'प्रायोगिक' काव्य का मूल उद्गम और प्रेरणा है। कवि का प्रायोगिक काव्य सफल हो या असफल, वह कवि की प्रसरणशील और विकासशील चेतना का चिह्न तो है ही।

आइये, हम कवि के मनोलोक में घुसकर उसके काव्य के विविध पहलुओं का आकलन करने की चेष्टा करें।

धरती पढ़ जाने पर मालूम होता है कि उसके संघर्ष-भाग को निकाल देने पर जो भी काव्य बचता है वह लँगड़ा है, यानी अगर मस्तिष्क और हृदय को नहीं काट दिया गया है तो चरण और भुजाओं को तो अवश्य उच्छिन्न कर डाला गया है। इसीलिए सबसे पहले मैं उस संघर्ष को ही लूँगा। इस संघर्ष की वास्तविकता उसके मन में इतनी गहरी गयी है कि न वह प्रलयवादी रोमैण्टिक स्वप्नों में डूबता है, और न किसी समझौते की भावना से परिचालित हो आदर्शवादी तलैया को अपना समुद्र समझता है। वह संघर्ष इतना यथार्थ है कि उसमें सफलता के लिए धीर-गम्भीर व्यक्तित्व की आवश्यकता है, जिसकी परिकल्पना की कसौटी पर वह अपने व्यक्ति को कसना चाहता है, और अपने मन को उसके बारे में उपदेश दिया करता है, समझाता रहता है। इस समझाने के भी उसके अनेक मूड्स हैं। पर एक बात निर्विकार रूप से अपनी रहती है। वह है उसकी नैतिकतामूलक धारा (डायडैक्टिक स्ट्रेन), जो उसकी सब संघर्ष-सम्बन्धी कविताओं में प्रधान